इकाई 1 सामाजिक स्तरीकरण: अभिप्राय और नजरिया

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सामाजिक विकास क्रम की प्रक्रिया
1.3 संयोजी सिद्धांत
  1.3.1 सामाजिक स्थिति
  1.3.2 संपदा
  1.3.3 सत्ताधिकार
1.4 भारत में जाति और वर्ग
1.5 जाति और सामाजिक स्तरीकरण
  1.5.1 जाति का जनसंख्यात्मक विश्लेषण
  1.5.2 सामाजिक गतिशीलता
  1.5.3 क्रम-परंपरा के सिद्धांत
1.6 भारतीय समाज का ढांचा
  1.6.1 स्थिति का सार
  1.6.2 मार्क्सवादी विधि और धारणाएं
  1.6.3 सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था
1.7 अवधारणा और सिद्धांत संबंधी कुछ मुद्दे
  1.7.1 वेबर का नजरिया
  1.7.2 द्वंद्वात्मक नजरिया
  1.7.3 पूंजीवाद का उदय
  1.7.4 डाहरेंडॉर्फ और कोजर
  1.7.5 प्रकार्यवादी सिद्धांत
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- समाजों और सामाजिक स्तरीकरण की विकासात्मक प्रक्रियाओं की रूपरेखा बता सकेंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण के संयोजी सिद्धांतों, स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार का विवेचन कर सकेंगे;
- भारत में जाति और वर्ग के रूप में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण के बारे में बता सकेंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण से जुड़ी अवधारणाओं और सिद्धांतों के स्पष्ट कर सकेंगे; और
- सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन पर रोशनी डाल सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके जरिए समाज के समूहों और सामाजिक श्रेणियों को एक दूसरे से ऊंचे या निम्न दर्जे में रखा जाता है। यह प्रतिष्ठा, विशेषाधिकारों, संपदा और सत्ताधिकार की कसौटी पर उनकी सापेक्षिक स्थिति को देखकर तय किया जाता है। सामाजिक-स्तरों में पाए जाने

वाले प्रदत्त या नैसर्गिक गुणों और उनके द्वारा अर्जित किये जाने वाले गुणों को हम अलग-अलग श्रेणी में रख सकते हैं। इस प्रकार प्रदत्त और उपलब्धि, ये दो प्रकार के पैमाने ही प्राय: सभी समाजों में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारकों के रूप में काम करने वाले मानकीय सिद्धांतों को परिभाषित करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया भी है। एक सामाजिक संस्था के रूप में इसका उदय सामाजिक क्रमविकास और सामाजिक विकास के एक निश्चित स्तर पर हुआ। आखेटक और भोजन संग्राहक समाज में भी सामाजिक विभेदन के अपने-अपने स्तर थे। उदाहरण के लिए कुशल शिकारी या शामन को निजी गुणों या प्रवीणताओं के कारण ऊंचा दर्जा हासिल था क्योंकि समाज उन्हें रहस्यमय या दैवीय मानता था। इसी प्रकार समाज के सदस्यों की उम्र या उनके लिंग के रूप में भी यह विभेदन रहता था। मगर उत्पादन प्रौद्योगिकी के अल्पविकसित रहने और इन समाजों की अनिश्चित और खानाबदोश प्रकृति के कारण इनकी जनसंख्या पर अंकुश लगा रहा। इसलिए इनका सामाजिक ढांचा बहुत सरल था। इसमें लोगों के बीच संप्रेषण के लिए प्रारंभिक प्रवीणता (यानी सीमित भाषायी शब्द ज्ञान), सरल प्रौद्योगिकी, आरंभिक स्वरूप में विश्वास व्यवस्थाएं और सामाजिक नियंत्रण के नियम विद्यमान थे। ऐसे समाजों ने जरूरत से ज्यादा आर्थिक उत्पादन नहीं किया और इनमें किसी भी सदस्य के लिए संपदा का संचय कर पाना संभव नहीं था। इस तरह के सरल समाजों में सामाजिक विभेदन जरूर था मगर उनमें सामाजिक स्तरीकरण एक संस्था के रूप में विद्यमान नहीं था।

1.2 सामाजिक विकास-क्रम की प्रक्रिया

एक संस्था के रूप में सामाजिक स्तरीकरण का विकास तब हुआ जब उत्पादन की प्रौद्योगिकियों में बुनियादी बदलाव आया। पशु-पालन और कृषि में आए नवप्रवर्तनों के फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक जटिल प्रौद्योगिकियों और सामुदायिक जीवन में स्थायित्व समाज के लिए अनिवार्य बन गए। इन अर्थव्यवस्थाओं ने आर्थिक आधिक्य (अधिक उत्पादन) उत्पन्न करना और पशु या अनाज के रूप में संपदा का संचय करना आरंभ कर दिया। खाद्य संसाधनों के सुनिश्चित हो जाने से जनसंख्या में भारी वृद्धि होने लगी। इसके साथ-साथ उत्पादित सामग्रियों, वस्तुओं का लेन-देन और विनिमय भी बड़े पैमाने पर आरंभ हुआ। कालांतर में लेन-देन की युक्तियों का आविष्कार हुआ जो वस्तुओं के मूल्य को समाज के उन वर्गों के विकास में प्रतिबिंबित कर सकती थीं जिनका संपदा और सत्ता पर नियंत्रण अधिक था। अपेक्षाकृत जटिल प्रौद्योगिकियों के विकास और श्रम विभाजन के फलस्वरूप कालांतर में न सिर्फ विशेषज्ञता प्राप्त समूहों का समाज में उदय हुआ बल्कि शहर और देहात में विभाजन भी उत्पन्न हुआ। सामाजिक संरचना में आई जटिलता के चलते नई उभरती सामाजिक वास्तविकताओं पर सामाजिक नियंत्रण की अधिक विस्तृत संस्थाएं जरूरी हो गईं, जैसे धर्म का संस्थागत स्वरूप, कार्य के विभिन्न स्वरूपों में विशेषज्ञता प्राप्त कर्मियों के स्तर, संस्कृति के विशेषज्ञ, शासक वर्ग इत्यादि। सामाजिक स्तरीकरण संस्था ऐसे ऐतिहासिक क्षण में एक क्रमिकविकास संबंधी कार्यात्मक आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व में आई।

1.3 संयोजी सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण के तीन मुख्य संयोजी सिद्धांत हैं। ये हैं स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार। अब तक कई समाजों का जो समाजशास्त्रीय अध्ययन हुआ है उससे पता चलता है कि क्रमिकविकास प्रक्रिया में इन सिद्धांतों के बीच कुछ संबंध है। उदाहरण के लिए, ऐसे समाजों में जिनमें सामाजिक स्तरीकरण की संस्था नहीं थी, जैसे भोजन का संग्रह करने वाले और शिकारी समुदाय, उनमें भी कुछ व्यक्तियों को उच्च सामाजिक स्थान प्राप्त था और उन्हें नायक समझा जाता था। इन समुदायों में ओझा (शामन), आखेट में या सामाजिक, आर्थिक और सुरक्षा के कार्यक्षेत्र में अद्वितीय योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को ऊंचा दर्जा दिया जाता था। लेकिन इसके बावजूद इनमें सामाजिक स्तरीकरण की संस्था का आविर्भाव नहीं हो पाया क्योंकि इस प्रकार की व्यक्तिगत विशिष्टता के उद्भव ने सामाजिक विभेदन को जन्म दिया। यह सामाजिक विभेदन योग्यता, सामाजिक-लिंग या समाज में प्रचलित अन्य चिन्हकों पर आधारित

था। समाज में सामाजिक स्तरीकरण तभी अस्तित्व में आता है जब सामाजिक श्रेणी का निर्धारण लोगों के समूह के आधार पर किया जाता है, जैसा कि हमारे समाज में सामाजिक श्रेणियां जाति और वर्ग के आधार पर किया जाता है।

1.3.1 सामाजिक स्थिति

यह सामाजिक स्तरीकरण का सबसे पहला सिद्धांत है। सामाजिक स्तरीकरण की भाषा में सामाजिक स्थिति का अर्थ समाज में लोगों के समूहों का वर्गीकरण समाज में उनकी प्रतिष्ठा या आदर के रूप में उनकी सापेक्षिक स्थिति के आधार पर करना है। प्रतिष्ठा एक गुणात्मक विशेषता है, जो किसी स्थिति-समूह के सदस्यों को जन्म से ही मिलती है। इस तरह का कोई भी गुण जो जन्म से विरासत में मिलता हो, वह प्रदत्त गुण कहलाता है जिसे हम अपने प्रयास से अर्जित नहीं कर सकते। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक-स्थिति सिद्धांत को प्रदत्त का सिद्धांत भी कहते हैं। हमारे देश में जाति सामाजिक-स्थिति समूहों का एक अति उपयुक्त उदाहरण है। जो गुण एक सामाजिक-स्थिति समूह की रचना करते हैं उनका संबंध हमारे प्रयासों द्वारा अर्जित हो सकने वाले आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक सिद्धांतों की अपेक्षा उन मूल्यों और विश्वासों, किवदंतियों और मिथकों से अधिक होता है, जिन्हें समाज में एक अवधि में चिरस्थायी बनाया जाता है।

1.3.2 संपदा

सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा संयोजी सिद्धांत संपदा है। समाज में संपदा तभी उत्पन्न होती है जब प्रौद्योगिकी में उन्नति हो और उत्पादन की रीति में बदलाव आ जाए। जैसे आखेट और भोजन संग्रहण अर्थव्यवस्था से व्यवस्थित कृषि में बदलाव, कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था से मुख्यतः निर्माण और उद्योग पर आधारित अर्थव्यवस्था में परिवर्तन। इस प्रकार के परिवर्तनों ने न सिर्फ सामाजिक स्तरीकरण को जन्म दिया बल्कि कालांतर में इन्होंने सामाजिक स्तरीकरण के संयोजी सिद्धांतों को भी बदल डाला। आर्थिक प्रगति से समाज में अधिक संपदा उपजी, संपदा के चिन्हकों का संचय हुआ, जिसके कई रूप थे, जैसे अनाज, पशुधन, धातुएं और खनिज-पदार्थ (चांदी, सोना, बहुमूल्य मणियां इत्यादि) या मुद्रा। इस चरण में आकर जिन समूहों का नियंत्रण आर्थिक संसाधनों और संपदा पर अपेक्षतया अधिक था या जो अधिक संपदा के स्वामी थे उन्हें समाज में उन समूहों से उच्च श्रेणी में रखा जाता था जिनका इन पर नियंत्रण कम था या लगभग नहीं था, जैसे, भूमिहीन श्रमिक या औद्योगिक मजदूर। इसका मुख्य उदाहरण वर्ग पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण है।

1.3.3 सत्ताधिकार

सामाजिक स्तरीकरण का तीसरा संयोजी सिद्धांत सत्ताधिकार है। सामाजिक-स्थिति और संपदा को हम समाज में श्रेणी-निर्धारण के आधार समूह विशेषताओं से स्पष्ट रूप से जोड़ सकते हैं। लेकिन इन दोनों संयोजी सिद्धांतों के विपरीत सत्ताधिकार का सिद्धांत अपेक्षतया एक विसारित या बिखरा हुआ गुण है। इसकी वजह यह है कि इसकी प्रकृति अनूठी नहीं है। समाज में उच्च स्थिति वाला समूह या फिर ऐसा समूह जिसके पास संपदा अधिक हो उसके लिए समाज में सत्ताधिकार का प्रयोग करना हमेशा संभव रहता है। फिर भी हम इसे विशेषाधिकारों के सिद्धांत से अलग करके देख सकते हैं क्योंकि विशेषाधिकार का सिद्धांत सामाजिक समूह की इस सामर्थ्य पर आधारित है कि वह किस तरह अन्य समूहों को उन कार्यों, मूल्यों और विश्वासों को मानने के लिए बाध्य करता है, जिन्हें तय भी वही करता है। सामाजिक स्तरीकरण की अपनी व्याख्या में जैसा कि मैक्स वेबर कहते हैं सत्ताधिकार की अवधारणा इस तथ्य पर आधारित है कि यह उन व्यक्तियों या समूहों को जायज बल प्रयोग करके अपनी इच्छा अन्य समूहों पर थोपने की शक्ति प्रदान करता है। इस अर्थ में राज्य हमारे सामने एक ऐसी संस्था का उत्तम उदाहरण है, जो सर्वाधिक शक्ति या सत्ताधिकार रखता है। राज्य को समाज के नागरिकों पर अपनी इच्छा थोपने का परम अधिकार रहता है। शक्ति या सत्ताधिकार प्रयोग की वैधता को समूह व्यापक स्तर पर स्वीकार

कर लेते हैं, या यूं कहें कि जब यह समाज में संस्थागत बन जाता है तो शक्ति प्रभुत्व में तब्दील हो जाती है। प्रभुत्व को हम वैध शक्ति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। यह शक्ति या सत्ताधिकार का सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण की धारणा में भी प्रवेश कर लेता है जब इसके कार्य या सामाजिक फलितार्थों को समाज में चल रही राजनीतिक प्रक्रियाएं प्रभावित करने लगती हैं या फिर राज्य सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करने में अधिक सक्रिय या प्रत्यक्ष भूमिका अपना लेता है। इसका एक प्रासंगिक उदाहरण हमें सकारात्मक भेदभाव या आरक्षण नीति में मिलता है। इस नीति के तहत भारतीय राज्य ने अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़ी जातियों को सरकारी नौकरियों, राजनीतिक पदों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण दिया है। सामाजिक स्तरीकरण में एक तत्व के रूप में सत्ताधिकार की व्याख्या में मैक्स वेबर ने पार्टियों और सत्ताधिकार तक अपनी पहुंच को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने में राजनीति, राजनीतिक दलों और उनकी भूमिका को सही आंका है।

अभ्यास 1

अपने अध्ययन केन्द्र में अन्य सहपाठियों के साथ सामाजिक स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार पर चर्चा कीजिए। ये तीनों किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़े हैं? अपनी चर्चा के परिणामों को अपनी नोटबुक में दर्ज कीजिए।

1.4 भारत में जाति और वर्ग

अभी तक हमने सामाजिक स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार के संयोजी सिद्धांतों की चर्चा की है ये समाज में समूहों के सापेक्षिक क्रम में श्रेणीकरण के मुख्य निर्धारक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण की नींव रखते हैं। इसी प्रकार जाति और वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत हैं जो समाज में समूहों के श्रेणी निर्धारण में सामाजिक स्थिति और संपदा की भूमिका को दर्शाते हैं। सामाजिक स्थिति समूह का एक प्रमुख उदाहरण जाति है। दूसरी ओर वर्ग इस सिद्धांत पर आधारित है जिसमें समूहों को संपदा तक उनकी पहुंच या समाज के संपदा संसाधनों पर अपना नियंत्रण रखने की सापेक्षिक क्षमता पर उनको श्रेणियों में रखा जाता है। सामाजशास्त्रियों में उन प्रक्रियाओं को लेकर काफी सहमति है जिनसे सामाजिक-स्थिति समूहों की रचना होती है और ये समूह सामाजिक स्तरीकरण में श्रेणी-क्रम बनाते हैं। मगर समाजशास्त्रियों में इस प्रकार की सहमति उन प्रक्रियाओं को लेकर नहीं है, जो वर्गों को संपदा के स्वामित्व की विभेदक क्षमता से उनके उदय में सहायक होती हैं।

निस्संदेह संपदा के सिद्धांत के बारे में माना जाता है कि इससे समाज का स्तरीकरण होता है। मगर वर्ग के बारे में मतभेद हैं। उदाहरण के लिए मार्क्स वेबर मानते हैं कि वर्ग 'बाजार की स्थिति' की उपज है जबकि कार्ल मार्क्स इसे 'उत्पादन की विधियों' से जोड़ते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार 'उत्पादन की विधियां' ही संपदा तक पहुंच या उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता और समाज में समूहों की श्रेणी दोनों को तय करती हैं। बेशक दोनों ही सिद्धांतों में सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण में संपदा की केन्द्रीय भूमिका अंतर्निहित है। जैसा कि मार्क्स कहते हैं, उत्पादन विधि पूंजी के बदलते स्वरूप के साथ बदलती रहती हैं (पूंजी का अर्थ वस्तुओं के उत्पादन में निवेश की जाने वाली संपदा है)। इसी प्रकार बाजार की स्थिति वस्तुओं की आपूर्ति और मांग, श्रम और रोजगार की स्थितियों से निर्धारित होती है। ये सभी कारक समाज में उपलब्ध पूंजी या संपदा संसाधनों के सांचे के भीतर ही काम करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण इस प्रक्रिया में तब आ जुड़ता है जब समाज में एक वर्ग के अधिकार में अन्य लोगों की तुलना में अधिक संपत्ति या पूंजी हो जाती है। या फिर सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका तब शुरू होती है जब बाजार को लोगों के ऐसे समूहों से भी व्यवहार करना पड़ता है जिनके पास अपनी कोई पूंजी या संपत्ति नहीं होती और जो जीवित रहने के लिए सिर्फ अपनी शारीरिक शक्ति या श्रम पर ही निर्भर रहते हैं। मार्क्स ने इन वर्गों को सर्वहारा या मजदूर कहा है। इन मुद्दों पर समाजशास्त्रियों में बहस सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांतों से जुड़ी है। इन सिद्धांतों पर हम आगे चर्चा करेंगे।

MAADHYAM IAS

1.5 जाति और सामाजिक स्तरीकरण

प्राचीन भारतीय समाज की संरचना मुख्यतः जाति स्तरीकरण पर आधारित थी। यह स्तरीकरण कुछ इस प्रकार था कि जीवन के सभी पहलुओं जैसे अर्थव्यवस्था, राज्य व्यवस्था और संस्कृति में जाति मुख्य सिद्धांत के रूप में काम करती थी। इसे समझने के लिए पहले हमें वर्ण और जाति में भेद जानना होगा। वर्ण वर्गीकरण के लिए एक संदर्भ आधार या मॉडल है और जाति सामाजिक स्थिति के क्रम में श्रेणीबद्ध विशिष्ट जाति समूहों का संबोधन है। भारतीय समाज चार वर्णों में बंटा था। ये थे: ब्राह्मण (पुरोहित), क्षत्रिय (योद्धा), वैश्य (व्यापारी) और शूद्र (श्रमिक वर्ग)। कालांतर में पांचवा वर्ण पंचमा भी बना, जिसमें वे लोग शामिल थे जिन्हें समाज ने अपने बुनियादी नियमों के उल्लंघन के चलते बहिष्कृत कर दिया था। पंचमा को समाज ने अछूत घोषित कर दिया। यह समाज में किसी भी समूह पर थोपा गया सबसे उग्र किस्म का भेदभाव था। वर्ण व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थी: जन्मजात सदस्यता, आनुवंशिक या पुश्तैनी पेशा, वर्ग क्रम परंपरा में विभिन्न जातियों को प्रदत्त अपवित्रता और पवित्रता, अंतर्विवाह और परस्पर घृणा या अलगाव।

1.5.1 जाति का जनसंख्यात्मक विश्लेषण

भारत में वर्ण या जाति की जनसांख्यिकी हजारों वर्षों से बेहद विविध रही है। अध्ययनों से पता चलता है कि 20 मील से लेकर 200 मील की परिधि में एक जाति को सामाजिक समूह के रूप में नहीं माना जाता है, बल्कि इसे वर्ण मॉडल के संदर्भ में ही मान्यता दी जाती है। इसीलिए वर्ण व्यवस्था समाजशास्त्रीय संदर्भ के आधार के रूप में महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार जातियां भी क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय समूहों के रूप में हजारों की संख्या में हमेशा मौजूद रही हैं। भारतीय नृवैज्ञानिक सर्वेक्षण (एंथ्रोपॉलिजिकल सर्वे ऑफ इंडिया) के एक नवीनतम अध्ययन से पता चला है कि भारत में 4, 635 समुदाय या जाति जैसे समूह विद्यमान हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी पता चलता है कि लगभग सभी धार्मिक समूह अलग-अलग समुदायों में बंटे हैं, जिनमें जाति–विशेषताएं हैं। जातियां स्थानीय और क्षेत्रीय सांस्कृतिक चिन्हक भी धारण किए रहती हैं, जो पारिस्थितिक, स्थानीय इतिहास या पौराणिक कथाओं पर आधारित होते हैं। पांरपरिक रूप से गांव और शहर दोनों जगह जातियां लेन-देन के व्यवस्थागत संबंध या कार्य और आर्थिक विनिमय या सेवाओं के विनिमय में बंधी रहती थीं। इस अर्थ में वर्ण व्यवस्था पारस्परिक सहयोग और परस्पर निर्भरता के आधार पर काम करती थी। इसने एक जैविक-तंत्र का निर्माण किया था। गांव और शहर दोनों जगह जातियों की अपनी पंचायतें थीं। हालांकि गांव और शहर में इनके अंपने केन्द्र थे, ऐसी पंचायतों या (शहरी) संघों के पास शहर या गांव से बाहर भी संगठनों का एक नेटवर्क था, यदि किसी कारणवश अंतरजातीय संघर्ष उठ खड़ा होता था जिससे जाति के लेन-देन के नियमों का उल्लंघन हो रहा हो और अगर ऐसा विवाद ग्रामसभा या नगरसभा (जिसमें विभिन्न जातियों के बुजुर्ग और प्रतिष्ठित व्यक्ति सदस्य होते थे) में नहीं सुलझ पा रहा हो तो ऐसी स्थिति में मामले को जाति–पंचायतों में उठाया जाता था। इस तरह यह जाति के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करने वाली संस्था के रूप में काम करने के साथ-साथ संघर्षों या झगड़ों के निपटारा करने वाली प्रणाली के रूप में भी काम करती थी।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) जाति और सामाजिक स्तरीकरण पर एक नोट लिखिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) नीचे दी गई सूची में कौन-सी अवधारणा शेष से मेल नहीं खाती:

   i) हैसियत

   ii) संपत्ति

   iii) सामंती

   v) नगरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में वर्ण के स्थायित्व का आधार अर्थव्यवस्था थी जो लंबे समय तक कृषि-व्यापार ही रही। इसके साथ-साथ अधिक मृत्यु दर के कारण जनसंख्या भी स्थिर थी जो कई सदी तक एक करोड़ के आस-पास ही बनी रही। स्थिर जनसंख्या का यह दौर औद्योगिक क्रांति के बाद टूटा जिसके चलते महामारियों और प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली भारी मृत्यु दर को नियंत्रित करने के लिए उन्नत जीवन-रक्षक साधन और उपचार सुलभ हो पाए थे। इसके फलस्वरूप जैसा कि जनगणना के आंकड़े बताते हैं वर्ष 1931 से भारत की जनसंख्या बढ़ती गई। ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति ने भारत को एक पराश्रित अर्थ-व्यवस्था बनाया और उसकी परंपरागत विनिर्माण अर्थ-व्यवस्था और व्यापार को नींव से नष्ट कर दिया।

इसके फलस्वरूप जहां एक और विनगरीकरण और वि-औद्योगीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर गांवों में भूमि पर दबाव भी बढ़ गया। इसका परिणाम यह रहा कि जो आर्थिक और सामाजिक संरचना का पारंपरिक संतुलन ग्रामीण और नगर केन्द्रों तथा कृषि और निर्माण और व्यापार के बीच विद्यमान था वह टूट गया। सिर्फ यही नहीं, अंग्रेजों की नीति अपनी सामाजिक और राजनीतिक नीतियों के कार्यान्वयन में जाति और धर्म को ही संदर्भ का आधार बना कर चलने की थी। अंग्रेज शासकों ने जब जातीय आधार पर जनगणना की तो इसने देश के जन साधारण को पहली बार राजनीतिक हकीकत के रूप में जाति के प्रति जागरूक बनाया। इसके फलस्वरूप जो जातियां जाति-क्रम में निम्न श्रेणी में थीं उनकी ओर से अपने को उच्च जातियों की श्रेणी में रखने की मांग उठी। इसने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया जिसका अर्थ यह है कि निम्न जातियों ने उच्च जातियों की जीवन शैली, खान-पान की आदतें, पहनावा, पूजा-पाठ की विधियां-रीतियां अपनाना शुरू कर दिया। ये जातियां आगे चलकर उच्च जाति का दर्जा दिए जाने की मांग करने लगीं। यही नहीं, एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार इसने पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया में भी योगदान दिया, जिसके चलते भारतीय भी पश्चिमी वेशभूषा, जीवन शैली और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के तौर-तरीके इत्यादि अपनाने लगे।

MAADHYAM IAS

1.5.2 सामाजिक गतिशीलता

वर्ण व्यवस्था के स्तरीकरण में परिवर्तन की प्रक्रिया के इस दौर ने एक नई सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को जन्म दिया। सामाजिक गतिशीलता को इसने राज्य की नीतियों से सीधे जोड़ा और इसने सामाजिक आंदोलनों में राजनीतिकरण के तत्वों को शामिल किया, जिससे व्यवस्था पीछे नहीं मुड़ पाई है। यह प्रक्रिया स्वतंत्रता के बाद भी बढ़ती रही है हालांकि उसमें कुछ बदलाव अवश्य आया है। यह आजादी हमें अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप प्राप्त हुई जो वैचारिक रूप से भारत में जाति, धर्म या जातीयता के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध थी। इसकी नींव पंथ-निरपेक्षता और समान नागरिक अधिकारों के सिद्धांतों पर रखी गई थी, इसीलिए स्वतंत्रता के बाद भारत ने जो संविधान स्वीकार किया वह सिर्फ कामकाज के उद्देश्य के लिए ही नागरिकों की नागरिक स्थिति को मानता है। यही कारण है कि स्वतंत्रता के तत्काल बाद ग्रामीण और शहरी नागरिक संस्थाओं से जाति को अमान्य करार दे दिया गया। मगर वहीं भारतीय संविधान ने जनकल्याण नीति के मद्देनज़र चुनी जातियों और जनजातियों के लिए जातिगत-स्थिति को मान्यता दी जो सदियों से शोषित रही थीं और अन्य जातियों के साधन-संपन्न वर्गों से स्पर्धा करने की स्थिति में नहीं थीं। इन जातियों और जनजातियों को संविधान की अनुसूची में सरकारी नौकरियों, शिक्षण संस्थानों और निर्वाचित राजनीतिक पदों में क्रमश: सूचीबद्ध किया गया और इन्हें 15.0 और 7.5 प्रतिशत आरक्षण दिया गया।

बॉक्स 1.01

आरक्षण का यह प्रावधान संविधान में किया गया। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में भी यह कहा गया है कि राज्य "सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों" को भी आरक्षण का लाभ देगा। पिछड़े वर्गों की पहचान करने के लिए पहले 1955 में काका कर्लेकर आयोग और फिर 1977 में मंडल आयोग बनाए गए। कर्लेकर आयोग इस दिशा में कोई निश्चित राय नहीं दे सका लेकिन मंडल आयोग ने पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की जिनकी पहचान आयोग ने उनकी जातियों से की। आयोग ने इन जातियों की सूची भी दी। यहां ध्यान देने की बात यह है कि भारत के कई राज्य पिछड़े वर्गों को केन्द्र सरकार की इस आरक्षण नीति के लागू होने से पहले ही आरक्षण दे रहे थे। इन राज्यों ने भी पिछड़ेपन की पहचान जाति/समूहों से की जिन्हें सामाजिक और शैक्षिक अवसरों से वंचित रखा गया था।

रोजगार, शिक्षा और राजनीतिक पदों में जातियों के लिए आरक्षण की नीति भारत में सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता को दर्शाती है जो खुद राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास की उपज है। इस नीति की उत्पत्ति में सहायक कारक हैं: लोकतांत्रिक रोजगार, कृषि उत्पादकता में वृद्धि जिसका श्रेय कृषक जातियों को जाता है (जिनमें से अधिकतर जातियों को केन्द्र और राज्यों में पिछड़े वर्ग की श्रेणियों में रखा गया है), और इन जातियों में शिक्षा और सरकारी सेवाओं के क्षेत्र में अपनी सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाने की आकांक्षा। पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की नीति को राज्य से केन्द्र की ओर गति विभिन्न चरणों में पिछड़े वर्गों के आंदोलनों के फलस्वरूप मिली। पिछड़े वर्गों के आंदोलनों को इन वर्गों की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में आए सुधार से बल मिला, जो लोकतांत्रिक नीति के तहत राष्ट्र के 50 वर्ष तक आर्थिक और सामाजिक विकास में निवेश का परिणाम था।

1.5.3 क्रम-परंपरा के सिद्धांत

जाति भी सामाजिक स्तरीकरण में क्रम-परंपरा के सिद्धांत को प्रतिबिंबित करती है। फ्रांस के सामाजिक नृविज्ञानी लुई ड्यूमोंट भारतीय सामाजिक संरचना को इसकी अनूठी वर्ण संस्था के मद्देनजर पाश्चात्य सामाजिक संरचना से एकदम विपरीत रखकर देखते हैं। इसका एक कारण यह है कि जाति की यह अनूठी संस्था संरचनात्मक और सभ्यता दोनों दृष्टि से क्रम-परंपरा के सिद्धांत को प्रतिबिंबित करती है जो कि पश्चिमी समाज के समानता के सिद्धांत के एकदम विपरीत है। ड्यूमोंट क्रम-परंपरा को एक सामाजिक व्यवस्था की विशेषता के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसमें मानकीय सिद्धांत समाज के मामलों में नैमित्तिक (साधनपरक) या उपयोगितावादी सिद्धांतों को संचालित या निर्धारित करते हैं। वह इसे परिवेष्टित और परिवेष्टनकारी कहते हैं। यानी उनके अनुसार यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा परंपरागत रूप से मान्य मूल्य और विश्वास तर्कसंगत उपयोगितावादी सिद्धांतों को परिवेष्टित करते हैं या उन्हें लेकर चलते हैं। दूसरे शब्दों में क्रम-परंपरा की व्यवस्था में समाज के आदर्श मानकों को आर्थिक, राजनीतिक और अन्य कारक तय नहीं करते। बल्कि इन्हें तय करने वाले कारक इनसे बिल्कुल भिन्न होते हैं। इसलिए ड्यूमोंट के अनुसार वर्ण व्यवस्था में प्रचलित अशुद्धि-शुद्धि की धारणाओं को हम पाश्चात्य जगत् के धर्मनिरपेक्ष मानकों की कसौटी पर नहीं कस सकते क्योंकि ये मानक ऐसी सभ्यता से जुड़े हैं, जिनका ताना-बाना बिल्कुल ही भिन्न है।

ड्यूमोंट की क्रम-परंपरा के रूप में जाति की व्याख्या पर भारत में ही नहीं बल्कि समूचे विश्व में एक बहस छिड़ी। जातियों के स्तरीकरण और उसके स्थायीकरण में आर्थिक और राजनीतिक कारकों की भूमिका की अनदेखी करने के लिए उनकी आलोचना हुई। लेकिन जैसाकि देखने में आ रहा है कि आज जिस प्रकार जाति सफलतापूर्वक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आधुनिकीकरण की मांगों के अनुसार ढल रही हैं, और जिस प्रकार बड़े आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसको ज्यादा से ज्यादा संगठित किया जा रहा है उससे यही प्रतीत होता है कि क्रम-परंपरा के सिद्धांत में इसने अपने अधिकांश पारंपरिक विशेषताओं को खो दिया है।

MAADHYAM IAS

1.6 भारतीय समाज का ढांचा

भारत के सामाजिक ढांचे में उसकी वर्गीय संरचना और उसकी प्रक्रियाओं का काफी विस्तृत और गहन अध्ययन हुआ है। इस प्रकार के अध्ययन में अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और नृविज्ञानियों ने योगदान किया है। ऐसे कई अध्ययनों में भारतीय समाज में जाति और वर्ग के बीच घनिष्ठ संबंध को स्थापित करने के प्रयास भी खूब हुए हैं। इस तरह के ज्यादातर अध्ययन अनुभवजन्य प्रेक्षणों पर आधारित हैं और उनका चरित्र क्षेत्रीय है। इसके बावजूद इन अध्ययनों से हमें भारत में वर्गीय संरचना और जाति स्तरीकरण से उसके घनिष्ठ संबंध का पता चलता है।

1.6.1 स्थिति का सार

पारंपरिक रूप से यह देखा गया है कि जाति में एक विशेष लक्षण होता है जिसे 'स्थिति का सार' सिद्धांत कहा गया। आनुष्ठानिक (शुद्धि-अशुद्धि) क्रम-परंपरा में जाति की स्थिति अगर निम्न हो तो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति तक उस जाति की पहुंच भी उतनी ही निम्न रहती है। ऐसी स्थिति में जाति में एक तरह से वर्ग की विशेषता भी शामिल रहती है मगर उसमें सारी विशेषताएं नहीं होतीं। परिभाषा के अनुसार जाति एक संवृत समूह है, इसकी सदस्यता जन्म से मिलती है, इसलिए जाति-स्थिति प्रदत्त होती है। इसे हम आर्थिक या सामाजिक गतिशीलता के द्वारा अर्जित नहीं कर सकते। दूसरी ओर वर्ग एक खुला या विवृत समूह है जिसकी सदस्यता का आधार अर्जन या उपलब्धि की कसौटी है, जो आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक हो सकती है। जाति एक समुदाय भी है, जिसकी गतिशीलता समूह पर आधारित या सामूहिक होती है। इसीलिए अतीत में संस्कृतिकरण के द्वारा अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने के प्रयासों में समूचा जाति-समूह शामिल रहता था। जाति के विपरीत वर्ग में ऐसी कोई सामुदायिकतावादी विशेषता नहीं होती हालांकि यह साझे हितों के आधार पर सामूहिक-सहचारिता विकसित कर सकता है। इस अर्थ में वर्ग एक हित-समूह है जबकि जाति एक समुदाय है। नए सामाजिक और आर्थिक विकास और जातिगत सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के सक्रिय होने (जिसमें आरक्षण नीति भी शामिल है) से जाति समूह हित-समूहों में परिवर्तित हो गए हैं। इस हद तक वर्ग के कुछ विशेष-लक्षण भी ऐसे जातिगत संगठनों में शामिल हो गए हैं। खासकर यह बात हम उन अनेक जातिगत संगठनों के बारे में कह सकते हैं जो अंग्रेजी शासन के समय से ही भारत में विद्यमान हैं और स्वतंत्रता के बाद जिनकी संख्या में खूब बढ़ोतरी ही हुई है।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ 'स्थिति का सार' सिद्धांत पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा में आपको जो जो मुख्य बातें पता चलें उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लें।

भारतीय समाज में वर्गीय ढांचा ग्रामीण और शहरी समाजों में एक दूसरे से भिन्न पाया जाता है। समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृविज्ञानियों ने ग्रामीण समाज के बारे में जो-जो अध्ययन किए हैं, उनमें ग्रामीण वर्गीय संरचना में मुख्यतः तीन वर्ग पाए गए हैं–जमींदार, किसान और मजदूर वर्ग। गांवों में दस्तकार और अहलकार या वृत्तिमूलक जातियां भी छोटी संख्या में एक अलग आर्थिक हित-समूह के रूप में विद्यमान रहती हैं जिसमें वर्ग के कुछ लक्षण पाए जाते हैं। मार्क्सवादी श्रेणियों के अनुसार अध्ययन करने वाली कैथलीन गॉग और कुछ अन्य समाज-विज्ञानियों ने ग्रामीण वर्गीय ढांचे को इन वर्गों में बांटा है: बुर्जुवा वर्ग (बड़े जमींदार), छोटा बुर्जुवा वर्ग (मझोले और छोटे जमींदार तथा व्यापारी और दस्तकार) और ग्रामीण सर्वहारा या श्रमिक वर्ग (जिनके पास कोई जमीन नहीं होती और जो दिहाड़ी मजदूरों के रूप में जीवन-यापन करते हैं)।

1.6.2 मार्क्सवादी विधि और धारणाएं

अर्थशास्त्रियों में भारत के वर्गीय ढांचे के अध्ययन-विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी विधि और धारणाओं के प्रयोग का चलन अधिक रहा है। कालांतर में समाजशास्त्रियों ने भी इन्हीं का प्रयोग आरंभ कर दिया। चूंकि सामाजिक विश्लेषण की मार्क्सवादी विधि वर्गीय ढांचे को उत्पादन विधियों, जैसे आदिम, सामंती और

पूंजीवादी, के अनुसार बांटती है इसलिए भारत में वर्गीय ढांचे पर जो बहस हुई वह अधिकतर ग्रामीण और औद्योगिक अर्थव्यवस्था में प्रचलित उत्पादन विधियों के बारे में हुई बहसों पर आधारित रही है। ग्रामीण संदर्भ में इस पर काफी बहस हुई है कि क्या ग्रामीण व्यवस्था और उसकी सामाजिक संरचना में सामंती, अर्धसामंतवादी पूर्व-पूंजीवाद या पूंजीवादी लक्षण हैं। ये भेद इस बात पर आधारित हैं कि अध्ययनकर्ता सामंतवादी अर्थव्यवस्था को अपने विश्लेषण का प्रस्थान बिंदु मानकर चलता है या नहीं, जिसमें वह कृषि अर्थव्यवस्था में उसके पूंजीवादी लक्षणों का अध्ययन करता है। मोटे तौर पर इन अध्ययनों से पता चलता है कि गांवों का वर्गीय ढांचा, जहां कृषि अर्थव्यवस्था अभी तक चल रही है, वह तेजी से पूंजीवाद की ओर बढ़ रहा है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं या कृषि उत्पादों के रूप में दी और ली जाने मजदूरी की जगह अब नकद मजदूरी ने ली है, कृषि का काम गुजारे की जगह लाभोन्मुखी हो गया है, उत्पादन में निवेश के लिए बैंक ऋण और सहकारिताओं की भूमिका बढ़ गई है, बाजार से बढ़ते संपर्क के साथ ही अनाज उत्पादन के बजाए अब नकदी फसलों के उत्पादन को अधिक महत्व मिल रहा है। इस प्रकार ग्रामीण कृषि-व्यवस्था में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के ऐसे कई गुण आ गए हैं।

बॉक्स 1.02

खेती-बाड़ी में आए परिवर्तनों के फलस्वरूप पूंजीपति किसानों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ है। मगर जहां-कहीं परिवर्तन की हवाएं पूरी तरह से नहीं पहुंच पाई हैं वहां भी पूर्व-पूंजीवादी वर्गीय लक्षण पूंजीवादी क्षमता की ओर बढ़ रहे हैं। मगर भारत में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन का स्तर इतना असमान और विविध है कि जो राज्य पिछड़े हैं उनमें हमें कृषि अर्थव्यवस्था में सामंती और अर्ध-सामंती (या पूर्व-पूंजीवादी) लक्षण दिखाई देते हैं। इसीलिए भारतीय गांवों में वर्गीय ढांचा आज भी जटिल बना हुआ है जिसकी अनेक विशेषताएं हैं।

शहरी क्षेत्रों में वर्गीय ढांचा प्राय: उद्योगपतियों, बनियों और व्यापारियों, व्यवसायियों या नौकरी-पेशा लोगों, अर्ध-कुशल कामगारों और दिहाड़ी मजदूरों के वर्गों में बंटा रहता है। स्वतंत्रता के बाद से व्यवसायी वर्गों की संख्या में वृद्धि हुई है और आज देश की अर्थव्यवस्था में सेवा-क्षेत्र का अंश सकल घरेलू उत्पाद में लगभग 51 प्रतिशत है। सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान अब करीब 28 प्रतिशत है। जाहिर है,

MAADHYAM IAS

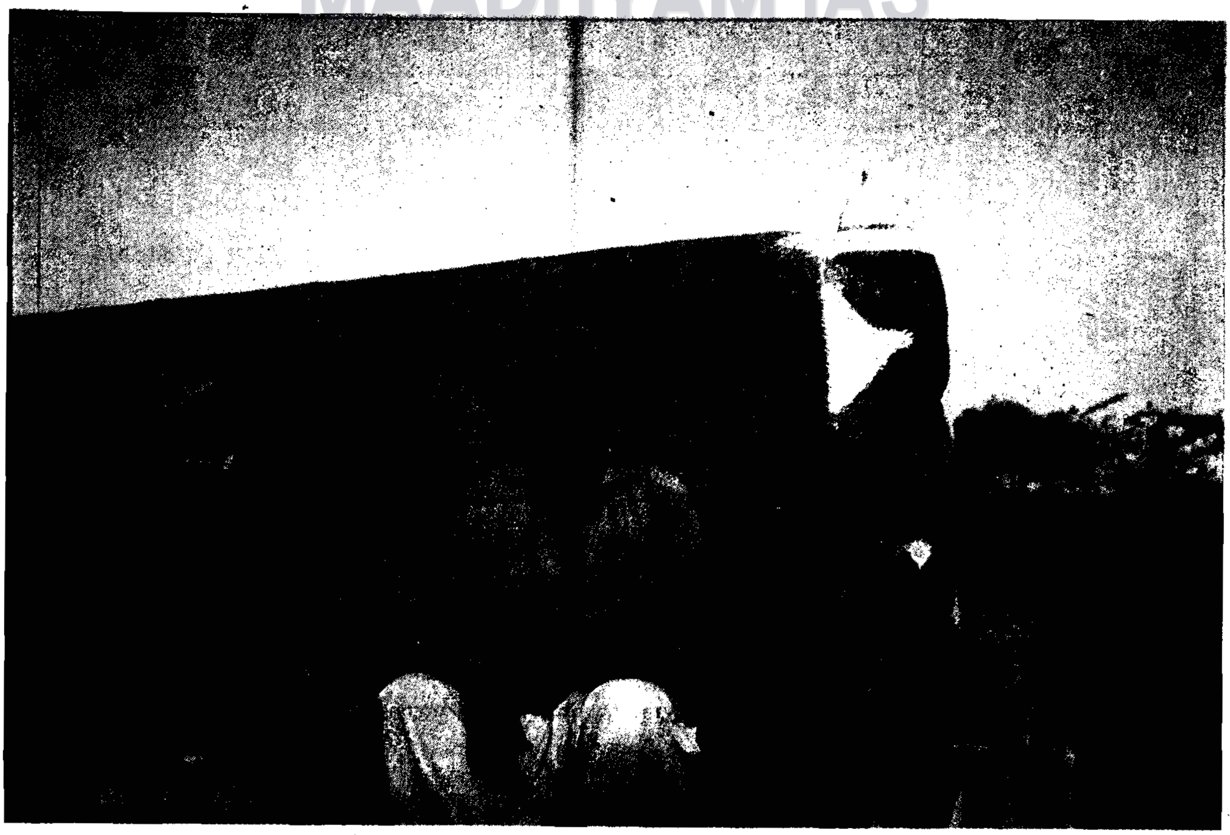

व्यक्तिगत पहनावे में झलकता जातिगत सार
साभार : बी. किरणमई

नगरीय-औद्योगिक भारत की वर्गीय संरचना नई प्रौद्योगिकी और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के कारण तेजी से बदल रही है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे समाज के ग्रामीण और नगरीय दोनों क्षेत्रों में मध्यम वर्गों की संरचना में विस्तार आया है। उदाहरण के लिए हरित क्रांति ने एक मजबूत ग्रामीण मध्यम वर्ग का निर्माण किया है। इस हरित क्रांति की अगुआई कृषक जातियों ने ही की (जो पिछड़े वर्ग के आंदोलन की रीढ़ हैं)। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र को जो विस्तार मिला है उससे हमारे शहरों और कस्बों में मध्यवर्गीय लोगों की संख्या में अभूतपूर्व इजाफा हुआ है। नगरों और कस्बों में नगरीय मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या अब 35 करोड़ के लगभग है। हमारी अर्थव्यवस्था में वृद्धि होती रही तो ऐसा अनुमान है कि इसकी संख्या बढ़ कर आगामी दो-तीन दशकों में 50 करोड़ यानी देश की आधी जनसंख्या के बराबर हो जाएगी।

1.6.3 सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था

भारतीय समाज का वर्गीय ढांचा अपनी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था से अब औद्योगिक और विशेषकर सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इससे हमारे समाज में जाति और वर्गीय ढांचे के बीच मौजूदा गठजोड़ के लिए बड़े ही महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय परिणाम निकलेंगे। नई अर्थव्यवस्थाओं के बढ़ते आवेग के फलस्वरूप नगरीकरण में भारी तेजी आएगी और विभिन्न प्रदेशों और सामुदायों के बीच पलायन भी तेज होगा। इन सबके फलस्वरूप जाति पर आधारित राजनीतिक लामबंदी की जगह राजनीतिक और सामाजिक शक्ति को सामाजिक ढांचे में मिलने वाले स्थान के नए सिद्धांतों का सूत्रपात होगा। इस स्थिति में जाति-समूहों से अधिक महत्व वर्ग और जातीयता को मिलेगी। सामाजिक-नृविज्ञानियों ने हमारे समाज में जाति संजातीकरण की तेज होती प्रक्रिया को भांप लिया है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में जाति और वर्ग के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सही और गलत बताइए।

   i) सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण के लिए वेबर ने द्वंद्वात्मक सिद्वांत अपनाया था।

   ii) निम्न जाति स्थिति का मतलब जाति क्रम परंपरा में निम्न स्थान है।

   iii) वर्ग एक हित-समूह है जबकि जाति एक समुदाय।

1.7 अवधारणा और सिद्धांत संबंधी कुछ मुद्दे

सामाजिक स्तरीकरण से जुड़े मुद्दों और सिद्धांतों का झुकाव मूलत: सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक क्रम व्यवस्था के बीच मौजूद संबंध की ओर रहा है। मैक्स वेबर ने समाज की तीनों व्यवस्थाओं में भेद किया। ये हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। उनके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की बनावट समाज के 'क्रम' की प्रकृति के अनुसार बदलता है। 'सामाजिक क्रम' की प्रमुखता 'प्रतिष्ठा' के मानकीय की सिद्धांत में निहित है और इसके संस्थागत संरचनाएं इसी से प्रभावित होती हैं। यह स्थिति समूहों में विद्यमान रहती है।

पुराने यूरोपीय समाज में प्रचलित सामंतवाद की संस्थाएं, अभिजात वर्ग और विभिन्न रियासतों (एस्टेट) का निर्माण इसके उदाहरण थे। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में आनुवंशिक अधिकार और पैतृक संपत्ति

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

और नाना प्रकार के प्रदत्त विशेष अधिकारों और सत्ताधिकारों का प्रचलन था। इधर भारत में विद्यमान समाज का जातिगत स्तरीकरण इस सिद्धांत को प्रतिबिंबित करता है। सह शुद्धि-अशुद्धि के सिद्धांत, पैतृक व्यवसाय और जातिगत विशेषाधिकारों या भेदभाव के अनुमोदित रूपों में काम करती है। यह सजातीय विवाह सिद्धांत में भी झलकता है। वर्ग के विपरीत जाति सामाजिक समुदायों की रचना भी करती है। 'आर्थिक क्रम' तर्कसंगति के मानकीय सिद्धांत और बाजार स्थिति पर आधारित है। यह हित समूहों के रूप में झलकता है। मैक्स वेबर के अनुसार वर्ग बाजार स्थिति की ही उपज है। यह स्पर्धी होता है, इसमें ऐसी सामाजिक श्रेणियां होती हैं, जो समुदायों की रचना नहीं करतीं। वर्ग स्थिति में सामाजिक गतिशीलता अर्जित प्रवीणताओं और योग्यताओं पर निर्भर करती है जो आपूर्ति और मांग के नियमों से संचालित होती हैं। संस्था के रूप में इसकी अभिव्यक्ति बाजारवाद में वृद्धि में देखी जा सकती है। यह बाजार स्थिति को बढ़ावा देता है। समाज का तीसरा क्रम 'राजनीतिक' है। यह 'सत्ताधिकार' की आकांक्षा और उसकी साधना पर आधारित है। इसकी संस्थागत अभिव्यक्ति हमें राजनीतिक दलों और विभिन्न संगठनों के संगठित तंत्र में मिलती है, जिनका रुझान इसके अर्जन में होता है। समाज की राजनीतिक व्यवस्था और इसकी संस्थागत प्रक्रियाओं में अन्य व्यवस्थाओं यानी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं तक फैलने की प्रवृत्ति होती है।

1.7.1 वेबर का नज़रिया

वेबर की अवधारणा और सिद्धांत संबंधी नजरिया मुख्यत: व्याख्यात्मक और व्यवस्थापरक है। उनका मानना था कि सामाजिक प्रसंग को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए समाजशास्त्र में सैद्धांतिक विकास 'आदर्श किस्म' की अवधारणाओं के प्रयोग से किया जा सकता है। ये अवधारणाएं वास्तविकता को देखकर मिल अनुभवजन्य आगमन पर आधारित नहीं होती हैं, बल्कि ये 'ऐतिहासिक व्यक्ति' या ऐतिहासिक घटनाओं का एक कालावधि में किया जाने वाला काल्पनिक चित्रण है जिससे समाज़शास्त्री अपनी व्याख्यात्मक समझ से अवधारणाओं की रचना करता है। इसलिए आदर्श किस्म की अवधारणाएं वास्तविक नहीं होतीं हालांकि वे वास्तविकता की एक निश्चित समझ से ही निकलती हैं। ये आदर्श तो होती हैं मगर मानकीय न होकर (वांछनीय या अवांछनीय, अच्छा या बुरा) चिंतनात्मक या मानसिक रचनाएं होती हैं। वेबर का मत है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का व्याख्यात्मक महत्व तो है मगर उनमें सामान्यीकरण की नियम जैसी शक्ति नहीं है। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के उनके सिद्धांत को इसी रूप में लिया जाना चाहिए। उनका सिद्धांत एक कालावधि में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांतों के प्रकटन की तुलनात्मक समझ पर आधारित है। एक पद्धति और परिवर्तन की प्रक्रियाओं के रूप में सामाजिक स्तरीकरण को समझने में यह सिद्धांत बड़ा ही सहायक रहा है।

1.7.2 द्वंद्वात्मक नज़रिया

कार्ल मार्क्स का 'द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकतावाद' सामाजिक स्तरीकरण का एक और स्थापित सिद्धांत है। सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए बुनियादी अवधारणाओं की खोज में वेबर ने जिस प्रकार 'क्रम-व्यवस्था' की बुनियादी धारणा का प्रयोग किया है, उसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणात्मक श्रेणियों के वर्गीकरण के लिए 'उत्पादन विधि' और 'उत्पादन संबंधों, का प्रयोग किया है। उनके अनुसार उत्पादन की महत्वपूर्ण विधियां इस प्रकार हैं: आदिम, सामंती और पूंजीवादी। ये भेद श्रम-शक्ति के उपयोग की विधियों या उसकी प्रकृति तथा वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त होने वाली प्रौद्योगिकी के साधनों पर आधारित हैं। उत्पादन की आदिम विधि की विशेषता यह थी कि उसमें सामूहिक श्रम की विधि अपनाई जाती थी जिसमें आदिम औजार इस्तेमाल होते थे। इस तरह की उत्पादन विधि आदिम भोजन-संग्राही और शिकारी समुदायों में प्रचलित थी। जैसा कि हम कह चुके हैं सामाजिक स्तरीकरण की संस्थाओं का अभी इस चरण पर विकास नहीं हुआ होगा। इसके संस्थागत अंगों का विकास सामंतवाद के उदय के साथ हुआ। इस समय तक संपत्ति और उत्पादन के संसाधनों का संचय होने लगा था। इसके फलस्वरूप समाज में स्तरीकरण आरंभ हुआ जिसके शीर्ष पर सामंतवादी भूस्वामी विराजमान था। यह 'भू-स्वामी भूमि और उत्पादन के अन्य तमाम संसाधनों समेत अपनी रियासत या एस्टेट और उस पर आश्रित लोगों पर अधिकार रखता था जो वस्तुत: बहुत व्यापक था। कृषक, दास और व्यापारी और दस्तकार/कारीगर समाज के अन्य स्तर थे जो इस पद्धति के हिस्सा थे। मगर ये सभी

पूरी तरह से उत्पादन के साधनों और श्रमशक्ति पर निर्भर थे जो भूपति के अधिकार में रहते थे। दरअसल, इनमें से अधिकांश सामाजिक स्तर सामंतवादी भूपति की जागीर से जुड़े होते थे। सामंतवाद ने अपने विशिष्ट राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं विकसित की मगर इनमें से ज्यादातर आनुवंशिक विशेषाधिकारों और पैतृक-प्रभुत्व पर आधारित थीं। सामंत का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था जिससे उसके और अन्य सामाजिक स्तरों में एक ऐसा संबंध विकसित हुआ जिसका आधार स्थिति अनुबंधन और विशेषाधिकार थे।

बॉक्स 1.03

मार्क्स के अनुसार इस व्यवस्था में अंतर्द्वंद्व और तनाव प्रकट या अप्रकट रूप से मौजूद थे। यह अंतर्द्वंद्वात्मक संबंध उस समय मौजूद 'झूठी चेतना' के कारण प्रकट रूप में नहीं था। उदाहरण के लिए सामंत और किसान के बीच के संबंध को किसान शोषणकारी समझने के बजाए उसे एक हितकारी संरक्षण के रूप में लेता था। एक दृष्टिकोण प्रक्रियाओं के बारे में भी विद्यमान है, जिनके माध्यम से संपत्ति सामाजिक स्तरों में समूहों के स्थान का विभाजन करती है।

1.7.3 पूंजीवाद का उदय

पूंजीवाद के उदय से सामाजिक विकास-क्रम में एक नए दौर की शुरुआत हुई। नूतन प्रौद्योगिकी के विकास और सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से चली ऐतिहासिक परिवर्तन की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया ने सामंतवाद को लुप्तप्राय बना दिया और इसकी जगह पूंजीवाद ने ले ली। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इस समय तक वर्गीय ढांचा पूर्णतः उभर चुका था। वस्तुओं के उत्पादन में कारखाना विधि का विकास, कृषकों और मजदूरों का गांव से शहर की ओर भारी संख्या में पलायन, बाजार के विस्तारित उपयोग से पूंजी का संचय, जिसे परिवहन की नई प्रौद्योगकी ने संभव बनाया और यूरोपीय शक्तियों का औपनिवेशक विस्तार, इन सबने सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को ही बदल डाला। सामाजिक स्तरीकरण की इस नई योजना में जिन मुख्य नए वर्गों का उदय हुआ वे थे पूंजीवादी उद्यमी और श्रमिक वर्ग। इसके साथ इन दोनों वर्गों के बीच एक नए किस्म का अति प्रतिद्वंद्वात्मक संबंध उपजा। इस प्रकार के प्रतिद्वंद्वात्मक संबंध के मूल में काम के समुचित घंटे, समुचित पारिश्रमिक, रोजगार और काम की बेहतर स्थितियां, इत्यादि मांगें थीं। मार्क्स के अनुसार संघर्ष की ये शक्तियां प्रतिद्वंद्विता को भी अप्रासंगिक बना कर उसकी जगह समाज में एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित कर देती हैं। यह समाजवादी व्यवस्था पूंजी के निजी स्वामित्व और लाभ अर्जन के बिना सामूहिक उत्पादन पर आधारित होगी। किसान और श्रमिक वर्गों द्वारा क्रांति लाने के बाद अनेक देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई जैसे सोवियत संघ, चीन, वियतनाम इत्यादि। मगर मार्क्स की मान्यता के उलट पूंजीवाद अभी तक अप्रासंगिक नहीं हो पाया है। हकीकत तो यह है कि पूंजीवाद में एक नया लचीलापन और ऊर्जा देखने में आ रही है। जबकि दूसरी ओर कई समाजवादी अर्थव्यवस्थाएं या तो कमजोर पड़ गई हैं या उनकी जगह पूंजीवादी व्यवस्था या संस्थाओं ने ले ली है।

मगर मार्क्सवादी सिद्धांत का सार सामाजिक स्तरों के निर्माण प्रक्रिया या इसके संरचनात्मक गठन में न होकर सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के इसके बुनियादी तर्क में निहित है। मार्क्स सामाजिक व्यवस्था को ऐतिहासिक भौतिकतावादी परिस्थितियों की उपज मानते हैं। उत्पादन विधियां और उत्पादन के संबंध उन स्थितियों को परिभाषित करते हैं और ये स्थितियां प्रौद्योगिकी में होने वाले नूतन परिवर्तनों को सुलझाने के प्रयासों के कारण निरंतर बदल रही हैं जो कि सार्वभौमिक हैं। इस प्रकार मार्क्स की धारणा के अनुसार सामाजिक व्यवस्था विभिन्न समूहों के बीच परस्पर संबंधों पर आधारित होती है और ये संबंध नैसर्गिक रूप से विरोधी होते हैं जिन्हें सामाजिक व्यवस्था या तंत्र को बदले बिना सुलझाया नहीं जा सकता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को पलटा जा सकता है उसे हम क्रांति कहते हैं जिसमें औद्योगिक मजदूर और किसान जैसे शोषित वर्ग पूंजीवादी वर्गों के खिलाफ वर्ग संघर्ष में साझा हिस्सा लेते हैं। इस सर्वहारा क्रांति के फलस्वरूप जो सामाजिक व्यवस्था यानी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होती है उसमें सामाजिक-आर्थिक असमानताओं पर आधारित प्रतिद्वंद्विता को जन्म देने वाले सामाजिक-स्तरों के लिए कोई जगह नहीं होती। मगर इसमें वर्ग या सामाजिक स्तरीकरण के बिना कार्य का सामाजिक विभाजन अवश्य होता है। इस प्रकार के सामाजिक स्तरों को 'अविरोधी' कहा जाता है।

1.7.4 डारहेंडॉर्फ और कोजर

मार्क्सवाद के अलावा सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र में अन्य सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य भी हैं जो समाज में मौजूद अंतर्द्वंद्व को एक सार्वभौमिक लक्षण मानते हैं जो उसमें सामाजिक श्रेणियों के रूप में विद्यमान रहता है। राल्फ डारहेंडॉर्फ और लुइस कोजर उन पश्चिमी समाजशास्त्रियों के उदाहरण हैं जो अंतर्द्वंद्व की सार्वभौमिकता को सामाजिक स्तरीकरण के हर स्वरूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन ये समाजशास्त्री इस द्वंद्व को वर्ग संघर्ष और सर्वहारा क्रांति के सिद्धांत से जोड़ने के बजाए सामाजिक तंत्र में विद्यमान संस्थागत विसंगतियों में देखते हैं।

इन समाजशास्त्रियों के अनुसार द्वंद्व हितों में परस्पर वैमनष्य और ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने के प्रयास में समाज के एक स्तर द्वारा दूसरे स्तरों के ऊपर सत्ताधिकार या शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होता है। इसलिए यह द्वंद्व सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था की आंतरिक गतिशीलता को दर्शाता हैं। बल्कि यह द्वंद्व स्तरीकरण के पूर्ण प्रतिस्थापन की ओर अभिगमन जैसा कि मार्क्स ने कहा था क्रांतिकारी विधियों से सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का द्योतक नहीं है। सामाजिक स्तरीकरण के ऐसे सिद्धांत, जिन्हें 'द्वंद्व सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है, ऐतिहासिक भौतिकतावाद के मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकार नहीं करते जिसमें क्रांतिकारी आंदोलनों के माध्यम से सामाजिक विकास-क्रम के नियत चरणों का प्रतिपादन किया गया है। इस द्वंद्व सिद्धांत में सामाजिक क्रम-व्यवस्था की जो धारणा दी गई है वह इसकी द्वंद्वात्मक भौतिकतावादी व्याख्या के बजाए इसके कार्यपरक दृष्टिकोण के ज्यादा नजदीक है।

1.7.5 प्रकार्यवादी सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत सामाजिक व्यवस्था के प्रति मार्क्सवादी नजरिए से एकदम अलग है। सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में यह सिद्धांत विशेष रूप से अमरीकी समाजशास्त्रियों में बड़ा प्रचलित है। कार्यपरक सिद्धांत यह मानकर नहीं चलता कि सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक स्तरों की असमनाताओं पर आधारित आत्म-उन्मूलक अंतर्विरोध या द्वंद्व नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहते हैं। बल्कि यह सिद्धांत मानता है कि सामाजिक व्यवस्था में आत्म रख-रखाव और आत्म-नियमन की नैसर्गिक क्षमता विद्यमान होती है। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि समाज और सामाजिक स्तरीकरण समेत इसकी तमाम संस्थाओं की रचना सामाजिक संबंधों के परस्पर-निर्भर समुच्चयों से होती है, जिनमें द्वंद्वों को बांधे रखने और उन्हें सुलझाने की क्षमता होती है। यहां यह सिद्धांत द्वंद्वों को अस्वीकार नहीं करता। यह सिद्धांत सामाजिक व्यवस्था और जीव में समरूपता मानता है जिसके अनुसार दोनों में आत्म-नियमन और स्वदोषहरण की आंतरिक क्रियाविधि पाई जाती है। कार्यपरक दृष्टिकोण से सामाजिक स्तरीकरण एक गतिशील व्यवस्था है जिसकी विशिष्टता सामाजिक गतिशीलता और सहमति निर्माण के नियमों का निरंतर पुनर्संयोजन है। यह स्पर्धा और द्वंद्व की भूमिका को स्वीकार तो करता है मगर इसके साथ संस्थागत-कार्यप्रणाली के अस्तित्व में रहने की बात भी करता है। जैसे: समाजीकरण, शिक्षा और लोकतांत्रिक सहभागिता के द्वारा सशक्तीकरण की प्रक्रियाएं। इन प्रक्रियाओं के जरिए सामाजिक गतिशीलता की आकांक्षाएं पूरी की जा सकती हैं और समाज के विभिन्न स्तरों में व्याप्त अवसरों की असमानताओं से उत्पन्न अंतर्विरोधों को एक हद तक सार्थक सामाजिक सहमति से सुलझाया जा सकता है।

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में भारतीय समाजशास्त्रियों ने ऊपर बताए गए सभी सैद्धांतिक नजरियों का प्रयोग किया है। मगर भारत में वर्गीय ढांचे और कृषक वर्ग पर जो भी अध्ययन हुए हैं उनमें से अधिकांश में मार्क्सवाद के ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धांत को प्रयुक्त कर इस सिद्धांत को भारतीय ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का प्रयास हुआ है। सामाजिक स्तरीकरण के ग्रामीण और शहरी पद्धतियों के कई अध्ययनों में वेबर के सिद्धांत का प्रभाव रहा है। सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा, लोकतांत्रिक सहभागिता और अनुसूचित जातियों/जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के पक्ष में सकारात्मक भेदभाव (आरक्षण) की नीतियां, उद्योग और उद्यमशीलता का विकास इत्यादि इन सब शक्तियों से सामाजिक स्तरीकरण में आए बदलावों को आंकने के लिए किए गए अनेक अध्ययनों में जाति, वर्ग और सत्ताधिकार को अवधारणात्मक प्रारूपों को लिया गया है। इन अध्ययनों में विशेष समाजशास्त्रीय रुचि की

बात यह मिलती है कि वर्ण-व्यवस्था के अंदर सामाजिक स्तरों की आर्थिक स्थिति, आनुष्ठानिक स्थिति और सत्ताधिकार की स्थिति या हस्ती जैसे कारकों के बीच जो पारंपरिक सर्वांगसमता पाई जाती थी वह सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं और सशक्तीकरण की नीति के कारण टूट गई है। दूसरे शब्दों में ऊंची जातियों को आज उच्च आर्थिक दर्जा या सत्ताधिकार का सिर्फ इसलिए नहीं मिल जाता कि परंपरा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में उन्हें उच्च आनुष्ठानिक दर्जा मिला हुआ है। इस संदर्भ में समाजशास्त्रियों ने आर्थिक दर्जे को परिभाषित करने के लिए वर्ग, राजनीतिक और जातिगत दर्जे को परिभाषित करने के लिए धार्मिक-अनुष्ठान का प्रयोग किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि स्वतंत्रता के बाद पिछले कई दशकों से चली आ रही सामाजिक विकास नीतियों के फलस्वरूप उपजी सामाजिक गतिशीलता ने जाति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में 'स्थिति सार' सिद्धांत को तोड़ा है। वर्ग का उदय और जाति व धर्म की जातीय लामबंदी ऐसी नई प्रक्रियाएं हैं जो सामाजिक स्तरीकरण के पारंपरिक स्वरूपों और संस्थाओं को चुनौती दे रही हैं।

1.8 सारांश

ऊपर दिए गए विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज के अंदर सामाजिक स्तरीकरण प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों, कृषि के आधुनिकीकरण, औद्योगिक और उद्यमशीलता में विकास, समाज के कमजोर वर्गों के सशक्तीकरण और जन संचार माध्यमों में आई क्रांति के फलस्वरूप परिवर्तनों से गुजर रहा है। अनूसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लाभ के लिए लागू सकारात्मक भेदभाव की नीति ने भी समाज के इन कमजोर वर्गों में सामाजिक गतिशीलता को भारी बढ़ावा दिया है। अध्ययनों से पता चलता है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए संविधान में आरक्षण का जो प्रावधान किया गया उस नीति का इन वर्गों को लाभ हुआ है और इनमें से एक बड़ा हिस्सा मध्यमवर्ग के रूप में उभरा है। लेकिन इस नीति ने जिस सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है वह अभी तक इन लोगों में भारी निरक्षरता, कुपोषण और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के चलते काफी सीमित है। सकारात्मक भेदभाव के जरिए सामाजिक गतिशीलता काफी हद तक संबंधित समूहों के शिक्षा के स्तर पर निर्भर करता है। दूसरी वजह से आरक्षण नीति सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में एक निर्णायक घटक का काम करने के बजाए सिर्फ पूरक का काम कर रही है। लिहाजा, समाज के इन वर्गों में निरक्षरता को दूर करने की प्रक्रिया को तेज करने की दिशा में कारगर कदम उठाने की जरूरत है।

MAADHYAM IAS

सामाजिक गतिशीलता के मामले में अन्य पिछड़ी जातियां कमोबेश बेहतर स्थिति में हैं। ये जातियां साधारणतया कृषक हैं और इनके पास भू-संसाधन हैं जो अधिकांश अनुसूचित जातियों और जनजातियों के पास नहीं हैं। हरित क्रांति में इन पिछड़ी जातियों का बड़ा हाथ रहा है और इससे इन्हें लाभ भी हुआ है। देश के अधिकांश भागों में अब ये ग्रामीण मध्यम वर्ग रूप में उभरी हैं और अर्थव्यवस्था (कृषि) के क्षेत्र और राजनीति सत्ताधिकार में इन्हें बेहतर दर्जा मिल गया है। आरक्षण के जरिए प्रौद्योगिकी, व्यवसायिक और प्रबंधन पदों और केन्द्रीय लोक सेवाओं में प्रवेश पाने से इनका सामाजिक दर्जा बढ़ा है, जिनसे अभी तक इन्हें अपेक्षतया वंचित रखा गया था। इससे भारत में पिछड़े वर्ग के आंदोलन और इस श्रेणी के साथ-साथ अनुसूचित जातियों/जनजातियों या दलितों में भी संजातीयकरण को नया आवेग मिला है।

सामाजिक, ढांचे और स्तरीकरण की प्रणाली में बदलाव की एक और प्रक्रिया का पता भारत में व्यवयायिक और उद्यमी वर्गों में वृद्धि के संकेतकों और अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र में उठते चढ़ाव को देखकर चलता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है भारत में मध्यम वर्ग की संख्या मोटे तौर पर देश की जनसंख्या का एक तिहाई 35 करोड़ होने का अनुमान है। यह बहुत बड़ी संख्या है जिसका संबंध औद्योगिक-शहरी और सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्रों से हैं। इस क्षेत्र में बदलाव की प्रक्रिया अभी शुरू ही हुई है और आर्थिक उदारीकरण की नीति इस प्रक्रिया को एक नई गति दे सकती है। मगर गुणात्मक दृष्टि से ग्रामीण और शहरी भारत का वर्गीय ढांचा परिवर्तन की इन शक्तियों के प्रत्युत्तर में निरंतर उनके अनुरूप ढलने और उनमें जा मिलने में जुटा हुआ है जिनका सामना उसे पाश्चात्य संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों के प्रभाव में बढ़ते पैमाने पर करना पड़ रहा है।

1.9 शब्दावली

जनसांख्यिकी : इसका संबंध जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं से है, जैसे, स्त्री-पुरुष, अनुपात, किसी एक लक्षण का वितरण, सकल संख्या इत्यादि।

द्वंद्वात्मक : किसी एक विषय पर दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को लेकर उन्हें सार ग्रहण के एक उच्च तल पर सुलझाना।

क्रम-परंपरा : जातियों या समूहों का शीर्ष से नीचे की ओर श्रेणी क्रम।

वर्ण या जाति : एक प्रदत्त समूह जो समुदाय आधारित होता है

वर्ग : एक उपलब्धि प्रधान हित समूह

सत्ताधिकार : एक समूह या समुदाय में किसी व्यक्ति या समूह द्वारा निर्णयों को अपनी इच्छानुसार प्रभावित करने की क्षमता।

स्थिति या दर्जा : प्रतिष्ठा या सम्मान के पैमाने पर समूहों की सापेक्षिक स्थिति के अनुसार उनका समाज में श्रेणीकरण।

1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

योगेन्द्र सिंह, *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन ऐंड सोशल चेंज,* नई दिल्ली, मनोहर, 1997

के.एल. शर्मा, *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन इंडिया : थीम्स एंड इशूज,* नई दिल्ली, सेज, 1997

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पारंपरिक भारतीय समाज मुख्यत: जाति के आधार पर गठित था। जाति सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में मुख्य सिद्धांत के रूप में काम करती थी जैसे अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और संस्कृति। इस योजना में वर्ण वर्गीकरण के संदर्भ का ढांचा है जबकि जाति क्रम में श्रेणीबद्ध विशिष्ट जाति समूह है।

2) iii)
   v)

बोध प्रश्न 2

1) जाति 'स्थिति सार' को दर्शाती है। अगर यह आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा में निम्न दर्जे पर हो तो इसका आर्थिक-राजनीतिक और सामाजिक दर्जा भी प्राय: निम्न रहेगा। परिभाषा के अनुसार जाति एक संवश्त समूह है, जो प्रदत्त होती है। दूसरी ओर वर्ग एक विवश्त समूह है जिसकी सदस्यता उपलब्धि की कसौटी पर आधारित रहती है। इस प्रकार जाति समुदाय आधारित होती है तो वर्ग स्थिति समूह का परिचायक है।

2) i) गलत
   ii) सही

इकाई 2 सामाजिक स्तरीकरण के प्रति नज़रिया

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 प्रकार्यवादी नजरिया
2.2.1 डेविस और मूर
2.2.2 ट्यूमिन की मीमांसा
2.3 सामाजिक स्तरीकरण का मैक्स वेबर सिद्धांत
2.3.1 वेबर के सिद्धांत की समीक्षा
2.4 द्वंद्वात्मक नजरिया
2.4.1 बुनियादी विशेषताएं
2.4.2 बुर्जुआ और सर्वहारा
2.4.3 द्वंद्वात्मक नजरिए की समीक्षा
2.4.4 डाहरेंडॉर्फ की मीमांसा
2.4.5 भारतीय परिदृश्य
2.5 नृविज्ञानी नज़रिया
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप :

- प्रकार्यवादी नजरिए के बारे में बता सकेंगे;
- वेबर के स्तरीकरण सिद्धांत पर रोशनी डाल सकेंगे;
- द्वंद्वात्मक सिद्धांत की रूपरेखा बता सकेंगे; और
- नृविज्ञानी नजरिए का सार समझा सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ व्यक्तियों में श्रेष्ठता और हीनता के संबंधों का होना है। इस प्रकार के सिद्धांत राज्य और समाज द्वारा माने और लागू किए जाने वाले नियमों और मूल्यों के समुन्वय से संचालित होते हैं। टैलकॉट पारसंस सामाजिक संबंधों के 'पैटर्नीकरण' या 'क्रमस्थापन' को समाज की स्तरीकरण पद्धति का नाम देते हैं। सामाजिक संबंधों के क्रम-स्थापन में मूल्य-व्यवस्था, सत्ताधिकार का ढांचा, प्रदत्त, उपलब्धि, नियमों का अनुपालन या उनसे विचलन इत्यादि समेत अनेक परिवर्ती शामिल होते हैं। सामाजिक स्तरीकरण को पारसंस सर्वव्यापी और अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि यह प्रवेश और पुरस्कार के कुछ निश्चित सिद्धांतों के आधार पर समाज के सदस्यों की अलग-अलग स्थितियों को परिभाषित करता है और उन्हें सदस्यों को सौंप कर समाज के सुचारु रूप से संचालन को सुनिश्चित करता है। वह कहते हैं: "सामाजिक स्तरीकरण को यहां व्यक्तियों का प्रभेदी श्रेणीकरण माना जाता है जो एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था की रचना करते हैं और जो सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण संदर्भों में एक दूसरे को श्रेष्ठ और हीन का दर्जा देते हैं।"

स्पष्टतया पारसंस का नजरिया सर्वांगी या व्यवस्था से जुड़ा है क्योंकि इसमें मुख्यत: समाज के विभिन्न पहलुओं के क्रमस्थापन या एकीकरण को महत्व दिया गया है। कोई भी समाज हमेशा द्वंद्व की स्थिति में नहीं रह सकता और कोई भी समाज पूर्णत: एकीकृत भी नहीं रह सकता। सभी मानव समाजों का सार "गतिशील संतुलन" है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को समाज के अध्ययन का कार्यपरक या प्रकार्यवादी सिद्धांत कहते हैं। इस नजरिए के एकदम उलट 'द्वंद्वात्मक' सिद्धांत है। इसमें 'उच्च' और 'निम्न' लोगों के हितों में मौजूद अंतर्विरोधों पर जोर दिया गया है, जिन्हें कार्ल मार्क्स ने 'बुर्जुआ' और 'सर्वहारा' नाम दिया है। द्वंद्वात्मक सिद्धांत अपने-आपको ऐतिहासिक रूप से मान्य और सार्वभौमिक रूप से प्रासंगिक मानता है। कार्यपरक सिद्धांत की मीमांसा हमें नृविज्ञानी नजरिए में भी देखने को मिलती है। इस सिद्धांत में 'पूर्व-औद्योगिक' समाजों के परिप्रेक्ष्य में भी सामाजिक कारकों के बजाए आयु, लिंग और नातेदारी जैसे जैविक कारकों को महत्व दिया गया है। इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण को समझने की दिशा में इन नजरियों की भिन्नताओं और उनके फलितार्थों के साथ चर्चा करेंगे। इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय समाज में जाति, वर्ग और जनजातियों को समझने के लिए इन नजरियों या सिद्धांतों को बड़े अलग-अलग ढंग से प्रयोग किया गया है।

2.2 प्रकार्यवादी नज़रिया

'प्रकार्य' शब्द सामाजिक पद्धति के रख-रखाव के लिए अर्थव्यवस्था, नीति, धर्म इत्यादि पहलुओं के सकारात्मक परिणामों को दर्शाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए प्रकार्यवादी या कार्यपरक सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण को अपरिहार्य घटना मानता है। प्रकार्यवादी या कार्यकरक विभेदन भी अपरिहार्य है क्योंकि एक व्यक्ति अपनी सभी जरूरतों की पूर्ति खुद नहीं कर सकता। एक व्यक्ति सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम नहीं होता, इनकी पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न रुचि और योग्यता वाले व्यक्तियों की जरूरत पड़ती है। सो, विभिन्न व्यक्ति जो कार्य करते हैं उसके महत्व के अनुसार ही सामाजिक स्तरीकरण और क्रम-परंपरा बनती है।

2.2.1 डेविस और मूर

किंग्सले डेविस और विल्बर्ट ई. मूर ने सामाजिक स्तरीकरण के जिस कार्यपरक सिद्धांत का प्रतिपादन किया वह उपरोक्त चरित्र-चित्रण के अनुरूप है। इस सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) सामाजिक स्तरीकरण अपरिहार्य है;

वैमक्तिक स्तर और शक्ति में बिभिन्नताएँ
साभर : बी. किरणमई

ii) विभिन्न कार्यों के लिए विभेदी रुचि और योग्यता की आवश्यकता पड़ती है;

iii) सामाजिक स्थानों और दायित्वों का विभेदी मूल्यांकन;

iv) विभिन्न प्रकार्यों से जुड़े विभेदी महत्व के आधार पर परितोषिक या पुरस्कार;

v) मूल्य और पुरस्कार ही सामाजिक अंतर और स्तरीकरण को जन्म देते हैं।

इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण भूमिकाओं और कर्त्तव्यों की भिन्नता का परिणाम है। भिन्न दायित्व और भूमिकाएं विभेदी सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा लिए रहती हैं और मानव समाज के अस्तित्व के लिए भूमिकाओं और दायित्वों का विभेदन या उनका अलग-अलग होना अपरिहार्य है। इसलिए स्तरीकरण सामाजिक जीवन में अपरिहार्य बन जाता है।

बॉक्स 2.01

तर्क की दृष्टि से कार्यपरक सिद्धांत हालांकि एक ठोस प्रथापना लगता है, लेकिन इसकी व्यापक आलोचना हुई। जोसेफ शुमपीटर वर्गों की रचना, प्रकृति और मूलभूत नियमों को महत्व देते हैं जो एक वर्ग द्वारा किए जाने वाले कार्य के महत्व और वह उस कार्य को जिस हद तक अंजाम देता है इस पर निर्भर है। मूल्यांकन सापेक्षिक होता है। वर्ग के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति का कार्य एक निर्णायक कारक है। इसलिए शुमपीटर वर्गों के उदय में ऐतिहासिक स्थितियों को महत्व देते हैं।

2.2.2 ट्यूमिन की मीमांसा

मगर डेविस-मूर के सिद्धांत की मेल्विन एम. ट्यूमिन ने कड़ी आलोचना की है, जिन्होंने एक नैसर्गिक लक्षण के रूप में सामाजिक स्तरीकरण को चुनौती दी। उन्हें सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता के प्रकार्यात्मक महत्व की ऐतिहासिक मान्यता पर संदेह है। ट्यूमिन के अनुसार डेविस-मूर ने अधिक या कम सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा की स्थितियों की जो धारणा पेश की वह 'पुनरुक्ति और दोषपूर्ण क्रिया-विधि' है। कार्य का आबंटन और उसका निष्पादन स्थितियों के बजाए पुरस्कारों का आधार हैं। डेविस मूर ने 'कम कार्यपरक' और 'अधिक कार्यपरक' के बीच जो भेद किया है ट्यूमिन के अनुसार वह भी भ्रामक है क्योंकि एक इंजीनियर किसी भी कार्य को श्रमिकों और अन्य कर्मियों के समान रूप से महत्वपूर्ण योगदान के बिना पूरा नहीं कर सकता है।

अभ्यास 1

अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ कार्यपरक सिद्धांत के बारे में चर्चा करें जिससे इसकी कमजोरियां और शक्ति पता चले। इस बहस से आपको जो भी जानने को मिलता है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

श्रम का विभाजन एक आवश्यकता है। मगर जैसा डेविस-मूर का विचार था, सामाजिक विभेदन आवश्यकता नहीं है। कार्यपरक सिद्धांत को सामान्य और अनिश्चित माना जाता है क्योंकि यह समाजों में व्याप्त असमानताओं और श्रेणियों का निर्धारण करने वाले कारकों के बारे में कुछ नहीं बताता है। राल्फ डाहरेंडॉर्फ के अनुसार स्तरीकरण न तो मानव स्वभाव में निहित होता है और न ही यह निजी संपत्ति की ऐतिहासिक रूप से संदेहास्पद अवधारणा में है। बल्कि यह समाज के 'सत्ताधारी ढांचे' में निहित होता है, जो नियमों और आदेशों को बनाए रखने के लिए जरूरी है।

2.3 सामाजिक स्तरीकरण का मैक्स वेबर सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण का अधिक ठोस सिद्धांत मैक्स वेबर ने 'वर्ग, स्थिति और दल' के अपने विश्लेषण में प्रस्तुत किया है। वेबर ने आर्थिक ढांचे, स्थिति पद्धति और राजनीतिक सत्ताधिकार में सिर्फ भेद ही स्पष्ट नहीं किया। बल्कि उन्होंने इन तीनों के बीच सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के रूप में विद्यमान

अंतरसंबंधों को भी जाना है। 'वर्ग' एक आर्थिक तथ्य है, 'बाजार स्थिति' की उपज है जिसका सीधा सा अर्थ विभिन्न वर्गों जैसे खरीदारों और विक्रेताओं में स्पर्धा है। 'स्थिति' या दर्जा 'प्रतिष्ठा' का स्वीकारिता है। जिस प्रकार लोग विभिन्न वर्गों में बंटे होते हैं उसी प्रकार स्थिति समूह भी 'प्रतिष्ठा' के वितरण के आधार पर बंटे रहते हैं जिसका निर्धारण एक समाज में प्रचलित नाना प्रकार के प्रतीकों के रूप में होता है। विश्लेषण की दृष्टि से वर्ग और स्थिति समूह हालांकि एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, लेकिन वे एक दूसरे से काफी जुड़ी हैं। यह एक निश्चित काल में समाज की प्रकृति और उसकी रचना पर निर्भर करता है। 'दल' शब्द का अर्थ यहां सत्ताधिकार सदन से है। वेबर के स्तरीकरण के सिद्धांत का मुख्य बिंदु यही सत्ताधिकार है। सत्ताधिकार सिर्फ सत्ताधिकार के लिए हो सकता है। या फिर यह अर्थ-निर्धारित सत्ताधिकार हो सकता है। अर्थ-निर्धारित सत्ताधिकार सामाजिक या कानूनी सत्ताधिकार के समरूप नहीं होता। आर्थिक शक्ति या सत्ताधिकार अन्य समूहों में मौजूद सत्ताधिकार का परिणाम हो सकता है। सत्ताधिकार के लिए प्रयास हमेशा आर्थिक लाभ के लिए ही नहीं किया जाता है। जैसा हमने उल्लेख किया है, यह सत्ताधिकार या सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए किया जा सकता है। हर प्रकार के सत्ताधिकार से सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती और सामाजिक प्रतिष्ठा का सत्ताधिकार ही एकमात्र स्रोत नहीं है। कभी-कभी संपत्तिधारी ओर संपत्तिहीन दोनों का संबंध एक ही स्थिति समूह से हो सकता है। इस प्रकार स्थिति या हैसियत सामाजिक प्रतिष्ठा से निर्धारित होती है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा विभिन्न 'जीवन शैलियों' के माध्यम से व्यक्त की जाती है जो समाज में व्यक्ति की आर्थिक या राजनीतिक स्थिति से अनिवार्य रूप से प्रभावित नहीं होतीं।

2.3.1 वेबर के सिद्धांत की समीक्षा

'वर्ग, स्थिति और दल' का वेबर सिद्धांत इस प्रकार समाज में विद्यमान तीन 'व्यवस्थाओं' यानी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं की उनकी धारणा के अनुरूप है। इसका यह निहित अर्थ भी है कि सामाजिक स्तरीकरण मूलभूतरूप से वर्ग आधारित या अर्थ-निर्धारित नहीं होता है। असल में सामाजिक स्तरीकरण का विश्लेषण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कोणों से करके वेबर ने कार्ल मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद से अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। इसकी चर्चा हम यहां करेंगे।

वेबर का सामाजिक स्तरीकरण सिद्धांत काफी हद तक वर्ग, स्थिति और सत्ताधिकार के निर्धारण में व्यक्ति और उसकी मनोवृत्तियों और प्रेरणाओं को पर्याप्त महत्व देता है। स्थिति-निर्धारण में 'व्यक्तिनिष्ठ घटक' मनोवैज्ञानिक समूह (जिसमें व्यक्ति में समूह का सदस्य बनने की भावना आ जाती है) पर आधारित है। यह अगर स्पर्धा के जरिए हो रहा हो तो यह बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस प्रकार के वर्गों को व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक स्तर को वस्तुनिष्ठ श्रेणी माना जाता है। सामाजिक वर्ग आर्थिक संयोजन की एक विशेष प्रणाली की सोच रखने के कारण एक समूह होता है। जो व्यक्ति अपनी स्थिति प्रतिष्ठा और हितों के प्रति इसी प्रकार चिंतित रहते हैं और जो सामूहिक दृष्टिकोण मगर भिन्न मनोवृत्ति रखते हों, वे एक ही स्थिति समूह या वर्ग से संबंध रखते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के 'व्यक्तिनिष्ठ' या 'मनोवैज्ञानिक' आयाम को मानने पर, वर्ग लोगों का एक मनोवैज्ञानिक समूह है जो वर्ग चेतना (समूह सदस्यता की भावना) पर निर्भर होता है, व्यवसाय, आमदनी, जीवन-स्तर, सत्ताधिकार, शिक्षा, बुद्धिमता इत्यादि ढांचागत मानदंड कुछ भी हों। ढांचागत मानदंड प्रकृति से 'वस्तुनिष्ठ' होते हैं, इसलिए वे स्तरों (लोगों के सामाजिक और आर्थिक समूहों और श्रेणियों) की रचना करते हैं। वर्ग का व्यक्तिनिष्ठ निर्धारण एक समाज के उन्नत आर्थिक और सामाजिक विकास का द्योतक है। सिर्फ एक उन्नत समाज में ही एक व्यक्ति का वर्ग उसके अहम् का हिस्सा होता है। वर्गीय चेतना की समानता साधारणतया एक अत्यधिक विभेदित और आर्थिक व सामाजिक रूप से क्रम-परंपरा में बंधे समाज से उत्पन्न नहीं होती। फिर 'स्तर' और 'वर्ग' के बीच अंतर विश्वसनीय नहीं लगता क्योंकि स्तर की वस्तुनिष्ठ कसौटी वर्ग को मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति देती है।

बोध प्रश्न 1

1) ट्यूमिन के प्रकार्यवादी सिद्धांत की मीमांसा के बारे में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2) सामाजिक स्तरीकरण पर वेबर के नजरिए का सार पांच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2.4 द्वंद्वात्मक नज़रिया

समाज और इतिहास के अध्ययन में द्वंद्वात्मक सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक कार्ल मार्क्स थे। उनका सिद्धांत सिर्फ आर्थिक समझ और विश्लेषण तक ही सीमित नहीं था। बल्कि वह समाज का एक व्यापक संरचनात्मक सिद्धांत है। मार्क्स की यह सिद्धांत श्रेष्ठ तो है, मगर वह वर्ग को स्थिति और सत्ताधिकार दोनों से ऊपर रखते हैं, जिसे वेबर पूरी तरह से स्वीकार नहीं करते। मार्क्स के अनुसार आर्थिक ढांचा समाज का "आधार" या नींव है और उसकी "अधिरचना" या बाहरी ढांचा राज्य व्यवस्था, धर्म, संस्कृति इत्यादि से बनता है। मार्क्स कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण उत्पादन संबंधों की व्यवस्था और "स्थिति" का निधीरण इसी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और स्वामित्वहीनता की कसौटी पर व्यक्ति की स्थिति से होता है। उत्पादन साधनों के स्वामियों को मार्क्स ने "बुर्जुवा" और उत्पादन साधनहीन लोगों को सर्वहारा नाम दिया। मात्र आर्थिक समूह होने के बजाए ये असल में सामाजिक श्रेणियां हैं। उत्पादन 'सामाजिक प्राणियों, द्वारा होता है इसलिए उत्पादन संबंधों का अभिप्राय मात्र आर्थिक स्थिति न होकर एक 'सामाजिक संदर्भ' है। बुर्जुवा और सर्वहारा के बीच के संबंध 'सामाजिक' होते हैं और दोनों को 'प्रभुत्व' और 'अधीनता' या प्रभावी उच्च और हीन संबंधों के रूप में देखा जा सकता है। अब हम द्वंद्वात्मक सिद्धांत की बुनियादी विशेषताओं पर चर्चा करेंगे।

2.4.1 बुनियादी विशेषताएं

1) सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक इत्यादि अन्य सभी प्रकार के संबंधों का आधार अर्थिक हित हैं।

2) समाज में दो मुख्य वर्ग होतें हैं: (i) उत्पादन के साधनों के स्वामी (बुर्जुवा) और (ii) मजदूरी कमाने वाले (सर्वहारा)। इन वर्गों को मार्क्स धनवान और निर्धन भी कहते हैं।

3) इन दोनों वर्गों के हित एक दूसरे से टकराते है क्योंकि बुर्जुवा सर्वहारा का शोषण करता है। इसलिए दोनों में वर्ग संघर्ष होता है।

4) बुर्जुवा अपने वाजिब हिस्से से अधिक प्राप्त कर लेते हैं इसलिए वे अधिशेष (अतिरिक्त लाभ) हथिया लेते हैं। यह वर्ग संघर्ष को तेज करता है जो समाज को क्रांति और उसमें प्रचलित स्तरीकरण के आमूल परिवर्तन की ओर ले जाता है। मार्क्स के अनुसार वर्ग समाज की बुनियादी विशेषता है। ये वर्ग उत्पादन प्रणाली की उपज हैं, जो असल में सत्ताधिकार या शक्ति संबंधों की ही एक व्यवस्था है। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व रखने का मतलब है प्रभुत्व और सत्ताधिकार पाना। तो सेवा-चाकरी करना और मानव श्रम की आपूर्ति का मतलब है अधीनता और परनिर्भरता। इस अर्थ में वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता है, एक वास्तविक जन समूह है, जिसमें अपने अस्तित्व अपने

स्थान, लक्ष्यों और क्षमताओं के प्रति चेतना होती है। वर्ग समाज का दर्पण, उसका आईना है, जिसमें हम सामाजिक ताने-बाने और आंतरिक गति को देख सकते हैं, उन्हें जानने समझने की कोशिश कर सकते हैं।

2.4.2 बुर्जुआ और सर्वहारा

कार्ल मार्क्स और उनके मित्र फ्रेडरिक एंजेल्स के विचार में बुर्जुआ और सर्वहारा दो विपरीत ध्रुव हैं जिनमें हमेशा हितों को लेकर टकराव होता है। ये दोनों विरोधी खेमे एक दूसरे के विरुद्ध संगठित भी रहते हैं। मार्क्स बुर्जुआ के विरुद्ध सर्वहारा एकता के प्रबल समर्थक थे ताकि वह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में अपने हितों की रक्षा कर सके। यह एकता इसलिए भी जरूरी थी क्योंकि शासक वर्ग (बुर्जुआ) ने विचारों की स्वतंत्रता, संस्कृति, धर्म और राज्य व्यवस्था को दबाता था। राज्य या राजसत्ता भी उत्पादन के साधनों के स्वामियों के वर्चस्व का दास बन गया था। इसलिए मार्क्स के लिए वर्ग समाज और संस्कृति के ढांचे ओर उनके फलितार्थों को समझने के लिए एक परिप्रेक्ष्य, एक विधि और ठोस वास्तविकता है।

बॉक्स 2.02

मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक धारणा दो दर्शनों को लेकर चलती हैं ये हैं: भौतिकतावाद और आदर्शवाद दोनों दर्शन एक दूसरे के उलट लगते हैं। मगर मार्क्स ने इतिहास और समाज के बारे में जो समझ बनाई उसमें उन्होंने इन दोनों विरोधी दर्शनों को एक साथ रखा। मार्क्स और एंजेल्स के सिद्धांत में ये दोनों दर्शन मिल जाते हैं क्योंकि वे 'भौतिक' को 'आदर्श' (या मानसिक) के ऊपर रखते हैं। इन दोनों के बीच संघर्ष एक वास्तविकता है जो उत्तरोत्तर परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया में बदल जाता हैं। इसलिए मार्क्सवादी सिद्धांत विकासक्रमिक भौतिकवादी भी है।

MAADHYAM IAS

मार्क्स और एंजेल्स के अनुसार द्वंद्वात्मक भौतिकतवाद के मूल नियम इस प्रकार हैं: (i) मात्रा का गुणवत्ता में परिवर्तन का नियम, (ii) विलोम एकता का नियम जिसके अनुसार ठोस वास्तविकता की एकता विलोमों या अंतर्विरोधों की एकता है, और (iii) निषेध का नियम (वाद, प्रतिवाद और संवाद यानी थिसिस, 'एण्टीथिसिस' और सिंथेसिस की रूपरेखा), जिसका यह मतलब है कि विलोमों या विरोधियों के टकराव में एक विलोम दूसरे का निषेध करता है और इस प्रक्रिया में उसका निषेध एक उच्चस्तर के ऐतिहासिक विकास द्वारा होता है जो दोनों निषेधित विलोमों का कुछ अंश बचाए रखता है।

2.4.3 द्वंद्वात्मक नजरिए की समीक्षा

समाज के बारे में मार्क्स का सिद्धांत भौतिकतावादी और द्वंद्वात्मक दोनों ही हैं इसलिए यह विज्ञान सम्मत भी है। मगर हम इस बात को नकार भी नहीं सकते कि मानव जीवन में साझी वास्तविकता भी विद्यमान है। अकेले विछिन्नताएं ही इतिहास और मानव समाज की विशेषता नहीं कही जा सकती हैं। इसलिए मार्क्स का यह कालजयी कथन हमारे लिए प्रांसगिक हो जाता है: "अभी तक विद्यमान रहने वाले समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" लेकिन मार्क्स और एंजेल्स जानते थे कि वर्ग पूंजीवादी समाज की सबसे बड़ी विशेषता है इसीलिए बुर्जुआ और सर्वहारा ही आधुनिक पूंजीवादी युग का संपूर्ण सामाजिक स्तंभ बने। मगर मुख्य प्रश्न इन मूल वर्गों के सामाजिक श्रेणीकरण या स्तरीकरण से जुड़ा है। एंजेल्स और कुछ हद तक मार्क्स भी समझते थे कि इन मूल वर्गों के अलावा समाज में मध्यवर्ती और संक्रामक स्तर भी होते हैं। इसका अर्थ यही है कि ये द्विवर्ग सिद्धांत को गलत सिद्ध करते हैं। एक तरह से यह पूंजीवाद और आधुनिक राज्य प्रणाली के विकास के अनुरूप ही है।

अभ्यास 2

अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ स्तरीकरण के द्वंद्वात्मक सिद्धांत पर चर्चा कीजिए। आज के विश्व में क्या यह सिद्धांत मान्य होगा? अपनी नोटबुक में इस पर टिप्पणी लिखिए।

आज के नव-स्वतत्र विकासशील देशों में मध्यम वर्गों का एक जीवंत ढांचा बन गया है जो बुर्जुआ और सर्वहारा दोनों पर एक तरह का नियंत्रण बनाए हुए है। इनमें एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में गैर-पूंजीवादी संरचना, पूंजीवाद जिसके हाशिए में हो, उस का उदय अभी होना बाकी है जो बुर्जुआ और सर्वहारा के रूप में सामाजिक ढांचे का निश्चित स्वरूप पा लेने का द्योतक हो। भारत जैसे देश में स्थिति तंत्र ('स्टैटस एपरेटस') के नियंत्रक पूंजीवादी नहीं बल्कि राजनीतिक दलों के नेता और बुद्धिजीवी हैं। समाज के इन वर्गों से एक नया प्रभावी वर्ग/अभिजात वर्ग उभरा है जो सत्ता में काबिज हो गया है। उधर राज्य को नियंत्रित करने, उसे संचालित करने में नौकरशाही अपनी अलग से महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। कुछ समाजों में आमदनी, शिक्षा और सांस्कृतिक उत्पादों तक पहुंच, हैसियत और सत्ताधिकार का मुख्य आधार बन गया है। बुर्जुआ और सर्वहारा के द्विभाजन के रूप में अकेले आर्थिक स्थिति एक सामाजिक वास्तविकता अभी नहीं बन पाई है।

2.4.4 डाहरेंडॉर्फ की मीमांसा

समाज के बारे में मार्क्सवादी सिद्धांत से यूं तो राल्फ डाहरेंडॉर्फ सामान्यतया सहमत हैं, मगर वह वर्ग-द्वंद्व के सर्वव्यापी चरित्र पर सवाल उठाते हैं। उनके अनुसार द्वंद्व संदर्भ-विशेष होता है और सत्ता या प्रभुत्व की निश्चित संस्थाओं के संदर्भ में बल प्रयोग सामाजिक श्रेणीकरण की कुंजी है। इस प्रकार लोगों के दो प्रकार के समूह होते हैं: (1) जो बलप्रयोगकर्ता है और (2) जिन्हें बाध्य किया जाता है। इस तरह का प्रभुत्व और दासता सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों जैसे, आर्थिक, राजनीतिक, औद्योगिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि में पाया जाता है। एक प्रकार का द्वंद्व अब दूसरे द्वंद्व के साथ नहीं पाया जाता। सामाजिक ढांचे की स्थितियों को 'वर्ग' के बजाए 'द्वंद्व समूह' चित्रित करते हैं। 'सत्ता' प्रभुत्व और अधीनता का एक वैध संबंध है। सत्ता संबंध हमेशा आधिपत्य और पराधीनीकरण का संबंध होता है इस प्रकार स्तरीकरण हो जाता है।

2.4.5 भारतीय परिदृश्य

MAADHYAM IAS

इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्ग और वर्ग-संघर्ष की मार्क्सवादी धारणाओं की छाप भारत में कृषि और शहरी औद्योगिक ढांचे के अध्ययनों में दिखाई देती है। लेकिन खुद मार्क्स ने भी भारत के आर्थिक और सामाजिक ढांचे के विशिष्ट चरित्र पर चिंतन किया था। पूर्व-पूंजीवाद कालीन भारत में जाति और वर्ग साथ-साथ विद्यमान थे। सामंतवाद, जाति, संयुक्त परिवार, निर्वाह प्रधान अर्थव्यवस्था इत्यादि विशेषताएं औपनिवेशकालीन भारत में मौजूद थीं। आज भी भारत में ठेठ बुर्जुआ और सर्वहारा जैसे वर्ग नहीं दिखाई देते। बल्कि जनता में पूर्व-पूंजीवाद युग के जैसे स्वतंत्र कामगारों, नियोक्ताओं, सफेद-पोश (व्हाइट-कॉलर) कर्मचारियों और नीलपोश (ब्लू-कॉलर) कर्मचारियों के स्पष्ट पहचान वाले समूह हैं जिनमें से 15 प्रतिशत संगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। व्यापक औद्योगीकरण और एकाधिकारवादी पूंजीवाद के ढांचे में ये विविधरूप वर्ग नहीं आते। मजदूर संघों और कामगारों की सौदेबाजी सौदाकारी ने नियोक्ताओं की जकड़ को ढीला कर दिया है। एक सीमा तक वर्ग समरसता भी वास्तविकता बन गई है। वेतन-भोगी लोगों की श्रेणी बड़ी धुंधली सी है जिसमें नाना प्रकार के कामगार शामिल हैं जो हर महीने 1,000 रुपये से लेकर 15,000 रुपये तक कमाते हैं। अंततः जाति अब आनुष्ठानिक संबंधों की महज एक व्यवस्था भर नहीं रह गई है उसे वर्ग और सत्ताधिकार के तत्व भी साथ में मिलते हैं। ये सभी कारक भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में मार्क्सवादी नजरिए के इस्तेमाल को सीमित कर देते हैं।

2.5 नृविज्ञानी नज़रिया

सदस्यता इकाइयों की ठोस और विश्लेषिक संरचनाओं और सामाजिक प्रक्रिया के सामान्यीकृत पहलुओं की तरह स्तरीकरण की 'विश्लेषिक' और 'ठोस' अवधारणाएं भी हैं। विश्लेषणात्मक दृष्टि से स्तरीकरण सभी समाजों की अमूर्त आवश्यकता है। मूर्त रूप से यह समाज विशेष में सत्ताधिकार या शक्ति और विशेषाधिकार, लाभों और उपकारों का अनुभवजन्य वितरण है। इस तरह स्तरीकरण एक प्रक्रिया होने के

साथ-साथ एक परिस्थिति (यानी स्थिति समूहों का क्रम-विन्यास और भूमिकाओं का आबंटन) भी है यानी स्थिति समूहों की संरचना यह परिस्थिति सामाजिक प्रक्रिया की उपज और शर्त दोनों है।

इस प्रकार नृविज्ञानी नजरिया पूर्व-औद्योगिक समाजों में स्थिति-प्रतिष्ठा की प्रक्रिया से जुड़े पहलुओं को प्रकाश में लाता है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य मुख्यतः स्थिति-प्रतिष्ठा निर्धारण के सामाजिक प्रतिमानों जैसे आमदनी, पेशा, शिक्षा, सत्ता और सत्ताधिकार पर ही जोर देता है और तथाकथित गैर-सामाजिक प्रतिमानों जैसे आयु, लिंग और नातेदारी को छोड़ देता है। बहरहाल, पूर्व औद्योगिक समाजों में तथाकथित 'सामाजिक' प्रतिमान अस्तित्व में नहीं थे क्योंकि ये प्रतिमान आधुनिक समाजों पर लागू नहीं होते। बल्कि इनके बजाए तथा-कथित 'गैर-सामाजिक' प्रतिमान पूर्वऔद्योगिक समाजों में सामाजिक विभेदन की प्रक्रिया को समझने के लिए सामाजिक दृष्टि से अधिक प्रासंगिक हैं। इस नजरिए के मुख्य प्रवर्तक एम.जी. स्मिथ ने पूर्वऔद्योगिक सामाजिक संरचनाओं में व्यक्ति की हैसियत और दर्जे के निर्धारकों के रूप में लिंग-भूमिकाओं और आयु समुच्चयों का विश्लेषण किया। लिंग-भूमिकाओं और आयु-समुच्चय परिस्थिति नहीं हैं। ये दोनों कारक व्यक्ति के जीवन काल में निरंतर बदलते रहते हैं और इसी के अनुसार व्यक्ति की स्थिति या हैसियत और भूमिका भी बदल जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक लिंग-भूमिकाएं और आयु समुच्चय बदलते रहते हैं। इसलिए परिस्थितियां और प्रक्रिया सबसे कम उन्नत समाजों समेत सभी समाजों में बुनियादी रूप से पाई जाती हैं। आयु, लिंग और नातेदारी हमेशा से सामाजिक स्थिति का बोध और वास्तविकता के अति महत्वपूर्ण प्रतिमान रहे हैं। सभी परिवारों और समुदायों में सामाजिक स्थिति के फलितार्थों को प्रतिबिंबित करने वाले आयु-आधारित विभेद, सामाजिक-लिंग (जेंडर) अन्य सामाजिक और क्रम-परंपरागत संबंध और नातेदारी पर आधारित संबंधों पर आधारित स्थिति-प्रतिष्ठा विभेद सभी जगह विद्यमान रहते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) द्वंद्वात्मक सिद्धांत की मूलभूत विशेषताओं के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) सामाजिक स्तरीकरण के नृविज्ञानी सिद्धांत की रूपरेखा पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

2.6 सारांश

प्रकार्यवादी और द्वंद्वात्मक सिद्धांतों ने सामाजिक स्तरीकरण विशेषकर जाति और वर्ग के अध्ययन को काफी हद तक प्रभावित किया है। इन दोनों सिद्धांतों के अनुप्रयोग के चलते भारत में 'फील्ड-वर्क' की कुछ निश्चित परंपराएं स्थापित हुई हैं। उदाहरण के लिए, एककालिक विश्लेषणों का आधार कार्यपरक परिप्रेक्ष्य रहा है, जिनमें स्तरीकरण के विभिन्न स्तरों पर सामाजिक ढांचों के साम्य या समरसता को प्रमुखता मिली है। दूसरी ओर सामाजिक बदलाव, सामाजिक ढांचे का प्रतिस्थापन/परिवर्तन द्वंद्वात्मक सिद्धांत का प्रमुख विषय है। 'एकीकरण' में अनिवार्यतः 'द्वंद्व' और द्वंद्व में 'एकीकरण' मौजूद होता है।

'समरसता' या 'एकता' व्यवस्था को जीवित रखती है और प्रक्रिया/परिवर्तन सामाजिक संबंधों के गतिहीन प्रबंधों को पुनर्जीवित करता है। सामाजिक स्तरीकरण एक बहुआयामी और 'संयुक्त' परिघटना है। ढांचागत बदलाव स्थापित क्रम परंपराओं पर आक्रमण करते हैं और अधोगामी और ऊर्ध्वगामी दोनों प्रकार की गतिशीलता लाते हैं। समूह, परिवार और व्यक्तिगत स्तर पर विभेदित मूल्यांकन समाज के बुनियादी ढांचागत परिवर्तन के कारण संगामी होता है। लेकिन किसी भी समय व्यवस्था का समूल पलट नहीं हो पाता है। यही कारण है कि जाति एक अनुकूलनकारी और लचीली व्यवस्था है। तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्यों के बीच में परिवार-केन्द्रित सहयोग भी परिवर्तन की बाहरी शक्तियों के हमले को रोकने के लिए बना रहता है। प्राथमिक या प्रमुख संबंधों की धुरी के रूप में समुदाय को समरस जीवन के लिए एक वांछनीय युक्ति माना जाता है। इसलिए प्रकार्यवादी या कार्यपरक, द्वंद्वात्मक और नृविज्ञानी दृष्टिकोणों को सूझ-बूझ के साथ प्रयोग करने की जरूरत है, न कि इनमें से किसी एक को दूसरे का विकल्प मानकर। इनका संदर्भ-विशेष अनुप्रयोग किसी समाज को बेहतर ढंग से समझने और उसका विश्लेषण करने के लिए बड़ा ही उपयोगी और समृद्धकारी होगा।

2.7 शब्दावली

नृविज्ञानी : यह ऐसा सिद्धांत है जो पूर्व औद्योगिक समाजों में स्थिति या दर्जे की प्रक्रिया से जुड़े पहलुओं को लेकर चलता है।

द्वंद्वात्मक : यह सिद्धांत संपन्न और निर्धन वर्गों के बीच वैमनष्यपूर्ण संबंधों को लेकर चलता है।

कार्यपरक या : यह सिद्धांत अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, धर्म, इत्यादि पहलुओं के प्रकार्यवादी साकारात्मक परिणामों को लेकर चलता है।

सर्वहारा : यह समाज का वह तबका है जिसके पास उत्पादन के साधन नहीं होते और दिहाड़ी मजदूरों के रूप में काम करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

स्मिथ, एम.जी. 1964; "प्री-इंडस्ट्रियल स्ट्रैटीफिकेशन सिस्टम्स" एस.एम. लिपसेट और एन.जे. स्मेलसर (संपादित) *सोशल स्ट्रक्चर ऐंड मोबिलिटी इन इकोनॉमिक डेवेलपमेंट*, लंदन रुटलेज एंड केगन पॉल पृ. 141-76

ट्यूमिन, मेल्विन एम.; 'सम प्रिंसिपल्स ऑव स्ट्रैटीफिकेशन' *अमेरिकन सोशियोलॉजिकल रिव्यू* अंक 18, पृ. 387-97

वेबर, मैक्स 1947; "क्लास, स्टैटस, पार्टी" एच.एच. गर्थ और सी.डब्लू० मिल्स (संपादित) *फ्राम मैक्स वेबर: ऐसेज इन सोशियॉलाजी*, लंदन, रूटलेज ऐंड केगन पॉल, पृ. 180-94

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ट्यूमिन इस धारणा को चुनौती देते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक संगठन की एक नैसर्गिक विशेषता है। उनके अनुसार कार्यपरक सिद्धांत घुमावदार तर्क (या पुनरुक्ति) का सहारा लेता है। उनके अनुसार किसी कार्य का सौंपा जाना और उसके निष्पादन का संबंध स्थिति के बजाए पुरस्कारों से है। वह श्रम के विभाजन को तो अनिवार्य मानते हैं लेकिन डेविस-मूर के इस कथन को नहीं मानते कि सामाजिक विभेदन अनिवार्य है।

2) मैक्स वेबर के अनुसार स्तरीकरण में आर्थिक ढांचे, स्थिति व्यवस्था और राजनीतिक सत्ताधिकार के बीच अंतर्संबंध होता है। वेबर के सिद्धांत में वर्ग एक आर्थिक परिघटना, स्थिति या हैसियत प्रतिष्ठा की मान्यता और सत्ताधिकार भी अर्थनिर्धारित होता है। अर्थनिर्धारित सत्ताधिकार हमेशा सामाजिक या कानूनी सत्ताधिकार के समरूप नहीं होता। इन कारकों के अंतर्संबंध से अलग-अलग जीवन-शैलियां विकसित होती हैं। यह समाज में आर्थिक और राजनीतिक स्थिति से अनिवार्यत: प्रभावित नहीं होता।

बोध प्रश्न 2

1) द्वंद्वात्मक सिद्धांत की निम्न विशेषताएं हैं:

   i) इसमें आर्थिक हितों को अन्य सभी प्रकार के संबंधों का आधार माना जाता है।

   ii) समाज में मुख्य दो वर्ग होते हैं। (क) उत्पादन के साधनों के स्वामी और (ख) श्रमिक

   iii) इसके अनुसार स्वामियों और श्रमिकों के हितों में टकराव होता है।

   iv) बुर्जुआ वर्ग अधिक उत्पादन करता है और हमेशा जायज से अधिक हिस्से पर अधिकार कर लेता है।

2) नृविज्ञानी सिद्धांत पूर्व-औद्योगिक समाज में प्रक्रियासंबंधी पहलुओं पर जोर देता है। एम.जी. स्मिथ स्थिति और हैसियत के निर्धारकों के रूप में लिंग-भूमिकाओं और आयु-समुच्चयों का विश्लेषण किया। लिंग-भूमिकाएं और आयु-समुच्चय गतिशील होते हैं और व्यक्ति के जीवनकाल में बदलते रहते हैं। इस प्रकार परिस्थितियां और प्रक्रिया समाज का आधार बनती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 3 भारत में जाति और वर्ग

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 जाति-मॉडल की मूल विशेषताएं
3.3 ढांचागत परिवर्तन
3.3.1 आर्थिक संबंध
3.3.2 सत्ताधिकार और प्रभावी जाति
3.4 जाति और वर्ग में गठजोड़
3.4.1 एककालिक विश्लेषण
3.4.2 नियामक व्यवस्था के रूप में जाति
3.4.3 अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति
3.5 जाति चुनाव
3.5.1 जाति और गतिशीलता
3.6 वर्ग की व्याख्या
3.7 जाति-क्रम परंपरा और वर्ग-संघर्ष
3.7.1 हिंसा और शोषण की घटनाएं
3.8 सारांश
3.9 शब्दावली
3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.0 उद्देश्य

सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से समझने के लिए जाति और वर्ग दोनों बेहद जरूरी हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जाति मॉडल की बुनियादी विशेषताओं को समझ जाएंगे और फिर यह समझा सकेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण में वर्ग किस तरह भूमिका अदा करता है;
- यह जान जाएंगे कि जाति और वर्ग किस तरह गठजोड़ बनाकर असमानताओं को प्रबलता प्रदान करते हैं;
- यह बता पाएंगे कि समाज में जाति कुछ निश्चित कार्यों के निर्वाह में एक बुनियादी इकाई के रूप में किस तरह काम करती है;
- भारतीय समाज जाति स्तरीकरण किस तरह से 'वर्ग संघर्ष' या 'सर्वहारा चेतना' को कुंद करती है, और;
- जाति सामाजिक गतिशीलता और वर्ग संबंधों को किस तरह प्रभावित करती है, यह समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में जाति के विश्लेषण में उठने वाले कई कठिनाइयों को समझने का प्रयास किया गया है। असल में इस विषय पर जो भी साहित्य उपलब्ध है वह इन कठिनाइयों को सुलझाने के बजाए और संदेह, शंकाएं उत्पन्न करता है। जहां इसमें वर्ण और जाति में स्पष्ट भेद नहीं मिलता, वहीं विश्लेषण के एक पहलू पर दूसरे पहलू की एवज में अलग-अलग किस्म के परिप्रेक्ष्य उभरते हैं। आनुमानिक सिद्धांतों की औपनिवेशिक नृजातिकारों (जातीयताओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों) के लेखन में कमी नहीं है जिन्हें प्रमाणों की पुष्टि के लिए आज भी प्रयोग किया जाता है। अनेक अध्ययनकर्ताओं ने भारतीय

समाज में मौजूदा स्थितियों की गति को अनदेखी करके उसे एक 'जाति समाज' के रूप में प्रचारित किया है। इस जाति को वर्ग व्यवस्था का तार्किक विलोम माना गया, जो व्यक्तिवाद और विशेषकर पश्चिम से जुड़ा है।

3.2 जाति-मॉडल की मूलभूत विशेषताएं

आंद्रे बेटीली ने भारतीय समाज के जाति-मॉडल के इस परिप्रेक्ष्य की बुनियादी विशेषताओं की रूपरेखा एक विश्लेषण योजना के रूप में इसकी उपयोगिता की परख करते हुए तैयार की है। इस 'जाति-मॉडल' की विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) यह मॉडल लोगों के कुछ विशेष वर्गों द्वारा माने और व्यक्त किए जाने वाले विचारों पर आधारित है। यह उनके आचरण पर आधारित नहीं है, हालांकि इसके अध्ययन के लिए द्वितीयक अनुभवजन्य सामग्री भी प्रयोग की गई है।

ii) यह भारत में जाति को एक तरह से पहला और सार्वभौमिक महत्व देता है जैसा कि शास्त्रों में इसकी धारणा दी गई है।

iii) इस पूरी व्यवस्था को इस रूप में देखा जाता है कि यह कमोबेश स्पष्टत: रचित निश्चित सिद्धांत या "खेल के नियमों" से संचालित है।

iv) आंद्रे बेटीली इस मॉडल से उत्पन्न होने वाले दो जोखिमों की ओर भी इशारा करते हैं। इसमें सबसे पहला खतरा तो यह है कि यह सिद्धांत इतना सामान्य है कि यह किसी भी समाज के लिए प्रयुक्त हो सकता है। दूसरा खतरा यह है कि यह आर्थिक और राजनीतिक जीवन की बारीकियों को लेकर नहीं चलता।

बॉक्स 3.01

बेटीली कहते हैं कि यह मॉडल, जो कि मुख्यत: लुई ड्यूमोंट के अध्ययन से जुड़ा है, हिंदुत्व से संबंधित विश्वासों की व्याख्या में बड़ा उपयोगी रहा है। वह राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को समझने के लिए 'हितों' के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने तंजोर गांव में जाति का जो विश्लेषण किया है वह इस तरह के सरोकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। योगेन्द्र सिंह ने अपने अध्ययन में परिवर्तन को समझने का प्रयत्न किया है जिसमें वर्गीय कारक जाति श्रेणियों के ढांचे के भीतर अपनी पहचान के नए बोध के साथ कार्य करते हैं। इस तरह की घटनाओं में जाति उल्लंघन भी होते हैं जो उन अंतर्विरोधों की तरफ हमारा ध्यान खींचते हैं जो पहले इतने स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे।

MAADIYAM IAS

संस्कृतिकरण का एम.एन. श्रीनिवासन का सिद्धांत जाति या वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन एक इसी तरह का प्रभावी प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण को हम उन विशेष संदर्भों में देख सकते हैं जिनमें यह होता है। दूसरा, हम इसे समग्र रूप में वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भी देख सकते हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया को श्रीनिवास 'पाश्चात्यकरण' कहते हैं। यह लोगों के मूल्यों, आदर्शों और सांस्कृतिक जड़ों में बदलाव लाता है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इन परिवर्तनों में 'ढांचागत परिवर्तनों' का अर्थ निहित है जो विशेषकर वर्ण व्यवस्था में और सामान्यतया भारतीय समाज में आ रहे हैं, जिन्हें क्रम परंपरा के विरुद्ध 'विद्रोह' कहा जा रहा है या फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में फंसा बताया जा रहा है।

3.3 ढांचागत परिवर्तन

भूमि सुधारों, शिक्षा के प्रसार, सामाजिक विधान, लोकतांत्रीकरण और नगरीकरण के रूप में ढांचागत परिवर्तन नजर आते हैं। इन परिवर्तनों का वर्ण व्यवस्था पर यह असर पड़ता है कि जातिगत संगठन जैसे अनुकूलन युक्तियां अक्सर सामाजिक लामबंदी की युक्ति बन जाती हैं। ये संगठन मुख्य रूप से अपने

सदस्यों की भौतिक और सांसारिक जरूरतों और लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यनशील रहते हैं। इस प्रक्रिया में ये संगठन अपने सदस्यों को अपनी वंचना और ढांचागत अवरोधों के बारे में और अधिक सजग बनाते हैं। ये संगठन अक्सर गैर-जातिगत कार्यों से ही सरोकार रखते हैं। मगर ये वर्ग नहीं हैं, क्योंकि इन संगठनों के सदस्य अनेक वर्ग स्थितियों से जुड़े लोग होते हैं। इनमें अंतर जातिगत अंतर्विरोधों को उठने नहीं दिया जाता है। इससे इनमें साझी वंचनाओं और वर्गीय चेतना की धारणा भी उत्पन्न हो सकती है।

3.3.1 आर्थिक संबंध

वर्ण व्यवस्था को आर्थिक संबंधों की व्यवस्था के रूप में भी देखा गया है। जोआंमेंचर के अनुसार जो लोग या जातियां इस वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे हैं उनके लिए वर्ण व्यवस्था ने शोषण और दमन के एक बड़े ही व्यवस्थित और प्रभावशाली अस्त्र के रूप में काम किया है। इस व्यवस्था का कार्य ऐसे वर्गों का निर्माण रोकना है जिनके हित साझे हों या लक्ष्य एक हो। मेंचर ने वर्ग को मार्क्सवादी अर्थ में लिया है और जाति संबंधों के विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी मॉडल अपनाया है। इस तरह जाति परस्पर निर्भरता और लेन-देन की व्यवस्था के बजाए शोषण की व्यवस्था है। जाति स्तरीकरण ने "वर्ग द्वंद्व" या "सर्वहारा चेतना" को विकसित होने से रोकने का काम किया है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि "जाति को चरम सामाजिक-आर्थिक भेदों को आंशिक रूप से ढक देने से ही मान्यता मिलती है।"

यहां पर गौर तलब बात यह है कि भारतीय समाज में स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में 'वर्ग' उस तरह से घिरे हुए नहीं मिलते जिस तरह से जातियां घिरी हैं। तिस पर वर्ण व्यवस्था ने जो भी "समस्याएं" खड़ी की हैं उनमें से अधिकांश की प्रकृति वर्गीय है जिनका संबंध आर्थिक वर्चस्व और पराधीनता, विशेषाधिकारों और वंचनाओं, स्पष्ट क्षति और महज जीवित बने रहने से है। ये समस्याएं अनिवार्यत: संपन्न और वंचितों की है। इन्हें हम ठेठ मार्क्सवादी अंदाज में मूर्त या ठोस समूहों में नहीं रख सकते क्योंकि यहां वर्गीय वैमनष्य, वर्गीय चेतना और वर्गीय एकता विद्यमान नहीं है। इसलिए भारत की स्थिति अन्य समाजों से इस मामले में भिन्न है कि इसकी समस्याएं 'वर्गीय' चरित्र की तो हैं मगर समाज के टुकड़ों के रूप में 'वर्ग' ठोस-सामाजिक-आर्थिक इकाइयों के रूप में मौजूद नहीं हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.3.2 सत्ताधिकार और प्रभावी जाति

आंद्रे बेटीली के अनुसार सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति के पास चला गया है। यही नहीं यह जाति के ढांचे से निकल कर अपेक्षाकृत अधिक विभेदित ढांचों जैसे पंचायतों और राजनीतिक दलों के पास चला गया है। मगर अपनी इस विवेचना में बेटीली इस अंतरण के परिणामों पर गौर नहीं कर पाए हैं। अब सवाल यह उठता है कि क्या हम जाति ढांचें में हो रहे बदलावों का अध्ययन इनके फलस्वरूप उभरे "अनुपाती न्याय" "समानता/असमानता" के नमूनों का विश्लेषण किए बिना कर सकते हैं? अगर हम एक समतावादी व्यवस्था के नियमों में नैसर्गिक रूप से विद्यमान लचीलेपन का विश्लेषण नहीं कर सकते तो हमारे लिए औपचारिक संस्थाओं और ढांचों के उदय को जाति क्षेत्रों से 'जाति-मुक्त' संरचनाओं के "अंतरण" के संकेतक के रूप में व्याख्या कर पाना मुश्किल होगा। यदि कोई जाति समग्र रूप से 'प्रभावी' नहीं है और "प्रभावी समूह" कई जातियों के परिवारों से मिलकर बना हो तो इसका यह मतलब नहीं कि असमानता की विकरालता में भारी कमी आ गई है।

3.4 जाति और वर्ग में गठजोड़

हम कह सकते हैं कि बदलाव असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में होता है। पहले भी जाति की विशेषता भूमिकाओं के अंतर-जाति विभेदन के साथ-साथ जातियों के अंदर विभेदन रहा है। इसलिए विभेदन अनिवार्यत: जातिगत असमानताओं में कमी से नहीं जुड़ा रहता। भूमिकाओं का विभेदन नई असमानताओं को जन्म दे सकता है जो मौजूदा असमानताओं को और प्रबल बना सकता है। ऐसी स्थिति में वर्ण व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था में सबसे नीचे के समूहों के लिए यह विभेदन दो-धारी तलवार बन जाता है। ग्रामीण समुदायों में नये ढांचे के उदय के फलस्वरूप अब एक ओर "सर्वहारा जमींदार" या भूस्वामी हैं तो दूसरी ओर नव-धनाढ्य, नव प्रभावशाली नव-जमींदारों का वर्ग नज़र आता है।

3.4.1 एककालिक विश्लेषण

जाति पर हुए अध्ययनों का एक लाभ यह रहा है कि इनसे 'फील्डवर्क' की एक परंपरा का सूत्रपात हुआ है। इनमें जाति को एक साम्यावस्थाकारी, समरस और सहमति-जन्य व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने पर अधिक बल दिया गया है। परिवर्तन को अक्सर संबंधों में जैविक से खंडीय, संवृत से विवृत, समरस से असयरस में अंतरण के रूप में दर्शाया गया। लेकिन अनुभवजन्य प्रमाण हमें बताता है कि वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन अनुकूलनधर्मी और विकासक्रमिक रहा है।

अभ्यास 1

एककालिक विश्लेषण की चर्चा अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से कीजिए। इस चर्चा से आपको जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लें।

वर्ण व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण हम असमानता और क्रम परंपरा के एक ढांचे से असमानता के दूसरे ढांचे में परिवर्तन से कर सकते हैं। वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की इस गुत्थी को समझने के लिए हमें किसी एक समाज के लोगों की "संयुक्त स्थिति" का विश्लेषण 'परिवार' या 'व्यक्ति' या दोनों को विश्लेषण की इकाई मानकर करना होगा। इस तरह का मार्ग अपनाने के लिए जरूरी है कि हम जाति को एक गतिशील या प्रक्रिया मानें। इसके बाद हमें परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए एक कार्यपद्धति की जरूरत पड़ती है। इसी संदर्भ में हम अब जाति-वर्ग गठजोड़ के बारे में चर्चा करेंगे।

जाति और वर्ग पर बहस संकीर्ण वैचारिक दृष्टिकोणों के दायरे में सिमटी रही है। 'जाति-मॉडल' के परिप्रेक्ष्य के अनुसार जाति एक अतिव्यापी वैचारिक व्यवस्था है जो सामाजिक जीवन, विशेष रूप से हिन्दुओं और साधारणतया अन्य सम्प्रदायों के जीवन के सभी पहलुओं को अपने में समेटे रहती है। इस तरह के दृष्टिकोण का एक निहितार्थ यह है कि जाति मूल रूप से भारतीय समाज के आंतरिक ढांचे का ही एक अंग है। इसलिए व्यवसाय, श्रम का विभाजन, विवाह के नियम, अंतर्वैयक्तिक (व्यक्तियों में परस्पर) संबंध बाहरी ढांचे के घटक हैं जो जाति की विचारधारा के पुनर्सृजन को अभिव्यक्त करते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.4.2 नियामक व्यवस्था के रूप में जाति

इसके बाद हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि जाति किस प्रकार एक नियामक व्यवस्था है? जाति कुछ निश्चित कार्यक्षेत्रों में अपने नियामक वर्जनाओं से क्यों चिपकी रहती है जबकि अन्य कार्य क्षेत्रों में जाति समूह और उनके सदस्य ऐसे क्रिया-कलाप अपना लेते हैं जो वर्ण व्यवस्था की पारंपरिक वर्जनाओं से बिल्कुल हटकर हैं? यह गौरतलब है कि एक जाति के सदस्य एक-दूसरे से स्पर्धा तो करते हैं मगर साथ ही वे परस्पर सहयोग भी करते हैं। जाति के भीतर वर्ग आधारित विभेद हमेशा प्रमुखता से मौजूद रहे हैं। उदाहरण के लिए किसी गांव में एक जाति के सदस्य कभी-कभी भारतीय वर्ग विभाजन का प्रतिनिधित्व करते पाए जाते हैं क्योंकि विवाह के संगत नियमों का पालन करते हुए वे असल में संगत सौदेबाजी को वर्गीय-स्थिति की धुरी के अनुरूप परिभाषित करते हैं। जाति सिद्धांत और व्यवहार दोनों में असमानता की ओर संकेत करता है। अपनी कालजयी कृति *होमो हायरार्किकस* में ड्यूमोंट वर्ण व्यवस्था पर आधारित असमानता को एक विशेष प्रकार की असमानता का दर्जा देते हैं। उनके अनुसार शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा जाति को समझने की कुंजी है। यह भारत में क्रम-परंपरा का सबसे बुनियादी आधार है। उन्होंने नृजातिवृत्त और वैचारिक वर्णनों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के "आदर्श प्रारूप" का विश्लेषण किया।

टी.एन. मदान क्रम परंपरा के बारे में ड्यूमोंट के इस दृष्टिकोण को उचित ठहराते हैं कि वह एक भौमिक आवश्यकता है। उनका मत है कि भारतीय समाज काफी हद तक गतिहीन और स्थिर रहा है। समाज में परिवर्तन अवश्य हुए हैं मगर आमूल परिवर्तन कभी नहीं आ पाया है।

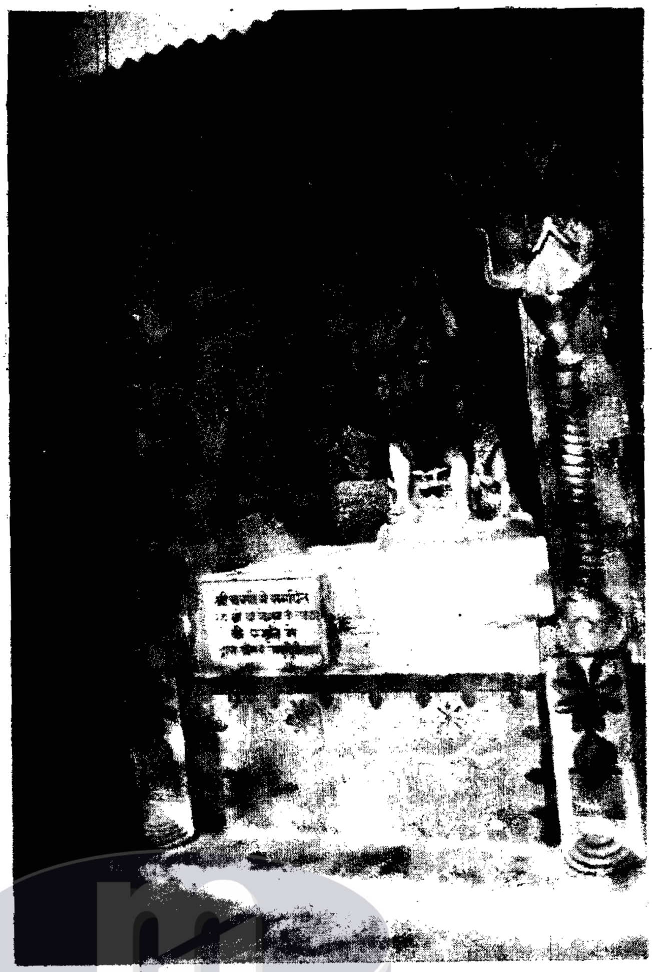

हिन्दू मन्दिरों में अब सभी जातियों के लोग पूजा कर सकते हैं
साभार : टी कपूर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.4.3 अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति

एक अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने का आधार जाति-समूहों, जैसे जाति को विशेष ग्रामीण/शहरी संदर्भ में देखना है। यह समाज में स्थान और पहचान का एक स्रोत है। मगर पहचान रोजाना के अनौपचारिक संबंधों का प्रकार्य नहीं है। उदाहरण के लिए अमूमन जाति एक तमिल ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के कान्य-कुब्ज ब्राह्मण के बीच विवाह का आधार नहीं बनती। मगर उनमें यह एहसास हो सकता है कि वे एक ही वंश से जुड़े हैं और संकट और चुनौती की घड़ियों में एक-दूसरे से सहयोग भी कर सकते हैं। इसलिए, कोई यह पूछ सकता है कि क्या जाति एक हित समूह है? क्या साझे हित विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न जातियों के लोगों को एक जाति के लोगों के बनिस्वत अधिक सहजता से एक दूसरे के समीप ला सकते हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति एक संसाधन है, मगर इस संसाधन की प्रकृति जाति के अनुसार बदल जाती है। एक जाति विशेष की हैसियत उसकी स्थिति पर निर्भर करती है जो उसे एक क्षेत्र विशेष में प्राप्त है। आज सवर्ण और मझोली जातियों के लिए जाति पहचान/सदस्यता बोझ बन गई है क्योंकि सरकारी नौकरियों, संसद और विधानसभाओं के साथ-साथ उच्च-शिक्षण संस्थानों में प्रवेश का एक खास प्रतिशत अनुसूचित जातियों/जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित कर दिया गया है।

यह दृष्टिकोण कि जाति और वर्ग विचारधारा से एक-दूसरे के विलोम हैं, सही नहीं है। यह मान लेना कि जाति के नष्ट हो जाने पर वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभर सकता है, दोनों के बीच में जो संबंध है उसे गलत समझना होगा। दोनों ही भारत की सामाजिक संरचना के अविभाज्य अंग रहे हैं। इसलिए दोनों के गठजोड़, उसकी निरंतरता और उसमें आने वाले परिवर्तन का अध्ययन जरूरी है।

जाति एक अति जटिल व्यवस्था है क्योंकि यह सत्ताधिकार या शक्ति संबंधों और आर्थिक क्रिया-कलापों की एक पद्धति भर नहीं है। अगर यह एक पहलू से कमजोर पड़ती है तो वहीं यह दूसरे पक्ष से शक्तिशाली

बन जाती है। निस्संदेह इस प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन, परिवर्धन और सहवर्धन अवश्य होते हैं। हमें इस व्यवस्था की गतिशीलता को गंभीरता से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आखिरकार अनुष्ठानों, शुद्धि-अशुद्धि और सामाजिक-जीवन के अन्य अभौतिक पहलुओं का आधार वर्ग ही है। उदाहरण के लिए, जाट सभा जैसा संगठन सिर्फ एक जातिगत संगठन नहीं है बल्कि असल में यह ग्रामीण किसानों का एक संगठन है। इसी तरह किसान सभा भी ग्रामीण किसानों का संगठन भर नहीं है बल्कि यह खेती-बाड़ी के पेशे में लगी कृषक जातियों विशेषकर उत्तरी भारत में जाटों और अन्य राज्यों की ऐसी ही जातियों का संघ है।

बोध प्रश्न 1

1) सत्ताधिकार और प्रभावी जाति पर पांच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति के बारे में चर्चा कीजिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

जाति को मुख्यत: एक ग्रामीण परिघटना और वर्ग को नगरों और कस्बों की वास्तविकता मानना कोरा मिथक है। आइए अपनी इस बात की पुष्टि के लिए हम जयपुर शहर में होने वाले जाति चुनावों पर दृष्टि डालते हैं।

3.5 जाति चुनाव

कोई पंद्रह वर्ष पहले जयपुर के बीच में स्थित स्टेशन रोड़ पर खंडेलवाल वैश्य महासभा के वार्षिक चुनाव हुए। इस चुनाव में सैकड़ों कारें, जीपें, ऑटोरिक्शा और स्कूटर-मोटरसाइकिल लगे हुए थे। सड़क के दोनों तरफ चुनाव के लिए लगभग 60 स्टॉल लगे थे। इस सड़क पर आने-जाने वाले यातायात को दूसरे मार्ग पर मोड़ दिया गया और स्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए पुलिस बंदोबस्त भी किया गया था। यह सिर्फ जातिवाद का प्रदर्शन ही नहीं था, बल्कि इसमें जाति की अंदर की गुटबाजी भी खूब देखने में आई। लेकिन इस चुनाव में हजारों रुपये खर्च करके चुने जाने वाले लोगों को आखिर क्या हासिल होना था? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए हमें गंभीर विश्लेषण करना होगा कि जाति और वर्ग किस प्रकार परस्पर काम करते हैं।

बॉक्स 3.02

सही अर्थों में जाति ढांचे का कोई समरूप पैटर्न पूरे भारत में नहीं मिलता। भारत में हजारों जातियां हैं जिनके नाम-उपनाम अलग-अलग हैं। लेकिन पूरे देश में सिर्फ पांच या छह वर्ग हैं। यहां यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय समाज में सामाजिक विभाजन के स्पष्ट रूप से ये भिन्न आधार वास्तव में एक दूसरे से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। भारत में अनेक मध्यम वर्ग हैं जिनका उत्पादन प्रक्रियाओं से कोई संबंध नहीं है, बल्कि ये आधुनिक भारतीय राज्य उपकरण की उपज हैं।

भारत में वर्ग संघर्ष असल में जाति संघर्ष और जाति संघर्ष वर्ग संघर्ष है। इन दोनों को अलग करना व्यर्थ और यांत्रिक होगा। इस विधि-वैज्ञानिक तर्क, कि दोनों विशिष्ट और भिन्न हैं क्योंकि दोनों का संबंध क्रमश: "सामाजिक" और "आर्थिक वास्तविकताओं" से है, इसको भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं कि ये दोनों एकदम अलग हैं।

यह दृष्टिकोण भारत के सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए जाति-वर्ग गठजोड़ पर केन्द्रित है। इसमें सामाजिक ढांचे, संस्कृति, इतिहास और द्वंद्वात्मकता को सामाजिक स्तर के ऊपरी हिस्सों और हाशिये पर रहने वाले समुदायों दोनों तरफ से समझने और उनका विश्लेषण करने पर बल दिया गया है।

गठजोड़ से यह मतलब नहीं कि जाति और वर्ग में तदनुरूपता या सममिति विद्यमान रहती है। परस्पर निर्भरता, अंतर्विरोध, सममिति और वर्चस्व इस गठजोड़ की अभिन्न विशेषताएं हैं। आंद्रे बेटीली बताते हैं कि गांव में जाति और सत्ताधिकार की क्रम-परंपराएं कुछ हद तक अतिव्यापन करती हैं मगर साथ में वे एक दूसरे की काट भी करती हैं।

बेटीली कहते हैं कि सामाजिक जीवन में कई क्षेत्र अब कुछ हद तक "जाति-मुक्त" हो रहे हैं। ब्राह्मणवादी परंपरा के अलावा भारतीय समाज में योद्धा राजपूतों की परंपरा, भारतीय दस्तकारों, व्यापारियों की परंपराएं, वर्गीय और सांस्कृतिक परंपराएं साथ-साथ विद्यमान थीं।

हमें यह स्वींकार करना होगा कि भारतीय समाज के बहु-आयामी होने और जाति व्यवस्था के कारण जाति की सटीक परिभाषा बेहद जटिल है। जाति के ढांचागत पहलू की यह कहकर व्याख्या की जाती है कि यह स्तरीकरण का एक सामान्य सिद्धांत है। एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में जाति को शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा की प्रधानता और क्रम परंपरा, पृथककरण और सम्मिलनशीलता की धारणाओं के संदर्भ में समझा जाता है।

एफ. जी. बेली जाति को स्तरीकरण की एक संवश्त (बंद) प्रणाली कहते हैं जबकि बेटीली वर्ण-व्यवस्थी के पहलुओं को 'संवश्त' और 'विवश्त' दोनों रूपों में देखते हैं। बेली के अनुसार जाति ज्यादा खंडीय होती जा रही है जिसका कारण भारत में विभेदित ढांचों का उदय है। विश्लेषण में इन भिन्नताओं के चलते जाति की एक साझी परिभाषा विकसित नहीं हो पाई है।

MAADHYAM IAS

3.5.1 जाति और गतिशीलता

जाति हालांकि वास्तव में ज्यादा लचीली व्यवस्था नहीं है, मगर यह अपने सदस्यों को कुछ निश्चित क्षेत्रों में गतिशीलता की अनुमति देती है। कोई जाति अंतरजातीय निर्भरता के मामले में वर्ण-व्यवस्था के नियमों से संचालित होती है। मगर वहीं दूसरी जाति को अपनी प्रथाओं, अनुष्ठानों और अधिकारों का पालन करने में अन्य जातियों के सापेक्ष स्वतंत्रता भी प्राप्त होती है।

श्रीनिवास के अनुसार कृषि उत्पादन के लिए आज भी कई जातियों के परस्पर सहयोग की उतनी ही आवश्यकता पड़ती है। जाति मुहावरे का चलन बड़ा व्यापक है। मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई विधि को भारत में वर्ण-व्यवस्था की स्थिरता से जोड़ कर देखा था। उधर, बेटीली भारतीय समाज के "जाति-दर्शन" को प्रचारित करने के लिए ड्यूमोंट को विशेष रूप से दोषी ठहराते हैं। उनके अनुसार, इस तरह का 'जाति मॉडल' विचारों और मूल्यों के अध्ययन में भौतिक हितों का कोई विश्लेषण नहीं देता। दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध है। मगर ड्यूमोंट और पोकॉक की 'दोहरस विरोध' की धारणा 'द्वंद्वात्मकता' की उस धारणा से कोई मेल नहीं खाती जो मार्क्स ने दी थी। बेटीली यह भी कहते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक द्वंद्व तो होते हैं मगर वे निश्चित सीमा तक अपनी स्वतंत्रता लिए रहते हैं। इसलिए इनका अध्ययन जाति और धार्मिक विश्वासों और विचारों से स्वतंत्र रहकर किया जा सकता है। जाति मॉडल में इस तरह के वैकल्पिक समझ का कोई मार्ग नहीं है।

एडमंड लीच का सहयोग को जाति और स्पर्धा को वर्ग कहना भी बचकाना और अविश्वसनीय है। प्रभावी जातियों के परिवारों में अपने आधिपत्य को बनाए रखने के लिए निम्न जातियों के संरक्षण देने की आपस में न सिर्फ होड़ रहती है बल्कि निम्न जातियां भी इन परिवारों का कृपापात्र बनने की होड़ में लगी रहती हैं। इस तरह की स्पर्धा कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपने-अपने क्षेत्राधिकार के विरोधी दावों के कारण युद्ध भी होते थे। लीच का यह मत, कि जाति सिर्फ एक 'जाति' थी और 'वर्ग' जैसी स्थिति तभी उभरी जब संरक्षक लोग परस्पर होड़ करने लगे, इस ऐतिहासिक वास्तविकता को नजरअंदाज कर देता है कि समाज में अंतरजातीय संघर्ष और ऊंची जातियों के विरुद्ध निम्न जातियों के विद्रोह होते रहे हैं।

3.6 वर्ग की व्याख्या

वर्ग और वर्ग द्वंद्व की मार्क्सवादी धारणाओं की छाप हमें भारतीय कृषि और शहरी औद्योगिक ढांचों के अध्ययनों में मिलती है। मार्क्स (1951) ने भारत पर लिखे दो लेखों में जाति और ग्रामीण समुदाय के पारंपरिक लोकाचार का विवेचन किया था। शुरू में मार्क्स (1947) का मानना था कि एशियाई उत्पादन विधि में भूमि के रूप में निजी संपत्ति नहीं है और जाति, कृषि और ग्रामीण हस्तशिल्पों में एक खास गठबंधन के कारण अर्थव्यवस्था जड़ है मगर सी.टी. कूरियन का मानना है कि एशियाई विधि का विश्लेषण वर्गीय अंतर्विरोधों और वर्गीय ढांचों की भूमिका को नकारता नहीं है। भारत की पूर्व-पूंजीवादी आर्थिक संरचना जाति और वर्ग पर आधारित थी जो पास-पास थे।

वर्ग पर चर्चा करने के लिए दो प्रश्न यहां प्रासंगिक हैं: (1) भारतीय समाज में वर्गीय संरचना के विश्लेषण के लिए हम कौन सी विधि प्रयोग कर सकते हैं? और (2) वर्ग-जाति गठजोड़ क्या है, प्रत्येक क्षेत्र में इसके फलितार्थ और अंतर्संबंध क्या हैं? इन प्रश्नों पर चर्चा करने के पीछे हमारा आशय मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकारना या नकारना नहीं है; बल्कि यह देखना है कि यह हमें क्या उपयोगी अंतदृष्टि प्रदान कर सकता है।

भारत में कृषि पर निर्भर जनसंख्या की वर्गीय संरचना का विश्लेषण करते हुए अशोक रुद्र कहते हैं कि भारती कृषि में सिर्फ दो वर्ग हैं–बड़े जमींदार और खेतीहर मजदूर। इन दोनों वर्गों में वैमनष्यपूर्ण संबंध हैं और भारतीय ग्रामीण समाज का यही सबसे प्रमुख अंतर्विरोध है। ए.आर. देसाई की भी यही धारणा है।

बॉक्स 3.03

रुद्र जोरदार ढंग से तर्क देते हैं कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी संबंध और पूंजीवादी विकास है। इसलिए इसमें दो वर्ग हैं- संपन्न और निर्धन। भारत में राज्य ने अपने विकास की रणनीति के रूप में पूंजीवादी समाज के नियम अपना लिए हैं। इस सिद्धांत का एक निहितार्थ यह है कि जो संदर्भ आधार अभी तक पूरे विश्व के लिए लागू होता था वह अब भारतीय समाज के लिए भी लागू होगा। इसका दूसरा निष्कर्ष यह है कि भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए सबसे प्रभावी कारक सभी स्थितियों और संदर्भों में आर्थिक है।

वी.एम. दांडेकर कहते हैं कि भारत में वेतनभोगियों द्वारा हड़ताल सामान्य बात है। इनमें दो सौ रुपये से लेकर कई हज़ार का वेतन पाने वाले श्रमिक शामिल हैं। इसलिए वेतन-भोगी मज़दूरों को एक विषामांगी श्रेणी के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस तरह भारत की कुल श्रमशक्ति का तीन-चौथाई हिस्सा मार्क्सवाद की कसौटी से बाहर छूट जाता है। एक कल्याणकारी राज्य होने के कारण भारतीय राज्य आज सबसे बड़ा नियोक्ता, सबसे बड़ा रोजगार देने वाला है। क्या भारतीय राज्य किसी उद्योगपति या मजदूरों के नियोक्ता की तरह एक पूंजीवादी, शोषक और दमनकारी ऐजेंसी है? लगभग एक करोड़ क़ामगार छोटे उद्योगों और पारिवारिक-स्वामित्व वाले उद्यमों में कार्यरत हैं। इन उद्योगों का सामना वर्ग-वैमनष्य और हड़तालों से कभी नहीं होता। संगठित श्रमिकों की संख्या कुल श्रमशक्ति का मात्र नौवां भाग भर है। ऐसी स्थिति में क्या हम मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकार

कर सकते हैं? वर्ग, जाति और व्यवसाय का अतिव्यापन, अभिजात वर्ग के द्वंद्व, पैरोकार समूह और गुट, मध्यम वर्गों का प्रभाव और "मिश्र वर्गों" और 'भद्र किसानों' की उपस्थिति, इन सब कारकों को भारत के वर्गीय ढांचे के गंभीर विश्लेषण के लिए ध्यान में रखा जाना चाहिए। जजमानी प्रथा की व्याख्या भी हम वर्ग संबंधों और उत्पादन विधि के परिप्रेक्ष्य में दे सकते हैं। आइए, अब हम जाति क्रम परंपरा और व्यवसाय पर नजर डालते हैं।

3.7 जाति-क्रम-परंपरा और वर्ग-संघर्ष

भारत में कई वर्षों से दलितों पर आक्रमण किए जा रहे हैं, उनकी हत्या की जा रही है, उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार किया जा रहा है और उन्हें तरह-तरह के अत्याचारों और अपमान का निशाना बनाया जा रहा है। अरुण सिन्हा कहते हैं कि यह अत्याचार छिट-पुट घटनाएं नहीं बल्कि हरिजनों के विरुद्ध छेड़ा गया 'वर्ग युद्ध' है। *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* में प्रकाशित एक लेख में सिन्हा कहते हैं, "बिहार के गांवों में धनाढ्य कृषक वर्ग के उदय ने चमार, दुसाध, कुर्मी, यादव, भूमिहार इत्यादि सभी जातियों के खेतिहार मजदूरों को अपने जातिगत संगठनों को त्यागकर मजदूर संघों की तरह लड़ने के लिए विवश कर दिया है।" इसे 'वर्ग संघर्ष' कहा जाना चाहिए, जिसमें जातिगत मतभेदों को भुला दिया गया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हरिजन या चमार खेतिहार मजदूर को भूमिहार या ब्राह्मण मजदूर के समकक्ष सिर्फ इसलिए खड़ा नहीं किया जा सकता है कि दोनों का स्थान वर्गीय ढांचे में एक ही है।

स्वतंत्र भारत की वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों का धनाढ्य कृषक वर्ग आज वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर काबिज है। यह वही वर्ग है जो सवर्ण जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहा है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) वर्ग को सामाजिक परिघटना के रूप में पांच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2) जाति क्रम परंपरा और वर्ग संघर्ष के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

गौर तलब है कि जनता पार्टी के शासन में बिहार में वर्चस्व के ढांचे में एक परिवर्तन आया जिससे राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के दूरगामी परिणाम निकले। इस दौरान ब्राह्मणों का वर्चस्व काफी हद तक कम हुआ।

3.7.1 हिंसा और शोषण

अत्याचार विरोधी समिति (1979) के मुताबिक बेल्ची, आगरा, पंतनगर, मराठवाड़ा और बाजितपुर समेत अनेक जगहों पर अनुसूचित जाति के लोगों की हत्या, लूट और उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार की

घटनाएं वर्ग संघर्ष और वर्ग संगठनों की तुलना में वर्ण व्यवस्था की भूमिका को दर्शाते हैं। समिति ने महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों के उत्पीड़न की प्रकृति और उसकी व्यापकता की जांच पड़ताल की थी। अनुसूचित जातियों के लोग ही गरीब किसान और खेतिहर मजदूर थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निर्धन ग्रामीण महिलाओं विशेषकर दलित महिलाओं के यौन और आर्थिक दोनों प्रकार के शोषण और उत्पीड़न को उजागर किया था। समिति ने अपनी जांच के दौरान जो पाया और उससे जो निष्कर्ष निकाले वे बड़े ही महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि जाति को उत्पादन संबंधों की ही व्यवस्था के रूप में समझा जाता है। उधर, बिहार में रणबीर सेना और एक चरमपंथी वाम गुट के बीच छिड़े संघर्ष के चलते निम्न जाति के निर्धनों और ऊंची जाति के भूमिहारों के बीच नरसंहार प्रति-नरसंहार हो रहे हैं। यहां निम्न महत्वपूर्ण बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए:

i) वर्ण व्यवस्था आर्थिक शोषण की एक बेहद प्रभावशाली विधि के रूप में काम करती है। प्रभावी जाति राजनीतिक सत्ताधिकार और सामाजिक प्रतिष्ठा भी अर्जित कर लेती है जो जाति क्रम परंपरा और स्वामित्व को दर्शाती है। आर्थिक क्रम-परंपरा का सामाजिक क्रम-परंपरा से गहरा संबंध है।

ii) विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जाति उत्पादन के साधनों और जीवन निर्वाह से निश्चित संबंधों को तय करती है। जातिगत संघर्ष या दंगे वर्ग हितों को दर्शाते हैं।

iii) जाति उत्पादन संबंधों को भी परिभाषित करती है क्योंकि यही जन समूहों और व्यक्तियों के उत्पादन के साधनों और संसाधनों तक पहुंच को संचालित करती है और राजनीतिक-आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों के लिए सामाजिक आधार प्रदान करती है।

iv) भीमराव आंम्बेडकर ने सही कहा था कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ श्रम का ही विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का विभाजन भी है। जाति श्रमिकों को एक वर्ग के रूप उभरने से रोकती है। इसलिए जाति को "झूठी चेतना" की तरह एक विचारधारा के रूप में लिया जाना चाहिए। यह देखने में आया है कि जाति और वर्ग दोनों की दलित पहचान और आंदोलन के उदय में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

v) जाति और धर्म को एक विशेष वर्गीय ढांचे को दृढ़ बनाने में प्रयोग किया जाता है।

vi) जाति सामंती विचारधारा के रूप में कायम रहती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 2

ऊपर जो बिंदु (i)-(vi) दिए गए हैं उनकी रोशनी में मौजूदा वर्ण व्यवस्था पर अपने सहपाठियों के साथ चर्चा कीजिए और नोटबुक में उसके निष्कर्ष लिखिए।

अत्याचार विरोधी समिति कहती है कि "जाति भारतीय समाज एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। यह उत्पादन संबंधों के स्तर पर एक विशेष प्रकार के उत्पीड़न को दर्शाता है।" ऐसा कहना कि मुद्दे सिर्फ वर्गीय हैं और जाति से जुड़े प्रश्न हैं ही नहीं, कोरी बकवास है। क्योंकि शुद्धत: "आर्थिक" वर्ग से परे जाति विभाजन आज भी कायम हैं। इसलिए जाति के प्रश्नों से जुड़े मुद्दों को सभी प्रगतिशील लोगों, वामपंथियों, दलितों और गैर-दलितों और संगठनों को उठाना चाहिए। आज के भारतीय समाज की वास्तविकता यही है कि इसमें वर्गीय हित जाति उत्पीड़न और वर्गीय शोषण के साथ-साथ उभर रहे हैं।

3.8 सारांश

जाति के ढांचागत पहलुओं विशेषकर इसके आर्थिक और राजनीतिक आयामों को अभी तक कम करके आंका गया है। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के सांस्कृतिक पहलुओं के विश्लेषण से हमें भारत के सामाजिक ढांचे की गहरी जानकारी मिल सकती है दोनों क्योंकि एक दूसरे से अभिन्न हैं। जैसा कि हमने बताया, है वर्ग जाति के परिप्रेक्ष्य में ही काम करते हैं और जाति संघर्ष वर्ग या किसान संघर्ष भी है। ऊंची और निम्न जातियों के बीच विभाजन और टकराव काफी हद तक भूस्वामियों और बटाईदारों या खेतिहर मजदूरों के बीच होने वाले संघर्षों के रंग में ही होते हैं।

जाति और वर्ग संबंधों और उनके रूपांतर को समझने के लिए चार बुनियादी बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। ये हैं: (i) द्वंद्वात्मकता (ii) इतिहास, (iii) संस्कृति और (iv) संरचना।

द्वंद्वात्मकता समाज के संज्ञानात्मक ढांचे में विभाजन को ही नहीं कहते हैं। द्वंद्वात्मकता उन प्रभावशाली धारणाओं को कहते हैं, जो अंतर्विरोध उत्पन्न करते हैं। यह समाज के असमान टुकड़ों और महिला और पुरुष के बीच संबंधों को उजागर करता है। इतिहास किंवदंतियों, शास्त्रों और आदर्शवादी रचनाओं पर आधारित अनुमान नहीं होता, बल्कि यह मौजूदा कार्य स्थिति और संबंधों का महत्वपूर्ण दस्तावेज होता है। इसी प्रकार संस्कृति में सिर्फ सांस्कृतिक प्रथाएं, अनुष्ठान, मृत्यु कर्मकांड इत्यादि ही शामिल नहीं होते, बल्कि खेल के नियमों, संपन्न, विशेषाधिकार प्राप्त लोगों और वंचितों के संबंधों की प्रकृति और प्रतिरोध या सहमति की विधियों-रीतियों को परिभाषित करता है। सामाजिक ढांचा निस्संदेह द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों, ऐतिहासिक शक्तियों और खेल के नियमों की उपज है। मगर यह उभरता है तो यह 'संघटन' बन जाता है और फिर यह भी इतिहास की धारा को तय करने वाली एक तरह की शक्ति बन जाता है। इस तरह सामाजिक ढांचा एक निश्चित काल में समाज के विभिन्न खंडों के बीच संबंध ही नहीं है बल्कि उससे कहीं ज्यादा यह एक ऐतिहासिक उत्पाद और वास्तविकता है। इन तत्वों को संरचनात्मक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण के केन्द्र में रखकर हम जाति और वर्गीय ढांचे में होने वाले बदलावों को "रचनांतरण प्रक्रिया" मान सकते हैं।

उपरोक्त निदर्शनात्मक व्याखाओं से ढांचागत परिवर्तन की जो प्रक्रियाएं निकलती हैं उन्हें हम इस प्रकार नोट कर सकते हैं:

i) अधोगामी गतिशीलता और सर्वहाराकरण
ii) ऊर्ध्वगामी गतिशीलता और बुर्जुआकरण
iii) ग्रामीण लोगों के लिए शहरी आमदनी और गांव में गतिशीलता
iv) ग्रामीण गैर-कृषि आमदनी और गतिशीलता।

अगर हमें भारत में जाति और वर्ग को पूरी तरह से समझना है तो इन्हीं विषयवस्तुओं पर अधिक ध्यान देना होगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.9 शब्दावली

जाति : एक प्रदत्त समूह, जिसकी अखिल भारतीय वर्ण योजना के प्रति आस्था समेत कई विशेषताएं हैं।

एककालिक : घटना या विश्लेषण जो किसी अन्य घटना या विश्लेषण के साथ-साथ हो या किया जाए।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेटीली, आंद्रे, 1965, *कास्ट, क्लास ऐंड पॉवर*, बंबई, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

घुरये, जी.एस., *कास्ट, क्लास ऐंड ऑक्यूपेशन*, बंबई, पॉपुलर बुक डिपो, इससे पूर्व यह पुस्तक *कास्ट, ऐंड रेस और कास्ट ऐंड क्लास* शीर्षक के तहत छपी थी।

सिंह, योगेन्द्र, 1973, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, थॉमसन प्रेस (इंडिया) लि., फरीदाबाद।

श्रीनिवास, एम.एन., 1966, *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया*, बर्कले, कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस।

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) बेटीली का मानना है कि सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति को अंतरण होता है। सत्ताधिकार अब अपेक्षतया अधिक विभेदी संरचनाओं में निहित है। जैसे, पंचायत और राजनीतिक दल। के.एल. शर्मा के अनुसार परिवर्तन असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में हुआ है।

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने के लिए हमें जाति जैसे वर्ण समूहों को ग्रामीण/शहरी संदर्भ विशेष में रखना होगा। यह समाज में स्थान उत्पन्न करता है और पहचान प्रदान करता है। पहचान रोजमर्रा के पारस्परिक-व्यवहार का कार्य नहीं है। इसलिए हो सकता है कि दो जाति समूह परस्पर विवाह नहीं रचाएं मगर उनमें एक ही वंश से जुड़े होने का एहसास हो सकता है और वे संकट और चुनौतीपूर्ण स्थितियों में परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत की कृषि और शहरी औद्योगिक संरचनाओं के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी धारणा को बडे पैमाने पर प्रयोग किया गया है। यह कहा गया है कि भारत की पूर्व-पूंजीवादी संरचना जाति और वर्ग दोनों पर आधारित है। रुद्र और दांडेकर सहित विभिन्न लेखकों ने कृषि के अपने विश्लेषणों में वर्ग को प्रयोग किया है।

2) ऐसा पाया गया है कि जाति क्रम परंपरा के निचले स्तर के लोगों पर बड़े ही व्यवस्थित ढंग से हमला किया गया है। सिन्हा को यह 'वर्ग युद्ध' लगता है न कि संयोग से होने वाले अत्याचार। स्वतंत्र भारत में वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों के धनाढ्य कृषकों का एक वर्ग ग्रामीण वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर आ पहुंचा है। यही वर्ग ऊंची जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। जिसमें उसे कुछ सफलता भी हासिल हुई है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 4 स्तरीकरण: सामाजिक लिंग (जेंडर) सोच और जातीयता से जुड़े आयाम

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 सामाजिक लिंग और जातीयता
4.2.1 अल्पसंख्यक कौन हैं
4.2.2 संजातीय अल्पसंख्यक
4.2.3 असमानता और अंतर
4.2.4 क्रम परंपरा और अंतर
4.2.5 सामाजिक लिंग और संजातीय अंतर
4.3 जातीयता और स्तरीकरण
4.3.1 राष्ट्रवाद और जातीयता
4.3.2 जातीय समूहों की प्रकृति
4.3.3 जातीयता और परिवार
4.4 सामाजिक लिंग और स्तरीकरण
4.4.1 सामाजिक लिंग की असामनताएं
4.4.2 पितृसत्ता और सामाजिक लिंग सोच
4.4.3 जातीयता और सांस्कृतिक वंचना
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.0 उद्देश्य

नवीनतम अध्ययनों से सिद्ध हो गया है कि सामाजिक स्तरीकरण में सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और जातीयता के मुद्दों की महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- सामाजिक लिंग और जातीयता की परिभाषा दे सकेंगे और इन दोनों से जुड़े मुद्दों के सामाजिक स्तरीकरण के निहितार्थों को यह समझा सकेंगे;
- भारत जैसे बहुविध समाज में सामाजिक लिंग (जेंडर) और जातीयता के बुनियादी मुद्दों को समझा सकेंगे,
- असमान सामाजिक लिंग संबंधों का सामाजिक स्तरीकरण में महत्व समझ पाएंगे;
- यह जान सकेंगे कि जातीय अल्पसंख्यक सांस्कृतिक दृष्टि से बहुसंख्यकों से किस तरह से भिन्न हैं; और
- यह समझ पाएंगे कि वर्तमान में जातीय पहचान किस तरह भारत में क्षेत्रीय स्वायत्तता के लिए हो रहे आंदलनों का चरित्र बन गई है।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में स्तरीकरण के संदर्भ में सामाजिक लिंग सोच और जातीयता से जुड़े नये मुद्दों को समझने का प्रयास किया गया है। एक तरह से इन्हें नया कहना सही भी है और गलत भी। यह सही इस अर्थ में है कि ये मुद्दे वर्तमान समय के विशेष सरोकार हैं। इन्होंने स्तरीकरण के प्रचलित सिद्धांतों की इस

तरह से पूछताछ की है जैसी अभी तक नही हुई थी। मगर वहीं यह गलत इसलिए है कि जातीयता और सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) सभी जगह स्तरीकरण व्यवस्था में गुंथे हुए थे लेकिन इन पर कभी ध्यान नहीं दिया गया। यह एक अति महत्वपूर्ण बात है कि जब कभी सामाजिक आंदोलनों ने प्रश्न उठाए हैं समाजशास्त्र को समय-समय पर अपनी तमाम अवधारणाओं और श्रेणियों की पुनर्समीक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इससे पहले कि उन प्रश्नों पर गौर करें जो सामाजिक लिंग सोच और जातीयता ने उठाए हैं, हम संक्षेप में कुछ बिंदुओं पर रोशनी डालेंगे जो स्तरीकरण के संबंध में दोनों की चर्चा के लिए प्रासंगिक हैं।

4.2 सामाजिक लिंग सोच और जातीयता

इकाई के इस भाग में हम तीन मुद्दों को ले रहे हैं जो सामाजिक लिंग और जातीयता के बीच समान रूप से पाए जाते हैं।

4.2.1 अल्पसंख्यक कौन हैं?

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट (1980) के मुताबिक: "विश्व की जनसंख्या का आधा हिस्सा महिलाएं हैं। दो तिहाई कार्य घंटे का काम वही करती हैं। लेकिन विश्व की आमदनी का सिर्फ दसवां हिस्सा उन्हें मिलता है और विश्व उन्हें संपत्ति में सौवें हिस्से से भी कम का स्वमित्व उन्हें प्राप्त है।''
यही बात दक्षिण अफ्रीका के काले लोगों के लिए कही जा सकती है। वे बहुत मौलिक अर्थ में अल्पसंख्यक हैं। अल्पसंख्यक समूह की लुई विर्थ की इस परिभाषा को हेलन मेयर हैकर ने भी स्वीकार किया है: "अलसंख्यक समूह ऐसा जनसमूह है जिसे उसकी शारीरिक और सांस्कृतिक विविशष्टताओं के कारण अपने समाज में अलग से चिन्हित कर दिया जाता है और इस आधार पर उनसे अलग और असमान व्यवहार किया जाता है। इसलिए यह जनसमूह स्वयं को सामूहिक भेदभाव का निशाना समझता है।" इस परिभाषा से सहमत होना हमारे लिए उपयोगी हो सकता है।

अमरिकी अश्वेतों और महिलाओं की स्थिति की तुलना के आधार पर हैकर कहते हैं कि महिलाओं का वर्गीकरण एक अल्पसंख्यक समूह के रूप में करने से कुछ लाभ हैं। इसका सबसे पहला लाभ यह है कि दोनों समूहों (अश्वेतों और स्त्रियों) में "उच्च सामाजिक दृश्यमानता" देखने को मिलती है। अश्वेतों लोगों में उनकी नस्लीय विशिष्टताओं और कुछ हद तक वेशभूषा और महिलाओं में यह उनके यौन लक्षणों और स्त्रियोचित परिधानों के रूप में प्रकट होती है। लेकिन अन्य विद्वान इस स्थापना से सहमति नहीं रखते। उदाहरण के लिए एंथनी गिडंस इस सिद्धांत के प्रतिपक्ष में कहते हैं कि यह अपने आप में विरोधाभासी होगा कि जनसंख्या के उस एक हिस्से को अल्पसंख्यक कहा जाए जो कि बहुसंख्यक हो सकता है वह कहते हैं: "कुछ विद्वानों ने कहा है कि यह धारणा संख्यात्मक होने के बजाए समाजशास्त्रीय है इसलिए अल्पसंख्यक कुछ खास परिस्थितियों में जनसंख्या के बहुसंख्यक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका में अपेक्षतया मुट्ठी भर गोरे लोग संख्या में अपने से कहीं ज्यादा अश्वेत लोगों पर वर्चस्व बनाए रखे हुए हैं मगर ऐसी स्थिति में उनके लिए अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग करना विरोधाभासी होगा। वास्तविकता यह है कि अश्वेत लोग वहां इतनी बडी संख्या में हैं कि उससे समाज की समग्र बनावट में बडा अंतर पडता है। इसी प्रकार पाश्चात्य जगत् में असमानताओं पर होने वाली चर्चाओं में कभी-कभी "महिला और अन्य अल्पसंख्यक" जैसा जुमला सुनने को मिलता है हालांकि महिलाएं विश्व की आधी जनसंख्या हैं। 'अल्पसंख्यक समूह' शब्द का प्रयोग अगर हम सिर्फ उन लोगों के लिए करें जिनके साथ भेदभाव होता है और जो जनसंख्या का बड़ा हिस्सा नहीं हों, तो इससे हमें कम से कम भ्रम होगा।"

4.2.2 संजातीय अल्पसंख्यक

गिडंस जोर देकर कहते हैं कि समाजशास्त्र में बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होने वाली संजातीय अल्पसंख्यकों या अल्पसंख्यक समूहों की धारणा में संख्याओं से ज्यादा कुछ और भी निहित है। मगर वह यह महसूस करते हैं कि समाजशास्त्र में जो तीन विशेषताएं अल्पसंख्यक समूहों को परिभाषित करती हैं वे महिलाओं की

कसौटी में खारी नहीं उतरती हैं क्योंकि महिलाएं अफ्रीका के अश्वेत की तरह संख्या की दृष्टि से बहुसंख्यक समूह हैं। एक अल्पसंख्यक समूह की तीन विशेषताएं इस प्रकार होनी चाहिए:

i) इसके सदस्य अन्य लोगों द्वारा उनके प्रति बरते जाने वाले भेदभाव के कारण वंचित और अलाभकर स्थिति में होते हैं। यह भेदभाव तब पैदा होता है जब एक समूह के लोगों को मिलने वाले अधिकार और अवसर दूसरे समूह को नहीं दिए जाते।

ii) अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों में सामूहिक एकता के कारण एक दूसरे से जुड़े होने की भावना होती है। पूर्वाग्रहों और भेदभाव का शिकार होने का अनुभव उनमें सामूहिक वफादारी और हितों की भावना को और मजबूत बनाता है। अल्पसंख्यक समूहों के लोग अक्सर अपने को बहुसंख्यकों से एकदम अलग लोग मानते हैं।

iii) प्राय: अल्पसंख्यक समूह कुछ हद तक बहुसंख्यक समुदाय से भौतिक और सामाजिक रूप से अलग-अलग रहते हैं। देश के कुछ भू-भागों, शहरों या बस्तियों में उनका जमावड़ा रहता है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों के बीच अतंरजातीय विवाह नहीं होते। अल्पसंख्यक समूह के लोग अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखने के लिए अंतर्विवाह (समूह के भीतर विवाह) को ही बढ़ावा देते हैं

अभ्यास 1

विभिन्न लोगों और अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से संजातीय अल्पसंख्यकों समेत अल्पसंख्यकों से जुड़ी धारणा पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा के परिणाम को अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

गिडंस विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि समाजशास्त्र की दृष्टि से अल्पसंख्यक सिर्फ संख्या का विषय नहीं हैं। अगर हम 'भेदभाव' या 'वंचित' के पहले बिंदु की बात करें तो निश्चय ही यह समूह के रूप में महिलाओं पर लागू होती है, भले ही उनके भीतर अंतर कितने ही गहरे हों। भेदभाव का स्वरूप और तीव्रता में काफी भिन्नता होती है, मगर यह कहना गलत नहीं होगा कि सभी समाजों में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियां वंचित और अलाभकर स्थिति में ही रहती हैं। लेकिन सभी समाजों में महिलाओं के साथ भेदभाव नहीं बरता जाता, इसे सिद्ध करने के लिए अक्सर हमें खासी जैसे मातृवंशीय समाजों का उदाहरण दिखाया जाता है। मगर नवीनतम शोधकार्यो से यह सिद्ध हो जाता है कि खासी जैसे समाजों में भी परिवार के अंदर संपत्ति और निर्णय लेने का अधिकार पुरुष मुखिया को ही होता है। वह मुखिया पति न होकर उसका भाई होता है। इसी प्रकार सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में भी महिलाओं का राजनीतिक ढांचों और प्रक्रियाओं में प्रतिनिधित्व घोर निराशाजनक है। दूसरे बिन्दु में कुछ रोचकता है क्योंकि महिला आंदोलन के फलस्वरूप 'एकात्मता' और 'एक दूसरे से जुडे होने' की भावना आज कुछ प्रभावशाली सामाजिक वास्तविकता बन गई है। अगर ऐसा नहीं होता तो शायद यह इकाई लिखी नहीं जाती जो शायद इस तरह के परिवर्तन का ही परिणाम कहा जा सकता है। महिला आंदोलन की इस 'एकात्मता' के चलते सरकारों, कानून बनाने वाली संस्थाओं, अंतरराष्ट्रीय संगठनों ने किसी न किसी रूप में प्रतिक्रिया की है। उधर, विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों को भी यह एहसास हो गया है कि महिला आंदोलन के परिणामस्वरूप जो नए परिप्रेक्ष्य समाज में उभरे है उन्हें भी पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाना चाहिए। तीसरा पहलू है भौतिक और सामाजिक पार्थक्य का। महिला आंदोलन के लिए यह मुद्दा बेहद महत्वपूर्ण रहा है।

बाक्स 4.01

आंदोलनकर्ता और विद्वान सिद्धांतकार, दोनों ही इस वास्तविकता को गहराई से जानते हैं कि महिलाएं पुरुषों से उस तरह अलग नहीं होतीं जिस तरह कुछ अल्पसंख्यक समाज में अलग होते हैं। असल में परिवार में स्त्री और पुरुष अक्सर गहरे भवनात्मक संबंधों में बंधे होते हैं। गिडंस का यह तर्क अकाट्य है कि महिलाएं किसी कस्बे, शहर या गांव के अलग-थलग हिस्सों में अलग से नही रहती। कई अल्पसंख्यक समुदाय इस तरह से रहते है तो कई नहीं रहते। इसलिए इसे किसी अल्पसंख्यक समाज को परिभाषित करने वाली विशेषता के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

मगर यहां यह बात कही जा रही है कि महत्वपूर्ण अंतर के बावजूद संजातीय समूह और महिलाएं दोनों निर्णय करने के मामले में हाशिये पर हैं। वे कम शक्तिशाली, कम दृश्यमान हैं और अक्सर उन्हें पूर्वाग्रहों का शिकार होना पड़ता है। इसलिए महिलाओं को एक अल्पसंख्यक समूह के रूप में देखना उनकी अलाभकर स्थिति को मान्य बनाने की दिशा में एक कदम होगा।

4.2.3 असमानता और अंतर

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों में यह मानकर चलने की प्रवृति हावी रही है कि स्तरीकरण का मतलब क्रम परंपरा और असमानता है। दीपंकर गुप्ता ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सामाजिक स्तरों को शुद्ध किताबी अंदाज में धरती के गर्भ में विद्यमान भू-स्तरों की उपमा देना भ्रामक है। गुप्ता के शब्दों में यह इसलिए भ्रामक है क्योंकि: "अलंकारिक रूप से यह हमें यह विश्वास करने लिए मना सकता है कि स्तरीकरण का अर्थ हमेशा ऐसे स्तरों से होता है जो लंबवत् या क्रम परंमरा में व्यवस्थित रहते हैं स्तरीकरण को सही ढंग से समझने के लिए हमें इसे क्रम-परंपरा से अलग करके देखना होगा क्योंकि क्रम परंपरा स्तरीकरण के अनेक रूपों में उसका सिर्फ एक रूप है।"

गुप्ता का तर्क है कि स्तरीकरण की सभी पद्धतियां क्रम परंपरात्मक नहीं हैं। कुछ पद्धतियाँ क्रम-परंपरात्मक हैं तो कई नहीं हैं। वह कहते है: कुछ स्तरणकारी पद्धतियों में क्रम परंपरा के बजाए अंतर या भेद अधिक प्रभावी होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अंतरों के संघटनात्मक तत्व कुछ इस तरह के हैं कि अगर उन्हें हम क्रम परंपरात्मक रूप से देखने का प्रयास करते हैं तो वह इन तत्वों को तार्किक गुणधर्म को हानि पहुंचाता है। यहां स्तर लंबवत् या क्रम-परंपरात्मक रूप से व्यवस्थित नहीं होते, बल्कि वे समस्तर पर या कभी अलग अलग भी व्यवस्थित होते हैं।"

स्तरीकरण के इस स्वरूप में अंतर सर्वोपरि है, जिसे स्पष्ट करने के लिए गुप्ता लिखते हैं:

इस तरह के विन्यास को भाषा, धर्म या राष्ट्रीयताओं की स्थिति में आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। अगर भाषाओं या धर्मों या राष्ट्रीयताओं का क्रम परंपराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह निरर्थक और निस्संदेह सनकीपन ही होगा। इस किस्म के स्तरीकरण को स्पष्ट करने के लिए भारत एक सही उदाहरण है। भारत में जो अलग-अलग भाषाएं बोली जाती हैं वे सामाजिक स्तरीकरण की समस्तरीय पद्धति का बड़ा गुणगान करती हैं। जिसमें भेद सर्वोपरि हैं। इसके अलावा धर्म निरपेक्ष भारत हमें धार्मिक स्तरीकरण का उदाहरण भी देता है जिसमें धर्मों को क्रम परंपराबद्ध नहीं किया गया है या कानून में असमान अधिकार नहीं दिया गया है, बल्कि सभी को अलग-अलग रहने की स्वतंत्रता है। इसमें अपने नैसर्गिक अंतर या भेदों का पूरा बोध रहता है।

यहां यह बात कही जा रही है कि भाषायी, धार्मिक, संजातीया या सामाजिक लिंग के भेदों को क्रम परंपराबद्ध करने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है। बल्कि, जैसा कि स्वयं गुप्ता स्वीकार करते हैं, "अधिकांश लोगों की जर में धर्म, भाषा, लिंग, राष्ट्रीयता ये सभी क्रम परंपराबद्ध हैं हालांकि उनसे यह स्पष्ट कथन प्राप्त हो पाना बड़ा कठिन होता है कि किन प्रतिमानों के आधार पर इन क्रम परंपराओं की रचना हुई है। असल में एक समाजशास्त्री के लिए यह प्रश्न पूछने योग्य है: इसका क्या कारण है कि लोगों में समस्तरीय विभेदों को क्रम परंपरा में बांटने की प्रवृत्ति होती है जिनका तार्किक गुणधर्म समानता है?"

4.2.4 क्रम परंपरा और अंतर

तार्किक विशिष्टताओं के महत्व के बावजूद भेद या अंतर क्रम परंमरात्मक ही होते हैं। संजातीय अल्पसंख्यक और स्त्रियों दोनों को भारी वैमनष्य, पूर्वाग्रह और भेदभाव का सामना करना पड़ता है। पूर्वाग्रह मुख्यत: रूढ़िवादी दृष्टिकोण के प्रयोग से काम करता है। दरअसल, जिन श्रेणियों के जरिए हम अपने अनुभव को वर्गों में बांटते हैं। वे हमारे चिंतन का ही हिस्सा होती हैं। मगर कभी-कभी ये श्रेणियां गलत सोच और सूचना पर आधारित और कठोर होती हैं। जहां रूढ़िरूप (स्टीरियोटाइप) भय

MAADHYAM IAS

और आशंका से जुड़ी हों, उसमें स्थिति बड़ी कठिन हो जाती है। एक गोरे आदमी को सभी काले लोग आलसी और मूर्ख लग सकते हैं। इसी तरह एक पुरुष सभी महिलाओं को निपट मूर्ख और उन्मादी मान सकता है। सवर्ण हिन्दु को यह महसूस हो सकता है कि अल्पसंख्यकों को खुश किया जा रहा है। समाजशास्त्रियों ने इस तरह का 'बली को बकरा' बनाने की व्याख्या के लिए विस्थापन की अवधारणा का प्रयोग किया है।

रूढ़िप्ररूपण (स्टीरियोटाइपिंग) अक्सर विस्थापन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। विस्थापन में वैमनष्य या क्रोध की भावना उन वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर मुड़ जाती है जो कि इसका वास्तविक कारण नहीं होते। दूसरे शब्दों में इसका यह मतलब है कि जैसे विकट बेरोजगारी के दौर में संजातीय समूह या महिलाओं पर नौकरियां हथिया लेने का दोष मढ़ दिया जाता है या उन्हें 'बलि का बकरा' बनाया जाता है।

हालांकि चर्चा के विषय पर लौटें तो भेद या अंतर अनिवार्यत: असमान या क्रम परंपरात्मक नहीं होते मगर व्यवहार में सामाजिक लिंग और संजातीयता में क्रम-परंपरा और असमानता दोनों के गुण बताए जाते हैं।

4.2.5 सामाजिक लिंग (जेंडर) और संजातीय भेद

महिलाएं और संजातीय समूह दोनों अति दृश्यमान हैं। वे भिन्न 'दिखाई' देते हैं। एक अल्पसंख्यक संजातीय समूह अमेरिका में अपने रंग, केश और नैन नक्श से अलग दिखाई दे सकते हैं तो महिला को अलग दिखाई देना चाहिए। उसे न केवल अपने 'पुरुष' लोगों से कद में छोटा, कमजोर, वजन में उनसे हल्का होना चाहिए बल्कि उसका पहनावा, चाल-ढाल, बोल-चाल और हाव-भाव भी अलग होने चाहिए। संजातीय अल्पसंख्यक और महिलाओं में अन्य विशेषताएं भी बताई जाती हैं जो उनमें स्वयंसिद्ध रूप से बिलकुल स्पष्ट नहीं होती। आप सभी को अपनी-अपनी भाषा-बोली में प्रचलित लोकोक्तियों की जानकारी तो अवश्य होगी जिनमें स्त्रियों को अविश्वासपात्र, बदजुबान, उच्छृंखल, धूर्त कपटी, अबला और न जाने क्या क्या संज्ञाएं दी जाती हैं। यहां पर गौर करने लायक बात यह है कि प्राकृतिक भेदों और अर्जित भेदों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा दिखाई नहीं देती है। इन भेदों को बस एक बार प्राकृतिक मान लिया जाता है तो इसका यह अर्थ लगा लिया जाता है कि इन्हें बदला नहीं जा सकता।

MAADHYAM IAS

नारीवादी विद्वानों ने यौन-लिंग (सेक्स) को सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) से अलग करके देखने पर विशेष बल दिया है। गिडंस का कहना है:

साधारण बोल-चाल में 'सेक्स' (यौन-लिंग) शब्द का एक व्यक्ति की श्रेणी और लोग जिन क्रिया-कलापों में लगे रहते हैं दोनों के लिए प्रयोग किया जाना अपने आप में अनेकार्थी और अस्पष्ट है। जैसे कि इस शब्द का प्रयोग "संभोग करना" जैसे वाक्यांशों में होता है। स्पष्टता के लिए हमें इन दोनों अभिप्रायों को एक दूसरे से अलग करना होगा। हम स्त्री-पुरुष के बीच विद्यमान जैवीय या शारीरिक भेदों को यौन क्रिया-कलापों से अलग कर सकते हैं। हमें सेक्स (यौन-लिंग) और जेंडर (सामाजिक-लिंग) के बीच भी एक महत्वपूर्ण भेद करना होगा। यौन-लिंग का अभिप्राय स्त्री-पुरुष के बीच शरीरिक भेदों से है तो सामाजिक-लिंग (जेंडर) का संबंध स्त्री-पुरुष के बीच मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भदों से है। यौन-लिंग और सामाजिक-लिंग के बीच अंतर बुनियादी है, क्योंकि स्त्री-पुरूष के बीच कई भेद अपने मूल में जैविक नहीं हैं।

पाश्चात्य समाजशास्त्र नस्ल या संजातीयता के प्रश्न पर यूं तो बड़ा ही संवेदनशील है, मगर उसमें भी सांस्कृतिक और प्राकृतिक भेदों का घालमेल करने का प्रचलन असामान्य नहीं है। गिडंस लिखती हैं:
संजातीयता सांस्कृतिक प्रचलनों और दृष्टिकोणों को कहते हैं, जो लोगों के समुदाय विशेष को एक-दूसरों से भिन्न बनाती हैं। जातीय समूह स्वयं को समाज में अन्य समूहों से सांस्कृतिक रूप से भिन्न और विशिष्ट समझते हैं और अन्य समूह भी उन्हें ऐसा ही मानते हैं। संजातीय समूहों को कई विशेषताएं एक दूसरे से अलग करती हैं। मगर इनमें सबसे सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:

भाषा-बोली, इतिहास या वंश (वास्तविक या काल्पनिक) धर्म, वेशभूषा या श्रृंगार। जातीय भेद पूर्णत: ज्ञेय होते हैं। यह बात हमें तभी तक स्वयं सिद्ध दिखाई देती है जब हमें यह याद हो आता है कि किस तरह से इन समूहों को यह माना गया है कि "इनका जन्म शासन करने" के लिए हुआ है या फिर इसके विपरित उन्हें स्वभाव से आलसी बुद्धिहीन आदि माना गया है।

यहां गौरतलब है कि समाज के प्रभावी समूहों में जातीय अल्पसंख्यक और महिलाओं दोनों को ऐसे गुणों से जोड़ कर देखने की प्रवृत्ति हावी रहती है जिन्हें वे नैसर्गिक और जैविक रूप से प्रदत्त मानते हैं। जातीय समूहों और महिलाओं के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात कहना जरूरी है कि ये उस आत्मपरिभाषा को चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं जो उन्हें समाज से मिली है। यही कारण है कि अमेरिका में, जहां सौंदर्य की धारणाएं जनमानस में गहरे अंकित हैं, अश्वत बालिका श्वेत गुड़िया को पसंद करती है। या हम एक भारतीय स्त्री का ही उदाहरण लें, जो बेटा होने पर सशक्त, अधिकारसंपन्न बन जाती है और उन महिलाओं को हेय दृष्टि से देखने लगती है जो उसकी तरह भाग्यशाली नहीं हैं।

जेंडर (सामाजिक-लिंग) और यौन-लिंग (सेक्स) में महत्वपूर्ण भेद होने के अलावा नारीवादी तर्क देते हैं कि सामाजिक-लिंग व्यक्ति (स्त्री या पुरुष द्वारा किए जाने वाले) कार्यों का समुच्चय है। जन्म लेने के बाद से ही शिशु सीखने लगता है कि उसने सामाजिक-लिंग सम्मत कार्यों को किस तरह सही सही अंजाम देना है। नारीवादियों का यह भी तर्क रहा है कि सामाजिक-लिंग सम्मत भेद मनमाने हैं और जिसे अक्सर 'पुरुषेचित' और 'स्त्रियोचित' आचरण कहते हैं वह सभी संस्कृतियों और अश्वतों में अलग-अलग रहा है। बुनियादी बात यह है कि सामाजिक लिंग एक सामाजिक रचना है न कि प्रकृति प्रदत्त। यही बात जातीय समूहों के लिए भी लागू होती है। काला गोरे से भिन्न है। यह एक स्वाभाविक और स्वयं सिद्ध वास्तविकता है। मगर काले और 'गोरे' को हमने जो अर्थ दिया है वह सामाजिक है। और जो भी सामाजिक होता है वह अक्सर सत्ताधिकार से भरा होता है। चूंकि विश्व में प्रभावी समूह यह समझते हैं कि श्वेत आकर्षक और सुंदर है इसीलिए अश्वेत लोग भी ऐसे ही सोचते हैं। इसी प्रकार महिलाओं को 'अबला' की संज्ञा दी जाती है तो वह भी ऐसा ही मानने लगती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) संजातीय अल्पसंख्यकों के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सामाजिक-लिंग और जातीय भेद क्या हैं? पांच पंक्तियों में बताइए:

....

....

....

....

....

....

4.3 जातीयता और स्तरीकरण

अधिकतर आधुनिक समाजों में अनेक प्रकार के जातीय समूह हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में आइरिश, एशियाई (इनमें से भी कई हैं), वेस्ट इंडियन, इतालवी और ग्रीक मूल के अप्रवासी रहते है। मगर यहां पर

यह प्रश्न उठता है कि जब भी हम किसी समाज की बात करते हैं तो क्या हम अनिवार्यतः राज्य की ही बात कर रहे होते हैं। हां, अक्सर हम राज्य की ही बात कर रहे होते हैं। इसीलिए हम भारतीय समाज, पाकिस्तानी समाज, अमेरिकी समाज कहते हैं। ऐसे में अनिवार्यतः यहां ऐसी बहुविधा सत्ता की बात कर रहे होते हैं जिसमें अनेक समाज और एक राज्य होता है। कई समाजशास्त्रियों का तर्क है कि विभिन्न सांस्कृतिक समूह 'राष्ट्र' हैं तो दूसरे विद्वान इन्हें 'जातीय' समूह की संज्ञा देते हैं। क्या दोनों एक ही हैं?

यहां कुछ सिद्धांतों की समीक्षा करना रोचक होगा। गिडंस के मुताबिकः विश्व में आज, चाहे वह औद्योगिक रूप से उन्नत विश्व हो या पिछड़ा, अधिकांश समाज बहुविध समाज हैं। बहुविध समाज में कई विशाल जातीय समूह होते हैं जो एक ही सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का हिस्सा तो होते हैं मगर वहीं एक-दूसरे से मोटे तौर पर भिन्न होते हैं।

एंथनी स्मिथ के मत के अनुसार राष्ट्रवाद का उदय धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, साझे इतिहास और उत्पत्ति के सामूहिक मिथकों के बंधनों से हुआ था। कालांतर में वह अपनी एक अन्य कृति में राष्ट्रवाद का रूप धारण कर रहे आधुनिक पुनरुत्थानों की बात करते हैं और 'जातीय' या जातीय समुदाय की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके सदस्यों में साझी उत्पत्ति का बोध होता है, जो एक साझे और विशिष्ट इतिहास और नियति का दावा करते हैं, जिनमें एक या अधिक विशिष्ट लक्षण होते हैं और सामूहिक विशिष्टता और एकात्मता का बोध होता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि राष्ट्र और जातीय और इसलिए जातीयता और राष्ट्रीयता में कोई अंतर नहीं है? नहीं, स्मिथ के अनुसार इनमें कोई अंतर नहीं है। जातीय एक निष्क्रिय धारणा है और राष्ट्रीयता सक्रिय जातीयता है क्योंकि जातीय पुनरुत्थान निष्क्रिय, अक्सर पृथ्कृत और राजनीतिक दृष्टि से बहिस्कृत समुदायों का संभावित और वास्तविक राष्ट्रों में रुपांतरण है जो अपने ऐतिहासिक पहचान में सक्रिय भागीदार और आत्म-चेतन होते हैं। ऊमेन के अनुसार इस परस्पर-व्यापन के बावजूद इनमें एक अति महत्वपूर्ण भेद है, जिसे हम प्रादेशिक आयाम में देख सकते है। ऊमेन का मत बूजली से भिन्न है जिनके अनुसारः

4.3.1 राष्ट्रवाद और जातीयता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राष्ट्रवाद भी एक प्रकार की जातीयता है। मगर यह उसका विशेष रूप है। यह असल में एक खास जातीय पहचान को राज्य से जोड़कर उसका संस्थापन है। जातीय समूह जरूरी नहीं है कि हमेशा मिल-जुलकर कार्रवाई करें, बल्कि वे ऐसा तभी कर सकते हैं उन्हें किसी विशेष हित को साधना हो। पर यही हित जब एक राज्य (या राज्य का एक हिस्सा) बन जाते हैं तो यह समूह राष्ट्रीयता बन जाता है।

इसमें स्तरीकरण का स्थान कहां है?

ऊमेन की व्याख्या से इस प्रश्न का उत्तर कुछ हद तक मिल जाता है। इसके लिए उन्होंने असमानता से उपजी वंचनाओं, भौतिक वंचना और सांस्कृतिक पहचान से वंचित होना, इन विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि अगर किसी संजातीयता का अपनी कोई सामूहिक भाषा और अपना प्रदेश नहीं है तो वह स्वयं को एक राष्ट्र में नहीं बदल सकता। मगर यहां यह पहलू हमारे तात्कालिक सरोकार का विषय नहीं है। यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि जन-समूह सिर्फ वर्ग या जाति के कारण ही वंचित नहीं हैं। बल्कि संजातीयता के कारण भी वे वंचित रह जाते हैं।

इसलिए भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन को सिर्फ जाति और वर्ग के मुद्दों को ही नहीं बल्कि जनजातियों और धार्मिक/भाषायी/क्षेत्रीय समुदायों से जुड़े मुद्दों को भी संबोधित करना होता है। पिछले एक-दो दशकों से जातीय/राष्ट्रवादी पुनरुत्थान में बड़ी तेजी आई है। हम ऐसी कई स्थितियों को चिन्हित कर सकते हैं जिनमें 'जातीयता' या बाहरी होने की पहचान राष्ट्रीयता या आंतरिक पहचान के मुकाबले एक मुख्य विशेषता बन जाती है। ये स्थितियां इस प्रकार हैं:

i) धर्म के नाम पर एक अलग राष्ट्र की मांग (जैसा कि सिखों के एक विशेष वर्ग की ओर से एक प्रभुतासंपन्न राष्ट्र खालिस्तान की मांग) या भाषा के नाम पर एक अगल राष्ट्र की मांग (इसका उदाहरण तमिलों द्वारा एक स्वतंत्र राज्य की मांग है)।

ii) भारतीय राज्य संघ के भीतर एक पृथक-राजनीतिक प्रशासनिक इकाई की मांग (जैसे नेपालियों के लिए गोरखालैंड, मध्य भारत की जनजातियों के लिए एक अलग झारखंड राज्य की मांग)।

iii) पर अन्य राज्यों या पड़ोसी देशों से आने वाले प्रवासियों के किसी प्रदेश पर पूरी तरह से हावी होने पर 'बाहरी' लोगों को निकाल बाहर करने की मांग (इस तरह की स्थिति हमें पूर्वोत्तर के असम और त्रिपुरा जैसे राज्यों में देखने को मिल रही है)।

v) ऐसे 'विदेशियों' को निकाल बाहर करने की मांग जिसका संबंध मूलत: राज्य के भीतर ही अन्य क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से है (इस तरह की मांग छोटा नागपुर के आदिवासी लोग मैदानी क्षेत्रों में रहने वाले 'दीकू' बिहारियों को बाहर करने के लिए कर रहे हैं)। या इस तरह की मांग बाहरी राज्यों से आ बसे लोगों (जैसे बंगालियों और मारवाड़ियों) के खिलाफ की जाती है।

iv) इन लोगों को राज्य से निकाल बाहर करने की मांग जो एक ही सांस्कृतिक प्रदेश के तो नहीं होते मगर वे भी उसी राज्य के वासी होते हैं (जैसे तेलंगाना प्रदेश से आंध्र मूल के लोगों को निकाल बाहर करने की मांग)।

v) अन्य भाषायी राज्यों से काम के लिए महानगरों में आ बसे प्रवासियों को निकाल बाहर करने की मांग (इस तरह की मांग मुंबई और बंगलौर में तमिलों के खिलाफ उठाई गई थी)।

4.3.2 जातीय समूहों की प्रकृति

भारतीय और अंतरराष्ट्रीय संदर्भों से हमने जो उदाहरण दिए हैं उनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है। जातीय समूहों को चाहे हम जिस परिभाषा में बांधे वे किसी न किसी रूप में राज्य और उसके प्रभावी समूह दोनों से अलाभकर-स्थिति में होते हैं। जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, जातीयता बहुअर्थी हो गई है। पश्चिम एशिया में जातीयता पर हुआ शोध यह प्रमाणित करता है कि जातीयता ने अब तक प्रयुक्त अल्पसंख्यक की धारणा को विस्थापित कर दिया है। यह कहा गया है कि पश्चिम एशिया में अरब एक मूल पहचान है, जिसकी विशेषताएं अरबी-भाषा और संस्कृति जैसे जातीय आयाम और इस्लाम का धार्मिक आयाम लिए हैं। अन्य लोग वहां इस अर्थ में अल्पसंख्यक हैं कि वे मूल अरब से अलाभकर-स्थिति में हैं। *ऑक्सफर्ड इंग्लिश डिक्शनरी* (1961) की परिभाषा के अनुसार 'जातीय' (विशेषण) का "संबंध उन कौमों से है जो ईसाई या यहूदी नहीं हैं; मूर्तिपूजक या अधर्मी हैं।

हम जातीयता को परिभाषित कैसे करें इसको लेकर विद्वानों में जो भी मतभेद हों, मुख्य मुद्दा यह है कि साधारणतया जातीय समूह समाज के वे जन-समूह हैं जो राज्य या समाज के प्रभावी समूह या अक्सर दोनों से अलाभकारी स्थिति में पाए जाते हैं। हमारे जैसे बहुविध समाज में जातीयता को हमें सामाजिक स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में लेना होगा। हो सकता है कि कुछ लोग आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग से संबंध रखते हों, तो भी प्रभावी समूह से न जुड़े होने के कारण वे सांस्कृतिक रूप से अलाभकर-स्थिति में देखे जा सकते हैं। क्योंकि प्रभावी समूह को ही प्रतिमान समझा जाता है। उदाहरण के लिए तीन पीढ़ियों के बाद भी एक अमरीकी जापानी से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वह अमरीकी है। मगर वहीं प्रवास के एक वर्ष के बाद ही एक अंग्रेज अमरीकी को अमरीकी के रूप में स्वीकार कर लिए जाएगा क्योंकि वह गोरा है, ईसाई है और अंग्रेजी बोलता है। इसी प्रकार एक मणिपुरी के छात्र का टेलीविजन पर कहना था कि मणिपुर में उससे कोई नहीं पूछता था कि वह भारतीय है या नहीं। मगर दिल्ली में लोग उससे यही सवाल करते थे।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 4.02

जातीय समूह भले ही वे संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित समाज में हों या भारत में, उनके अध्ययन से बहुसंख्यक संस्कृति से संबंध, स्वांगीकरण बनाम निभाव, गरीबी, असमानता, पार्थक्य और भेदभाव के बुनियादी सवालों से जुड़े मुद्दे उठते हैं। इन मुद्दों पर चर्चा की प्रासंगिकता का समकालीन भारतीय समाज के लिए जो महत्व है उसे बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है। इसमें भी किसी हठी या दुर्दम्य जातीय समूह के लिए जो घिसे-पीटे जुमले अक्सर प्रयोग किए जाते हैं, जैसे कि "उन्हें मुख्याधारा में शामिल किया जाना है या किया जाना चाहिए", उन पर अब सवाल उठाए जा रहे हैं। इसी प्रकार अमरीका का अनुभव भी हमसे कोई भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहां भी ऐसा ही लोकाचार प्रचलित है कि जातीय समूहों के लोगों को मुख्य धारा से जोड़ा जाए, उसमें उनका स्वांगीकरण हो। विविध जातीय समूहों के सदस्य जो मुख्यधारा में सक्रिय हों उनसे तो यह आशा की जाती है कि वे द्विसांस्कृतिक बन जाएं। यानी वे अपनी संस्कृति के साथ-साथ मुख्यधारा की संस्कृति को भी आत्मसात करें। मगर श्वेत अमरीकियों को ऐसा करने की जरूरत महसूस नहीं होती।

4.3.3 जातीयता और परिवार

जातीयता को हम अपने परिवार से अलग करके नहीं देख सकते। इसकी सीधी सी वजह यह है कि जातीयता की दृष्टि से बहुविध परिवारों में बच्चों के समाजीकरण की बहुविध प्रक्रिया के बड़े दूरगामी परिणाम होते हैं। यह आंशिक रूप से "संजाति-वर्ग" की धारणा को स्पष्ट करता है। यह अवधारणा सामाजिक वर्ग सदस्यता की भूमिका की व्याख्या करती है जो वह जातीयता से प्रभावित होने वाले जीवन की बुनियादी स्थिति को परिभाषित वर्ग के स्तर पर वर्गों में मौजूद भेदों को भी लेकर चलती है।

स्तरीकरण के अध्ययन में विशेषकर भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक असमान पहुंच के अध्ययन में जातीयता को भी लेकर चलना जरूरी हो जाता है। जैसा कि शर्मा कहते हैं: "एक जातीय समूह को सामाजिक स्तरीकरण की एक प्रदत्त व्यवस्था में एक स्तर के रूप में देखा जा सकता है। यह इसलिए संभव है कि जातीयता वर्ग और सत्ताधिकार के संग चलती है।"

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.4 सामाजिक लिंग और स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण पर किया जाने वाला अध्ययन कई वर्षों तक 'सामाजिक-लिंग उदासीन' ही रहे। जैसे कि स्त्रियों का कोई अस्तित्व ही न हो। या जैसे कि सत्ताधिकार संपत्ति और प्रतिष्ठा के बंटवारे के विश्लेषण में महिलाएं महत्वहीन, रुचिहीन हों। मगर इसके बावजूद सामाजिक-लिंग अपने आप में स्तरीकरण का सबसे प्रमुख उदाहरण है। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं, जिसमें सामाजिक जीवन के किसी न किसी पहलू में पुरुषों को स्त्रियों से अधिक संपदा, उनसे ऊंचा दर्जा और प्रभाव हासिल न हो।

सामाजिक-लिंग के इस पहलू को अनदेखा करने के पीछे कई कारण हैं। सामाजिक-लिंग और जातीयता के मुद्दों में समानताओं पर अपनी चर्चा पर लौटें, तो महिलाओं का अधिकार नैसर्गिक रूप से हीन समझा जाता है। महिलाएं अबला और हाशिए पर हैं, इन दोनों धारणाओं को इस हद तक शब्दश: समाज में लिया जाता था कि महिला आंदोलन को इन्हें चुनौती देनी पड़ी। इसका यह पूछना था कि महिलाओं को गैर-बराबरी का दर्जा क्यों दिया जाता है। स्तरीकरण के अध्ययन में अधिकतर यह मानकर चला जाता था कि स्त्रियों की स्थिति को हम उसके पति, पिता, भाई या घर के मुखिया की स्थिति से जान सकते हैं।

अब घर का यह मुखिया निस्संदेह पुरुष को ही होना था, लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत थी। हाल के अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि अनेक महिलाएं अपने घर की मुख्यिा थीं। अब तो ऋणदाता संस्थाओं को पता चल गया है कि पुरुषों के बजाए स्त्रियों को ऋण देना अधिक उपयोगी और उत्पादक होता है। महिलाओं की सफलता की ऐसी गाथाएं दिनों-दिन प्रकाश में आने लगी हैं। मगर ये महिलाएं कोई बड़ी उद्यमी नहीं हैं। बल्कि ये गांव की गरीब महिलाएं हैं। जैसे मछुआरिन, खेतिहर किसान, जुलाहा इत्यादि। समाज में पहले तो यह गलत धारणा प्रचलित है कि स्त्री-पुरुष के बीच असमानताएं प्राकृतिक रूप

से जैविक कारणों से उत्पन्न होती हैं। दूसरी गलत धाणा यह है कि पुरुष घर का स्वाभाविक और सर्वमान्य मुखिया है। स्तरीकरण के अध्ययन में स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में सामाजिक-लिंग की उपेक्षा का कारण ये धारणाएं ही हैं।

जैसा कि इस इकाई से आपको स्पष्ट हो जाएगा, समाजशास्त्री अब यह महसूस कर रहे हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत रूप में सामाजिक-लिंग को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। स्तरीकरण पर अपने नए शोध कार्य में शर्मा जैसे समाजशास्त्री ने सामाजिक-लिंग (जेंडर) और जातीयता के नए मुद्दों को उठाया है। यह पता लगाने के लिए बहस चल रही है कि आधुनिक युग में असमानताएं वर्ग के इर्दगिर्द घूमती हैं या इसमें सामाजिक-लिंग की क्या कोई निर्णायक भूमिका है?

4.4.1 सामाजिक-लिंग की असमानताएं

सामाजिक-लिंग असमानताओं की जड़ें वर्ग व्यवस्था की अपेक्षा इतिहास में अधिक गहरे पैठी हैं। शिकार और भोजन संचय करने वाले उन आदिम समाजों में पुरुषों को ऊंचा दर्जा हासिल था जिनमें कोई वर्ग नहीं थे। मगर आधुनिक समाज में वर्गीय विभाजन इतने बुनियादी हैं कि वे सामाजिक-लिंग भेदों से काफी व्यापन करते हैं। महिलाओं की भौतिक स्थिति में उनके पिताओं या पतियों की स्थिति को प्रतिबिंबित करती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों का तर्क है कि सामाजिक-लिंग असमानताओं को वर्ग के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। फ्रैंक पार्किन ने इस पहलू को भली-भांति स्पष्ट किया है:

महिला का दर्जा रोजगार के अवसरों, संपत्ति के स्वामित्व, आमदनी, समेत सामाजिक जीवन में कई क्षेत्रों में पुरुषों की तुलना में निश्चय ही कई ज्यादा हानियां लेकर चलता है। मगर लिंग-भेदों से जुड़ी इन असमानताओं को उपयोगी ढंग से स्तरीकरण के घटकों के रूप में नहीं सोचा जाता है। इसका कारण यह है कि महिला के एक बड़े हिस्से के लिए सामाजिक और आर्थिक पारितोषिक का वितरण मुख्यत: उनके परिवार विशेषकर उनके नर मुखिया की स्थिति से निर्धारित होता है। हालांकि महिलाओं में उनके लिंग के कारण उनकी हैसियत में आज कुछ विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं। लेकिन संसाधनों पर उनका अधिकार मुख्यत: उनके व्यवसाय से निर्धारित नहीं होता। बल्कि अक्सर यह उनके पिता या पतियों के व्यवसाय से ही निर्धारित होता है। और अगर वे धनाढ्य जमींदारों की बेटियां या पत्नियां हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं है, उनकी समग्र स्थिति में अंतर कहीं ज्यादा आश्चर्यजनक और बड़ा होता है। महिला स्थिति से जुड़ी अक्षमताएं भी इतनी ज्यादा हो कि वर्गीय भेद उनके सामने बौने पड़ जाएं तो इस स्थिति में लिंग को स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आयाम मानना ही यथार्थवादी होगा।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

सामाजिक-लिंग असमानताएं क्यों होती हैं? इस विषय पर अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों सहित अन्य लोगों से चर्चा करके अपनी जानकारी को नोटबुक में लिख लीजिए।

उपरोक्त सिद्धांत में प्रत्यक्ष तौर से कोई त्रुटि नजर नहीं आती है। असल में अपने दैनिक जीवन में हम जिन महिलाओं को जानते-पहचानते हैं उन्हें हम अधिकांशतया उनके पिता और पति के संदर्भ में ही परिभाषित करते हैं। एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी की पत्नी, जो खुद भी किसी अच्छे रोजगार में लगी हैं, उसे भी हम उसकी सार्वजनिक स्थिति के बजाए उसके पति की हैसियत से जानते हैं। परिवार की स्थिति या हैसियत उसके पुरुष मुखिया की स्थिति से तय होती है। पर अगर हम थोड़ा गहराई में जाएं तो यह बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती।

4.4.2 पितृसत्ता और सामाजिक लिंग सोच

i) परिवार के बारे में हमारे विचार अक्सर हमारे निजी अनुभवों से उत्पन्न होते हैं। अगर हम शहरी मध्यम वर्ग या निम्न या उच्च वर्ग के हैं तो उसमें न्यूक्लीयर परिवार ही मानकीय होता है, जिसका मुखिया पुरुष रहता है। मानकीय से यहां हमारा तात्पर्य यह है कि यही पैटर्न अनुभवजन्य

रूप से न सिर्फ अनेक परिवारों के लिए सही होगा बल्कि अन्य किस्म के परिवारों को इसमें विसंगति के रूप में देखा जाएगा। एक ऐसा घर-परिवार जिसकी मुखिया स्त्री हो उसे विपथन के रूप में ही देखा जाएगा।

ii) दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस आदर्श या मानकीय पहलू के आधार पर ही राज्य में ऐसे नियम-कानून होंगे जो नर मुखिया वाले न्यूक्लीयर परिवार को आदर्श या मानक मानकर बनाए गए होंगे। कई महिलाएं जो घर-परिवार की मुखिया थीं उनके सामने ऐसी स्थिति आ गई कि उन्हें इस आधार पर गरीबी-उन्मूलन योजनाओं का लाभार्थी होने का अधिकार देने से मना कर दिया गया कि वे महिलाएं हैं इसलिए वे अपने घर की मुखिया नहीं हो सकतीं। यह ऐसा उदाहरण है जिसमें मानकीय वास्तविकता अनुभवजन्य वास्तविकता को किनारे धकेल देती है।

iii) तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस धारणा को कई तरह से गलत ठहरा सकते हैं जो यह मान कर चलती है कि पुरुष मुखिया की आय ही सबसे महत्वपूर्ण कारक है। इसलिए अगर कोई महिला कमा भी रही है तो भी इससे महिला की हैसियत से स्थिति में कोई बदलाव नहीं आएगा।

iv) कई घरों में महिलाओं की आमदनी उनके परिवार की आर्थिक स्थिति और जीवन शैली को बनाए रखने के लिए नितांत आवश्यक है। इस स्थिति में महिलाओं का वैतनिक-रोजगार आंशिक रूप से उनके घरों की वर्ग स्थिति को तय करती है।

v) पांचवी महत्वपूर्ण बात यह है कि पत्नी का रोजगार पति की हैसियत को प्रभावित कर सकता है। इसमें संदेह नहीं कि महिलाएं अपवाद स्वरूप ही अपने पति से अधिक धन अर्जन कर पाती हैं, लेकिन पत्नी का धन अर्जन के लिए काम करना भी उसके पति के वर्ग को प्रभावित करने वाला एक बड़ा महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। उदाहरण के लिए, पति एक अर्ध-दक्ष नील-पोश (ब्लूकॉलर) कर्मचारी है और पत्नी किसी गारमेंट फैक्टरी में रोजगार कर रही है। इस स्थिति में पत्नी का व्यवसाय समग्र परिवार की स्थिति का मानक बन सकता है।

vi) ऐसे कई 'अंतः वर्गीय' (क्रॉस-क्लास) परिवार भी देखने में आते हैं जिसमें पति का कार्य पत्नी के कार्य से उच्च वर्ग की श्रेणी में होता है। इसके उलट स्थिति बहुत कम देखने में आती है। इसके परिणामों के विश्लेषण के लिए गिने-चुने ही अध्ययन हुए हैं जिसके कारण हम यह नहीं जानते कि क्या निर्णायक प्रभाव के रूप में हमेशा पुरुष के व्यवसाय को ही लेना उचित है।

vii) ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ रही है जिनमें एकमात्र रोजी-रोटी कमाने वाली महिलाएं ही हैं।

इस उभरते रुझानों के निहितार्थों का विश्लेषण करना उपयोगी होगा। अक्सर ऐसा कहा जाता हैं कि पश्चिम में बदलते यौन प्रतिमानों और महिला स्वतंत्रता के कारण ऐसे एकल-अभिभावक घरों की संख्या बढ़ रही है, जिनकी मुखिया निर्विवाद रूप से स्त्रियां ही हैं। यह अर्द्धसत्य। उनके ही नहीं बल्कि हमारे समाज में भी इसंसे पहले से ही परित्यक्त महिलाओं के अनेक उदाहरण रहे हैं जिनमें पहले महिलाओं को हर लिया जाता था। ऐसी 'पतित महिलाएं' अक्सर घरों की मुखिया भी होती थीं। स्तरीकण के सिद्धांत में इस तरह की घटनाओं का विश्लेषण करने की क्षमता नहीं रही क्योंकि इसमें यह समझने के लिए एक विश्लेषिक श्रेणी के रूप में सामाजिक-लिंग का प्रयोग कभी नहीं हुआ कि पितृसत्ता का पुनर्सृजन वर्ग और परिवार व जातीयता के जरिए किस तरह से होता है।

नर मुखिया वाले मानकीय परिवार ने पुरुषों को वर्ग और परिवार दोनों के बाहर संबंध बनाने के लिए स्थान देकर अपनी शुद्धता और प्रामाणिकता बनाएं रखी। मगर वहीं मध्यम वर्गीय, सवर्ण महिला अगर विवाहेतर संबंध रखती थी तो उसे अपने वर्ग और परिवार दोनों से बाहर कर दिया जाता था। इधर भारत में वर्ण-व्यवस्था का अनुलोभ-विवाह का अपना एक नियम था। इसका यह मतलब था कि एक स्त्री अपनी जाति में या उससे ऊपर की जाति में ही ब्याह कर सकती थी। वह निम्न जाति में विवाह नहीं कर सकती थी। इसलिए स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में सामाजिक-लिंग के अध्ययन में सिर्फ यही देखकर नहीं चलना होगा कि एक परिवार में महिलाओं की क्या कोई हस्ती, कोई हैसियत है जो उन्हें अपने परिवार के पुरुष मुखिया से मिली है। बल्कि इसमें यह भी देखना होगा कि पितृसत्ता किस तरह से पुरुषों और महिलाओं के लिए विभेदी तरीके से कार्य करती है। जब हम स्तरीकरण और सामाजिक-लिंग

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सोच पर चर्चा करते हैं तो हमें इसमें लैंगिकता के नियंत्रण से जुड़े मुद्दों, पवित्रता के प्रतिमानों, परिवार, वर्ग और जातीय प्रतिमानों/नियमों का उल्लंघन करने वाली महिलाओं पर थोपे जानी वाली सामाजिक वर्जनाओं या दंडों, पुरुष और महिला यौन आचरण के दोहरे मानदंड़ों को भी लेकर चलना होगा।

4.4.3 जातीयता और सांस्कृतिक वंचना

जैसा कि हमने जातीयता और स्तरीकरण की चर्चा करते हुए यह देखा था कि जाति या वर्ग की तरह जातीयता भी भौतिक और सांस्कृतिक वंचना निर्धारण में महत्वपूर्ण है। यही बात सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के लिए भी कही जा सकती है। भारत में महिला आंदोलनों ने भूमि के अधिकार और उस तक पहुंच का मुद्दा उठाया है। महिलाएं खेतों में काम करती तो थीं लेकिन उन्हें कानून और रीति-रिवाजों ने भूमि के अधिकार से वंचित रखा। साम्यवादी चीन के शुरुआती वर्षों में महिलाओं को भूमि का अधिकार एक बहुत बड़ा मुद्दा था। वहां जब भूमि सुधार लागू हुए तो उसके फलस्वरूप भूमि-विलेखों (लैंड-डीड) का मुद्दा उठा। तब जाकर नियामकों को एहसास हुआ कि भूमि-विलेखों की इकाई यूं तो परिवार ही हो, मगर इसमें साफ-साफ यह भी दर्ज हो जाना चाहिए कि पुरुष और महिला दोनों को भूमि पर बराबर अधिकार होगा।

यह हमें परिवार और सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ले जाता है जो स्तरीकरण के मुद्दों से जुड़ा है। जैसे सांस्कृति और भौतिक संसाधनों तक असमान पहुंच। हमारे देश में अनेक जमींदार परिवार ऐसे हैं जो अपने बेटों को तो पढ़ाएंगे लेकिन बेटियों को नहीं। इसी प्रकार कई भूमिहीन परिवार अपने बीमार बेटे को तो डॉक्टर के पास ले जाएंगे, मगर अपनी बीमार बेटी को नहीं। कई मध्यम वर्गीय परिवार अपनी बेटी को इसलिए शिक्षित अवश्य करेंगे कि जरूरत पड़ने पर वह अपने बच्चों को घर में पढ़ा सके मगर इसलिए नहीं कि वह आजीविका कमाए। दूसरे शब्दों में, पुरुष और स्त्रियां एक वर्ग में एक ही परिवार के तो हो सकते हैं मगर भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक पहुंच के मामले में उनका दर्जा एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) राष्ट्रवाद और जातीयता के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) पितृसत्ता और सामाजिक लिंग (जेंडर) पर पांच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

4.5 सारांश

अगर आप भारतवासी हैं तो ऐसा संभव नहीं कि आप हमारे समाज में संपदा और सत्ताधिकार, हैसियत और विशेषाधिकारों में विद्यमान भेदों से अपरिचित, अनजान हों। भेद हमें चारों ओर दिखाई पड़ते हैं। इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि भारत में समाजशास्त्र का मुख्य सरोकार स्तरीकरण के मुद्दे रहे हैं। भारत को सभी ज्ञात समाजों में सबसे अधिक स्तरित माना जाता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार इसका मुख्य कारण संभवत: वर्ण व्यवस्था है जिसमें आधिपत्य और अधीनता के कई रूप देखने में आते हैं। नृविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने विभिन्न जातियों और जनजातियों का गहराई से अध्ययन किया है तो वहीं नीतिकनयामको और समाजशास्त्री सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक असमानता के मुद्दों में उलझे रहे हैं, जो सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य मुद्दे हैं। जैसा कि समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता कहते हैं: "हमारे संविधान में यह पूरी तरह से प्रतिबिंबित होता है जो जाति, भाषा, धर्म या मत के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को गैरकानूनी ठहराता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतंत्र भारत के संस्थापकों ने हमारे समाज में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताओं पर गइराई से मंथन किया था।"

संविधान में लिंग के आधार पर भेदभाव को भी स्पष्टतया गैरकानूनी ठहराया गया है। मगर सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले सिद्धांतों में सामाजिक-लिंग को अनदेखा कर दिया। एक तरह से यह जन-संवाद का हिस्सा कभी नहीं बना। लेकिन पिछले बीस वर्षों में इसमें भारी बदलाव आया है। नारीवादियों ने वर्ग और जाति, घर और परिवार से जुड़े सिद्धांतों की गहराई से जांच-पड़ताल की है और यह प्रमाणित किया है कि ये अवधारणाएं किस तरह से सामाजिक-लिग निरपेक्ष सिद्धांत पर काम करती आ रही हैं। संविधान ने जाति और धर्म के आधार पर भेदभाव को भी गलत ठहराया है। पिछले दो दशकों से जातीय समूह भी अपने हितों की जोरदार हिमायत करने लगे हैं और इस प्रकार संविधान में जो वादे किए गए हैं वे उनका भरपूर लाभ उठा रहे हैं। समाजशास्त्रियों ने इस वास्तविकता को जान लिया है कि जातीय पहचान के दावों का घनिष्ठ संबंध भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक उनकी असमान पहुंच से है इसलिए यह असमानता और स्तरीकरण की उपज है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.6 शब्दावली

जातीयता : यह सांस्कृतिक प्रथाएं और दृष्टिकोण है जो लोगों के एक निश्चित समुदाय को विशिष्ट पहचान देते हैं।

सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) : यह सामाजिक और सांस्कृतिक विचार है जो हमारे पालन-पोषण के साथ चलते हैं। ये विचार ही हममें स्त्री/पुरुष की धारणाओं को जन्म देते हैं।

क्रम परंपरा : यह कमान या आदेश की एक सीढ़ी है, एक क्रम है, जो हमें एक जन-समूह की हैसियत, उसकी स्थिति को दर्शाती है। उच्च स्थिति समूह अक्सर क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विराजमान होता है।

पितृसत्ता : यह परिवार के रूप में गठित एक सामाजिक समूह है जिसकी सत्ता की बागडोर उसके नर-मुखिया के हाथों में होती है।

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिडंस, एंथनी 1989 *सोशियॉलाजी* (पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज)

गुप्ता, दीपांकर (संपा) 1991 *सोशल स्ट्रैटीफिकेशन* (ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली)

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जातीय अल्पसंख्यक असल में अल्पसंख्यक जन समूह हैं जिनकी अनेक विशेषताएं हैं।

   i) इनके सदस्य भेदभावों का शिकार होने के कारण अलाभकर स्थिति में रहते हैं, ii) अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों में सामूहिक एकात्मकता की भावना होती है iii) वे बहुसंख्यक समुदाय से सामाजिक रूप से पृथक होते हैं।

2) महिलाओं और जातीय समूहों दोनों में उच्च दृश्यमानता दिखाई देती है। वे भिन्न दिखाई देते हैं और भिन्न तरीके से आचरण करते हैं। प्राकृतिक और सामाजिक भेद कम स्पष्ट होते जाते हैं। प्राकृतिक भेदों को अभिन्न और अकाट्य माना जाता है। मगर यह स्पष्ट है कि सामाजिक-लिंग एक प्राकृतिक (जैविक) अवस्था नहीं है बल्कि यह सांस्कृतिक है।

बोध प्रश्न 2

1) हमें यह कहना चाहिए कि राष्ट्रवाद अपने आप में जातीयता का ही एक रूप है। इसकी रचना एक विशेष जातीय पहचान के राज्य में संस्थायन से होती है। लेकिन यहां अंतर यह है कि जातीय समूह जब तक जरूरत न पड़े मिल-जुलकर काररवाई नहीं करते जबकि राज्य एक इकाई के रूप में काम करता है। दूसरी ओर जातीय समूहों को राज्य का दर्जा पाने के लिए अक्सर आंदोलन करना पड़ता है।

2) पितृसत्ता हमेशा पुरुषों का पक्ष लेती है और इसमें पुरुष ही सत्ता के मुखिया होते हैं। इसके फलस्वरूप राज्य भी पुरुषों का ही पक्षपोषण करता हैं। पुरुष अक्सर महिलाओं से अधिक कमाते हैं जिससे उनके आधिपत्य को और बल मिलता है। मगर जब महिला की आमदनी पुरुष से अधिक हो तो इससे पुरुष की हैसियत, उसकी स्थिति में इजाफा तो होता है मगर प्राय: महिला की हैसियत में इजाफा नहीं होता। मगर ऐसी स्थिति में जहां महिला ही एकमात्र कमाने वाली हो तो इससे पितृसत्ता के लिए एक बड़ी चुनौती पैदा हो जाती है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

संदर्भ सूची खंड 1

बेली, एफ.जी. 1963, "क्लोज्ड सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन इंडिया" *यूरोपियन जरनल ऑफ सोशियोलॉजी* अंक VII, I, पृष्ठ 107-24

बाल्टीमोर, टी.वी., 1985, *ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट*, ऑक्सफर्ड, बेसिल ब्लैकवेल पब्लिशर लि. पृष्ठ 120-21

डेविस, के., और डब्लू, ई. मूर, 1943, सम 'प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रैटीफिकेशन' *अमेरिकन सोशियलॉजिकल रिव्यू*, भाग 10, संख्या 2, पृ. 242-49

देसाई, ए.आर. 1975, *स्टेट ऐंड सोसाइटी इन इंडिया: एसेज इन डिसेंट*, बंबई पॉपुलर प्रकाशन

फ्रायडन, बी., 1963, *द फेमिनिन मिस्टीक*, न्यू यॉर्क डब्लू.डब्लू. नोर्टन

लीच, ई.आर., 1960 "ह्वाट शुड वी मीन बाइ कास्ट?" ई.आर. लीच (संपा.) *आस्पेक्ट्स ऑफ कास्ट इन साउथ इंडिया, सीलोन ऐंड नॉर्थ-वेस्ट पाकिस्तान*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, पृष्ठ 1-10

मैकॉबी ई., और जैकलीन सी.एच. 1975, *द साइकॉलोजी ऑफ सेक्स डिफ्रेंसेज*, स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

मार्क्स, कार्ल और एंजेल्स एफ. 1947 *द जर्मन आइडियॉलोजी*, न्यू यॉर्क इंटरनेशनल पब्लिशर्स पृष्ठ 23

मीड, एम., 1968, *मेल ऐंड फीमेल: ए स्टडी ऑफ द सेक्सेज इन ए चेंजिंग वर्ल्ड*, न्यूयॉर्क. डब्लू, डब्लू मोर्टन

मिचेल, जे., 1971, *वूमंस एस्टेट*, न्यू यॉर्क, पैंथियॉन

रुद्रा, ए., 1978, "क्लास रिलेशंस इन इंडियन एग्रीकल्चर-I" *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* खंड,XII अंक 22

स्मिथ, एम.जी., 1964, "प्री-इंडस्ट्रियल स्ट्रैटिफिकेशन सिस्टम" एस.एम. लिपसेट ऐंड एन.जे. स्मेल्सर (संपा.) *सोशल स्ट्रक्चर ऐंड मोबिलिटी इन इकोनॉमिक डेवलपमेंट*, लंदन, राउटलेज ऐंड केगन पॉल पृष्ठ 141-76

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 5 मार्क्स और वेबर

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 सामाजिक स्तरीकरण और मार्क्स
 5.2.1 श्रम का विभाजन
 5.2.2 वर्ग का तात्पर्य
 5.2.3 वर्गों का विकास
5.3 सामाजिक स्तरीकरण और वेबर
 5.3.1 वर्ग और जीवन अवसर
 5.3.2 हैसियत या स्थिति
5.4 मार्क्स और वेबर में समानताएं और अंतर
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में समाजशास्त्र के संस्थापक कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के विचारों पर चर्चा की जाएगी। इन दोनों दार्शनिकों ने समाजशास्त्रीय चिंतन में बड़ा ही सार्थक योगदान किया है। मगर यहां हम उनके योगदान के एक ही पक्ष सामाजिक स्तरीकरण पर अपनी चर्चा केन्द्रित करेंगे। दोनों दार्शनिकों के इस विषय पर सुस्पष्ट विचार हैं, हालांकि दोनों के विचार समान नहीं हैं। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- समझ जाएंगे कि समाज में वर्ग किस तरह से उभरते हैं;
- वर्ग निर्माण के आधार को समझ पाएंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण में वर्गों की भूमिका; और
- वर्गों को लेकर मार्क्स और वेबर के बीच समानताओं और मतांतरों को जान पाएंगे।

5.1 प्रस्तावना

कार्ल मार्क्स (1818-1881) की गिनती अब तक के सबसे महान दार्शनिकों में होती है। उनके विचारों ने लोगों, वर्गों और राष्ट्रों को प्रभावित किया है। समाज और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने में मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकतावादी सिद्धांत का बड़ा योगदान रहा है। इसने पारंपरिक दृष्टिकोणों का एक आमूल परिवर्तनवादी विकल्प को विश्व के सामने प्रस्तुत किया। सामाजिक विकास को मार्क्स ने वर्ग द्वंद्व के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया था। सामाजिक स्तरीकरण उनके विश्लेषण की धुरी था। सामाजिक स्तरीकरण उनकी दृष्टि में एक ओर एकीकारी संरचना के बजाए विघटनात्मक है, मगर वहीं वह इसे सामाजिक विकास के लिए अपरिहार्य मानते हैं।

मैक्स वेबर (1864-1920) एक और अद्वितीय दार्शनिक रहे हैं। कार्ल मार्क्स की तरह वेबर ने भी बुनियादी आर्थिक पहलुओं के महत्व को माना था। मार्क्स ने अपना ध्यान मुख्य रूप से श्रमिक वर्गों पर लगाया और सामाजिक विकास को उन्हीं की नजर से देखा था। मगर वेबर ने अपने दर्शन में सामाजिक विकास में संपत्ति-संपन्न वर्गों की भूमिका को महत्व दिया था, इसीलिए वेबर को बुर्जुई मार्क्स कहा जाता है। इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण पर मार्क्स और वेबर के विचारों पर अलग-अलग

चर्चा करेंगे। इसके बाद हम सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था को समझने में वर्ग के विश्लेषण के महत्व पर चर्चा करेंगे।

5.2 सामाजिक स्तरीकरण और मार्क्स

सामाजिक परिवर्तन को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकतावाद का सिद्धांत अपनाया। उनके विचार में इतिहास का पहला प्रस्थान बिंदु मानव का अस्तित्व में होना था। मानव समाज का भौतिक गठन और मनुष्यों का प्रकृति से संबंध विकास के महत्वपूर्ण द्योतक हैं। सभी प्राणी जीवित रहने के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। पेड़ पौधे मिट्टी और पानी के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं, गाय घास के लिए प्रकृति पर आश्रित रहती है तो शेर को जीवित रहने के लिए अन्य जंतुओं का शिकार करना पड़ता है। जीवित रहने के लिए मनुष्य भी प्रकृति पर निर्भर रहता है। मगर मनुष्य और अन्य प्राणियों में यही बुनियादी अंतर है कि वह अपने जीवन के लिए प्रकृति का कायापलट कर सकता है। मगर अन्य प्राणियों को प्रकृति के अनुकूल ढलना पड़ता है। गाय घास खाती है मगर उसे उगा नहीं सकती। इधर मनुष्य प्रकृति का दोहन तो करता है मगर उसमें इसकी कायापलट की शक्ति भी होती है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि मनुष्य में अपनी आजीविका के साधन उत्पन्न करने की क्षमता होती है। मार्क्स इसलिए अपनी पूस्तक *जर्मन आइडियोलजी* में कहते हैं: "मनुष्य को उसकी चेतना, धर्म या किसी भी चीज से पशुओं से अलग किया जा सकता है। मनुष्य जैसे ही अपने जीवन-निर्वाह के साधन उत्पन्न करने लगता है वह अपने आपको पशुओं से अलग करके देखने लगता है। यह चरण उसकी शारीरिक स्थिति निर्धारित करती है। जीवन-निर्वाह के वास्तविक साधन उत्पन्न करके मनुष्य परोक्ष रूप से अपने वास्तविक भौतिक जीवन का सृजन करता है।" इसी उत्पादन के जरिए ही मनुष्य का विकास हुआ। आदिम मनुष्य पूरी तरह से प्रकृति पर ही निर्भर था।
इसका कारण यह था कि उसका जीवन-निर्वाह शिकार या भोजन संग्रहण से ही होता था। ये आदिम समाज जीवित रहने के लिए अपनी न्यूनतम जरूरतें पूरी कर पाते थे। मनुष्य ने प्रकृति को अपने उपयोग के लिए रूपांतरण करना शुरू किया तो मानव समाज में लोगों के निर्वाह के लिए अधिक उत्पन्न करने की क्षमता आई।

MAADHYAM IAS

5.2.1 श्रम का विभाजन

प्रौद्योगिकी या टेक्नोलॉजी के विकास के जरिए मनुष्य ने कृषि को उन्नत किया और इससे उसने स्थायी रूप से बसे समुदायों का निर्माण किया। उत्पादन के बढ़ने पर ये समुदाय अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न करने लगे। इस बेशी उत्पादन के फलस्वरूप उन लोगों का निर्वाह करना संभव हो गया जो भोजन के उत्पादन से जुड़े नहीं थे। आरंभिक समाजों में सभी लोग एक प्रकार के क्रिया-कलापों में लगे रहते थे जो उनके अस्तित्व के लिए जरूरी थे। जैसे रोटी, कपड़ा और मकान। बेशी उत्पादन से अब अन्य लोगों के लिए अपने क्रिया-कलापों को इन बुनियादी जरूरतों से आगे फैलाना संभव हो पाया। इसलिए कुछ लोगों ने भोजन उत्पन्न किया जो सभी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त थे तो अन्य लोग दूसरी गतिविधियों में लग गए। इसे ही श्रम का विभाजन कहा गया।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अन्य लोगों की इस प्रक्रिया से अलग छिटककर उत्पादन के साधनों पर अधिकार जमा लिया। इस तरह जो संपत्ति अभी तक सभी के सामूहिक स्वामित्व में थी वह चंद लोगों के हाथों में चली गई जिससे निजी संपत्ति की धारणा उत्पन्न हुई। इसके बाद सभी लोगों के हित साझे नहीं रहे। हितों में अब तरह-तरह के अंतर आ गए। इस प्रकार व्यक्तियों के निजी हित समुदायिक हितों से बिल्कुल भिन्न हो गए। मार्क्स कहते हैं, "श्रम का विभाजन और निजी संपत्ति समरूप अभिव्यक्तियां हैं। इसका निजी और सामूहिक हितों में अंतर्विरोध था।"

मानव समाज में निजी संपत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विषमता से वर्गों का निर्माण होता है। यही वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनते हैं। सभी स्तरित समाजों में मोटे तौर पर प्रायः दो समूह मिलते हैं: शासक वर्ग और शासित वर्ग। इसके फलस्वरूप इन दोनों वर्गों के बीच अपने-अपने हितों को लेकर बुनियादी द्वंद्व उत्पन्न होता है। अपनी अन्य प्रसिद्ध कृति *कंट्रीब्यूशंस ऑफ द क्रिटीक*

ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी में मार्क्स कहते हैं कि समाज की विभिन्न संस्थाएं जैसे कानूनी और राजनीतिक व्यवस्थाएं, धर्म इत्यादि असल में शासक वर्ग के वर्चस्व का माध्यम हैं और ये उसके हितों को साधने का काम करती हैं। आइए, अब यह जाने कि 'वर्ग' का क्या मतलब है।

5.2.2 वर्ग का तात्पर्य

मार्क्स ने स्तरीकरण की सभी प्रणालियों में दो मुख्य स्तरों के लिए 'वर्ग' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया है, सभी स्तरित समाजों में मुख्यत: दो बड़े सामाजिक समूह होते हैं–एक शासक वर्ग और दूसरा शाषित वर्ग। शासक वर्ग को शक्ति या सत्ताधिकार उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने से हासिल होता है। इस तरह यह अन्य वर्गों के श्रम के फल को हथिया लेने में सक्षम रहता है। द *एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट* में मार्क्स वर्ग का वर्णन इस प्रकार करते हैं: "जब लाखों लोग अस्तित्वभर आर्थिक दशा में जी रहे हों, जो उनकी जीवन शैली, उनके हित और संस्कृति को अन्य वर्गों के लोगों से अलग करती हो और उन्हें इन वर्गों के द्वेषपूर्ण विरोध में ला खड़ा करती हो, तो ऐसे लोग एक वर्ग बन जाते हैं।"

अभ्यास 1

अपने परिचित लोगों से वर्ग के अभिप्राय पर चर्चा कीजिए। इसमें आपको वर्ग की जो व्याख्याएं जानने को मिलती हैं उन्हें नोट कर लीजिए । अब इन व्याख्याओं की तुलना मार्क्स की वर्ग अवधारणा से कीजिए।

मार्क्स के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों से सामाजिक समूहों के संबंधों से उत्पन्न होती है। मार्क्स ने वर्ग शब्द का प्रयोग स्तरीकरण की सभी पद्धतियों में मुख्य स्तरों के लिए किया था। वर्ग की उन्होंने जो परिभाषा दी है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इस परिभाषा के अनुसार वर्ग में दो मुख्य समूह होते हैं जिनमें से एक उत्पादन के साधनों पर अधिकार किए रहता है। सामाजिक अर्थव्यवस्था में इसे विशिष्ट दर्जा हासिल होने के कारण यह वर्ग अन्य वर्ग के श्रम के फल को हथिया लेता है। इस प्रकार वर्ग एक सामाजिक समूह है, जिसके सदस्यों का उत्पादन शक्तियों से एक साझा संबंध होता है। यह दरअसल एक वर्ग के दूसरे वर्ग से अलग करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मार्क्स की इस परिभाषा से हमें वर्ग का एक और पहलू यह दिखाई देता है कि वर्ग एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं। मगर साथ-साथ वर्गों में परस्पर निर्भरता का संबंध भी होता है। अगर एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपने अधिकार के बूते दूसरे वर्ग के श्रम को हथिया सकता है तो इसका यही मतलब है कि दोनों वर्ग एक दूसरे पर निर्भर तो हैं ही, मगर वहीं वे परस्पर विरोधी भी हैं। वर्गों के बीच यह संबंध एक परिवर्तनकारी संबंध है जिसकी परिणति सामाजिक परिवर्तन में होती है। यही कारण है कि मार्क्स की दृष्टि में वर्ग ही सामाजिक कायापलट की धुरी हैं। *कम्युनिष्ट मैनिफेस्टो* में मार्क्स लिखते हैं: "अभी तक, सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" दूसरी तरह से कहें, तो मानवजाति के इतिहास में वर्गों के संघर्ष के कारण परिवर्तन आते हैं। इसलिए वर्ग द्वंद्व सामाजिक बदलाव का इंजन है।

बोध प्रश्न 1

1) श्रम के विभाजन के बारे में मार्क्स के क्या विचार हैं? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

2) मार्क्स के अनुसार वर्ग का क्या मतलब है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए

....

....

....

....

....

5.2.3 वर्ग का विकास

समाज का विकास वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के जरिए होता है। एक वर्ग का किसी अन्य वर्ग पर प्रभुत्व होने के कारण ही वर्ग द्वंद्व उत्पन्न होता है। इसके साथ-साथ प्रौद्योगिकी में आने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पादन की प्रक्रिया भी विकसित होती है, जिसके फलस्वरूप वह उन्नत होती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वर्गीय ढांचे में परिवर्तन आ जाता है क्योंकि उत्पादन तकनीकों में वृद्धि होने के कारण मौजूदा वर्ग अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। इससे नए वर्गों की रचना होती है जो पुराने वर्गों का स्थान ले लेते हैं। इससे वर्ग संघर्ष और बढ़ता है। मार्क्स के मतानुसार पश्चिमी समाजों का विकास मुख्यत: चार चरणों में हुआ: आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंतवादी समाज और पूंजीवादी समाज। आदिम साम्यवाद के चरण के प्रतिनिधि प्रागैतिहासिक समाज हैं, शिकार और भोजन संग्रहण पर निर्भर करते हैं और जिनमें श्रम का कोई विभाजन मौजूद नहीं है। इस चरण के बाद सभी समाज मुख्यत: दो वर्गों में बंटे होते हैं: प्राचीन समाज में ये स्वामी और दास, सामंतवाद समाज में ये जमींदार और कृषिदास (काश्तकार) और पूंजीवादी समाज में ये पूंजीवादी और वैतनिक श्रमिक हैं। प्रत्येक युग में उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम शक्ति की पूर्ति शासित वर्ग यानी दास, कृषिदास और वैतनिक श्रमिक वर्ग ही करता था।

परस्पर विरोधी समूहों में वर्गों का ध्रुवीकरण वर्गीय चेतना का परिणाम है। यह एक अलग मगर वर्ग से ही जुड़ा प्रसंग है। वर्गीय चेतना अनिवार्यत: वर्ग-रचना का परिणाम नहीं होती। वर्गीय चेतना का संबंध वर्गों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया से है। अपने वर्गीय हितों के जाने बगैर भी एक वर्ग अस्तित्व में हो सकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 5.01

किसी खास समूह के लोग, जिसकी सदस्यता उत्पादन के ऐसे संबंधों से तय होती है जिनमें या तो वे जन्म लेते हैं या स्वेच्छा से प्रवेश करते हैं, जब वे एक विशिष्ट या भिन्न समूह के रूप में अपने अस्तित्व के बारे में सजग हो जाते हैं तो उन्हें अपने वर्ग के प्रति चैतन्य माना जाता है। उदाहरण के लिए, मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए बराबर संघर्षरत रहते हैं जो उनके हित में है। ये हित पूंजीवादी समाज के आर्थिक संबंधों के परिणाम हैं। ये हित वस्तुनिष्ठ रूप से विद्यमान होते हैं, जिसका यह अर्थ है कि इन हितों को कोई सिद्धांत राजनीतिक दल, मजदूर संघ या इस तरह की कोई बाहरी शक्ति ईजाद नहीं करती है। मगर इन वस्तुनिष्ठ स्थितियों का विद्यमान रहना ही पर्याप्त नहीं होता। कामगारों को इन स्थितियों के बारे में जागरूक होना चाहिए।

एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट के निष्कर्ष में मार्क्स वर्ग निर्माण की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि एक वर्ग तभी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होता है, जब वह अन्य वर्ग से अपने विरोध के प्रति जागरूक हो। अपने सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ *दास कैपिटल* में मार्क्स कहते हैं कि अगर श्रमिकों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो हो सकता है कि वे इस बात से अनभिज्ञ रहें कि उनके वर्गीय हित अन्य वर्ग (पूंजीवादी वर्ग) के हितों के प्रतिकूल हैं। उन्होंने कहा है कि पूंजीवादी उत्पादन में उन्नति एक ऐसा श्रमिक वर्ग खड़ा करता है जो अपनी शिक्षा, परंपरा और स्वभाव से उत्पादन की स्थितियों को प्रकृति के स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में देखता है। यानी वह उन्हें स्वाभाविक, प्रकृति-सममत मानता है साधारण स्थितियों में श्रमिक को स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में उत्पादन के प्राकृतिक नियमों के हवाले किया जा सकता है साधारण स्थितियों में श्रमिक को उत्पादन के प्राकृतिक नियमों के हवाले किया जा सकता है।
वर्ग चेतना के किससित होने पर वर्ग संबंधों की यह गतिहीन प्रकृति एक गतिशील और परिवर्तनकारी

स्वरूप धारण कर लेती है। वर्ग चेतना के बिना श्रमिक वर्ग पूंजी के संबंध में श्रमिक वर्ग बन के रह जाता है। यह अपने-आप में एक वर्ग मात्र है। *द पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी* में मार्क्स कहते हैं कि जो श्रमिक वर्ग इस स्थिति में रहता हो वह व्यक्तियों का एक समूह मात्र है और अपने-आप में एक वर्ग है। यह जब अपने संघर्ष में पूंजीवाद के खिलाफ संगठित हो जाता है तो यह "अपने लिए एक वर्ग का स्वरूप धारण कर लेता है, जिन हितों की यह रक्षा करता है। वे इस वर्ग के हित बन जाते हैं।"

मार्क्सवादी ढांचे में इस प्रकार हम वर्ग को एक गतिशील, परिवर्तनकारी इकाई के रूप में पाते हैं। प्रौद्यागिकी में उन्नति के साथ-साथ इसके स्वरूप में भी बदलाव आ सकता है, मगर इसकी रचना का आधार वही रहता है। वर्ग किसी भी समाज में स्तरीकरण पद्धति का मुख्य आधार है। वर्ग का सीधा संबंध हर समाज में प्रचलित उत्पादन प्रक्रिया से है। वर्गीय ढांचे में बदलाव उत्पादन प्रक्रिया में बदलाव होने से आता है। इस प्रकार समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन संबंधों पर निर्भर होते हैं।

5.3 सामाजिक स्तरीकरण और वेबर

जैसा कि हमने शुरू में जिक्र किया है, मैक्स वेबर को समाजशास्त्र के संस्थापकों के रूप में जाना जाता है। वे समाज के मार्क्सवादी सिद्धांत के सबसे शक्तिशाली विकल्प के जनक माने जाते हैं। इकाई के इस भाग में हम वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों पर उनके विचारों पर चर्चा करेंगे।
मार्क्स की तरह वेबर का भी मानना था कि वर्ग ही समाज में स्तरीकरण का बुनियादी रूप है। उन्होंने वर्ग की व्याख्या मार्क्सवादी कसौटी मुख्यत: संपत्ति के स्वामित्व के रूप में की। उनके अनुसार इस की बुनियादी श्रेणियां हैं। उन्होंने संपत्ति-स्वामित्व और उत्पादों व सेवाओं की स्वामित्वहीनता के जितने प्रकार होते हैं, उनमें भेद दर्शाया। जो लोग संपत्ति के स्वामी होते हैं वे उत्पादन या वस्तुएं देते हैं, लेकिन जिन लोगों के पास कोई संपत्ति नहीं होती वे सिर्फ अपनी श्रम शक्ति या प्रवीणता ही पेश कर सकते हैं। इस प्रकार कारखाने का मालिक अपने कारखाने में बनने वाले माल की पेशकश कर सकता है मगर दूसरी ओर उसके मजदूर पारिश्रमिक के बदले में सिर्फ अपनी श्रमशक्ति ही दे सकते हैं।

MAADHYAM IAS

भवन निर्माण में कार्यरत मज़दूर
साभार : ए. यादव

5.3.1 वर्ग और जीवन-अवसर

वेबर ने वर्ग के एक अन्य पहलू को महत्व दिया है। वह है जीवन-अवसर। इस शब्द का अर्थ उन अवसरों से है जो किसी व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में मिलते हैं। एक श्रमिक के परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति को एक खास किस्म की शिक्षा मिलती है, जो उसे विशिष्ट कार्यों के लिए सक्षम बनाती है। यह शिक्षा उतनी महंगी या गहरी नहीं होगी जो उच्च वर्गीय परिवार में जन्में बच्चे को मिलती है। इसलिए रोजगार के अवसर दोनों के लिए एक दूसरे से अलग-अलग होंगे। उनकी भिन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि भी उन्हें भिन्न वर्गों का हिस्सा बनाती है। ठीक यही पैटर्न हमें उनके सामाजिक व्यवहार और विवाह में मिलता है। श्रमिक वर्ग की पृष्ठिभूमि का व्यक्ति अधिकतर अपने वर्ग के अन्य सदस्यों से ही परस्पर व्यवहार करता है, जबकि उच्च मध्यम वर्ग की पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति के परिचित, मित्र अपने वर्ग के ही लोग होंगे। इस प्रकार वेबर के अनुसार जीवन-अवसर वर्ग-निर्माण का एक महत्वपूर्ण पहलू हैं।

बॉक्स 5.02

जीवन-अवसरों का विवेचन करते समय वेबर ने व्यक्ति के बजाए समूह या समुदाय पर बल दिया था। उनका कहना था कि वर्ग का निर्धारण करते समय हमें समूह के जीवन-अवसरों को देखना होगा न कि समूह के भीतर अलग-अलग व्यक्तियों के जीवन अवसरों को देखना होगा। एक समूह के रूप में वर्ग का यह अति महत्वपूर्ण पहलू है। यह संभव है कि एक व्यक्ति के जीवन-अवसर दूसरों से बिल्कुल भिन्न हों। उदाहरण के लिए, किसी कामगार का बच्चा अपने वर्ग के अवरोधों को पार कर सकता है। उसे बेहतर शिक्षा और ऐसा रोजगार मिल सकता है जो उसके संगी-साथियों को प्राप्त अवसरों से भिन्न हो।

एक उद्योगपति का बेटा अपनी योग्यता या अन्य स्थितियों के चलते श्रमिक बन सकता है। मगर ऐसा अपवाद स्वरूप ही होता है। उनके विचार में महत्वपूर्ण बात यह है कि एक ही वर्ग के सदस्यों के लिए जीवन-अवसर समान होते हैं। यही उस वर्ग को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि आगे की पीढ़ी के अनुसार जीवन-अवसरों की परिभाषा उपलब्ध आर्थिक और सांस्कृतिक वस्तुओं को आपस में बांटना है जो भिन्न समूहों को भिन्न-भिन्न तरीके से सुलभ हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

किसी व्यक्ति के सुलभ होने वाले जीवन-अवसर मोटे तौर पर बाजार-स्थिति से तय होते हैं। एक श्रमिक का बेटा श्रमिक ही बनता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि के अनुसार यही उसके लिए सबसे उपयुक्त विकल्प है। संपत्तिहीन लोगों के लिए बाजार-स्थिति और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि उन्हें मुख्यतः सेवाओं के उत्पादन पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिसका कारण यह है कि उनके पास सिर्फ अपनी प्रवीणता होती है, अपने अस्तित्व के लिए उनके पास अपनी प्रवीणता को बेचने के अलावा कुछ भी नहीं होता। मगर वहीं संपत्ति के स्वामी अपनी उत्पादक संपत्ति से होने वाली आमदनी पर आश्रित रह सकते हैं।

इस प्रकार वेबर के अनुसार वर्ग के दो बुनियादी पहलू हैं। पहला यह एक वस्तुगत श्रेणी है। उत्पादक संपत्ति पर सदस्यों के अधिकार एक विशेष वर्ग के सभी सदस्यों को समान जीवन-अवसरों से अलग करते हैं। व्यक्तियों के जीवन अवसर उन लोगों के लिए बाजार-स्थिति पर निर्भर करते हैं जो उत्पादक संपत्ति के स्वामी नहीं हैं। जिन लोगों के पास ऐसी संपत्ति है उनके जीवन-अवसर उत्पादकता के स्वामित्व से तय होते हैं।

अपनी इस परिभाषा के आधार पर वेबर ने पूंजीवादी समाज को चार वर्गों में बांटा है। ये इस प्रकार हैं: (i) उच्च वर्ग, जिसमें वे लोग आते हैं, जिनके स्वामित्व या अधिकार में उत्पादक संपत्ति है। यह वर्ग मार्क्स के बुर्जुवा (पूंजीवादी वर्ग) के समान है। (ii) सफेदपोश श्रमिक (व्हाइट कॉलर वर्कर्स): इस वर्ग में मानसिक श्रम करने वाले लोग शामिल हैं–प्रबंधक, प्रशासक, पेशेवर (प्रोफेशनल) इत्यादि लोग। (iii) टटपुंजिया या छोटा बुर्जुवा: इस वर्ग में स्वरोजगार में लगे लोग आते हैं जैसे दुकानदार छोटे व्यापारी, डॉक्टर, वकील इत्यादि। (iv) शारीरिक श्रमिकों का वर्ग–ये लोग दिहाड़ी या वेतन के बदले में अपना शारीरिक श्रम बेचते हैं। श्रमिक वर्ग को वेबर ने इसी वर्ग में शामिल किया है। इस प्रकार वेबर ने

मार्क्स के दो-वर्गीय मॉडल के विपरीत समाज को चार वर्गों में विभाजित किया। हालांकि वेबर ने वर्ग संरचना का जो आधार ढूंढा वह मार्क्स के जैसा ही था, मगर समाज में वर्गों के प्रकार को लेकर उनका नजरिया मार्क्स से भिन्न था।

5.3.2 स्थिति या हैसियत

मार्क्स की तरह वेबर ने भी वर्ग और वर्ग चेतना में भेद किया था। जैसा कि हमने पीछे बताया है, मार्क्स के लिए वर्ग-चेतना वर्ग का एक महत्वपूर्ण पहलू था। कोई वर्ग अगर यह जानता है कि वह एक विशिष्ट वर्ग है तो वह अपने हितों की पैरवी कर सकता है। वेबर ने भी वर्ग-चेतना की बात तो की है मगर वह वर्ग के अस्तित्व के लिए इसे जरूरी नहीं मानते। बल्कि इसके बजाए वह वर्ग-चेतना का विकल्प स्थिति या हैसियत में ढूंढते हैं। वेबर का मानना था कि एक व्यक्ति की वर्ग-स्थिति जरूरी नहीं कि उसे वर्ग-चेतन बनाए, मगर वह अपनी हैसियत, अपनी स्थिति के बारे में पहले से चेतन रहता है।

अभ्यास 2

अपने अध्ययन केन्द्र में सहपाठियों से चर्चा कीजिए कि स्थिति/हैसियत का क्या मतलब है। क्या उनकी धारणाएं स्थिति पर वेबर के दृष्टिकोण से मेल खाती हैं? अपनी जानकारी को नोटबुक में दर्ज कर लीजिए।

वेबर के अनुसार वर्गों की रचना आर्थिक संबंधों के आधार पर होती है, उनके अनुसार स्थिति (स्टेटस) समूह साधारणतया 'समुदाय' होते हैं। वेबर ने स्थिति को समाज में व्यक्ति को हासिल स्थिति के रूप में की है जो 'प्रतिष्ठा' के सामाजिक मूल्यांकन से निर्धारित होती है। वर्ग और हैसियत परस्पर जुड़े होते हैं मगर कई स्थितियों में ये एक-दूसरे के विरोध में जा खड़े होते हैं। वर्ग का संबंध वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन या उनके अर्जन से है। हैसियत या स्थिति उपभोग से तय होती है। इस प्रकार हैसियत का संबंध जीवन-शैली से है, जिसमें सामाजिक सहवास पर अंकुश लगे हों। वेबर का कहना था कि सबसे कठोर और सु-परिभाषित स्थितिगत सीमाएं हम भारत की वर्ण-व्यवस्था में देख सकते हैं। एक ब्राह्मण का संबंध श्रमिक वर्ग से हो सकता है, क्योंकि यह उसकी आजीविका का माध्यम है। मगर वहीं वह अपने आपको छोटी जाति के व्यक्ति से श्रेष्ठ समझता है। हालांकि दोनों की वर्ग-स्थिति समान होगी। यही नहीं इस ब्राह्मण श्रमिक का अपने से उच्च वर्ग के ब्राह्मणों से सामाजिक व्यवहार काफी ज्यादा हो सकता है। भारतीय समाज में अंतरजातीय विवाह को स्वीकार नहीं किया जाता है। हालांकि दोनों परिवार एक वर्ग के होंगे मगर वर्ण क्रम-परंपरा में उनकी हैसियत एक-दूसरे से भिन्न होगी।

वेबर के अनुसार एक स्तरित समाज में संपत्ति में अंतर वर्गों को जन्म देते हैं, वहीं प्रतिष्ठा संबंधी भेद स्थिति समूहों को जन्म देते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य दो आधार हैं।

5.4 मार्क्स और वेबर में समानताएं और अंतर

उपरोक्त चर्चा से हमें स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के इन दोनों धुरंधर विद्वानों के सामाजिक स्तरीकरण के मत में कुछ समानताएं हैं, मगर वहीं दोनों में बड़े मतभेद भी हैं। मार्क्स के लिए सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ग है। वर्ग की रचना इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ होती है कि वर्ग का निर्माण महज इसलिए नहीं हो जाता है कि लोगों का एक समूह इकट्ठा होकर वर्ग बनाने का फैसला कर लेते हैं, बल्कि वर्ग का निर्माण समाज में प्रचलित उत्पादन संबंधों के कारण होता है। इसलिए वर्गीय ढांचे में किसी व्यक्ति को प्राप्त स्थान उत्पादन संबंधों में उसकी स्थिति पर आधारित होता है। अगर उसके पास पूंजी है या वह पूंजी पर अधिकार रखता है और दूसरे लोगों से काम लेता है तो वह पूंजीवादी है। जिन लोगों के पास संपत्ति नहीं होती वे उसके विरोधी श्रमिक वर्ग की रचना करते हैं। मार्क्स के विश्लेषण का महत्वपूर्ण पहलू वर्गों का परस्पर विरोध है। इसी विरोध के फलस्वरूप ही सामाजिक और आर्थिक बदलाव होता है। श्रमिकों के जवाब में पूंजीवादी नित नई तरकीबें ढूंढ निकालते हैं। जैसे वे नई प्रौद्योगिकी ला सकते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन तकनीक उन्नत हो जाती हैं या श्रमिकों को शक्तिशाली बनने से रोकने के लिए वे नए कानून ला सकते हैं।

MAATHYAM IAS

मगर श्रमिक भी अपने संघर्ष में उतना ही अधिक संगठित रहते हैं। वे जब देखते हैं कि उनका मुख्य शत्रु कोई अन्य वर्ग का है तो वे आपसी मतभेद भुला देते हैं। इससे उनमें व्यापक एकता आती है। इस प्रकार मार्क्स के मत में वर्ग और वर्ग-चेतना समाज की श्रेणियां मात्र नहीं हैं। ये सामाजिक विकास की बुनियाद हैं।

एक स्तर पर वेबर भी मार्क्स की वर्गीय धारणा से सहमति रखते हैं। मगर ऐसा वह मार्क्स का समर्थन करने के लिए नहीं बल्कि उनके मत की कमजोरियाँ निकालने के लिए करते हैं। वह जोर देकर कहते हैं कि समाज को सिर्फ दो मुख्य वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता है, बल्कि समाज इनसे ज्यादा वर्गों में बंटा होता है जिनका उदय बाजार स्थिति और व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कार्य की किस्म से होता है। इसलिए उनके अनुसार समाज में मुख्य चार वर्ग होते हैं। उनके अनुसार इससे वर्ग संबंधों को लेकर भ्रम की स्थिति पैदा होती है। इसलिए वेबर कहते हैं कि न तो वर्ग और न ही वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण की पूर्ण व्याख्या कर सकते हैं। अतः वह स्थिति या हैसियत ('स्टैटस') पर अधिक बल देते हैं जबकि मार्क्स वर्ग-चेतना को अधिक महत्व देते हैं। वेबर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। उनके विचार में इसका आधार स्थिति समूह हैं। उनके अनुसार वर्ग स्थिर और गतिहीन होते हैं जबकि स्थिति (स्टैटस) सभी वर्गों की दूरी को मिटा देती है।

दोनों दार्शनिकों की तुलना करते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि वेबर मार्क्स के विचारों के विरोधी थे। उन्होंने मार्क्स का विकल्प देने का प्रयास किया। सो दोनों दार्शनिकों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वेबर का कार्य मार्क्स के कार्य का पूरक, उसकी कड़ी नहीं है (जिस प्रकार डेविस की स्तरीकरण की अवधारणा पारसंस की अवधारणा की पूरक है, जिसे हम आगे की इकाई में दिखाएंगे)। वेबर ने अपने सिद्धांत को मुख्यतः मार्क्स के विरोध में गढ़ा था। इस लिए दोनों में कुछ समानताएं तो हैं मगर उनका आधार एक-दूसरे से भिन्न है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) वर्गों और जीवन-अवसरों के बारे में वेबर ने क्या विचार रखे थे? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) सामाजिक स्तरीकरण को लेकर वेबर और मार्क्स के दृष्टिकोण में क्या-क्या समानताएं और अंतर हैं? दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

5.5 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण पर समाजशास्त्र के दो संस्थापकों कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के दृष्टिकोणों पर चर्चा की। दोनों दार्शनिकों के विचारों ने मानव विकास को बेहद प्रभावित किया है। कार्ल मार्क्स के विचार उनके ऐतिहासिक भौतिकतावाद पर आधारित थे। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा। उनके अनुसार मानव समाज में होने वाले परिवर्तनों का आधार उत्पादन का बदलता स्वरूप है। वर्ग समाज में स्तरीकरण व्यवस्था का आधार हैं। उत्पादन संबंधों के बदलने पर स्तरीकरण का स्वरूप भी बदल जाता है। इस तरह नए वर्गों ने पुराने वर्गों की जगह ले ली। इसके फलस्वरूप वर्गों के बीच नए संबंध भी बने। इसलिए मार्क्स की दृष्टि में वर्ग और स्तरीकरण समरूप हैं। मार्क्स ने वर्ग-चेतना की भूमिका को वर्ग हितों की साधना के लिए महत्वपूर्ण माना है।

दूसरी ओर मैक्स वेबर ने वर्गों के निर्माण को अधिक महत्व दिया। उनके विचार में भी वर्ग का आधार वही था जो मार्क्स ने माना था। मगर वहीं उनका मानना था कि समाज दो के बजाए चार वर्गों में बंटा होता है। वेबर और मार्क्स में यह मतभेद यही नहीं है। वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या के मुख्य आधार के रूप में वर्ग विश्लेषण की कमियों को बताने का प्रयास भी किया। उनका मानना था कि वर्ग से अधिक महत्वपूर्ण स्थिति ('स्टैटस') होती है। उनका यह तर्क था कि लोग वर्ग-चैतन्य के बजाए स्थिति-चैतन्य अधिक होते हैं। इसलिए उनका विचार था कि हालांकि वर्ग एक वस्तुनिष्ठ श्रेणी है मगर सामाजिक स्तरीकरण को हम स्थिति/हैसियत की कसौटी पर बेहतर समझ सकते हैं।

5.6 शब्दावली

वर्ग	:	मार्क्स के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन साधनों पर अपने अधिकार या स्वामित्व या उसकी कमी के कारण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। मगर वेबर के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन स्वामित्व या अधिकार के चलते एक दूसरे से अलग होते हैं और जिन्हें समान जीवन-अवसर प्राप्त होते हैं।
वर्ग-चेतना	:	एक वर्ग में यह चेतना कि सामाजिक क्रम-परंपरा में उसकी विशिष्ट जगह है।
स्थिति/हैसियत	:	सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रभावशाली दावा। वेबर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि स्थिति/हैसियत वर्ग अवरोधों को पार कर लेती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

टी.बी. बोटोमोर और एम रुबेल (संपा.) *कार्ल मार्क्स: सेलेक्टेड राइटिंग्स इन सोशियोलाजी ऐंड सोशल फिलॉसफी*, पेंग्विन बुक्स, 1963

एच.एच. गर्थ और सी.डब्लू मिल्स (संपा.) *फ्रॉम मार्क्स वेबर: एसेज इन सोशियोलॉजी*, रौटलेज ऐंड केगर पॉल, 1948

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) में विकास होने के साथ-साथ उत्पादन भी उन्नत हुआ। इससे बेशी उत्पादन संभव हुआ और इसके फलस्वरूप क्रियाकलापों का वर्गीकरण यानी श्रम का विभाजन हुआ। इसका एक परिणाम यह भी रहा है कि उत्पादन के साधनों पर चंद लोगों का अधिकार हो गया जिससे निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। मार्क्स के अनुसार इससे लोगों के हित सामुदायिक हितों से अलग हो गए और इस प्रकार समाज में वर्गों का उदय हुआ।

2) मार्क्स के अनुसार स्तरीकरण व्यवस्था में दो मुख्य स्तर होते हैं। इनमें एक शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग है। उत्पादन के साधन शासक वर्ग के अधिकार में रहते हैं जिसके बूते यह वर्ग श्रमिक वर्ग के श्रम को हथिया लेता है। अंतत: ये वर्ग एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) वेबर ने वर्ग को निजी संपत्ति की कसौटी पर परिभाषित किया मगर उन्होंने वस्तुओं के स्वामित्व और प्रवीणता के स्वामित्व भेद किया। कारखाने का मालिक वस्तुएं देता है लेकिन उसके श्रमिक वेतन के बदले में अपनी श्रम शक्ति दे सकते हैं। वेबर के अनुसार जीवन-अवसरों का मतलब व्यक्ति को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में प्राप्त होने वाले अवसर हैं। शिक्षा और पारिवारिक पृष्ठिभूमि जीवन-अवसरों को प्रभावित करते हैं। मगर जोर समूह पर होना चाहिए और ये उन्हें सुधार या बिगाड़ सकते हैं। जीवन-अवसर एक वर्ग विशेष के लिए समान होते हैं पर इसके अपवाद अवश्य देखे जा सकते हैं।

2) सामाजिक स्तरीकरण को लेकर मार्क्स और वेबर में वैचारिक समानता और मतभेद दोनों हैं। मार्क्स के विचार के मूल में उत्पादन साधनों के स्वामित्व पर आधारित वर्ग विरोध है। उनके अनुसार वर्ग और चेतना सामाजिक विकास के लिए आवश्यक हैं। वेबर के अनुसार समाज को सिर्फ दो वर्गों में ही नहीं बांट सकते। बल्कि उनके अनुसार हमारा समाज चार वर्गों में बंटा हैं वेबर स्थिति/हैसियत को तो मार्क्स वर्ग चेतना को अधिक महत्व देते हैं। इस प्रकार दोनों दार्शनिक वर्ग को महत्व तो देते हैं मगर दोनों के विचार समान नहीं हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 6 पारसंस और डेविस

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धांत
6.3 टैलकॉट पारसंस का नजरिया
6.3.1 मूल्य मतैक्य और स्तरीकरण
6.4 डेविस-मूर का सिद्धांत
6.4.1 समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं
6.4.2 स्तरीकरण के प्रकार्य
6.4.3 डेविस और मूर का बुनियादी प्रस्थापनाएं
6.5 डेविस-मूर के सिद्धांत की समालोचना
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको अमेरिका के दो प्रसिद्ध समाज विज्ञानियों के सामाजिक स्तरीकरण सिद्धांत के बारे में बताएंगे। ये समाजशास्त्री हैं डेविस और विलबर्ट मूर जिनके सिद्धांत को सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धांत कहा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण के लिए इस सिद्धांत को हालांकि समाजशास्त्रियों ने मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया है लेकिन इसकी आलोचना भी खूब होती है। यहां हम इस सिद्धांत के सभी पहलुओं पर दृष्टि डालेंगे। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि को समझ जाएंगे;
- यह सिद्धांत क्या कहता है, इसे समझ पाएंगे;
- उन समस्याओं को समझ सकेंगे जिनसे इस सिद्धांत के प्रवर्तक को भी खुद जूझना पड़ा था; और
- समाज को समझने में इस सिद्धांत के महत्व को जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रकार्यात्मक सिद्धांत यह बताने का प्रयास करता है कि समाज क्यों जीवित रह पाता है। इस सिद्धांत के मूल में यह धारणा है कि सभी समाज स्थिरता और शांति चाहते हैं। समाज में लोग अराजकता और भ्रम नहीं चाहते क्योंकि इससे उनके दैनिक क्रियाकलापों में विघ्न पड़ता है। इसीलिए समाज चाहते हैं कि उनमें व्यवस्था और अनुशासन हो। ये समाज में स्थिरता लाने के उपाय हैं।

प्रकार्यवादी समाज को एक जीव के रूप में देखते हैं। इस जीव के अलग-अलग अंग होते हैं। ये अंग एक समग्र इकाई में समेकित होते हैं और ये परस्पर सहयोग से काम करते हैं। मानव शरीर एक जटिल जीव है जिसके शरीर में विभिन्न अंग-प्रत्यंग होते हैं। इसका प्रत्येक अंग एक-दूसरे से अलग होता है मगर वे सभी मिलकर एक समेकित इकाई की रचना करते हैं। इसी प्रकार समाज में भी अलग-अलग अंग होते हैं जो अलग-अलग भूमिका अदा करते हैं। अगर हम समाज की पूरी तस्वीर पर नजर डालें तो हम देखेंगे कि ये अंग जो भूमिकाएं अदा करते हैं वे समूचे समाज में स्थिरता लाती हैं, दूसरी तरह से कहें तो ये सारी भूमिकाएं समाज को एकता के सूत्र में बांधती हैं। उदाहरण के लिए, हम पाते हैं कि लोग तरह-तरह के पेशों और क्रियाकलापों में लगे हुए हैं। जैसे डॉक्टर, वकील, शिक्षक, छात्र, श्रमिक, उद्योगपति, किसान,

जुलाहे इत्यादि। इन लोगों के क्रियाकलाप हालांकि एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, पर समाज सुचारु रूप से चलने के लिए सबकी जरूरत होती है। इन्हें पृथक अंग माना जा सकता है जो समाज के एकीकरण के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रकार्यवादी सिद्धांत के मुताबिक सामाजिक ढांचे का हर घटक विशिष्ट कार्यों को पूरा करता है जो समाज में स्थिरता को कायम रखने के लिए जरूरी हैं। ये कार्य समाज को जीवित रखने के लिए जरूरी हैं। इसलिए समाज की अखंडता और स्थिरता के लिए उसमें स्तरीकरण प्रणाली का होना भी जरूरी है।

6.2 सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत

प्रकार्यवादी सिद्धांतकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि सभी समाज स्तरों में बंटे होते हैं या वे स्तरित रहते हैं। दूसरे शब्दों में, समाज के विभिन्न सदस्य जो कार्य करते हैं वे असल में इसको जीवित रखने के लिए किए जाते हैं। मगर सभी कार्यों को समान दर्जा नहीं दिया जाता। कुछ कार्य अन्य कार्यों से श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए उन्हें ऊंचा दर्जा दिया जाता है। जो लोग इन कार्यों को अंजाम देते हैं उन्हें अन्य लोगों से श्रेष्ठ समझा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत यह समझाने का प्रयत्न करता है कि सामाजिक असमानताएं किस तरह उत्पन्न होती हैं और समाज के लिए वे क्यों जरूरी हैं।

प्रकार्यवादी यह मानकर चलते हैं कि समाज की अपनी कुछ मूलभूत जरूरतें होती हैं। इन जरूरतों की पूर्ति हर हाल में होनी चाहिए। अन्यथा समाज में अस्थिरता उत्पन्न हो जाएगी। इन जरूरतों को प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा कहा गया है। दूसरा, ये प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं हालांकि महत्वपूर्ण हैं, लेकिन उनका स्थान उन्हें समाज में मिलने वाले महत्व के अनुसार तय होता है उदाहरण के लिए, एक कारखाना चलाने के लिए हमें मजदूर और प्रबंधक दोनों की जरूरत पड़ती है। कोई भी कारखाना सिर्फ मजदूरों की बदौलत या सिर्फ प्रबंधकों की बदौलत नहीं चल सकता है। इसलिए मजदूर और प्रबंधक दोनों उसके अभिन्न, अनिवार्य अंग हैं। मगर यहां यह मानना सरासर गलत होगा कि चूंकि दोनों जरूरी हैं इसलिए दोनों की हैसियत भी बराबर होनी चाहिए। वास्तव में ऐसा नहीं होता। प्रबंधकों को श्रमिकों से ऊंचा दर्जा हासिल होता है इसलिए इस अभिन्नता या अखंडता का मतलब समानता नहीं है। इसका यह मतलब है कि सभी अलग-अलग समूह मिल जुलकर स्थिरता की दिशा में काम करते हैं। मगर वे इसलिए ऐसा करते हैं क्योंकि वे एक क्रम परंपरा में स्तरित रहते हैं। इस क्रम परंपरा का आधार क्या है और आखिर क्यों लोग इसे स्वीकार कर लेते हैं? प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों ने इन प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया है। अब हम प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों में सबसे ख्यातनाम टैलकॉट पारसंस के विचारों को जानेंगे।

6.3 टैलकॉट पारसंस का नज़रिया

पारसंस के सामाजिक प्रणालियों के विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु व्यवस्था का प्रश्न है। उनका मानना था कि सभी सामाजिक प्रणालियां इसलिए उत्पन्न हुईं कि इन प्रणालियों में विद्यमान लोग व्यवस्था और स्थिरता चाहते थे। पारसंस के अनुसार सामाजिक प्रणाली तब उत्पन्न होती है जब दो या अधिक लोग बंधन की स्थिति में परस्पर व्यवहार करते हैं और उनके कार्य दूसरों को प्रभावित करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सामाजिक प्रणाली में सबसे पहले लोगों का समूह होना चाहिए। यह समूह दो व्यक्तियों का या देश भी हो सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि ये लोग एक साझी सीमा के भीतर विद्यमान रहते हैं। तीसरा, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करते हैं। अंततः उनके कार्य एक-दूसरे के आचरण को प्रभावित करते हैं।

इस तरह की क्रिया को हम अपने दैनिक जीवन में देख सकते हैं। अपने दैनिक जीवन में हम कई लोगों से मिलते-जुलते हैं। ऐसा करते समय हम उस व्यक्ति से प्रभावित होते हैं जिससे हम व्यवहार करते हैं। उदाहरण के लिए, आप जब अपने पिता या किसी बुजुर्ग से बात कर रहे हों तो उस समय आप एक खास तरह से आचरण करते हैं। जब आप अपने दोस्तों और साथियों से बातचीत करते हैं तो आपका आचरण भिन्न होता है। आप ऐसा क्यों करते हैं? सभी लोगों के साथ पारस्परिक व्यवहार करते समय आपको

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

आचरण एक समान क्यों नहीं होता? पारसंस के अनुसार ऐसा इसलिए होता हैं कि आप जब किसी व्यक्ति के साथ परस्पर व्यवहार करते हैं तो आपका कार्य (आचरण) इस व्यक्ति के कार्यों से प्रभावित होता है।

यह आपको भिन्न-भिन्न स्थितियों में अपना व्यवहार बदलने या उनके अनुकूल ढालने के लिए बाध्य करता है।

अभ्यास

अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य छात्रों के साथ समाज में व्यवस्था के प्रश्न पर चर्चा कीजिए। अपनी जानकारी को नोटबुक में लिख लीजिए।

विभिन्न स्थितियों में आपके आचरण का नियमन मुख्यत: इसलिए होता है कि एक व्यक्ति के रूप में आप एक निश्चित तरीके से आचरण करते हैं क्योंकि इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति उसी तरह से व्यवहार करता है। फिर आप यह भी जानते हैं कि यदि आप निर्दिष्ट तरीके या तहजीब से व्यवहार नहीं करते तो इससे अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणत: अगर आप अपने किसी मित्र से रुखे और अशिष्ट ढंग से पेश आते हैं जैसे कि वह आपका दुश्मन हो, तो आपके इस व्यवहार से वैमनष्य की स्थिति पैदा हो जाएगी और हो सकता है आप उसकी मित्रता से हाथ धो बैठें। इसीलिए आप उससे वैसा ही बर्ताव करेंगे जिसकी आप से अपेक्षा की जाती है।

इसलिए हम यह मान सकते हैं कि किसी भी व्यक्ति का कार्य इससे निर्धारित होता है कि वह किससे पारस्परिक-व्यवहार कर रहा है। बदले में यह समाज या सामाजिक प्रणाली विशेष के आचरण नियमों से तय होता है। आचरण के नियम लोगों की आम सहमति पर आधारित होते हैं। और यही वजह है कि इन्हें सही और शिष्ट माना जाता है। इसी आम सहमति को पारसंस मूल्य कहते हैं। इसलिए सामाजिक मूल्य एक समाज के साझे विश्वास हैं। इन मूल्यों को जिस तरह से व्यवहार में लाया जाता है (इन मूल्यों के फलस्वरूप किए जाने वाले कार्य), जिन्हें आदर्श या प्रतिमान कहा जाता है। इस प्रकार सामाजिक प्रतिमान व्यवहार के नियम हैं।

पारसंस कहते हैं कि सामाजिक मूल्य और प्रतिमान प्रत्येक समाज की व्यवस्था और स्थिरता को बनाए रखने की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं। मूल्य और प्रतिमान हर समाज में अलग होते हैं क्योंकि प्रत्येक समाज की जरूरतें अलग होती हैं। मगर हर समाज की मूल्य व्यवस्था में उभय कारक स्थिरता की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक समाज अपने मूल्यों को ईजाद करता है जो उसके इस उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह से करते हैं।

MAADHYAM IAS

6.3.1 मूल्य मतैक्य और स्तरीकरण

किसी समाज की मूल्य व्यवस्था किस तरह उभरती है? इस प्रश्न के उत्तर में पारसंस जोर देकर कहते हैं कि मूल्य किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से जन्म नहीं लेते (जैसा कि आरंभिक काल में राजा या पुजारी के बारे में माना जाता था)। मूल्य साझे विश्वास हैं। इसका यही मतलब है कि समाज के सभी सदस्य यह मान कर चलते हैं कि ये प्रदत्त मूल्य ही सबसे उत्तम युक्ति हैं जिसके जरिए उनके समाज में स्थिरता कायम रखी जा सकती है। इस तरह मूल्य सिर्फ साझे विश्वास ही नहीं हैं, बल्कि वे समाज के सदस्यों की सहमति से उत्पन्न होते हैं। यह सहमति या मतैक्य इसलिए उत्पन्न होता है कि समाज के सदस्य अपने रोजाना के जीवन में व्यवस्था और स्थिरता चाहते हैं। इसलिए व्यवस्था, स्थिरता और सहयोग इस मूल्य मतैक्य पर निर्भर करते हैं। समाज के सदस्यों में यह सहमति होती है कि सभी के लिए क्या अच्छा है।

बॉक्स 6.01

पारसंस तर्क देते हैं कि मूल्यों की उपस्थिति से यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तियों का मूल्यांकन होता है और फिर उन्हें एक तरह के श्रेणी क्रम में रखा जाता है। इसलिए समाज में विभिन्न स्तर क्रम परंपरा पर आधारित होते हैं जो वास्तव में उसकी स्तरीकरण प्रणाली ही होती है। पारसंस कहते हैं कि "स्तरीकरण सामाजिक प्रणाली में साझी मूल्य व्यवस्था के अनुसार इकाइयों का श्रेणीकरण है।" मूल्य व्यवस्था ही समाज में स्तरीकरण को जन्म देती है। स्तरों में भेदों को भी मूल्य व्यवस्था ही सही ठहराती है।

किसी भी समाज में जो लोग सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्यों को अंजाम देते हैं या आचरण करते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। पारसंस के अनुसार इन पारितोषिकों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के मूल्य किसे सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों में साहस और वीरता को अधिक महत्व देने की परंपरा रही है। इसलिए जो भी व्यक्ति इन गुणों में खरा उतरता था उसे बेहतर पुरस्कार और ऊंचा दर्जा दिया जाता था। अन्य समुदायों में व्यापार में प्रवीणता और व्यापार में मुनाफा कमाने की क्षमता को अधिक महत्व दिया जा सकता है। इसलिए इन क्षेत्रों में अपने को सिद्ध करने वाले लोगों को ऊंचा दर्जा दिया जा सकता है। इसी प्रकार सभी सामाजिक प्रणालियों में मूल्य व्यवस्था कुछ गुणों पर ऊंचे पारितोषिक तो अन्य गुणों पर कम पारितोषिक देती है। मगर कोई व्यक्ति अगर इन सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करता है तो उसे दंड दिया जाता है। इसलिए जिस समाज में वीरता को अधिक महत्व दिया जाता है, उसमें कायरता के लक्षण दिखाने वाला व्यक्ति श्रेणीक्रम में अपना स्थान खो बैठता है।

पारसंस के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाज में व्यक्ति की निजी उपलब्धियों को उच्च मान दिया जाता है। इस तरह के समाज में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाता है। इसलिए पारसंस कहते हैं कि इन समाजों, विशेषकर अमेरिका, में मूल्य व्यवस्था "अर्थव्यवस्था के भीतर उत्पादक क्रियाकलापों को प्रमुखता" देती है। इसलिए जो लोग इनमें प्रवीण होते हैं उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। ऐसे समाज में एक श्रमिक में अगर आवश्यक गुण विद्यमान हैं तो वह भी एक सफल उद्योगपति बन सकता है। एक बार वह अपनी मेधा, अपनी योग्यता का सिक्का जमा लेता है तो सामाजिक प्रणाली में उसका रुतबा ऊंचा हो जाता है और उसे प्रतिष्ठा भी खूब मिलती है। इसी प्रकार कंपनियों में जो अधिकारी ओजस्वी और सफल होते हैं उन्हें वेतन और अन्य लाभों के रूप में अधिक पारितोषिक मिलते हैं। इससे स्तरीकरण प्रणाली में उनका स्थान ऊंचा हो जाता है।

बोध प्रश्न 1

1) प्रकार्यवादी सिद्धांत के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....
....
....
....
....
....
....
....

2) मूल्य मतैक्य किसे कहते हैं और सामाजिक स्तरीकरण में इसकी क्या भूमिका है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करते हुए पारसंस ने लोगों में मौजूद भेदों, विषमताओं को महत्ता दी। उनका कहना था कि ये विषमताएं समाज की मूल्य व्यवस्था के संगत होती हैं और इसलिए ये समाज की स्थिरता के लिए अनिवार्य होती हैं। अब चूंकि समाज की मूल्य व्यवस्था असमानताओं को सही ठहराती है इसलिए व्यवहार में निम्न श्रेणी क्रम में विद्यमान लोगों समेत सभी लोग इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, औद्योगिक संगठनों में विस्तृत स्तरीकरण प्रणालियां विद्यमान होती हैं। प्रवीणताओं और अनुभव के आधार पर श्रमिकों में भी भेद पाए जाते हैं। जो श्रमिक अपने कार्य में प्रवीण होते हैं और जिनमें नेतृत्व के गुण मौजूद होते हैं, उन्हें पदोन्नति, वेतन में वृद्धि इत्यादि देकर पुरस्कृत किया जाता है। इसी प्रकार श्रम और प्रबंध दोनों किसी औद्योगिक संगठन को चलाने के लिए हालांकि जरूरी हैं लेकिन प्रबंधक का दर्जा उसमें हमेशा श्रमिकों से ऊंचा रहता है। इन विषमताओं के कारण दोनों में संघर्ष भी होता है मगर चूंकि इन विषमताओं के मूल में मूल्य व्यवस्था का हाथ होता है इसलिए इन मुद्दों पर गहरे संघर्ष के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। एक कट्टरपंथी मजदूर संघ भी यह बात स्वीकार करता है कि प्रबंधन का दर्जा ऊंचा होता है। ऐसा इस कारण होता है मूल्य व्यवस्था इन विषमताओं को स्वीकार करती है। इसलिए पारसंस तर्क देते हैं कि लोग अमूमन इन विषमताओं को स्वीकार करते हैं और इस तरह बड़ा संघर्ष होने से रुक जाता है। सभी लोग चाहे वे श्रमिक हों या प्रबंधन में हों, मानते हैं कि यह व्यवस्था सबसे उत्तम है। अगर इन मूल्यों को चुनौती दी गई तो समाज में स्थिरता उत्पन्न हो जाएगी।

पारसंस के सिद्धांत का सार हम इस प्रकार दे सकते हैं:

- मूल्य मतैक्य सभी समाजों का अनिवार्य अंग है।
- सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में अपरिहार्य है।
- समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने के लिए स्तरीकरण प्रणाली को न्यायोचित, सही और उचित माना जाता है। इससे भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न पारितोषिक मिलता है।
- जिन लोगों को पुरस्कृत किया जाता है और जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया जाता है, उनके बीच संघर्ष हो सकता है। मगर इससे मौजूद प्रणाली को कोई बड़ा खतरा पैदा नहीं होता क्योंकि मूल्य व्यवस्था इस द्वंद्व को रोके रखती है।

MAADHYAMIAS
'way to achieve your dream'

6.4 डेविस और मूर का सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांत को किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर ने और विकसित किया। ये दोनों अमेरिका के ख्यातनाम समाजशास्त्री हैं और टैलकॉट पारसंस के शिष्य रह चुके हैं। इन दोनों समाजशास्त्रियों ने अपने विचार एक लेख में विस्तार से प्रस्तुत किए थे, जिसका शीर्षक था: "सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रैटिफिकेशन" (स्तरीकरण के कुछ सिद्धांत)। यह लेख जितना लोकप्रिय हुआ इसकी आलोचना भी उतनी ही हुई। जहां प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों ने उनके विचारों का समर्थन किया तो वहीं अन्य समाजशास्त्रियों ने उनकी कटु आलोचना की। उनके विचारों को असमानता का प्रकार्यवादी सिद्धांत का नाम भी दिया जाता है। आइए पहले हम उनकी प्रस्थापनाओं पर चर्चा करेंगे और उसके बाद हम इनकी आलोचना पर दृष्टि डालेंगे।

पारसंस ने समाज में स्तरीकरण की जरूरत पर जोर दिया था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हर समाज में यह स्तरीकरण अपरिहार्य होता है। डेविस और मूर ने इस प्रस्थापना को विस्तार दिया और यह जानने का प्रयास किया कि समाज में स्तरीकरण किस तरह प्रभावी होता है। उन्होंने सबसे बड़ा प्रश्न यह रखा कि कुछ स्थानों की प्रतिष्ठा अलग-अलग क्यों होती है? व्यक्तियों को ये स्थान कैसे मिलते हैं?

राहगीरों के जूतों की मरम्मत करता हुआ एक मोची
साभार : टी. कपूर

6.4.1 समाज की प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं

MAADHYAM IAS

दोनों लेखक पारसंस के इस विचार का समर्थन करते हैं कि समाजों के वजूद, उनके अस्तित्व का आधार व्यवस्था और स्थिरता हैं। हर समाज की अपनी प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं होती हैं जो उन्हें जीवित रहने और सुचारु रूप से चलने में सहायक होती हैं। आइए, इस बात को आगे बढ़ाते हैं। समाज व्यक्तियों का समूह, उनका जमावड़ा भर नहीं होता। इन व्यक्तियों को निर्दिष्ट कार्य पूरे करने होते हैं ताकि समाज की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। इसलिए समाज में अनेक क्रियाकलाप चलते हैं। समाज को श्रमिकों, उद्योगपतियों, प्रबंधकों, पुलिसकर्मियों, शिक्षकों, विद्यार्थियों, दस्तकारों इत्यादि की जरूरत पड़ती है। विशिष्ट प्रवीणता रखने वाले विभिन्न लोग इन अलग-अलग कार्यों को अंजाम देते हैं। इसलिए किसी भी समाज की पहली प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा इन भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का प्रभावशाली ढंग से वितरण है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि सही जगह सही लोग स्थित हों।

उपरोक्त प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा के चार पहलू हैं। पहला, समाज में सारी भूमिकाएं पूरी की जानी होती हैं। सभी समाजों में अलग-अलग किस्म के पेशे, व्यवसाय चलते हैं। उनके अस्तित्व के लिए ये व्यवसाय अनिवार्य हैं। इसलिए इन व्यवसायों को भी पूरा किया जाना उतना ही जरूरी है। मगर वहीं इन व्यवसायों का किया जाना ही पर्याप्त नहीं है। अगर निश्चित कार्यों के लिए ऐसे गलत लोग चुन लिए जाते हैं जिनमें इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए अनिवार्य प्रवीणता नहीं है तो इससे समाज में अस्थिरता उत्पन्न होगी। विशेषकर तब अगर ये स्थान महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, बिजली का उत्पादन करने वाली कोई कंपनी अगर एक ऐसे विख्यात उपन्यासकार को नौकरी पर रख लेती है जिसे विद्युत उत्पादन की कोई जानकारी नहीं है, तो इससे कंपनी का काम प्रभावित होगा। इससे कंपनी में सिर्फ अस्थिरता ही नहीं आएगी बल्कि बिजली की आपूर्ति में भी अस्थिरता आ जाएगी। इसलिए प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इन स्थानों को सबसे योग्य और सक्षम व्यक्तियों से भरना चाहिए। तीसरा, निर्दिष्ट कार्य के लिए सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति ही चुने जाएं। इसके लिए जरूरी है कि उन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाए। हर कार्य के लिए सबसे उत्तम व्यक्ति चुना जाए, इसे सुनिश्चित करने का सबसे प्रभावशाली उपाय प्रशिक्षण है जैसा कि हमने पीछे उदाहरण दिया है। अगर उस उपन्यासकार को विद्युत उत्पादन कंपनी का सर्वेसर्वा बनाने से पहले अगर उसे इस पद की जरूरतों, जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण मिला हो तो उसे इस पद के लिए सबसे उत्तम व्यक्ति माना जाएगा। अंततः भूमिकाओं का

निर्वाह कर्तव्यनिष्ठा से होना चाहिए। भूमिकाओं के प्रभावी निर्वाह को सुनिश्चित करने के लिए यह अत्यावश्यक है। कोई व्यक्ति प्रशिक्षित, दक्ष और अपने कार्य में श्रेष्ठ हो सकता है, मगर वह अपना कार्य पूरे समर्पण और निष्ठा से नहीं करता तो इससे पूरी व्यवस्था को क्षति पहुंचेगी। इसलिए समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वाक्षेपाओं की पूर्ति के लिए ये चारों कारक अनिवार्य हैं।

6.4.2 स्तरीकरण के प्रकार्य

डेविस और मूर कहते हैं कि विभिन्न पदों पर सबसे उत्तम व्यक्ति चुने जाएं और वे अच्छा काम करें, यह सुनिश्चित करने के लिए सभी समाजों को किसी न किसी उपाय की जरूरत पड़ती है। उनके अनुसार यह सुनिश्चित करने के सबसे कारगर उपाय सामाजिक स्तरीकरण है। यह प्रणाली इसलिए प्रभावी है कि यह समाज में अलग-अलग पदों या स्थानों के लिए असमान पारितोषिक और विशेषाधिकार देती है। सभी लोगों को अगर समान पुरस्कार दिया जाए तो उनमें कठोर श्रम करने की कोई आकांक्षा नहीं रहेगी। इसके अलावा लोगों में जिम्मेदारी भरे पदों या चुनौतीपूर्ण कार्यों से बचने की प्रवृत्ति भी हो सकती है। उन्हें यह मालूम है कि वे कितना ही उत्कृष्ट कार्य करें और कैसा ही पद या स्थान उन्हें हासिल हो, उन्हें पारितोषिक तो समान ही मिलना है। इसलिए प्रणाली को युचारु रूप से चलाने के लिए स्तरीकरण अनिवार्य है।

अभ्यास 2

समाज में स्तरीकरण की जरूरत क्यों है? अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से इस विषय पर चर्चा कीजिए और आपको जो जानकारी मिलती है उसे नोटबुक में लिख लीजिए।

असमान पारितोषिक की इस व्यवस्था के दोहरे लाभ हैं। पहला लाभ यह है कि इससे लोग कुछ खास पदों या स्थानों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं। पदों से जब अधिक पारितोषिक मिल रहा हो तो इन्हें पाने के लिए लोग अधिक प्रयत्न और परिश्रम करते हैं ताकि उनमें पर्याप्त योग्यता आ जाए। उदाहरण के लिए अगर लेक्चरर का पद अन्य पेशों से अधिक पारितोषिक देता हो तो मेधावी छात्र लेक्चरर बनने के लिए अनिवार्य अर्हताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करेंगे। इससे समाज को अच्छे शिक्षक मिलेंगे। दूसरा, ये पारितोषिक पदों के भर जाने के बाद भी असमान रहने चाहिए ताकि जिन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया गया है उन्हें अपने कार्य को सुधारने की प्रेरणा मिले। लेक्चरर को अगर उनके अध्ययन और शोध कार्य के लिए पदोन्नति और वेतन वृद्धि के जरिए पुरस्कृत किया जाता है तो वे अपने कर्तव्य का निर्वाह निश्चय ही बेहतर ढंग से करते रहेंगे क्योंकि उनमें अधिक पारितोषिक पाने की लालसा रहेगी। असमान पारितोषिक पर आधारित स्तरीकरण प्रणाली इसी तरीके से समाज के लिए लाभकारी होती है।

MAADHYAM IAS

डेविस और मूर के अनुसार स्तरीकरण की यह प्रणाली स्पर्धा पर आधारित समाज और प्रदत्त पर आधारित पारंपरिक समाज दोनों के लिए सही है। आधुनिक समाज में लोग अपनी प्रवीणता और शैक्षिक योग्यताओं के अनुसार पदों पर विराजते हैं। जो लोग अधिक योग्य और शिक्षित होते हैं उन्हें बेहतर पारितोषिक मिलते हैं और वे प्रतिष्ठित पदों पर आसीन होते हैं। पारंपरिक समाज में पद जन्म के जरिए प्रदत्त होते है। पारंपरिक रूप से जातियों में बंटे भारतीय समाज में लोगों को अपने पद या स्थान योग्यता के कारण नहीं बल्कि जन्म से मिले रुतबे या दर्जे से मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, एक मजदूर का बेटा मजदूर ही बनेगा भले ही उसमें अन्य प्रकार के ऊंचे काम करने की बुद्धिमत्ता हो। इसी तरह एक जमींदार का बेटा जमींदार ही बनेगा भले ही वह इस कार्य के लिए पूर्णतः अक्षम क्यों न हो। इस तरह की व्यवस्था में असमान पारितोषिक का चलन इसकी कार्यकुशलता को उन्नत नहीं कर सकता। मगर डेविस-मूर तर्क देते हैं कि इस तरह के पारंपरिक समाज में पदों से जुड़े कर्तव्यों के निर्वाह पर जोर दिया जाता है। इसलिए एक मजदूर का बेटा मजदूर ही रहेगा पर अगर वह अपने कर्तव्य, अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करता है तो उसे दूसरे तरीकों से पुरस्कृत किया जाएगा।

बोध प्रश्न 2

1) डेविस और मूर ने क्या-क्या प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं बताई हैं?

....

....

....

....

....

2) नीचे दिए गए कथनों में बताइए कि कौन गलत है कौन सही:

i) समाज में सभी पदों या स्थानों का समान प्रकार्यात्मक महत्व है

ii) गिने चुने लोग ही प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण भूमिकाओं से निर्वाह कर पाते हैं।

iii) प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण भूमिकाओं के निर्वाह के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती।

6.4.3 डेविस और मूर की बुनियादी प्रस्थापनाएं

अभी तक हमने आपको समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकता के रूप में सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका के बारे में बताया है। आधुनिक समाज में स्थिति/हैसियत (स्टैटस) का आधार व्यक्ति की उपलब्धि होती है न कि प्रदत्त। दूसरे शब्दों में व्यक्ति ही हैसियत या उसका रुतबा उसकी योग्यता से तय होता है न कि उसके जन्म से। ऐसा समाज बड़ा ही गतिशील और परिवर्तनकारी है और अपनी प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाओं को पूरा करने में सक्षम रहता है। डेविस और मूर के अनुसार इसके लिए कुछ प्रस्थापनाएं हर समाज में समान रूप से विद्यमान होती हैं:

1) प्रत्येक समाज में कुछ पद या स्थान कार्य की दृष्टि से अन्य से अधिक महत्वपूर्ण होते है। इन पदों में अधिक पारितोषिक और प्रतिष्ठा मिलती है। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासनिक सेवा को अन्य नौकरियों से अधिक प्रतिष्ठा हासिल है।

2) इन भूमिकाओं के निर्वाह के लिए सिर्फ गिने-चुने लोगों में अनिवार्य योग्यता या क्षमता होती है। इसका उदाहरण हम आइएएस (भारतीय प्रशासनिक सेवा) परीक्षा में देख सकते हैं, जिसमें बैठते तो हजारों लोग हैं लेकिन कुछ ही प्रत्याशी सफल हो पाते हैं।

3) इन पदों या स्थानों के लिए अधिकतर एक लंबे और गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। जो लोग इन पदों को अर्जित करते हैं उन्हें इसके लिए बड़ा त्याग करना पड़ता है। हमारे समाज में आयुर्विज्ञान, इंजिनीयिरिंग, चार्टर्ड एकांटेसी जैसे कुछ विशेष पेशों में गहन और खर्चीले प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। तिस पर इस प्रशिक्षण में कई वर्ष लगते हैं। डेविस और मूर इसे त्याग की संज्ञा देते हैं और इसलिए ऐसे अभ्यार्थियों को अधिक आर्थिक पारितोषिक और समाज में अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

उपरोक्त प्रस्थापनाएं इस वास्तविकता पर आधारित हैं कि आधुनिक समाजों में उपलब्धि के मूल्यों ने प्रदत्तकारी प्रतिमानों की जगह ले ली है। इन समाजों में व्यक्ति के जन्म से ज्यादा उसकी योग्यता को महत्व दिया जाता है। व्यवसाय क्रम परंपराबद्ध होते हैं और जो लोग शीर्ष पर आसीन रहते हैं उन्हें निचले स्तर के लोगों से अधिक पारितोषिक और प्रतिष्ठा मिलती है। उच्च पारितोषिक की इस व्यवस्था के साथ-साथ यह वास्तविकता लोगों को अपने दायित्व या कार्यों को उत्तम ढंग से पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहने के लिए प्रेरित करती है कि हर कोई इन पारितोषिकों के लिए स्पर्धा कर सकता है। परंतु इन पारितोषिकों को सिर्फ वही लोग पा सकते हैं जो सुपात्र हैं, सुयोग्य और सक्षम हैं। मगर इस तरह की प्रणाली के कायम रहने के लिए सबसे पहले विभिन्न व्यवसायों की महत्ता को लेकर सामाजिक सहमति अनिवार्य है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि श्रेष्ठत के क्रम में व्यवसायों का श्रेणीकरण समाज के मूल्य मतैक्य पर आधारित होता है।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 6.02

डेविस और मूर के अनुसार यह तय करने में कठिनाई आ सकती है कि कार्य की दृष्टि से कौन से पद अन्य पदों से अधिक महत्पपूर्ण हैं। संभव है कि जिस पद के लिए अत्याधिक पारितोषिक दिया जा रहा हो जरूरी नहीं कि प्रकार्यात्मक रूप से वह महत्वपूर्ण हो। असल में यही इस सिद्धांत की एक बड़ी कमजोरी है जिसे इस सिद्धांत के आलोचकों ने उठाया है (इस बारे में हम आगे बताएंगे)। डेविस और मूर के अनुसार कोई उच्च पद कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है या नहीं, इसका मूल्यांकन दो तरह से किया जा सकता है। पहला, इसका मूल्यांकन हम यह देखकर कर सकते हैं कि कार्य की दृष्टि से अमुक पद किस सीमा तक विशिष्ट और अनूठा है। इसका यह अर्थ होगा कि इस तरह का कार्य कोई अन्य पद नहीं कर सकता।

यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी कारखाने का इंजीनियर उसके साथ काम करने वाले दक्ष श्रमिक से भिन्न नहीं होता। इसलिए इंजीनियर को मिलने वाले अधिक पारितोषिक का कोई औचित्य नहीं। इसके प्रत्युत्तर में डेविस और मूर तर्क देते हैं कि कार्य की दृष्टि से इंजीनियर अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उसमें एक दक्ष श्रमिक की प्रवीणताएं होती हैं। इसके अलावा उसमें वे प्रवीणताएं भी होती हैं जो एक दक्ष श्रमिक में नहीं होतीं। इसलिए एक इंजीनियर एक दक्ष कामगार तो हो सकता है मगर एक दक्ष श्रमिक इंजीनियर नहीं हो सकता। दूसरा उपाय इसका मूल्यांकन करना है कि "जिस पद (या स्थान) की बात की जा रही है उस पर अन्य पद (स्थान) किस सीमा तक आश्रित हैं।" एक इंजीनियर मजदूरों से इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उन्हें अपने काम के लिए उसके निर्देशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

संक्षेप में डेविस और मूर ने सामाजिक असमानता के कारणों की व्याख्या देकर पारसंस के विचारों को आगे बढ़ाया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि असमान पारितोषिक और प्रतिष्ठा पर आधारित स्तरीकरण प्रणाली समाज में व्यवस्था बनाए रखने और उसकी उन्नति सुनिश्चित करने के लिए जरूरी है।

6.5 डेविड और मूर के सिद्धांत की समालोचना

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

ऊपर से डेविस और मूर का सिद्धांत तर्कसंगत और यथार्थवादी लगता है। आखिर सभी समाज सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता में विश्वास करते हैं। मगर यह उस समाज के ठीक उलट है जिसमें कोई गतिशीलता नजर नहीं आती क्योंकि लोगों को भूमिकाएं उनके जन्म के अनुसार निर्दिष्ट की जाती हैं। भारत का संविधान यूं सभी नागरिकों को समान अधिकार देता है। यह जाति, नस्ल, धर्म और सामाजिक-लिंग (जेंडर) के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को अवैध करार देता है। यह आधुनिक समाजों की तरह है जिनमें व्यक्ति की योग्यता को उसके जन्म से अधिक महत्व दिया जाता है। इसके मद्देनजर डेविस-मूर सिद्धांत यथार्थवादी दिखाई देता है क्योंकि यह समाज में व्याप्त असानताओं की व्याख्या करता है मगर इस सिद्धांत की तरह-तरह से आलोचना हुई है। असल में जब 1945 में *अमेरिकन जरनल ऑफ सोशियोलॉजी* में इसका प्रकाशन हुआ, तो इसने समाजशास्त्रियों को काफी आकर्षित किसा। इस दौर के अनेक विख्यात समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धांत के समर्थन या आलोचना में लेख लिखे। इस पत्रिका ने एक विशेष अंक निकाला जिसमें उसने इन लेखों को प्रकाशित किया। ऐसा माना जाता है कि इस विशेषांक में प्रकाशित सबसे आलोचनात्मक लेखों में सबसे गहरा लेख मेल्विन ट्यूमिन का था। अब हम उन बिंदुओं पर चर्चा करेंगे जो ट्यूमिन अपनी इस मीमांसा में उठाए थे।

ट्यूमिन ने डेविस-मूर सिद्धांत की आलोचना इस बात से शुरू की कि कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण पदों को काफी ज्यादा पुरस्कृत किया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पारितोषिक असमान होते हैं क्योंकि कुछ को दूसरों से अधिक पारितोषिक मिलता है। मगर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि कार्य की दृष्टि से पद अधिक महत्वपूर्ण रहते हैं। ऐसा संभव है कि किसी कारखाने में कुछ मजदूर उत्पादन को बनाए रखने के लिए प्रबंधकों को उनसे बेहतर पारितोषिक मिलता है। ऐसी स्थिति में अगर मजदूरों को हटा दिया जाता है तो इससे उत्पादन में अवश्य ही रुकावट आएगी मगर कुछ प्रबंधकों को हटा दिया जाता है तो संभव है कि इससे उत्पादन प्रभावित ही न हो। इसलिए किसी पद की प्रकार्यात्मक महत्ता कैसे

तय हो? समाज को डॉक्टरों, वकीलों, श्रमिकों और किसानों की जरूरत पड़ती है। ये सभी स्थान या पद समाज के अस्तित्व के लिए प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण हैं। डेविस और मूर ने इन पदों की प्रकार्यात्मक महत्ता के मूल्यांकन का कोई उपाय नहीं बताया है। असल में कुछ समाजशास्त्रियों का तर्क है कि पद की महत्ता निजी मत से जुड़ी है और यह वस्तुनिष्ठ प्रतिमान नहीं हो सकती।

ट्यूमिन तर्क देते हैं कि लोगों को दिए जाने वाले असमान पारितोषिक जरूरी नहीं कि पदों की प्रकार्यात्मक महत्ता के अनुसार हों। पदों के महत्व के निर्धारण में सत्ताधिकार या शक्ति की भूमिका और इससे ऊंचे पारितोषिक हथिया लेना भी पारितोषिक को तय करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। उदाहरण के लिए, भारत में संगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों को असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों से बेहतर वेतन और सामाजिक सुरक्षा मिल रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि संगठित क्षेत्र के कर्मचारी मजदूर संघों में संगठित हैं और उनमें असंगठित क्षेत्र के कर्मचारियों के मुकाबले सौदेबाजी की क्षमता अधिक होती है। असंगठित क्षेत्र के मजदूर संघों में संगठित नहीं होते और उन्हें कोई सुरक्षा हासिल नहीं होती। दोनों क्षेत्रों में काम एक ही किस्म का होता है लेकिन पारितोषिक और प्रतिष्ठा संगठित क्षेत्र में अधिक है। इसलिए उच्च पारितोषिक के निर्धारण में प्रकार्यात्मक महत्व से अधिक भूमिका सत्ताधिकार या शक्ति की होती है।

ट्यूमिन के अनुसार उच्च पारितोषिक को इस आधार पर उचित ठहराना सही नहीं है कि इन पदों के लिए भारी प्रशिक्षण शामिल होता है। वे कहते हैं कि प्रशिक्षण में जरूरी नहीं कि व्यक्ति को त्याग करना पड़ता हो क्योंकि इससे व्यक्ति नई प्रवीणताएं और ज्ञान अर्जित करके लाभान्वित होता है। इसके अलावा ऐसे मामलों में मिलने वाले पारितोषिक प्रशिक्षण के दौरान किए जाने वाले त्याग से कहीं ज्यादा होते हैं। ट्यूमिन इस प्रस्थापना को भी सही नहीं मानते कि असमान पारितोषिक लोगों को अपने काम को सुधारने के लिए प्रेरित करते हैं। यथार्थ यह है कि इस प्रेरणा से पहले कुछ अवरोध आते हैं। स्तरीकरण प्रणाली मेधावी लोगों को समान बेहतर अवसर उपलब्ध नहीं होने देती। हर समाज में सामाजिक भेदभाव किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है जो एक अवरोध का काम करता है। फिर भारतीय समाज तो भारी विषमताओं से भरा है जिसमें गरीब बच्चे के लिए अच्छी शिक्षा पाना इतना कठिन है कि वह अपनी स्थिति सुधारने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यही स्थिति अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश की भी है, जहां काले और अन्य अश्वेत लोगों (इन लोगों को वहां "कलर्ड" कहा जाता है) की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। इसलिए वे बेहतर पदों/स्थानों के लिए स्पर्धा नहीं कर पाते हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

असमान पारितोषिक प्रणाली में यह संभावना भी बनी रहती है कि जो लोग ऊंचे पारितोषिक पा रहे हैं उनका यही प्रयास रहेगा कि उनके बच्चों को भी वही पारितोषिक मिले। ये लोग अन्य लोगों को उन स्थानों/पदों में आने से रोकने का प्रयास भी करेंगे जिनमें उनके बच्चे आसीन हैं। उदाहरण के लिए एक चिकित्सक यही चाहेगा कि उसका बच्चा उसका पेशा ही अपनाए। वह सिर्फ यही प्रयास नहीं करेगा कि उसका बच्चा इस पेशे में आ जाए बल्कि वह अन्य बच्चों को इस पेशे में आने से रोकने का प्रयास भी करेगा। टी.बी. बोटोमोर ने अपनी पुस्तक *एलीट्स ऐंड सोसायटीज* में बताया है कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे विकसित देशों में भी प्रशासनिक सेवाओं में अधिकांशत: प्रशासनिक अधिकारियों के बच्चे ही हैं।

यह सच है कि जो लोग सामाजिक क्रम परंपरा में सबसे निचले क्रम में हैं उनके पास अपने ज्ञान और प्रवीणताओं को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक साधन सुलभ नहीं होते जिससे कि वे बेहतर पद पाने के लिए सुयोग्य बन सकें। ट्यूमिन कहते हैं कि असमान पारितोषिकों के जरिए प्रेरणा एक ऐसी व्यवस्था में संभव हो सकती है "जिसमें सभी संभावित योग्य व्यक्तियों को प्रवेश और प्रशिक्षण सही मायने में समान रूप से सुलभ हो। तभी विभेदी पारितोषिकों को हम प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण ठहराने की सोच सकते हैं।" लेकिन अधिकांश समाजों में ऐसा विरले ही संभव हो पाता है। इसलिए ट्यूमिन जोर देकर कहते हैं कि "स्तरीकरण प्रणाली स्पष्टतया अवसर की पूर्ण समानता के विकास के प्रतिकूल है।" ट्यूमिन तर्क देते हैं कि जो लोग विभेदी पदों/स्थानों से लाभान्वित हो रहे हैं वे निश्चय ही प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण पदों को कुटिलता से हथिया सकते हैं। इसलिए ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवाद सिद्धांत यथार्थवादी नहीं है।

6.6 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में है। हर समाज की अपनी एक क्रम परंपरा है जिसमें सभी व्यक्तियों का अपना-अपना स्थान नियत है। टैलकॉट पारसंस, किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर जैसे सामाजिक संरचना प्रकार्यात्मकतावादी सिद्धांतकारों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह जानने की थी कि सामाजिक क्रम परंपरा में व्यक्ति किस तरह अलग-अलग स्थान पाते हैं और हमें इन भेदों को आखिर क्यों जरूरत पड़ती है। इन सिद्धांतकारों का यह निष्कर्ष था कि सभी समाजों में स्तरीकरण सिर्फ अपरिहार्य ही नहीं है। बल्कि यह उनके लिए अनिवार्य इसलिए भी है कि यह समाज में स्थायित्व और व्यवस्था बनाए रखता है। टैलकॉट पारसंस ने स्पष्ट किया है कि समाज के सभी सदस्य इन असमानताओं को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वे यह समझते हैं कि समाज में व्यवस्था और स्थिरता को कायम रखने का यही एकमात्र तरीका है। इसीलिए सामाजिक स्तरीकरण के पैटर्न और सामाजिक असमानता समाज के मूल्यों का हिस्सा बने। इसलिए उन्होंने सामाजिक प्रणाली में स्तरीकरण के स्वरूप को तय करने में मूल्य मतैक्य की भूमिका पर विशेष बल दिया।

डेविस और मूर ने पारसंस के तर्क को आगे बढ़ाया और यह जानने का प्रयत्न किया कि कुछ स्थानों की सामाजिक प्रतिष्ठा अलग-अलग क्यों होती है। उन्होंने यह पाया कि समाज के लिए जो स्थान अधिक महत्वपूर्ण हैं उन्हें उच्च पारितोषिक और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उन्होंने इसके कारण बताए।

मेल्विन ट्यूमिन ने डेविस और मूर की प्रस्थापनाओं की जो समालोचना की उससे स्पष्ट होता है कि प्रकार्यात्मक महत्ता ही यह निर्धारित करने की एकमात्र कसौटी नहीं है कि कौन-सा दर्जा उच्च पारितोषिक देगा।

इसके अलावा अन्य कारक भी हैं जैसे सत्ताधिकार और जन्म पर आधारित हैसियत/स्थिति ('स्टैटस')। यहां तक कि खुले समाज भी इन प्रतिमानों से प्रभावित होते हैं। ट्यूमिन इस सिद्धांत के सभी तर्कों को चुनौती देते हैं और उनका मानना है कि स्तरीकरण समाज के सदस्यों के लिए वैमनष्यकारी हो सकता है।

MAADHYAM IAS

6.7 शब्दावली

मूल्य मतैक्य : सामाजिक प्रणाली के सभी सदस्यों में यह सहमति कि सबके लिए क्या स्वीकार्य होगा।

प्रकार्यात्मक : ऐसे मूल्य जो समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने और पूर्वाक्षेपाएं इस प्रकार समाज के अस्तित्व के लिए जरूरी हैं।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आर. बेंडिक्स और एस.एम. लिप्सेट (संपा.) *क्लास, स्टैटस ऐंड पावर*, रुटलेज ऐंड केगन पॉल, 1967

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रकार्यात्मक सिद्धांत यह बताता है कि समाज किस तरह से जीवित रह पाता है। प्रकार्यवादी समाज को एक जीव के रूप में देखते हैं। इस जीव के अनेक अंग हैं। इनमें हर अंग अलग होता है मगर सभी एक समेकित इकाई के रूप में काम करते हैं और उसे स्थिरता प्रदान करते हैं।

2) मूल्य असल में साझे विश्वास हैं। मूल्य मतैक्य इसलिए उभरता है क्योंकि समाज के सभी सदस्य अपने दैनिक जीवन में स्थिरता और व्यवस्था चाहते हैं। मूल्य मतैक्य समाज में व्यवस्था, स्थिरता और सहकार/सहयोग का आधार होता है। यही मूल्य व्यवस्था समाज में श्रेणीकरण और स्तरीकरण को जन्म देती है।

बोध प्रश्न 2

1) किसी भी समाज की सबसे पहली जरूरत कारगर ढंग से विभिन्न भूमिकाओं का वितरण है। इसके चार पहलू हैं:

   i) समाज में सभी भूमिकाएं पूरी की जानी चाहिए।

   ii) इन स्थानों को सबसे योग्य और सक्षम व्यक्तियों से भरना चाहिए।

   iii) किसी कार्य की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण जरूरी है।

   iv) भूमिकाओं को सचेतन होकर किया जाना चाहिए।

2) i) गलत

   ii) सही

   iii) गलत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 7 सामाजिक वर्गों पर कोजर और डाहरेंडॉर्फ की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 एल. कोजर और राल्फ डाहरेंडॉर्फ
    7.2.1 एल. कोजर
    7.2.2 द्वंद्व का प्रकार्य
    7.2.3 द्वंद्व और तिरस्कार
7.3 वर्ग द्वंद्व
7.4 राल्फ डाहरेंडॉर्फ
    7.4.1 पूंजीवाद और औद्योगिक समाज
    7.4.2 पूंजी संग्रह का वियोजन
    7.4.3 श्रमशक्ति का वियोजन
    7.4.4 सामाजिक गतिशीलता और समतावादी सिद्धांत
7.5 वर्ग संघर्ष का डाहरेंडॉर्फ सिद्धांत
    7.5.1 समेकन और बाध्यता के सिद्धांत की बुनियादी मान्यताएं
    7.5.2 डाहरेंडॉर्फ का सिद्धांत
    7.5.3 सामाजिक वर्ग और डाहरेंडॉफ का नजरिया
    7.5.4 सामाजिक ढांचे के लिए द्वंद्व के परिणाम
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- द्वंद्व के प्रकार्यों के बारे में जान जाएंगे;
- डाहरेंडॉर्फ का पूंजीवादी सिद्धांत क्या है, यह समझ जाएंगे;
- मार्क्स और डाहरेंडॉर्फ ने पूंजीवाद को किस नजरिए से देखा, दोनों के नजरिए में अंतर को जान पाएंगे; और
- कोजर और डाहरेंडॉर्फ के सिद्धांतों की आपस में तुलना कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय चिंतन पर प्रकार्यवाद और द्वंद्वात्मक सिद्धांत जैसे दो विरोधी सैद्धांतिक दृष्टिकोण हावी रहे हैं। अपने कार्यक्षेत्र और अपनी पृष्ठभूमि/वैचारिक मान्यताओं में इन दोनों सिद्धांतों को परस्पर अनन्य माना गया है। प्रकार्यवाद को एक रूढ़िवादी और यथास्थितिवादी सिद्धांत के रूप में लिया जाता है जबकि द्वंद्वात्मक सिद्धांत को एक को एक आमूल परिवर्तनवादी और प्रगतिशील सिद्धांत के रूप में देखा जाता है। इन दोनों में कौन सबसे उपयुक्त है इस पर बहस हमें दोनों में एक सहमति बिंदु की ओर ले जाती है। कोजर और डाहरेंडॉर्फ के कार्य से हमें यही पता चलता है। खासकर जब दोनों सामाजिक स्तरीकरण का विश्लेषण करते हैं। दोनों मार्क्स को ही मुख्य आधार मानकर चलते हैं। मगर वहीं दोनों उनसे अलग हटकर चलते हैं। यहां हम यह बता दें कि कोजर ने अपने अध्ययन का विषय सामूहिक द्वंद्व को बनाया था जिसमें वर्ग द्वंद्व एक असंगति है, वहीं डाहरेंडॉर्फ के अध्ययन का केन्द्र वर्ग और वर्ग द्वंद्व हैं।

7.2 एल. कोजर और राल्फ डाहरेंडॉर्फ

आइए, हम इन दोनों चिंतकों के विचारों की जांच-पड़ताल करें।

7.2.1 कोजर

प्रकार्यवाद और खासकर स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांतों की लोकप्रियता समाजशास्त्रियों में बढ़ने के साथ-साथ कुछ विद्वानों ने इनकी कमियों की ओर इशारा करना शुरू कर दिया। सबसे कड़ी आलोचना इस मान्यता की हुई कि सामाजिक व्यवस्था की रचना उसके मूल्यों की व्यवस्था के इर्दगिर्द बनी व्यापक सहमति की नींव पर होती है। इस मॉडल का आधार विविध उप-संरचनाओं की समरस क्रिया है।

मगर अनुभव के स्तर पर यह स्पष्ट हो गया था कि समूहों के बीच और उनके अंदर विभिन्न किस्म और आवेग के द्वंद्व निरंतर होते रहते हैं। इस विसंगति को आप क्या मानेंगे? क्या द्वंद्व सिर्फ एक विपथन है? क्या यह विचलन की एक अस्थायी घटना है जिसे सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान सामाजिक नियंत्रण की अंत:निर्मित प्रक्रिया संभाल सकती है? क्या द्वंद्व भी मतैक्य की तरह ही व्यवस्था का एक विशिष्ट लक्षण है? अगर यह बात सही है तो दोनों के बीच क्या संबंध है? कोजर का मुख्य सरोकार यही प्रश्न था।

कोजर को जॉर्ज सिमेल के प्रवर्तनकारी कार्य से प्रेरणा मिली। उन्होंने द्वंद्व को एक सकारात्मक, प्रकार्यात्मक भूमिका के रूप में देखा। कोजर अपना तर्क सिमेल के इस तर्क से शुरू करते हैं कि द्वंद्व या संघर्ष दो कार्यों को अंजाम देता है: पहला, यह व्यवस्था के भीतर समूहों की पहचान को स्थापित करता है। यह सामूहिक चेतना को मजबूत करता है और एक समूह में यह जागरुकता लाता है कि वह उन 'दूसरे' समूहों से अलग है जिनका वह विरोध कर रहा है। उनका यह तर्क पारसंस के तर्क से काफी मिलता है जिसे वह सीमा का पालन कहते हैं। दूसरा है, 'परस्पर घृणा', जो समूहों के बीच में संतुलन बनाए रखती है और इस प्रकार यह एक समष्टि के रूप में सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक स्थिरता को बनाए रखती है। 'परस्पर घृणा' शब्दावली का प्रयोग सिमेल ने किया था।

MAADHYAM IAS

द्वंद्व के ये दोनों प्रकार्य हालांकि सामूहिक द्वंद्व की सभी स्थितियों में लागू होते हैं लेकिन स्तरित समूहों यानी जातियों और वर्गों के बीच होने वाले द्वंद्व को समझने के लिए ये सबसे उपयुक्त हैं।

7.2.2 द्वंद्व के प्रकार्य

मार्क्स के वर्ग सिद्धांत में सामूहिक पहचान को स्थापित करने और उसे बनाए रखने में द्वंद्व की भूमिका, उसका कार्य अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स के अनुसार वर्गों का गठन उनके अन्य वर्ग के साथ होने वाले द्वंद्व के जरिए ही होता है। व्यक्ति अन्य लोगों के साथ साझे वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। मगर हो सकता है कि इसके बावजूद वे अपने सामूहिक हितों के बारे से जागरूक नहीं हों। वे अपने आप में एक वर्ग जरूर होते हैं। मगर अपने लिए वे एक वर्ग का स्वरूप तभी धारण कर पाते हैं जब दूसरे वर्ग के विरुद्ध एक समान लड़ाई लड़ें।

आइए, अब हम जाति व्यवस्था और इसमें द्वंद्व के दूसरे कार्य, 'परस्पर घृणा' के बारे में पता करते हैं। कोजर का मानना है कि जातियों के बीच विद्यमान द्वंद्व सिर्फ विभिन्न जातियों की विशिष्टता और पृथकता को ही स्थापित नहीं करता बल्कि भारत के सामाजिक ढांचे की स्थिरता को भी सुनिश्चित करता है।

यह प्रतिद्वंद्वी जातियों के दावों के संतुलन से फलस्वरूप संभव होता है। एक ही जाति के लोग एकता के सूत्र में बंध जाते हैं जो अन्य जातियों के सदस्यों के प्रति उनके समान वैमनष्य और तिरस्कार से उत्पन्न होती है। सामाजिक प्रणाली में पद/स्थान की क्रम परंपरा समाज में उपसमूहों या जातियों के एक-दूसरे के तिरस्कार से बनी रहती है।

7.2.3 द्वंद्व और तिरस्कार

अभी तक हमने स्तरों और जातियों के आपस में द्वंद्व और तिस्कार और उनसे उत्पन्न होने वाले प्रकार्यात्मक परिणामों पर चर्चा की है। इस तरह के दो प्रकार्य होते हैं। पहला, अन्य समूहों के साथ होने वाला संघर्ष या द्वंद्व समूह के भीतर एकीकरण और एकात्मता की भावना लाता है। दूसरा, समूची व्यवस्था को समूहों में एक दूसरे के प्रति विद्यमान घृणा या द्वेष का संतुलन बनाए रखता है।

अभ्यास 1

अध्ययन केन्द्र में अपने सहपाठियों के साथ द्वंद्व के प्रश्न पर विचार-विमर्श करें। क्या द्वंद्व का कोई कार्य हो सकता है? नोटबुक में अपने विचार लिखिए।

चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले यहां हम एक महत्वपूर्ण तात आपको बता दें। कभी-कभी बाहरी समूह वैमनष्य और तिरस्कार का लक्ष्य बनने के बजाए अन्य समूह के लिए सकारात्मक संदर्भ समूह का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आगे चलकर सदस्य बनने के उद्देश्य से बाहरी समूह की नकल, उसका अनुकरण किया जाता है। मेर्टन इसे प्रत्याशात्मक समाजीकरण का नाम देते हैं। मगर कोजर का मानना है कि वर्ण व्यवस्था में यह स्थिति नहीं होती क्योंकि इसमें जाति का स्थान जीवन भर के लिए निश्चित होता है और इसमें एक जाति से दूसरी जाति में गमन की नगण्य संभावना होती है। मगर एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार आनुष्ठानिक रूप से निम्न जाति ऊंची जातियों के कर्म-कांड और जीवन-शैली अपनाने का प्रयास करती हैं ताकि जाति क्रम परंपरा में उनकी स्थिति या स्तर में सुधार आ सके। इसे वह संस्कृतीकरण कहते हैं।

विवश्त या खुली वर्ग व्यवस्था में स्तर सीमित होते हैं। इसमें ऊर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों तरह का गमन संभव होता है। इस तरह की गतिशीलता एक आदर्श स्थिति है। हालांकि हो सकता है कि वास्तव में इसमें उतना ज्यादा गमन नहीं हो पाता हो। इस तरह की स्थिति में वर्गों की बीच वैमनष्य में उच्च वर्गों के प्रति आकर्षण भी मिला रहता है। उच्च वर्गों के प्रति वैमनष्य की भावना का यह मतलब नहीं कि इन वर्गों के मूल्यों का तिरस्कार किया जा रहा है। असल में यहां 'अंगूर खट्टे हैं' वाली कहावत चरितार्थ होती है जिसका तिरस्कार किया जाता है उसे गुप्त रूप से पसंद भी किया जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) वैमष्य और द्वंद्व के कोजर के अनुसार क्या कार्य है? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

2) कोजर के अनुसार द्वंद्व के फलस्वरूप समूहों में

   i) एकीकरण और एकात्मकता उत्पन्न होती है,

   ii) खुला वैमनष्य पैदा होता है,

   iii) विखंडन होता है

   iv) क्रांति होती है

   (सही या गलत बताइए)।

7.3 वर्ग द्वंद्व

अभी तक हमने मुख्य रूप से अन्य स्तरों के प्रति वैमनष्य की भावनाओं या भावों के बारे में बात की है। इस प्रकार की नकारात्मक भावनाएं विशेषाधिकारों के असमान वितरण के कारण उत्पन्न होती हैं। यहां पर आकर हमें वैमनष्यपूर्ण भावनाओं या मनोवृत्तियों और द्वंद्व के बीच भेद करना होगा। द्वंद्व दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच परस्पर प्रभावी क्रिया है। नकारात्मक भावनाएं या वैमनष्य जरूरी नहीं कि द्वंद्वपूर्ण परस्पर क्रिया को जन्म दें।

अगर ऐसा है तो हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिनमें वैमनष्यपूर्ण भावनाएं समूहों को आपसी संघर्ष की ओर ले जाती हैं। कोजर का मानना है कि समूहों के बीच अधिकारों के असमान वितरण के फलस्वरूप वैमनष्य पैदा होता है क्योंकि इसे न्यायोचित नहीं माना जाता । इसके लिए पहले यह जरूरी है कि अधिकारहीन निर्धन समूह में यह जागरुकता आ जाए कि जो अधिकार और विशेषाधिकार उन्हें मिलनी चाहिए, उनसे उन्हें वंचित किया जा रहा है।

असमानतावादी व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसे उचित, न्यायसंगत ठहराने वाली विचारधारा भी उसके साथ-साथ निरपवाद रूप से मौजूद रहती है। जिस समूह को अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है उसे न्यायसंगत ठहराने वाली इस तरह की समर्थक विचारधारा का तिरस्कार करना होगा। वैध ठहराई जाने वाली व्यवस्था का जब इस तरह सचेतन तिरस्कार किया जाता है, उसे मानने से मना कर दिया जाता है तभी वैमनष्य की भावनाएं कार्रवाई में परिवर्तित की जा सकती हैं। यहां पर आपको कोजर के द्वंद्व परस्पर क्रिया विश्लेषण और कार्ल मार्क्स के विश्लेषण में काफी समानता नजर आ जाती है विशेषकर जब मार्क्स 'अपने आप में एक वर्ग' के 'अपने लिए एक वर्ग' में परिवर्तन की बात करते हैं। कोजर कहते हैं कि सामाजिक ढांचे को जब भी वैध, न्यायोचित नहीं माना तो संघर्ष के जरिए समान उद्देश्य वाले व्यक्ति आ जाते हैं और आत्मजागरुकता वाले ऐसे समूह बना लेते हैं जिनका हित एक जैसा होता है। (इकाई में आगे आप जानेंगे कि डाहरेंडॉर्फ ही ऐसा ही विचार रखते हैं)।

7.4 राल्फ डाहरेंडार्फ

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

वर्गों और वर्ग द्वंद्वों के अध्ययन में जर्मन समाजशास्त्री राल्फ डाहरेंडॉर्फ का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है। अपने विशारद ग्रंथ *क्लास ऐंड क्लास कनफ्लिक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी* में उन्होंने मार्क्स के वर्गीय सिद्धांत की एक तार्किक मीमांसा प्रस्तुत की। डाहरेंडॉफ ने इसमें यह बताया है कि मार्क्स के कौन से विचार तर्कसंगत और समर्थनीय हैं और कौन से नहीं। इसके बाद वह वर्ग, वर्ग संघर्ष और संरचनात्मक परिवर्तन का सिद्धांत देते हैं। आइए, अब उनके योगदान पर संक्षेप में चर्चा करें।

7.4.1 पूंजीवाद और औद्योगिक समाज

अपने अध्ययन के लिए डाहरेंडॉर्फ ने सबसे पहला जो मुद्दा लिया वह है पूंजीवाद और उसके अंदर वर्गों का स्वरूप। उनके अनुसार पूंजीवाद औद्योगिक समाज का सिर्फ एक ही रूप है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद के दो मुख्य तत्व उत्पादन के साधन के रूप में निजी संपत्ति और निजी अनुबंध (या प्रबंध या पहल) के द्वारा उत्पादन प्रक्रिया पर नियंत्रण हैं। दूसरे शब्दों में यह निजी स्वामित्व और उत्पादन के साधनों पर वास्तविक नियंत्रण है। मार्क्स ने वर्ग और वर्ग का संघर्ष का विश्लेषण पूंजीवाद के इन्हीं गुणों पर किया। अगर हम यह सिद्ध कर दें कि ये गुण अब क्रियाशील नहीं रहे तो आज मार्क्स के सिद्धांत का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता।

7.4.2 पूंजी संग्रह का वियोजन

संयुक्त संग्रह (जॉइंट स्टॉक) कंपनियों के उदय और उनके बड़े पैमाने पर विस्तार के चलते औद्योगिक उद्यमों के स्वामित्व और नियंत्रण के बारे में गंभीर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। आपको याद होगा स्वामित्व और नियंत्रण ही मार्क्स के चिंतन का मुख्य सरोकार थे। पहले स्वामी और प्रबंधक (मैनेजर) की भूमिकाएं

मूलत: पूंजीपति के स्तर में ही मिली रहती थी। पर आज दोनों भूमिकाएं पूंजीधारक (स्टॉकहोल्डर) में अलग-अलग हो गई हैं। औद्योगिक संगठन के आधिकारिक ढांचे में अब स्वामी की सुस्पष्ट भूमिका नहीं रह गई है और जिन लोगों की इस ढांचे में कोई भूमिका है जरूरी नहीं कि वे पूंजी के स्वामी हों।

प्रबंधकीय अधिकार को वैधता पूंजी के स्वामित्व से नहीं मिलती, बल्कि यह अफसरशाही के संगठन से उपजती है। इस तरह के परिवर्तन का वर्ग संघर्ष पर यह प्रभाव पड़ा है कि इससे संघर्ष या द्वंद्व में हिस्सा लेने वाले समूहों का संगठन बदल गया है। इसके साथ-साथ द्वंद्व को जन्म देने वाले मुद्दे और द्वंद्व या संघर्ष के पैटर्न भी बदल गए हैं।

7.4.3 श्रमशक्ति वियोजन

जिस तरह पूंजी का आज के औद्योगिक समाज में वियोजन हुआ है उसी तरह श्रमशक्ति का भी वियोजन या ह्रास हुआ है। मार्क्स का मानना था कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिकों की दशा और बिगड़ती जाएगी और उनमें समरूपता आ जाएगी जिसके बाद वे एकजुट होकर संगठित पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध मोर्चा ले सकेंगे। मगर उनके विचार के उलट मजदूरों में पहले से कहीं ज्यादा विभेदन पैदा हो गया है। आज अदक्ष और अर्धदक्ष मजदूरों के बीच भारी भेद उत्पन्न हो गया है, बल्कि अति दक्ष श्रमिकों का अनुपात भी निरंतर बढ़ रहा है। इसका परिणाम यह है कि उनकी आमदनी और कार्यों में भी बड़ा व्यापक अंतर आ गया है।

हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि आधुनिक समाज में एक नए मध्यम वर्ग का उदय हो गया है। यह मुख्यत: सफेदपोश (व्हाइट कॉलर) वेतनभोगी कर्मचारियों का वर्ग है। हालांकि वेतनभोगी कर्मचारी आमदनी और प्रतिष्ठा में मध्य क्रम में आसीन तो था लेकिन द्वंद्व या संघर्ष के सिद्धांत में मध्यम वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है। तो फिर यह वर्ग द्वंद्व की कसौटी में कहां फिट होता है? यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि मध्यम वर्ग अपने नाम और स्वरूप में बड़ी विविधता लिये है; डॉक्टर, इंजीनियर से लेकर क्लर्क, चपरासी तरह-तरह के लोग इस वर्ग में आते हैं। अब सवाल यह उठता है कि द्वंद्व या संघर्ष की स्थिति में इनमें से कौन 'संपन्न' होगा और किसे निर्धन कहा जाएगा? डाहरेंडॉर्फ नौकरशाही की क्रम परंपरा में आसीन लोगों को शासक वर्ग तो सफेद पोश कर्मचारियों की श्रमिक वर्ग में रखते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.4.4 सामाजिक गतिशीलता और समतावादी सिद्धांत

पूंजी और श्रमशक्ति के वियोजन और एक नए विघटित मध्यम वर्ग के अलावा सामाजिक गतिशीलता भी वर्गों के समांगीकरण या एकरूपता के विपरीत काम करती है। मार्क्स का मानना था कि समाज में एक व्यक्ति को जो दर्जा प्राप्त होता है उसे उसकी पारिवारिक उत्पत्ति और समाज में उसके माता-पिता का स्थान तय करते हैं। मगर पूंजीवादोत्तर समाजों में ऐसी बात नहीं है। पीढ़ियों में और पीढ़ियों के बीच भारी सामाजिक-गतिशीलता हुई है। वर्ग की रचना और उसके स्वरूप के लिए इसका यह मतलब रहा है कि वर्गों के स्वरूप में भी अस्थिरता आ गई है। इसलिए वर्ग संघर्ष की तीव्रता भी घट गई है यह स्थिति तो एक वास्तविकता हो ही सकती है मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इससे वर्ग संघर्ष की संभावना पूरी तरह से समाप्त नहीं हो जाती।

अभ्यास 2

आधुनिक समाज मार्क्स के विचारों से किस प्रकार भिन्न है? लोगों से इस पर चर्चा कीजिए और नोटबुक में अपने विचार और अनुभव लिखिए।

समूचे समाज को अपनी जद में लेने वाले जिस वर्ग संघर्ष की कल्पना मार्क्स ने की थी, उसके विपरीत एक और महत्वपूर्ण कारक काम करता है। यह है राजनीति के क्षेत्र में समतावादी सिद्धांत। संगठन बनाने की स्वतंत्रता के चलते मजदूर संघ और राजनीतिक दल द्वंद्व को हिंसक वर्ग संघर्ष से अलग दिशा में मोड़ने में सफल रहे हैं। कम से कम संगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिक वर्ग अपने लिए लाभ जुटाने में सफल रहा है।

मार्क्स ने वर्गों के समांगीकरण और श्रमिक वर्ग की कंगाली के फलस्वरूप जिस तीव्र और हिंसक वर्ग संघर्ष की कल्पना की थी, इतिहास की कसौटी में वह खरी नहीं उतरी है। डाहरेंडॉर्फ ने मार्क्स की जो मीमांसा की है उसके अनुसार तीन बातें विशेष महत्व रखती हैं। पहला, पूंजी और श्रम दोनों का वियोजन हुआ है और एक नया मध्यम वर्ग उभरा है। दूसरा, सामाजिक गतिशीलता ने एक वर्ग से दूसरे वर्ग में व्यक्तियों का गमन संभव बना दिया है। तीसरा, राजनीतिक क्षेत्र में मिल रही समानता के चलते संस्थागत ढांचे के भीतर ही वर्ग संघर्ष करना संभव हो गया है और इसके लिए वर्ग युद्ध का रास्ता अपनाना जरूरी नहीं रह गया है। निजी संपत्ति और नियंत्रण अलग-अलग हो गए हैं और इसके साथ सर्वहारा वर्ग का स्वरूप भी बिखर गया है, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि पूरा समाज दो बड़े विरोधी गुटों में विभाजित हो रहा है। वर्ग और वर्ग संघर्ष गरीब पूंजीवादी समाजों में विद्यमान रहेंगे मगर उनका स्वरूप मार्क्स की कल्पना से बिल्कुल भिन्न रहेगा।

एक प्रकार से विवाह में भी सामाजिक गतिशीलता व्याप्त है
साभार : टी. कपूर

MAADHYAM IAS

7.5 वर्ग संघर्ष का डाहरेंडॉर्फ सिद्धांत

डाहरेंडॉर्फ ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि बदली हुई परिस्थितियों में आधुनिक औद्योगिक समाज में मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत उपयोगी नहीं रह गया है। इसके बाद वह इस विषय में अपना नया सिद्धांत रखते हैं। समाजशास्त्र के सैद्धांतिक निधि में मूलत: दो भिन्न रुझान देखने को मिलते हैं। पहला है समाज का समेकन सिद्धांत और दूसरा है समाज का बाध्यता का सिद्धांत।

7.5.1 समेकन और बाध्यता सिद्धांत की बुनियादी मान्यताएं

समाज का समेकन सिद्धांत मूलत: चार मान्यताओं पर आधारित है, जो इस प्रकार हैं:

i) हर समाज घटकों का अपेक्षतया एक अटल, स्थिर ढांचा है।

ii) हर समाज घटकों का एक समेकित ढांचा है।

iii) समाज के प्रत्येक घटक का अपना विशेष कार्य है, अपनी विशिष्ट भूमिका है। वह एक पद्धति या प्रणाली के रूप में उसे बनाए रखने में सहायक होता है।

iv) प्रत्येक कार्यशील सामाजिक ढांचा उसके सदस्यों के बीच मूल्य मतैक्य या सहमति पर टिका होता है।

बाध्यता का सिद्धांत भी इन चार मान्यताओं को लेकर चलता है:

i) प्रत्येक समाज प्रत्येक बिंदु पर प्रक्रियाओं के परिवर्तन से गुजरता है; सामाजिक बदलाव हर समाज में होता है।

ii) प्रत्येक समाज प्रत्येक बिंदु पर असंतोष और द्वंद्व दर्शाता है। सामाजिक द्वंद्व हर समाज में होता है।

iii) समाज का प्रत्येक घटक उसके विखंडन और परिवर्तन में हाथ बंटाता है।

iv) प्रत्येक समाज के मूल में उसके कुछ सदस्यों की बाध्यता होती है, जिसे दूसरे लोग उन पर थोपते हैं।

डाहरेंडार्फ दोनों मॉडलों को प्रतिद्वंद्वी के बजाए एक दूसरे का पूरक मानते हैं। द्वंद्व समूहों की रचना की व्याख्या के लिए दूसरा मॉडल उपयुक्त है। इन मान्यताओं के आधार पर डाहरेंडॉर्फ प्रस्थापनाओं के रूप में कुछ विचार रखते हैं। इन प्रस्थापनाओं का विश्लेषण और उनकी अनुभवजन्य पुष्टि जरूरी है।

7.5.2 डाहरेंडॉर्फ का सिद्धांत

आइए, अब उनके ग्रंथ *थ्योरी ऑफ सोशल क्लासेज ऐंड क्लास कनफ्लिक्ट* में प्रस्तुत विचारों के बारे में जानते हैं। यहां हमारा ध्येय सामूहिक द्वंद्व के रूप में होने वाले संरचनात्मक बदलावों का अध्ययन और उनकी व्याख्या करना है। चूंकि यहां हमारी रुचि का विषय मुख्यत: द्वंद्व और उसके परिणाम हैं, इसलिए बाध्यता मॉडल के अनुसार हम इसे समूचे सामाजिक ढांचे में विद्यमान यानी सर्वव्यापी मानकर चलेंगे। सामाजिक ढांचे के सभी घटक यानी भूमिकाएं, संस्थाएं, आदर्श का अस्थिरता और परिवर्तन से कोई न कोई सरोकार है। (प्रत्युत्तर में कोई यह सवाल कर सकता है कि यह एकता और संबद्धता आखिर कैसे? तो इसका उत्तर होगा: 'बाध्यता और अंकुश'।

बोध प्रश्न 2

1) डाहरेंडॉर्फ का सिद्धांत मार्क्स से किस तरह भिन्न है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) सही या गलत बताइए

i) मार्क्स ने पूंजी के वियोजन की बात कही थी।

ii) डाहरेंडॉर्फ का मानना है कि वर्ग संघर्ष क्रांति की ओर ले जाता है।

iii) मार्क्स कहते हैं कि पूंजी आदेशक समन्वित साहचर्य को जन्म देती है।

iv) वर्ग संघर्ष सामाजिक संरचना के लिए परिणाम लेकर आता है।

प्रत्येक सिद्धांत, चाहे वह कितना ही आरंभिक क्यों न हो, वह कुछ निश्चित धारणाएं लेकर चलता है। इन धारणाओं को अच्छी तरह से स्पष्ट होना चाहिए ताकि इनके अंतर्संबंध को दर्शाने वाले कथनों को स्पष्ट तरीके से समझा जा सके। डाहरेंडॉर्फ ऐसे विरले चिंतकों में हैं जिन्होंने बड़ी सूझ-बूझ के साथ वही किया जो पद्धतिकार तो खूब सुझाते हैं पर कभी-कभार अमल में ही लाते हैं।

चूंकि यह सिद्धांत मुख्यत: द्वंद्व के बारे में है, इसलिए शक्ति (सत्ताधिकार), सत्ता जैसी धारणाओं का भी इसमें अपना स्थान है। मैक्स वेबर के अनुसार चलें तो प्रभुसत्ता (वैध सत्ताधिकार) का अर्थ इसकी संभावना है कि एक निश्चित विषय-वस्तु वाले आदेश का व्यक्तियों के एक समूह विशेष द्वारा पालन किया जाएगा। यहां इस बात पर जोर देना जरूरी है कि प्रभुसत्ता एक निश्चित संगठन या समूह तक सीमित होती है। 'क' फैक्टरी के मैनेजर की प्रभुसत्ता 'ख' फैक्टरी के मजदूरों पर नहीं हो सकती। उसकी प्रभुसत्ता उसकी फैक्टरी की हद तक सीमित होती है।

बॉक्स 7.01

जिन लोगों के पास प्रभुसत्ता होती है उनका अन्य लोगों पर *प्रभुत्व* रहता है। यह प्रभुसत्ता का स्वामित्व ही है। प्रभुसत्ता से वंचित रहने का मतलब पराधीनता है। प्रभुसत्ता, प्रभुत्व और पराधीनता के संयोजन से ही *आदेशक समन्वित साहचर्य* की व्याख्या स्पष्ट होती है। ऐसा कोई भी संगठन जिसके सजीव सदस्य प्रभुसत्ता संबंधों के पराधीन हों, उसे हम *आदेशक समन्वित साहचर्य* कहेंगे। यह प्रभुत्व और पराधीनता के रूप में हमें संबंधों की विसंगतियों के बारे में बताता है।

चेतना, वर्ग चेतना और झूठी वर्ग चेतना ('अपने-आप में वर्ग' और 'वर्ग अपने लिए') के अस्तित्वात्मक आधार पर मार्क्स के विचारों से आगे डाहरेंडॉर्फ अव्यक्त और प्रकट हितों के बीच अंतर बताते हैं।

अव्यक्त हित ऐसे हित हैं जिनके बारे में प्रभुत्व और पराधीनता का अवलंबन करने वाले दोनों पद स्थानों पर आसीन लोग अनजान होते हैं। इसके विपरीत प्रकट हित के बारे में व्यक्ति सचेत रहता है ये हित व्यक्ति को दूसरों के विरोध में खड़ा करते हैं। समूहों को इन दोनों हितों के अनुसार बांटा जा सकता है। व्यक्तियों के जिस समूह के साझे अव्यक्त हित होते हैं उसे हम कल्प समूह कहते हैं। दूसरी ओर जिस समूह के साझे प्रकट हित होते हैं उन्हें हित समूह कहा जाता है।

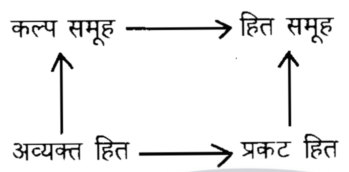

(यहां गौर करने की बात यह है कि विरोधी की संरचनात्मक गतिशीलता के कारण अव्यक्त हित अगर प्रकट रूप धारण कर लें तो कल्प समूह भी हित समूह बन जाते हैं।)

7.5.3 सामाजिक वर्ग और डाहरेंडॉर्फ का नजरिया

MAADHYAM IAS

इस प्रकार सामाजिक वर्ग *संगठित* या *असंगठित* समूह हैं जिनके साझे अव्यक्त या प्रकट हित होते हैं जो *आदेशक समन्वित साहचर्य* के प्रभुसत्ता के ढांचे से उत्पन्न होते हैं।

इस बारे में गौर करने वाली कुछ महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं:

i) सामाजिक वर्ग सभी या समग्रता में समाज के अधिकांश सदस्यों को समेट कर नहीं चलता। यह सिर्फ आदेशक संमन्वित साहचर्य के लिए प्रासंगिक होता है।

ii) प्रभुत्व और पराधीनता के आदेशक समन्वित साहचर्य वाले प्रभुसत्ता ढांचे में सिर्फ दो वर्ग ही उभरते हैं।

iii) सामाजिक वर्ग हमेशा द्वंद्व समूह होते हैं।

समूह द्वंद्व संगठित समूहों के बीच एक वैमनष्यपूर्ण संबंध होता है क्योंकि सामाजिक संरचना के स्वरूप, उसके पैटर्न पर आधारित होता है। (यह न तो औचक होता है और न ही मनौवैज्ञानिक कारकों पर आधारित होता है)। एक निश्चित आदेशक समन्वित साहचर्य में प्रभुसत्ता के ढांचे से उत्पन्न होने वाला वर्ग संघर्ष स्थानिक और सर्वव्यापी होता है। वर्ग संघर्ष की उपस्थिति और उसके फलस्वरूप समूह द्वारा की *जाने वाली कार्रवाई* सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लेकर आता है। यह परिवर्तन सामाजिक संस्थाओं और उसके नियमों, आदर्शों और मूल्यों में हो सकता है। यह बदलाव आकस्मिक या आमूलचूल दोनों तरह से हो सकता है। (यहां पर डाहरेंडॉर्फ मार्क्स के इस विचार से अलग हट कर बात करते हैं कि सामाजिक ढांचे में बदलाव हमेशा क्रांतिकारी यानी आकस्मिक, आमूलचूल और हिंसक होते हैं।)

द्वंद्व समूह रचना का मॉडल प्रस्तुत करते हुए डाहरेंडॉर्फ कहते हैं कि प्रत्येक आदेशक समन्वित सांहचर्य में हम दो कल्प समूहों को अलग-अलग पहचान सकते हैं जो साझे अव्यक्त हितों के द्वारा एकता में बंध गए

हों। हितों के प्रति उनका रुझान प्रभुसत्ता पर उनके स्वामित्व या उससे उनके बहिष्कार से तय होता है। इन्हीं कल्प समूहों से हित समूहों को लिया जाता है, जिसके सुस्पष्ट कार्यक्रम प्रभुसत्ता के मौजूदा ढांचे की वैधता को परिभाषित करते हैं या उस पर आक्रमण करते हैं। डाहरेंडॉर्फ कहते हैं कि किसी भी स्थिति में इस प्रकार के दोनों समूह द्वंद्व या संघर्षरत रहते हैं।

7.5.4 सामाजिक ढांचे के लिए द्वंद्व के परिणाम

जब एक *आदेशक समन्वित साहचर्य* में दो परस्पर विरोधी समूहों के रूप में जब द्वंद्व समूहों के वर्गीय प्रारूप बन जाते हैं तो द्वंद्व की परस्पर क्रिया किस तरह से आगे बढ़ती है? जिस सामाजिक ढांचे में समूह द्वंद्व चल रहा हो उसके लिए इसके क्या परिणाम निकलेंगे? द्वंद्व के किसी भी सिद्धांत को ऐसे प्रश्नों का समाधान करना होता है और डाहरेंडॉर्फ ने भी यही प्रयत्न किया है।

द्वंद्व की तीव्रता को लेकर (जिसमें पराजय होने पर 'कीमत' चुकानी पड़ती है) हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि कौन से कारक इस पर सकारात्मक और कौन से नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। डाहरेंडॉर्फ की धारणा है कि वर्ग संघर्ष की तीव्रता इस हद तक घट जाती है जिस हद तक वर्गीय संगठन की स्थितियां मौजूद हैं, उसके अनुसार वह घटती बढ़ती है। उदाहरण के लिए अगर मजदूरों को अपना संगठन बनाने और प्रबंधन (मैनेजमेंट) के साथ सुलह-समझौते करने के अवसर मिलते हैं तो मजदूरों और प्रबंधन के बीच होने वाले द्वंद्व या संघर्ष कम तीव्र होंगे। ठीक इसी प्रकार जिन देशों में लोगों को राजनीतिक दल और नागरिक संगठन बनाने की पूरी स्वतंत्रता है वहां संघर्षों की तीव्रता बहुत कम होगी। इसी तरह भिन्न साहचर्यों में जहां वर्गों को अध्यारोपित नहीं किया जाता, सामूहिक द्वंद्व या संघर्ष की तीव्रता वहां भी कुंद हो जाती है। उदाहरण के लिए, किसी कारखाने के सभी मजदूर एक जातीय अल्संख्यक समुदाय या निम्न जाति के ही नहीं होते और अगर उसमें दोनों का अध्यारोपण हो जाए यानी वर्ग पर जातीयता या जाति हावी हो जाए तो वहां होने वाला संघर्ष अधिक तीव्र होगा।

वर्ग संघर्ष की तीव्रता इस बात से भी प्रभावित होती है कि एक ही समाज में होने वाले विभिन्न सामूहिक द्वंद्व साहचर्यहीन हैं या नहीं। उदाहरण के लिए हम यह मान लेते हैं कि समाज में मुख्य रूप से तीन प्रकार के संघर्ष होते हैं: वर्ग संघर्ष, जातीय संघर्ष और क्षेत्रीय संघर्ष। जैसे उत्तर-दक्षिण को बीच संघर्ष। प्रभुत्व के स्थान पर आसीन लोग अगर उत्तर के प्रभावी जातीय समूह से संबंध रखते हैं और पराधीनता के स्थान में रहने वाले लोग किसी विशेष छोटे जातीय समूह के हैं और दक्षिण से संबंध रखते हैं तो दोनों के बीच होने वाले द्वंद्व की तीव्रता निश्चय ही ज्यादा होगी।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 7.02

गौर करने की बात है कि अगर पारितोषिकों और प्रभुसत्ता का वितरण असंबद्ध (साहचर्यहीन) हो तो भी वर्ग संघर्ष की तीव्रता खत्म हो जाएगी। हालांकि प्रभुसत्ता का प्रयोग और संपत्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं, लेकिन ऐसा होना जरूरी नहीं है। यह जरूरी नहीं कि जिन लोगों के पास प्रभुसत्ता हो वे उत्पादन के साधनों के स्वामी भी हों। इसी प्रकार जो मजदूर जिस कंपनी में काम कर रहे हों, हो सकता है कि उस कंपनी के शेयर उनके पास हों । इस प्रकार वे उत्पादन के साधनों के स्वामी भी हो सकते हैं। सामाजिक गतिशीलता भी वर्ग संघर्ष की तीव्रता को प्रभावित करती है। वर्ग जिस हद तक खुले होंगे और संवृत नहीं होंगे यह उसी के अनुसार घटती है। इस प्रकार जाति व्यवस्था वाले समाज में, जहां ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के अवसर हमेशा के लिए बंद रहते हैं, संघर्ष या द्वंद्व की तीव्रता विवत (खुले) वर्गीय समाज से अधिक होने की संभावना रहेगी। बिहार में होने वाले जाति संघर्ष इसका उत्तम उदाहरण हैं।

वर्ग संघर्ष की तीव्रता को प्रभावित करने वाले कारकों का विवेचन कर लेने के बाद डाहरेंडॉर्फ संघर्ष की हिंसा को प्रभावित करने वाले परिवर्तियों का विश्लेषण करते हैं। हमने पीछे देखा है कि वे मार्क्स की इस मान्यता को खारिज करते हैं कि सभी वर्ग संघर्ष हिंसक होते हैं। मगर इसका यह मतलब नहीं कि उसमें हिंसा कदापि नहीं होती। उनका मानना है कि हिंसा कदापि नहीं होगी। उनका मानना है कि हिंसा की सीमा शांतिपूर्ण से लेकर खूनी क्रांतिकारी संघर्ष तक अलग-अलग रूपों में होती है।

एक *आदेशक समन्वित साहचर्य* में विद्यमान वर्गीय संगठन की स्थितियों का वर्ग संघर्ष की हिंसा से नकारात्मक संबंध होता है (उदाहरण के लिए, एक कारखाने में मजदूर संघ का बनना और उसके जरिए मजदूरों का उसके प्रबंधन से शांतिपूर्ण ढंग से सामूहिक सौदेबाजी करना)। डाहरेंडॉर्फ यह भी कहते हैं कि अगर पराधीन वर्ग में विद्यमान पूर्ण वंचना या शोषण की जगह सापेक्षिक वंचना ले लेती है तो इससे वर्ग संघर्ष हिंसा कम हो जाती है। वर्ग संघर्ष की हिंसा की सीमा, उसकी तीव्रता को एक और कारक प्रभावित करता है। यह है–संघर्ष या द्वंद्व का नियमन। द्वंद्व के नियमन का तात्पर्य उन युक्तियों और प्रक्रियाओं से है जो संघर्ष की *अभिव्यक्ति* से निबटती हैं न कि उनके समाधान या दमन से। इसका यह अर्थ है कि इसके लिए यह जरूरी है कि दोनों पक्ष यह मान कर चलें कि द्वंद्व यथार्थ और अनिवार्य है। दूसरे वादी के दावे को 'अवास्तविक' कह कर खारिज कर देना द्वंद्व का नियमन नहीं है। यह समझ लिया जाना चाहिए कि उक्त पक्ष का अपना एक मामला है। द्वंद्व नियम की संभावना उस स्थिति में अधिक होती है, जब विरोधी गुट हित समूहों के रूप में संगठित हों। असंगठित समूहों स्थिति में यह नियमन कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए अगर किसी कारखाने में मजदूरों का सिर्फ एक ही संगठन है तो प्रबंधन और मजदूर दोनों संघर्ष के मूल में निहित मुद्दों के निपटारे के लिए कारगर उपाय निकाल सकते हैं।

अंततः दोनों पक्ष कुछ निश्चित औपचारिक 'खेल नियमों' पर सहमत हो जाते हैं तो द्वंद्व अच्छे ढंग से नियमित हो सकता है। दुनिया के अन्य लोकतांत्रिक देशों की तरह भारत ने भी औद्योगिक द्वंद्व नियमन के लिए पूरी व्यवस्था स्थापित की है जिसमें सौदेबाजी, मध्यस्थता, पंचाट, अदालती निर्णय शामिल हैं। द्वंद्व को सुलझाने का आखिरी हथियार हड़ताल है।

वर्ग संघर्ष साहचर्य में होता है। इसकी बदलती तीव्रता और हिंसा के कारण यह सामाजिक ढांचे के लिए परिणाम लेकर आता है। डाहरेंडॉर्फ के अनुसार इससे सामाजिक ढांचे में दो प्रकार के परिवर्तन आते हैं: आकस्मिक और आमूलचूल। ढांचागत परिवर्तन ऐसे परिवर्तनों के लिए प्रयुक्त होता है जो आदेशक समन्वित साहचर्य में प्रभुत्व और पराधीनता के पद-स्थानों पर लोगों के बदल जाने से आते हैं। इसका उदाहरण यह है कि प्रभुसत्ता के सभी पदस्थानों पर पहले पराधीन वर्ग के सदस्य रहे लोग अधिकार कर लें जैसा कि किसी क्रांति में होता है। मगर ऐसा अक्सर आंशिक रूप से ही हो पाता है।

सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन का अभिप्राय इस तरह के परिवर्तन के परिणामों की सार्थकता और उनके फलितार्थों से है। ध्यान देने की बात यहां यह है कि कई आकस्मिक बदलाव अनिवार्यतः आमूल नहीं होते। उदाहरण के लिए एक जनरल दूसरे जनरल के खिलाफ हिंसक विद्रोह करके उसका तख्ता पलट दे तो इससे कार्मिक में भारी परिवर्तन आएगा लेकिन यह राज्य में विद्यमान संस्थागत या आदर्श व्यवस्था में कोई भारी बदलाव नहीं लाएगा।

7.6 सारांश

मार्क्स के महान सिद्धांत की विशेषता उसकी विश्वव्यापी दर्शन और क्रांतिकारी ऊर्जा थी जिसने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की प्रबल भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। इसने मानव इतिहास की धारा ही बदल डाली। मगर कुछ वर्षों से उनकी कृतियों का निष्पक्ष अध्ययन किया जा रहा है।

असमतावादी, अमानवीय पूंजीवादी व्यवस्था को एक क्रांतिकारी, सुसंगठित श्रमिक वर्ग द्वारा उखाड़ फेंककर सामाजिक परिवर्तन लाने का जो दर्शन मार्क्स ने दुनिया को दिया था वह ज्यादा कामयाब नहीं रहा है। मगर उन्होंने वर्ग और वर्ग संघर्ष की जो धारणाएं अपने दर्शन में प्रयोग की समाज शास्त्र पर उन्होंने बड़ा गहरा प्रभाव डाला। अनेक विद्वानों ने इन्हें पूर्ण रूप से अपना लिया तो कुछ ने इनमें कुछ परिवर्तन-संशोधन किया।

कोजर और डाहरेंडॉर्फ इसी श्रेणी के विद्वान हैं, जिन्होंने वर्ग की महत्ता को स्वीकार तो किया लेकिन इसके स्वरूप को लेकर उनका मत मार्क्स से भिन्न था। पूरा समाज सिर्फ दो विरोधी और विद्वेषी वर्गों में बंटा नहीं हो सकता। समाज में 'समूह' होते हैं जिनके हित अन्य समूहों के हितों से टकराते हैं। यह द्वंद्व सिर्फ समाज में प्राप्त स्थान या पद को लेकर ही नहीं चलता। बल्कि यदि परस्पर क्रियात्मक और परस्पर

प्रभावी होता है। यह द्वंद्व सिर्फ सामाजिक संरचना से ही संबंधित नहीं है बल्कि यह प्रक्रियात्मक भी होता है। इसका एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है जो हमें हितों, चेतना और भावनात्मक कीमत के रूप में दिखाई देता है। अंततः इसके सामाजिक संरचना संबंधी परिणाम होते हैं, जो सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकते हैं। इनसे सामाजिक ढांचे में स्थिरता आ सकती है या ये उसे तरह-तरह से बदल सकते हैं। यह कई परिवर्तियों पर निर्भर करता है, जो क्रिया में अनुभवमूलक हो सकते हैं।

7.7 शब्दावली

पूंजीवाद : इस व्यवस्था में समाज उत्पादन साधनों के स्वामियों और श्रमिकों में बंटा रहता है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पादन साधनों के स्वामी मजदूरों का शोषण करते हैं।

द्वंद्व : दो या अधिक विरोधी गुटों का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण और कार्य।

समतावादी: यह सिद्धांत कहता है कि हर व्यक्ति, हर समूह को समाज में समान दर्जा और समान अवसर मिलना चाहिए।

क्षरण : यह एक वर्ग या गुट का छोटे समूहों में विघटन है।

प्रकार्य : समष्टि के समेकन या एकीकरण में उसके किसी भी घटक के द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका। जैसे: समाज के एकीकरण में अर्थव्यवस्था जो भूमिका निभाती है।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोजर, एल., 1956, *फंक्शन ऑफ सोशल कनफ्लिक्ट*, लंदन, रुटलेज ऐंड केगन पॉल

डारहेंडॉर्फ, राल्फ, 1959, *क्लास ऐंड क्लास कनफ्लिक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी*, लंदन, रुटलेज ऐंड केगन पॉल

7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) द्वंद्व के प्रर्कार्य अनेक हैं। पहला, अन्य समूहों के साथ होने वाला द्वंद्व एक समूह को एकीकरण और एकात्मता की ओर ले जाता है। दूसरा, यह समूहों के बीच एक-दूसरे के प्रति विद्यमान वैमनष्य या विद्वेषों में संतुलन बनाकर संपूर्ण व्यवस्था को बरकरार रखता है। मगर कभी-कभी ऐसा होता है कि एक बाहरी समूह द्वेषपूर्ण प्रतिक्रिया देने के बजाए असल में सकारात्मक संदर्भ समूह बन जाता है। इसे हम प्रत्याशोत्मक समाजीकरण कहते हैं जो संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के जरिए वर्ण व्यवस्था में भी प्रवेश कर गया है।

बोध प्रश्न 2

1) मार्क्स का सिद्धांत पूंजीवादी व्यवस्था में वर्गों के ध्रुवीकरण के जरिए क्रांतिकारी परिवर्तन की कल्पना करता है। मगर डाहरेंडॉर्फ का कहना है कि श्रम और पूंजी के क्षरण और सामाजिक गतिशीलता के कारण इस तरह की क्रांति और वर्गों का ध्रुवीकरण कभी नहीं होगा। औद्योगिक समाज नाना प्रकार की प्रक्रियाओं के जरिए वर्गों के बीच होने वाले तनावों को दूर कर देता है।

2) i) गलत

ii) गलत

iii) गलत

iv) सही

इकाई 8 स्तरीकरण के सिद्धांत और संश्लेषण: लेंस्की, लहमान, बर्घ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 सामाजिक स्तरीकरण की अलग-अलग व्याख्याएं
8.3 सामाजिक स्तरीकरण का समकालीन समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
8.4 प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य
8.5 द्वंद्व सिद्धांत
8.6 संश्लेषण की दिशा में
8.6.1 प्रारंभिक प्रयास
8.7 पियरे वैन डेन बर्घ का महान संश्लेषण सिद्धांत
8.8 एन. लहमान का सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत
8.9 गेरहार्ड लेंस्की का सत्ताधिकार और विशेषाधिकार सिद्धांत
8.10 सारांश
8.11 शब्दावली
8.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- सामाजिक स्तरीकरण का समकालीन परिप्रेक्ष्य दे सकेंगे;
- बर्घ के महान संश्लेषण सिद्धांत की रूपरेखा बता सकेंगे;
- लहमान के व्यवस्था सिद्धांत के बारे में बता सकेंगे; और
- लेंस्की के सत्ताधिकार और विशेषाधिकार सिद्धांत पर चर्चा कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण के विषय पर रचे साहित्य की प्रगति को समझने के लिए द्वंद्वात्मकता की विधि का प्रयोग करने का प्रयास किया है। इसमें हमने इन तीन समाजशास्त्रियों, पियरे वैन डेल बर्घ, एन. लहमान और गेरहार्ड लेंस्की की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया है, जिन्होंने सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांतों में मौजूदा ध्रुविताओं के दायरे से बाहर निकल कर इन्हें एक संयोजित सिद्धांत के रूप में संश्लेषित करने का प्रयास किया है।

आइए, पहले हम सामाजिक असमानता को लेकर प्रचलित दो परस्पर विरोधी मतों के बारे में जानें। इनमें से एक है रूढ़िवादी मत रखने वाले विद्वान जिनकी दृष्टि में सामाजिक असमानताएं स्वाभाविक, प्रकृतिसम्मत और न्यायोचित हैं। दूसरा खेमा आमूल परिवर्तनवादी विद्वानों का है जिनके मतानुसार सभी मानवों से सिद्धांततः समतावादी व्यवहार होना चाहिए और इसे वे एक ऐसे सामाजिक-राजनीतिक लक्ष्य के रूप में लेते हैं जिसे प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण पर लिखे गए समाजशास्त्रीय साहित्य में भी हमें इसी तरह दो समानांतार धाराएं देखने को मिलती हैं। इसमें एक धारा है संरचनात्मक प्रकार्यवाद, जो रूढ़िवादी मत की प्रतिनिधि है। दूसरी धारा द्वंद्वात्मक या मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य है जो आमूल परिवर्तनवादीधारा का प्रतिनिधित्व करती है। अब हम यहां यह जानेंगे कि इन दो विरोधी सिद्धांतों का तीनों समाजशास्त्रियों ने किस तरह संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।

8.2 सामाजिक स्तरीकरण की अलग-अलग व्याख्याएं

सामाजिक असमानता या स्तरीकरण एक विश्वव्यापी वास्तविकता है। सभी समकालीन समाजों में संपत्ति, प्रतिष्ठा और सत्ताधिकार के मामले में असमानताएं किसी न किसी सीमा तक अवश्य पाई जाती हैं। उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि असमानताएं प्राचीन समाजों की भी विशिष्टता रही हैं। असमानताएं सामाजिक दृष्टि से एक निश्चित पैटर्न में बंधी होती हैं और उन्हें समाज से कुछ वैधता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, एक समूह के कानून और मानदंड उसमें विद्यमान असमानता की व्यवस्था को संचालित करते हैं। यही कारण है कि सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्रियों और अन्य समाज विज्ञानियों के लिए एक ज्वलंत प्रश्न रहा है। उन्होंने विभिन्न समाजों में विद्यमान असमानता के ढांचों और प्रचलनों का गंभीर विश्लेषण वर्णन करने के साथ-साथ इसकी व्याख्या करने या सिद्धांतों की स्थापना करने का भी काम किया है।

समाजशास्त्रियों और अन्य समाज-विज्ञानियों के अलावा सामाजिक असमानता साधारण चिंतक, दार्शनिकों और धर्मगुरुओं के लिए भी चिरकाल से चिंतन का विषय रही है। जहां एक ओर हिन्दू धर्म विभिन्न जाति समूहों में व्याप्त असमानताओं को उचित ठहराता है, तो वहीं धार्मिक दर्शनों में असमानता के बर्ताव से दूर रहने की शिक्षा दी गई है और अपने धर्मावलंबियों से सभी मनुष्यों के साथ समानता का व्यवहार करने का आह्वान किया गया है। इसी प्रकार पश्चिमी चिंतकों और दार्शनिकों में इस विषय को लेकर मतभेद रहे हैं। मनुष्यों से अलग-अलग बर्ताव करना और उन्हें असमान पारितोषिक देना क्या उचित और न्यायसंगत है? यह प्रश्न बहस का मुद्दा रहा है। इस विषय पर हम दो भिन्न दृष्टिकोणों को पहचान सकते हैं। कुछ लोग रूढ़िवादी या पुरातनपंथी मत रखते हैं तो अन्य दार्शनिकों ने असमानता की मौजूदा व्यवस्थाओं की मीमांसा विकसित कर आमूल परिवर्तनकारी विकल्प सुझाए हैं।

यूरोप के पुरातनपंथी चिंतकों ने यह तर्क देने का प्रयास किया कि चूंकि सामाजिक असमानताएं हर जगह विद्यमान हैं इसलिए वे प्राकृतिक और अपरिहार्य हैं। इसे दूसरी तरह से कहें तो उन्होंने अलग-अलग आधार पर असमानताओं को सही ठहराया। एडम स्मिथ जैसे आधुनिक, पश्चिमी जगत के अग्रणी उदार दार्शनिक और आधुनिक अर्थशास्त्र के संस्थापक ने मुक्त बाजार व्यवस्था की पैरवी करते हुए सामाजिक असमानताओं को उसके लिए सही ठहराया। उनका कहना था कि बाजार में व्यक्ति अपने-अपने निजी हितों को किसी राजनीतिक प्रभुसत्ता के हस्तक्षेप या वितरण के नैतिक सिद्धांत के बिना ही साधते हैं जिसमें यह उनकी क्षमताओं की परीक्षा लेता है और उनकी क्षमता के अनुसार उन्हें अलग-अलग तरीके से पुरस्कृत करता है।

इसी प्रकार जो विद्वान डार्विन के प्राकृतिक चयन के सिद्धांत से अभिभूत थे उन्होंने भी मनुष्य के बीच व्याप्त असमानताओं को सही ठहराया। सामाजिक डार्विनवादियों ने तर्क दिया कि व्यक्तियों की भी पादप और जंतुओं की प्रजातियों की तरह छंटाई और चयन होता है। चयन की इसी प्रक्रिया के जरिए गुणवान व्यक्तियों को समाज में महत्व और प्रतिष्ठा वाले पदों पर बिठाया गया जबकि साधारण लोगों से श्रमजीवी जनसमूह या वर्गों का निर्माण हुआ। जैसा कि डब्लू.जी. समर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *फोकवेज* में तर्क दिया है, "वर्ग आधारित विषमताएं अनियवार्यत: मनुष्य की सामाजिक उपयोगिता का पैमाना था, जो :वयं में मूलत: उसकी नैसर्गिक योग्यता को मापने का पैमाना था।" इस रूढ़िवादी सिद्धांत के एक अन्य पैरोकार इटली के प्रसिद्ध विद्वान गाएत्नो मोस्का थे। इनका भी यही मत था कि विषमताएं मानव जीवन की एक अपरिहार्य वास्तविकता हैं। उनका कहना था कि चूंकि मानव समाज राजनीतिक संगठन के बिना काम नहीं कर सकता था, इसलिए इन संगठनों को शक्ति-सत्ताधिकार में विषमताओं को जन्म देना ही था।

मगर वहीं आधुनिक पश्चिम दर्शन में आमूल परिवर्तनवादी चिंतन की भी एक लंबी परंपरा रही है। जिसने रूढ़िवादी मत के खिलाफ अपने तर्क रखे हैं। आमूल परिवर्तनवादी इस बात पर जोर देते रहे हैं कि मनुष्यों के साथ असमान रूप से व्यवहार यानी उनके साथ भेदभाव बरतना नैतिक दृष्टि से गलत है। इनका यह तर्क भी है कि एक ऐसे समाज का निर्माण करना संभव है जिसमें सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार हो और उन्हें समान अधिकार मिलें। लॉक और रुसो जैसे दार्शनिकों ने बड़े जोरदार ढंग से तर्क

MAADHYAM IAS

रखा कि आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सभी मनुष्यों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। आधुनिक यूरोप के सबसे सिद्ध दार्शनिकों में मार्क्स और एंजेल्स की रचनाओं में ही हमें रूढ़िवादी दृष्टिकोण की सबसे व्यवस्थित और सुविकसित मीमांसा मिलती है। पूंजीवादी विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का गहराई से विश्लेषण करते हुए उन्होंने रूढ़िवादी या "उदार बुर्जुआ" दृष्टिकोण के जवाब में एक आमूल परिवर्तनवादी प्रतिस्थापना (एंटी-थीसिस) प्रस्तुत की जिसे हम समाजवादी सिद्धांत के नाम से जानते हैं।

8.3 सामाजिक स्तरीकरण का समकालीन समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, आधुनिक यूरोप के कालजयी दार्शनिकों ने जिस तरह से सामाजिक असमानता की व्याख्या की है और सामाजिक स्तरीकरण के प्रश्न से समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत जिस तरह से जूझ रहे हैं उसमें हमें एक रोचक समानता नजर आती है। इस विषय में दो सबसे प्रभावी परिप्रेक्ष्य हैं प्रकार्यवादी सिद्धांत और द्वंद्ववादी सिद्धांत। ये दोनों परिप्रेक्ष्य ऊपर बताए गए रूढ़िवादी और आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोणों से काफी समानता रखते हैं। ये दोनों परिप्रेक्ष्य इस विषय पर एक मानकीय दृष्टिकोण से शुरुआत करते हैं। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य या मतैक्य सिद्धांत सामाजिक विषमता की अपरिहार्यता और सामाजिक व्यवस्था के लिए इसके सकारात्मक कार्य पर जोर देता है। दूसरी ओर, द्वंद्ववादी सिद्धांत इसे उन हितों के रूप में देखता है जिन्हें एक विशेष समाज में विद्यमान असमानता के ढांचे में कुछ खास व्यक्तिय और समूह दूसरे की कीमत पर साधते हैं। इसीलिए वे इसकी अवैधता और नकारात्मक पहलू को उठाते हैं।

8.4 प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य

जैसा कि हमें मालूम है, प्रकार्यवादी या संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धांत समाज को एक सजीव समेकित तंत्र के रूप में देखता है, जिसके विभिन्न अंग या इकाइयां उसकी अनिवार्य जरूरतों को पूरा करने का काम करती हैं। ये सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण को भी इसी तरह आवश्यकताओं, अपेक्षाओं के रूप में लेते हैं, सामाजिक असमानता के पैटर्न जिनकी पूर्ति समग्र समाज के लिए करते हैं। इस प्रकार सामाजिक असमानता उनके लिए सिर्फ एक अपरिहार्य वास्तविकता ही नहीं बल्कि व्यवस्था की जरूरत भी है। सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों में सबसे प्रमुख टैलकॉट पारसंस और किंग्सले डेविस हैं।

MAADHYAM IAS

जैसा कि हम बता चुके हैं, प्रकार्यवादी मत का मूल प्रस्थान बिंदु यह है कि स्तरीकरण समाज की जरूरतों से उत्पन्न होता है न कि व्यक्तियों की जरूरतों और इच्छाओं से। पारसंस के अनुसार हर समाज के कुछ साझे मूल्य होते हैं जो समाज की जरूरतों, उसकी अपेक्षाओं से जन्म लेती हैं। अब चूंकि सभी समाजों की ये जरूरतें कमोबेश समान होती हैं इसलिए ये मूल्य भी पूरे विश्व में एक जैसे ही होते हैं। इन मूल्यों में कोई अंतर होता है तो सिर्फ इन की सापेक्षिक श्रेणी में। एक समाज कार्यकुशलता को स्थिरता से अधिक महत्व दे सकता है तो दूसरे समाज में कार्यकुशलता से अधिक महत्व स्थिरता को मिल सकता है। मगर हर समाज को कार्यकुशलता और स्थिरता दोनों को कुछ हद तक महत्व देना चाहिए। सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था अनिवार्यत: उस समाज की मूल्य व्यवस्था की अभिव्यक्ति है। जो पद-स्थान समाज द्वारा निर्धारित मानदंडों पर खरे उतरते हैं उन्हें उन पद-स्थानों से अधिक पारितोषिक दिया जाता है जिनका समाज की दृष्टि में महत्व कम है।

इसी प्रकार, डेविस इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि स्तरीकरण प्रत्येक मानव समाज की दो विशिष्ट साझी जरूरतों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। पहली, समाज में सबसे महत्वपूर्ण पद-स्थानों को सबसे योग्य व्यक्तियों से भरना चाहिए। दूसरी, समाज को महत्वपूर्ण पद-स्थानों पर आसीन लोगों को कम महत्व के पदों पर आसीन लोगों से अधिक पुरस्कार देना चाहिए। वह कहते हैं, "सामाजिक विषमता इस प्रकार अचेतन रूप से विकसित की गई युक्ति है जिससे समाज यह सुनिश्चित करता है कि सबसे महत्वपूर्ण पद-स्थानों को पूरे विवेक से सबसे सुयोग्य व्यक्तियों से ही भरा जाए।"

डेविस के अनुसार अत्यधिक महत्वपूर्ण पद-स्थानों से जुड़े पारितोषिकों के स्वरूप को दो महत्वपूर्ण कारक तय करते हैं: i) इन पद-स्थानों का समाज के लिए प्रकार्यात्मक महत्व, ii) इस श्रेणी के लिए सुयोग्य व्यक्तियों की सापेक्षिक दुर्लभता। उदाहरण के लिए, एक डॉक्टर प्रकार्य की दृष्टि से समाज के लिए एक मेहतर से अधिक महत्वपूर्ण है। डॉक्टर बनने के लिए जरूरी योग्यता हासिल करने के लिए लंबा प्रशिक्षण चाहिए। इस कारण समाज में डॉक्टर बड़ा दुर्लभ होता है और इसीलिए उसके लिए अधिक पारितोषिक तय किए जाते हैं। जब चूंकि सभी पद-स्थान सामाजिक महत्व के नहीं हो सकते और न ही महत्वपूर्ण पद-स्थानों के लिए सभी व्यक्ति सामाजिक रूप से योग्य हो सकते हैं, इसलिए उनमें असमानता अपरिहार्य हो जाती है। डेविस तर्क देते हैं कि यह सिर्फ अपरिहार्य ही नहीं है बल्कि यह हर व्यक्ति के लिए अनिवार्यत: लाभकारी है क्योंकि हर व्यक्ति का जीवन और कल्याण समाज के अस्तित्व और उसके कल्याण पर निर्भर करता है।

8.5 द्वंद्व सिद्धांत

द्वंद्व सिद्धांत की प्रेरणा कार्ल मार्क्स की कृतियां रही हैं, जिन्होंने पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की विस्तृत मीमांसा तैयार की और सभी के लिए सामाजिक समानता के सिद्धांत के आधार पर एक समाजवादी समाज की स्थापना का दर्शन दिया। जैसा कि लेंस्की तर्क देते हैं, मार्क्स पहले विद्वान थे जिन्होंने उदार अर्थशास्त्रियों और प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों द्वारा रचित 'रूढ़िवादी प्रस्थापना' के प्रत्युत्तर में 'आमूल-परिवर्तनवादी प्रतिस्थापना' प्रस्तुत की थी।

अभ्यास 1

प्रकार्यवादी और द्वंद्व जैसे दो भिन्न परिप्रेक्ष्यों से क्या एक ऐसा नजरिया निकल सकता है जो दोनों को लेकर चलता हो? अगर निकल सकता है तो कैसे? इस प्रश्न पर अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ चर्चा कीजिए और अपनी नोटबुक में टिप्पणी लिखिए।

MAADHYAM IAS

प्रकार्यवादियों के विपरीत, द्वंद्व सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण के प्रश्न का समाधान तलाशने के लिए समाज की अमूर्त धारणा लेकर नहीं चलता जिसकी अपनी कुछ जरूरतें हों। बल्कि वह मानकर चलता है कि समाज विभिन्न व्यक्तियों और समूहों से बनता है जिनकी कुछ जरूरतें, अपेक्षाएं और हित होते हैं। यही जरूरतें और हित द्वंद्ववादी सिद्धांतकारों के लिए प्रस्थान बिंदु हैं। प्रकार्यवादी समाज और सामाजिक असमानता के अपने विश्लेषण में शक्ति या सत्ताधिकार की अवधारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते। लेकिन द्वंद्ववादी सबसे पहले सत्ताधिकार के प्रश्न से ही अपनी बात शुरू करते हैं। उनकी नजर में समाज एक रंगमंच है जिसमें उपलब्ध दुर्लभ संसाधनों और समाज में प्रतिष्ठित पद-स्थानों के लिए व्यक्तियों और समूहों में संघर्ष होता है। जो लोग सत्ताधिकार संपन्न और शक्तिशाली हैं वे अपनी ताकत के बूते प्रतिष्ठित, महत्वपूर्ण पद-स्थानों को हथिया लेते हैं। कुछ समूहों के अन्य समूहों पर प्रभुत्व से ही समाज में विषमताएं जन्म लेती हैं। उदाहरण के लिए, जो लोग धनी हैं वे अपने बच्चों को अच्छे स्कूलों में पढ़ने भेजते हैं और यही कारण है कि वे आगे चलकर उन पद-स्थानों के लिए स्पर्धा कर लेते हैं जिनका महत्व और मान अधिक है। दूसरी ओर, गरीब अपने बच्चों को साधारण स्कूलों में भी नहीं भेज पाते इसलिए वे धनी और शक्तिशाली लोगों के साथ कभी स्पर्धा नहीं कर पाते हैं। इन दोनों मतों की तुलना करते हुए लेंस्की लिखते हैं:

प्रकार्यवादी समान हितों की बात करते हैं जो समाज के सभी सदस्यों के साझे होते हैं। लेकिन द्वंद्ववादी ऐसे हितों की बात करते हैं जो उन्हें बांटते हैं, विभाजित करते हैं। प्रकार्यवादी सामाजिक संबंधों से मिलने वाले लाभों की बात करते हैं, मगर द्वंद्ववादी सिद्धांतकार प्रभुत्व और शोषण के तत्वों को महत्व देते हैं। प्रकार्यवादियों के अनुसार सामाजिक एकता का आधार मतैक्य है, तो द्वंद्ववादी सिद्धांतकार बाध्यता को इसका आधार बताते हैं। प्रकार्यवादी में मानव समाजों को सामाजिक व्यवस्थाओं के रूप में देखते हैं तो द्वंद्ववादी सिद्धांतकार उन्हें रंगमंच के रूप में पाते हैं जिस पर सत्ताधिकार और विशेषाधिकारों के लिए संघर्ष होता है।

इन दोनों मतों को आम तौर पर एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत माना जाता है। मगर वहीं कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जिनका मानना है कि इन दोनों परिप्रेक्ष्यों में कई बाते समान हैं। इन विद्वानों का तर्क है कि द्वंद्व और मतैक्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। किसी भी समाजशास्त्रीय सिद्धांत को सामाजिक यथार्थ के सभी पहलुओं को लेकर चलना चाहिए। कुछ समाजशास्त्रियों ने इन ध्रुविताओं के दायरे से बाहर निकलकर समाज और सामाजिक स्तरीकरण के एक एकीकृत या संयोजित सिद्धांत की रचना की है, जिसमें दोनों दृष्टिकोणों को साथ मिलाने का प्रयास किया गया है। डाहरेंडॉर्फ, लेंस्की, बर्ध और लहमान जैसे समाजशास्त्रियों ने यह काम किया है।

8.6 संश्लेषण की दिशा में

इस शब्द को जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अपने द्वंद्वात्मक सिद्धांत के जरिए लोकप्रिय बनाया था। उनके विचारों के अनुसार संपूर्ण मानव चिंतन विरोध या निषेध की प्रक्रिया से गुजरता है। एक विशेष विचार या प्रस्थापना ('थीसिस') एक विरोधी विचार या प्रतिस्थापना ('एंटी-थीसिस') के विकास की ओर ले जाती है। द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के जरिए एक नए विचार का संश्लेषण होता है जो प्रस्थापना ('थीसिस') और प्रतिस्थापना ('एंटी-थीसिस') दोनों के मान्य बिन्दुओं को जोड़ता है और प्रश्न को एक अलग धरातल से देखता है। जैसा कि लेंस्की कहते हैं, "प्रस्थापना ('थीसिस') और प्रतिस्थापना ('एंटी-थीसिस') दोनों अनिवार्यत: असमानता के नियामक सिद्धांत हैं जिनका सरोकार नैतिक मूल्यांकन और न्याय के प्रश्न से रहता है। मगर संश्लेषण ('सिंथेसिस') अनिवार्यत: अनुभ्वजन्य संबंधों और उनके कारणों से होता है।" दूसरे शब्दों में, प्रस्थापना और प्रतिस्थापना वैचारिक से बनते हैं, लेकिन संश्लेषण ('सिंथेसिस') अनुभवजन्य सूचनाओं के संग्रहण पर निर्भर करता है। यह मानव समाज में व्याप्त असमानता की युगों पुरानी समस्या के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि के आधुनिक अनुप्रयोग का परिणाम है।

8.6.1 प्रारंभिक प्रयास

सामाजिक विषमता के विषय पर स्थापित रूढ़िवादी और आमूल परिवर्तनवादी धारणाओं के दायरे से बाहर जाने का सबसे प्रारंभिक प्रयास हम जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर की रचनाओं में पाते हैं। हालांकि उन्होंने चिंतन की इन दोनों परंपराओं को जोड़ने का कोई सचेतन प्रयास नहीं किया था, मगर इन विषयों पर उन्होंने जो लिखा है, वह उनके विश्लेषणधर्मी अध्ययन को दर्शाता है। इसमें उन्होंने दोनों परिप्रेक्ष्यों की ओर से महत्वपूर्ण दृष्टि डाली है, जो हमें ध्रुविताओं और नैतिक दृष्टिकोण के दायरे से बाहर ले जाती है। उदाहरण के लिए, वर्ग की अवधारणा का विवेचन करते हुए वेबर हालांकि मार्क्स से सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह सामाजिक संरचना या ढांचे का एक महत्वपूर्ण पहलू है, लेकिन वह मार्क्स के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि वर्ग का अस्तित्व समाज को अनिवार्यत: वर्ग संघर्ष की ओर ले जाता है। इसी प्रकार मार्क्स के विपरीत वेबर 'सत्ताधिकार' और 'प्रतिष्ठा' का अर्थ अनिवार्यत: 'वर्ग' से नहीं लेते। इसके बावजूद वेबर कहते हैं कि पूंजीवादी समाज के ढांचे पर जो उन्होंने कहा है उसे ही आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है।

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक स्तरीकरण के द्वंद्ववादी और प्रक्रियावादी सिद्धांतों की तुलना कीजिए और उनमें अंतर बताइए। पांच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) सामाजिक स्तरीकरण के दृष्टिकोणों के संश्लेषण की दिशा में आरंभिक प्रयासों के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

वेबर के अलावा सामाजिक स्तरीकरण के दोनों परिप्रेक्ष्य के संश्लेषण के प्रयास हमें विल्फ्रेडो पैरेटो, पिटिरिम सोरोकिन और स्टैन्सिलॉव ओसोवस्की की रचनाओं में मिलते हैं। कुछ समय पहले पियरे वैन डेन बर्घ, गेरहार्ड लेंस्की और लहमान ने भी ऐसा प्रयास किया।

8.7 पियरे वैन डेन बर्घ का महान संश्लेषण सिद्धांत

अपने एक शोध लेख, "डायलेक्टिक ऐंड फंक्शनलिज्म: टुवार्ड ए थ्योरेटिकल सिंथेसिस" (द्वंद्वात्मकवाद और प्रकार्यवाद: सैद्धांतिक संश्लेषण) में पियरे वैन डेन बर्घ ने समाजशास्त्रीय सिद्धांत स्थापना की दो मुख्य परंपराओं में विद्यमान समान तत्वों को पहचानने का प्रत्यत्न किया था, जिसके लिए उन्होंने हेगेल के संश्लेषण सिद्धांत का प्रयोग किया। उनका यह लेख *अमेरिकन सोश्योलॉजिकल रिव्यू* में 1963 में छपा था।

बर्घ इस लेख में तर्क देते हैं कि प्रकार्यवाद और मार्क्सवादी, दोनों द्वंद्व सिद्धांत में हर एक सामाजिक यथार्थ के दो में से एक अनिवार्य पहलू को महत्व देते हैं। "इनमें से हर सिद्धांत सिर्फ सामाजिक यथार्थ के दोनों पहलुओं में एक को ही विशेष महत्व नहीं देता जो कि एक दूसरे के पूरक तो हैं ही, एक दूसरे में अभिन्न रूप से गुंथे हुए भी हैं। बल्कि कुछ विश्लेषणात्मक सिद्धांत दोनों दृष्टिकोणों पर समान रूप से लागू होते हैं।" लेकिन सिर्फ यह कह देना ही काफी नहीं होगा कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। हमें यह भी सिद्ध करना होगा कि दोनों को मिलाया जा सकता है। बर्घ के अनुसार दोनों दृष्टिकोणों के घटकों को बनाए रख कर और उनमें परिवर्तन करके हम समाज के एक ही ऐसे एकीकृत सिद्धांत की रचना कर सकते हैं। बर्घ बताते हैं कि ये दोनों सिद्धांत चार महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर मिलते हैं।

पहला, दोनों दृष्टिकोण स्वभाव में साकल्यवादी हैं क्योंकि दोनों समाज को एक तंत्र के रूप में देखते हैं, जिसके परस्पर संबंद्ध और परस्पर निर्भर अंग होते हैं। मगर इसके विभिन्न अंगों के परस्पर संबंध को लेकर दोनों का अलग-अलग नजरिया है। प्रकार्यवाद अंगों की आपसी परस्पर निर्भरता को ही महत्व देता है तो वहीं द्वंद्वात्मक सिद्धांत व्यवस्था के विभिन्न अंगों के बीच द्वंद्वपूर्ण संबंधों की ही बात करता है। इसलिए एक पहलू की कीमत पर दूसरे पहलू को अत्यधिक महत्व देने के लिए दोनों सिद्धांतों की आलोचना की गई है। बल्कि व्यवस्था या तंत्र की अवधारणा को परस्पर निर्भरता और द्वंद्व के दोनों तत्वों को साथ लेकर चलने की जरूरत है।

अभ्यास 2

स्तरीकरण सिद्धांत के महान संश्लेषण का क्या औचित्य है? अध्ययन केन्द्र के अन्य छात्रों के साथ इस प्रश्न पर चर्चा कीजिए और अपनी नोटबुक में एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

दूसरा, द्वंद्व और मतैक्य के प्रति इनका सरोकार एक-दूसरे पर हावी रहता है। प्रकार्यवादी तो मतैक्य को समाज की स्थिरता और उसके एकीकरण का मुख्य आधार मान कर चलता है। मगर द्वंद्वात्मक सिद्धांत संघर्ष या द्वंद्व को समाज के विखंडन और क्रांति का स्रोत मानता है। लेकिन बर्घ का कहना है कि इन दोनों का एक संयोजित सिद्धांत में मिलन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कोजर ने द्वंद्व के एकीकरणात्मक और स्थिरतकारी पहलू की ओर हमारा ध्यान खींचा है। विखंडन की ओर ले जाने की बजाए द्वंद्व सामाजिक व्यवस्था में एक परिवर्तनकारी और गतिशील साम्य या संतुलन बनाए रखने में

सहायक हो सकता। फिर कई समाज ऐसे भी हैं जिनमें द्वंद्व को इस तरह से संस्थागत और औपचारिक रूप दे दिया गया है कि वह उनके एकीकरण में सहायक दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक समाजों के मजदूर संघों यूनियनों की उपस्थिति औद्योगिक संबंधों के नियमन में सहायक है। मजदूरों के ये संगठन विखंडनकारी किस्म के वर्ग संघर्ष की संभावना को रोकने के लिए 'सेफ्टी वाल्व' की तरह काम करते हैं। ठीक इसी तरह विभिन्न समूहों में अत्यधिक एकता एक बहुविध समाज में अंतःसमूह द्वंद्वों को जन्म दे सकता है, जिसमें विविध सांस्कृतिक समूह एक साथ रह रहे हों।

तीसरा, प्रकार्यवादी और द्वंद्ववादी/द्वंद्वात्मक सिद्धांत दोनों सामाजिक परिवर्तन की क्रमिक विकास की धारणा को लेकर चलते हैं। हालांकि ऐतिहासिक परिवर्तन की धारा में निहित चरणों और प्रक्रियाओं से जुड़ी ये धारणाएं एक दूसरे से अलग हैं, लेकिन इसके बावजूद वे उन्नति या विकास में समान रूप से विश्वास करते हैं। मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक सिद्धांत वर्ग संघर्ष के जरिए होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया का दर्शन देता है। मगर वहीं प्रकार्यवादी इस परिवर्तन की सामाजिक विभेदन की सतत प्रक्रिया का परिणाम मानते हैं। मगर जैसा कि बर्घ तर्क देते हैं, परिवर्तन के दोनों सिद्धांतों में कम से कम एक महत्वपूर्ण बात तो समान रूप से पाई जाती है। दोनों सिद्धांत यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक व्यवस्था को एक निश्चत सोपान तक पहुंचने के लिए सभी पूर्ववर्ती चरणों से गुजरना जरूरी है। इसलिए वह उन सबको अपने में समाए रखता है भले ही वह अवशेष मात्र या परिवर्तित रूप में हो। चौथा, बर्घ दावा करते हैं कि प्रकार्यवादी और द्वंद्वात्मक या द्वंद्ववादी सिद्धांत दोनों "एक संतुलन मॉडल" पर आधारित हैं। प्रकार्यवादी सिद्धांत में तो यह साफ जाहिर हो जाता है मगर प्रस्थापना-('थीसिस')-प्रतिस्थापना-('एंटीथीसिस') संश्लेषण (सिंथेसिस) के द्वंद्वात्मक क्रम में भी साम्य या संतुलन का विचार निहित है। द्वंद्वात्मकता का सिद्धांत समाज को इस दृष्टि से देखता है कि वह संतुलन और असंतुलन के बदलते चरणों से गुजरता है। द्वंद्वात्मक सिद्धांत में संतुलन की अवधारणा गतिशील संतुलन की शास्त्रीय अवधारणा से भिन्न है, मगर दोनों दृष्टिकोणों को परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता और न ही ये एकीकरण के दूर-व्यापी रुझान के अभ्युगम के असंगत हैं।

8.8 एन. लहमान का सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत

MAADHYAM IAS

अभी कुछ समय पहले, एन. लहमान ने समाज विज्ञान की बुनियादी समस्या को समझने के लिए सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण की मौजूदा व्याख्याओं के दायरे से निकलकर विश्लेषण की दृष्टि से एक संश्लेषित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। लहमान के अनुसार समाज के समाजशास्त्रीय सिद्धांत में व्यवस्थाओं या प्रणालियों के सामान्य सिद्धांत में क्रमिक विकास के सामान्य सिद्धांत का समावेश होना चाहिए, जिसमें इन सभी को परस्पर निर्भर माना जाए। इसी प्रकार समाज के सामान्य सिद्धांत को स्थिरता-परिवर्तन, संरचना-प्रक्रिया और मतैक्य-द्वंद्व के द्विभाजन से परे जाना चाहिए। इसी प्रकार द्वंद्व के सिद्धांत को मतैक्य सिद्धांत भी प्रदान करना चाहिए और प्रक्रिया के सिद्धांत को सामाजिक संरचना की भी व्याख्या करनी चाहिए।

बॉक्स 8.01

सामाजिक स्तरीकरण या सामाजिक असमानता पर जो भी साहित्य मौजूद है वह ज्यादातर इसे नैतिकता के परिप्रेक्ष्य से देखता है। यानी यह उसे 'अच्छा' या 'बुरा' रूप में लेता है। मार्क्सवादी विद्वान और द्वंद्ववादी सिद्धांतकार इसे प्रभुत्व और शोषण के रूप में लेते हैं और इसलिए इसे अनिवार्य रूप से बुरा कहते हैं। उधर, प्रकार्यवादी सिद्धांत समाज में काम कर रही स्तरीकरण प्रणाली जिन सामाजिक जरूरतों और अपेक्षाओं की पूर्ति करती है, उनकी बात करते हुए उसे सही ठहराता है। मगर लहमान सामाजिक स्तरीकरण को क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

लहमान का तर्क है कि सिर्फ पराधीनता-प्रभुत्व/शोषण के मुद्दे पर ही केन्द्रित रहना या फिर समाज के लिए यह एकीकरण का जो कार्य करता है उसके आधार पर इसे उचित ठहराना, दोनों ही भ्रामक होगा। शुरुआत में स्तरीकरण समाज के आकार और जटिलता में वृद्धि का परिणाम था। समाज के आकार और उसकी परिभाषा में और वृद्धि होने से समाज के सभी सदस्यों के लिए निजी स्तर पर परस्पर प्रभावी क्रिया असंभव हो गई। "सामाजिक संप्रेषण" के लिए "वरणात्मक तीव्रकों" (सेलेक्टिव इंटेंसीफायर) की जरूरत

हुई। इस का समाधान स्तरीकरण ने निकाला। इसने समाज को असमान उप-व्यवस्थाओं में बांटा। इसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक परिवेश के साथ इसकी परस्पर प्रभावी क्रिया के स्तर पर तो असमानता एक मानक बन गई। मगर उप-समूह के अंदर समानता एक निर्देशक सिद्धांत, एक मानक बन गई, जो एक सामाजिक स्तर विशेष के सदस्यों के बीच संप्रेषण और सामाजिक परस्पर प्रभावी क्रिया या व्यवहार को संचालित करने लगी।

इस प्रकार शुरुआत में विभेदन की जो प्रक्रिया समाज के आकार और जटिलता में वृद्धि से आरंभ होती है, उसी से समाज में खंडीय विभाजन भी होता है। खंडीय विभाजन का एक चिर-परिचित उदाहरण वर्ण व्यवस्था है। इस चरण पर विभेदन की भूमिका परिवार के स्तर पर होती है और प्रत्येक खंड एक संवृत्त या बंद सामाजिक स्तर होता है। मगर विभेदन की प्रक्रिया जैसे-जैसे आगे बढ़ती है उसकी जगह स्तरीकरण की वर्ग जैसी खुली व्यवस्था ले लेती है, "प्रकार्यात्मक विभेदन के प्रभाव जिसकी निरंतर पुनरुत्पत्ति करते हैं।"

8.9 गेरहार्ड लेंस्की: सत्ताधिकार और विशेषाधिकार सिद्धांत

इस इकाई में जिन तीन विद्वानों का हमने उल्लेख किया है उनमें गेहराई लेंस्की के कार्य में सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांतों का संश्लेषण करने का सबसे व्यवस्थित प्रयास मिलता है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *पॉवर ऐंड प्रिविलेज: ए थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रैटीफिकेशन* के पहले अध्याय में लेंस्की स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के लिए एक संश्लेषित सिद्धांत की रूपरेखा बनाने के इस प्रयास में उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण तीन प्रश्नों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। सबसे पहले, वह स्तरीकरण के परिणामों के बजाए उसके कारणों को अधिक महत्व देते हैं जबकि अधिकांश विद्वानों ने स्तरीकरण के परिणामों को महत्व दिया है। दूसरा, जैसा कि उनकी पुस्तक के शीर्षक से संकेत मिलता है, उनका मुख्य विषय प्रतिष्ठा के बजाए सत्ताधिकार और विशेषाधिकार हैं। आखिर में वह सामाजिक स्तरीकरण को मानव समाज में वितरणात्मक प्रक्रिया के तुल्य मानते हैं, जिसके जरिए दुर्लभ मूल्यों का वितरण होता है।

MAADHYAM IAS

इतिहास की दृष्टि से देखें तो वितरण और सामाजिक असमानता का प्रश्न तभी महत्वपूर्ण हो जाता है जब समाज बेशी उत्पादन करने लगता है, यानी वह एक निश्चित जनसंख्या के जीवित रहने के लिए जरूरी से अधिक उत्पादन करने लगता है। लेंस्की के लिए मूल प्रश्न यह था कि इस स्थिति में 'कौन कितना पाता है और क्यों पाता है'। उनका उत्तर सरल और स्पष्ट है: "समाज में पारितोषिकों का वितरण सत्ताधिकार (शक्ति) के वितरण का फलन हैं।" यह उत्तर संरचनात्मक प्रकार्यवादियों के प्रत्युत्तर में है जो पारितोषिकों के विभेदी वितरण को सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक जरूरतों के रूप में समझते हैं। लेंस्की का उत्तर हालांकि बड़ा सरल सा लगता है मगर सामाजिक स्तरीकरण का जो सिद्धांत उन्होंने रखा है वह काफी गहरा और विस्तृत है। उन्होंने समाज में सत्ताधिकार और विशेषाधिकार के ढांचे को तय करने वाली वितरण प्रणाली की कार्यशैली का एक बहुआयामी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बॉक्स 8.02

वितरण प्रणाली को ढांचे की रचना तीन प्रकार की इकाइयों से होती है: व्यक्ति, वर्ग और वर्ग व्यवस्था। इनमें हर इकाई एक-दूसरे से जुड़ी होती है और एक वितरणात्मक प्रणाली के अंदर संगठन के एक भिन्न स्तर को दर्शाती है। लेंस्की के अनुसार व्यक्ति इस प्रणाली के बुनियादी स्तर पर रहते हैं। मगर वर्गों के भीतर वे उनकी इकाई बन जाते हैं। बदले में वर्ग भी वर्ग व्यवस्था में उनकी इकाई बनते हैं।

मगर लेंस्की ने वर्ग की जो धारणा रखी है वह कार्ल मार्क्स या मैक्स वेबर की धारणा से बिल्कुल भिन्न है। मार्क्स और वेबर वर्ग को मुख्यत: आर्थिक आधार पर परिभाषित करते हैं और उसे समाज की अर्थव्यवस्था का हिस्सा मानते हैं। लेकिन लेंस्की इसे बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं और इसके राजनीतिक आयामों पर अधिक जोर देते है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, लेंस्की की दृष्टि में स्तरीकरण समाज का एक बहुआयामी पहलू है और इसीलिए वह वर्ग की एकआयामी परिभाषा को अस्वीकार करते हैं।

मानव समाज तरह-तरह से स्तरित रहता है और स्तरीकरण की इन वैकल्पिक रीतियों में हर एक वर्ग की एक भिन्न संकल्पना का आधार बनती है। इस प्रकार वर्ग व्यक्तियों का समूह या समष्टि भर नहीं है जिनकी समाज में एक साझी आर्थिक हैसियत होती है या उत्पादन के ढांचे में एक साझा पद-स्थान होता है। उनके अनुसार, वर्गों के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं जैसे राजनीतिक वर्ग, जातीय वर्ग, प्रतिष्ठा वर्ग इत्यादि।

लेंस्की के अनुसार वर्ग "समाज में व्यक्तियों की एक समष्टि है, जो किसी प्रकार के सत्ताधिकार, विशेषाधिकार या प्रतिष्ठा के मामले में एक समान स्थिति में खड़े होते हैं।" मगर वह साथ में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अगर हमें सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करनी हो या 'कौन क्या पाता है और क्यों पाता है' इस प्रश्न का समाधान करना है तो हमारा मुख्य सरोकार सत्ताधिकार वर्ग होना चाहिए। इसका कारण यह है कि प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार अमूमन सत्ताधिकार के वितरण से तय होते हैं। सत्ताधिकार वर्ग से लेंस्की का मतलब उन व्यक्तियों से है जिनकी पहुंच सत्ता या सत्ताधिकार के संस्थागत स्रोतों तक है या जिनके पास बल प्रयोग है। इस प्रकार उनकी वर्ग की परिभाषा में सबसे महत्वपूर्ण तत्व सत्ताधिकार है। लेकिन लेंस्की ने सत्ताधिकार और वर्ग को जिस तरह से परिभाषित किया है, उसके अनुसार व्यक्ति एक से अधिक वर्ग का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए, समकालीन भारतीय समाज में एक व्यक्ति संपत्ति स्वामित्व के मामले में मध्यम वर्ग का सदस्य, मगर वहीं वह कारखाने में नौकरी करने के कारण श्रमजीवी वर्ग का सदस्य और जाति से दलित होने के कारण वह अधीनस्थ संजातीय वर्ग का सदस्य भी हो सकता है। इन बड़ी भूमिकाओं में उसकी हर भूमिका और संपत्ति क्रम परंपरा में उसकी हैसियत, ये दोनों मिलकर उन चीजों और सुखों को प्राप्त करने के उसके अवसरों को प्रभावित करते हैं जिन्हें पाने की उसमें लालसा रहती है। इस प्रकार उसकी हर भूमिका उसे एक विशिष्ट वर्ग में रखती है। लेंस्की के अनुसार वर्ग स्थिति या हैसियत की यह बहुआयामिता व्यक्ति के प्रौद्योगिकी की दृष्टि से आदिम समाज से उन्नत समाज में आगे बढ़ने पर और अधिक प्रखर हो जाती है। वह तर्क देते हैं कि प्रत्येक असम या स्तरित व्यवस्था में द्वंद्व की सम्भावना मौजूद रहती है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के साझे हित होते हैं जो अन्य वर्गों के प्रति उनमें वैमनष्य का संभावित आधार बनते हैं। एक वर्ग विशेष के सदस्यों का अपने साझे संसाधनों की रक्षा करने और उनका महत्व बढ़ाने और विरोधी वर्गों के संसाधनों के महत्व को घटाने में अपना निहित स्वार्थ होता है। लेकिन लेंस्की दावे के साथ यह नहीं कहते हैं कि वर्ग हमेशा मिल जुल कर कार्रवाई करते हैं या वे अपने साझे हितों के प्रति सजग होते हैं, वह यह भी नहीं कहते कि वे विरोधी वर्गों के प्रति हमेशा शत्रुतापूर्ण होते हैं। एक वर्गीय ढांचा संभावनाओं का संकेत देता है जिन्हें व्यक्ति फलीभूत बना सकता है, मगर उनके बारे में कुछ भी अपरिहार्य नहीं है।

MAADHYAMIAS

बोध प्रश्न 2

1) बर्ध के सामाजिक स्तरीकरण को सिद्धांत की रूपरेखा पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

2) एन. लहमान के सामाजिक स्तरीकरण को व्यवस्था सिद्धांत के बारे में संक्षिप्त नोट लिखिए। अपना उत्तर लगभग पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

3) लेंस्की के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत में सत्ताधिकार और विशेषाधिकार का क्या स्थान है, बताइए। पांच पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

....

....

....

....

....

लेंस्की के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत का आखिरी घटक वर्ग व्यवस्था की अवधारणा है। उन्होंने वर्ग व्यवस्था को वर्गों की क्रम परंपरा के रूप में परिभाषित किया है जो किसी एक प्रतिमान के अनुसार श्रेणियों में बंटे होते हैं। लेकिन वर्ग व्यवस्था अकेली नहीं होती। वह तर्क देते हैं कि जब हम यह वास्तविकता जान लेते हैं कि सत्ताधिकार का आधार बहुविध है और इन्हें किसी अकेली कोटि या श्रेणी में समेट कर नहीं रखा जा सकता, तो वर्ग क्रम परंपराओं और वर्ग व्यवस्थाओं की शृंखला के रूप में सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

8.10 सारांश

सामाजिक असमानता या सामाजिक स्तरीकरण मानव इतिहास में बहस का सबसे बड़ा मुद्दा रहा है। सिर्फ समाजशास्त्रियों ने ही इसकी परस्पर विरोधी सैद्धांतिक व्याख्याएं नहीं दी हैं बल्कि साधारण चिंतकों, दार्शनिकों और धार्मिक नेताओं में भी यह बड़े ही विवाद का मुद्दा रहा है। हालांकि कई समाजशास्त्रियों ने इन परस्पर विरोधी सिद्धांतों की अलग-अलग कड़ियों को जोड़कर उन्हें संश्लेषित रूप देने का प्रयास भी किया है। बर्घ, लहमान और लेंस्की ऐसे ही तीन समाजशास्त्री हैं जिनके बारे में हमने आपको पीछे विस्तार से बताया है। लेकिन इस मुद्दे का अभी तक कोई संतोषप्रद समाधान नहीं निकल पाया है। बर्घ, लहमान और लेंस्की ने जो संश्लेषित या संयोजित सिद्धांत रखे हैं उन्हें सभी समाजशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया है। पेशे से समाजशास्त्री और साधारण चिंतकों में स्तरीकरण के कारणों और परिणामों को लेकर मतभेद अभी भी जारी हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.11 शब्दावली

द्वंद्व सिद्धांत : इसमें स्तरीकरण को दो विरोधी वर्गों के परिणाम के रूप में लिया जाता है। इसके अनुसार जिस वर्ग के स्वामित्व में उत्पादन के साधन हैं वह मजदूर वर्ग का शोषण करता है।

प्रकार्यवादी सिद्धांत : इसमें समाज में प्रचलित प्रत्येक पद-स्थान और दर्जे को समाज को बनाए रखने और उसकी एकता के लिए सहायक माना जाता है।

संश्लेषण : यह सामाजिक स्तरीकरण से जुड़ी भिन्न दृष्टिकोणों को एक सरल सिद्धांत में जोड़ने का प्रयत्न है जिसके सूत्र अन्य सिद्धांतों में हैं।

8.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बर्घ, पियरे वैन डेन (1963) "डायलेक्टिक ऐंड फंक्शनलिज्म: टुवार्ड ए थ्योरेटिकल सिंथेसिस" *अमेरिकन सोशयोलाजिकल रिव्यू* 28, पृ. 695-705

लेंस्की, (1966) *पॉवर ऐंड प्रिविलेज: ए थ्योरी ऑफ स्ट्रैटिफिकेशन*, न्यू यार्क, मैकग्रा हिल बुक कंपनी लहमान, एन. (1995), *सोशल* सिस्टम्स, स्टैनफर्ड यूनि० प्रेस।

8.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रकार्यवादी सिद्धांतकार समाज को एक सजीव तंत्र की तरह देखते हैं जिसके विभिन्न अंग उसकी अनिवार्य जरूरतों को पूरा करते हैं। तंत्र या समाज की अपनी 'आवश्यकताएं' होती हैं। सामाजिक स्तरीकरण की प्रणाली उसी समाज की मूल्य व्यवस्था का प्रतिबिंब है। द्वंद्ववादी सिद्धांतकार सत्ताधिकार की धारणा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार समाज में संघर्ष सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित, माननीय पद-स्थानों के लिए होती है। इस प्रकार प्रकार्यवादी साझे हितों को महत्व देते हैं तो दूसरी ओर द्वंद्ववादी सिद्धांतकार प्रभुत्व और शोषण पर अधिक जोर देते हैं।

2) संश्लेषण शब्द को लोकप्रिय हेगेल ने बनाया, जिसका आधार मानव असमानता की अनुभवजन्य सूचना है। सामाजिक स्तरीकरण अध्ययन में संश्लेषण की शुरुआत मैक्स वेबर से हुई थी। वेबर का मत वर्गों की ध्रुविताओं या नैतिक रुखों से आगे जाता है। इस प्रकार मार्क्स के चिंतन को पूंजीवाद में आगे विस्तार देने के प्रयास में वेबर वर्ग, सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा पर मार्क्स से सहमत नहीं हैं। संश्लेषण की दिशा में शुरुआती प्रयासों में पैरेटो, सोरोकिन और ओसोव्स्की के कार्य शामिल हैं।

बोध प्रश्न 2

1) बर्घ का स्तरीकरण सिद्धांत *उदात्त* संश्लेषण का प्रयास है। बर्घ के अनुसार प्रकार्यवाद और मार्क्सवाद दोनों सामाजिक यथार्थ के सिर्फ एक पहलू पर ही जोर देते हैं। उनका मानना है कि ये सिद्धांत इन बिन्दुओं पर मिलते हैं कि ये (i) साकल्यवादी हैं, (ii) दोनों के मूल में सामाजिक परिवर्तन की विकासात्मक धारणा है और (iii) ये एक साम्य या संतुलनवादी मॉडल पर आधारित हैं।

2) लहमान ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या के लिए सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत रखा था। उनके सिद्धांत में 'क्रमिक विकास' का सिद्धांत और संप्रेषण का सिद्धांत दोनों का समावेश है। लहमान द्वंद्व या मतैक्य को अंतिम संकेत नहीं मानते। उनका कहना है कि समाज का विकास आमने-सामने की परस्पर प्रभावी क्रिया के फलस्वरूप एक विशाल संख्या में हुआ और इससे असम या विषम उपव्यवस्थाएं उत्पन्न हो गईं जैसे, वर्ण व्यवस्था। समाज का जैसे-जैसे क्रमिक विकास होता है उसमें अधिक खुलापन आ जाता है और वह वर्ग जैसा बन जाता है।

3) लेंस्की ने अपने अध्ययनकार्य का विषय मुख्यतया (i) सामाजिक स्तरीकरण के कारणों, (ii) सत्ताधिकार और विशेषाधिकार और (iii) वितरण प्रक्रिया को बनाया। लेंस्की कहते हैं कि जब उत्पादन बेशी होता है तो उससे वितरण का प्रश्न उठता है और इससे सामाजिक विषमता उत्पन्न होती है। वितरण प्रणाली स्वयं व्यक्तियों, वर्गों और वर्ग व्यवस्था से बनती है इसलिए लेंस्की के मत में सत्ताधिकार, विशेषाधिकार या प्रतिष्ठा ही वर्ग बनाते हैं। उनकी परिभाषा बहुआयामी है, जो हमें वर्ग परंपरा की शृंखला और वर्ग व्यवस्थाओं के बारे में सोचने के लिए विवश करती है।

MAADHYAM IAS

इकाई 9 स्तरीकरण के आधार के रूप में जातीयता

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 जातीयता: इतिहास, परिभाषा और उसके घटक
9.3 जातीयता की आरंभिक धारणा
  9.3.1 जातीयता समूह
  9.3.2 जातीयता के प्रमुख घटक
9.4 समकालीन परिप्रेक्ष्य
  9.4.1 जातीयता और प्रकार्यवाद
  9.4.2 जातीयता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य
9.5 जातीय स्तरीकरण
  9.5.1 जातीय राष्ट्रवाद
  9.5.2 राष्ट्र और जातीय समूह
  9.5.3 राष्ट्रवाद और जातीयता
  9.5.4 राष्ट्रीयता का विकास
  9.5.5 जातीय राष्ट्रवाद और भारत
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- जैविक उत्पत्ति, सांस्कृतिक समांगता और जातीय स्वचेतना पर आधारित विभिन्न अवधारणाओं के बारे में बता सकेंगे;
- सांस्कृतिक जातीयता और राजनीतिक जातीयता के नजरिए से जातीयता के उदय को समझा सकेंगे;
- जातीय स्तरीकरण और जातीय राष्ट्रवाद के बारे में बता सकेंगे; और
- राष्ट्र और जातीय समूह, राष्ट्रीयता और जातीयता के बीच अंतर करते हुए भारत के विशेष संदर्भ में जातीय राष्ट्रवाद के बारे में बता पाएंगे।

9.1 प्रस्तावना

पिछली सदी के आखिरी तीन दशकों से जातीय समूह, जातीय पहचान और जातीयता जैसे शब्दों का चलन अकादमीय विश्लेषण में ही नहीं बल्कि संचार माध्यमों में भी आम हो गया है। असल में, वर्तमान समय में जातीयता ने एक सबसे आम श्रेणी का रूप धारण कर लिया है जिसे आज का मनुष्य अपने अनुभव और व्यवहार का मूल्यांकन करने, अपने आसपास की दुनिया को समझने-जानने और यह बताने के लिए करता है कि वह क्या है। कुछ समाजों में हालांकि जातीय श्रेणियां और संबंध अन्य समाजों से अधिक महत्व रखते हैं, लेकिन जातीयता बीसवीं सदी की सबसे विश्वव्यापी मूलभूत धारणाओं में एक है। यह विकसित और विकासशील देशों में अतीत और वर्तमान दोनों में देखने को मिलती है। जिन जनजातियों, गांवों को अभी तक सिर्फ तीसरी दुनिया के समाजों की विशेषता के रूप में देखा जाता है, वही अब आधुनिक समाजों की नई राज्य संरचनाओं का अभिन्न अंग बनते जा रहे हैं, क्योंकि वे जातीय समूहों का

स्वरूप धारण कर रहे हैं जिसमें अलग-अलग कोटि में एक सांस्कृतिक अनूठापन विद्यमान है। इसका परिणाम यह रहा है कि जातीयता को सैद्धांतिक और अन्वेष्णात्मक महत्ता मिल गई है।

9.2 जातीयता: इतिहास, परिभाषा और उसके घटक

आइए, अब हम जातीयता के इतिहास, उसकी परिभाषा और उसके घटकों के बारे में जानें।
'जातीय' (एथनिक) शब्द का एक लंबा इतिहास है। इस शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द *एथनोस* से हुई है जिसका अर्थ राष्ट्र है, लेकिन इसे एक राजनीतिक इकाई मानने के बजाए एक रक्त या वंश वाले व्यक्तियों की इकाई माना जाता है। इसके विशेषणात्मक पर्याय *एथनिकोस,* जिसे लैटिन में *एथनिकस* कहा जाता है, का अभिप्राय गैर ईसाई, उन 'अन्य लोगों' से है जिनकी आस्था दूसरे धर्म या मत में है। अंग्रेजी में लंबे समय तक इस शब्द को उन लोगों के लिए प्रयोग किया जाता रहा जो न तो ईसाई हैं और न ही यहूदी यानी मूर्तिपूजक। इसे अगर हम दूसरे शब्दों में कहें तो जातीय लोग वे 'अन्य लोग' थे जो 'हम' जैसे नहीं थे। लेकिन बीसवीं सदी में इस के ग्रीक मूल को फिर से प्रयोग में लाया जाने लगा। इसका अर्थ बदल दिया गया और "वे बनाम हम" का भाप खत्म हो गया। मगर इसे अब 'अन्य लोगों' को ही नहीं बल्कि 'हम लोगों' को भी परिभाषित करने के लिए एक खास तरीके के रूप में प्रयोग किया जाता है।

जातीय लोगों के फ्रेंच पर्याय, *एथनी* का प्रयोग करते हुए ऊमेन उन्हें ऐसे लोगों के रूप में परिभाषित करते हैं जिनकी विशेषता एक साझा इतिहास, साझी परंपरा, भाषा और जीवनशैली होती है। मगर इस परिभाषा के साथ उन्होंने 'घर या जड़ से उखड़ने' की भावना को भी जोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार जातीयता तब बनती है जब सैनिक विजय, उपनिवेशीकरण या पलायन के कारण लोग अपनी मातृभूमि, अपनी मिट्टी से उखाड़ दिए जाते हैं और एकदम नए वातावरण में विभिन्न प्रकार के समूह एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं। इस तरह से विस्थापित लोग जब अपनी भूमि से दूर होते हुए भी अपनी 'देशीय' जीवन शैली को ही अपनाते हैं तो उन्हें जातीय लोग कहा जाता है।

9.3 जातीयता की आरंभिक धारणा

उपलब्ध साहित्य पर दृष्टिपात करने से हमें जातीयता की तीन प्रचलित धारणाओं का पता चलता है: जैविक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। जैविक धारणा एक सामूहिक आनुवंशिक उत्पत्ति यानी वंशक्रम पर आधारित है। इसका मतलब यह हुआ कि जातीयता को नस्ल के पर्याय के रूप में ही लिया गया है। आरंभिक अध्ययनों में जैविक कारकों को ही जातीयता के घटकों के रूप में लिया गया और उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल और नस्लवाद की उत्पत्ति पर अधिक ध्यान दिया गया। इस नजरिए में जातीयता के सांस्कृतिक पहलू को पूर्णत: अनदेखा कर दिया गया था। जातीयता की दूसरी अवधारण एक नया चिंतन, एक नयी सोच लेकर चली, जिसने नस्ल को जातीयता से अलग किया। इस नजरिए में नस्ल को एक सांस्कृतिक पहलू के रूप में देखा गया। इसमें जातीय समूह को परिभाषित करने के लिए सिर्फ समान शारीरिक लक्षणों को ही काफी नहीं समझा गया बल्कि विभिन्न समूहों में विद्यमान सांकेतिक अंतरों को इसमें जातीयता का आधार बनाया गया है। जैसे मूल्य प्रथाएं, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जीवनशैली, अंचल इत्यादि के अलावा भाषा और धर्म जातीयता के महत्वपूर्ण प्रतीक बन गए हैं।

जातीयता की तीसरी धारणा इसे एक सामूहिक, साझी पहचान की चेतना के रूप में परिभाषित करती है। समान उत्पत्ति या वंशक्रम और सांस्कृतिक विशिष्टता दोनों को अलग-अलग या एक साथ जातीयता को परिभाषित करने के लिए अब पर्याप्त नहीं माना जाता। किसी समूह में जो मौजूद है वह महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि उसमें जो देखा और माना जाता है, उसे ही जातीयता के आधार के रूप में लिया जाता है। इसे सरल तरीके से कहें तो शारीरिक, मनोवृत्तीय, व्यावहारिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का समान रूप से होना ही जातीयता की भावनाएं जगाने के लिए पर्याप्त नहीं होती बल्कि समूह को अपने आपको अन्य से भिन्न और विशिष्ट देखना-समझना होता है, जिसका यही अभिप्राय है कि उसके सदस्यों को अपने आपको एक समूह के रूप में दर्शाना चाहिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.3.1 जातीय समूह

पॉल ब्रास के अनुसार जातीय समूह को परिभाषित करने के तीन तरीके हैं: (क) उसे उसकी वस्तुनिष्ठ विशेषताओं के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है, (ख) उसे उसमें प्रचलित व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं और (ग) व्यवहार के आधार पर पारिभाषित किया जा सकता है। इस तरह पहली परिभाषा का यह मतलब निकलता है कि एक समूह में कुछ ऐसी विभेदी *वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक विशेषताएं* विद्यमान होती हैं जो उसे अन्य समूहों से अलग करती हैं जैसे: भाषा, अंचल, धर्म, वेशभूषा इत्यादि जिन्हें हम *जातीय चिन्हक* कहते हैं। इन्हीं के माध्यम से एक जातीय समूह और दूसरे जातीय समूह में विद्यमान भेदों को व्यक्त किया जाता है और उन्हें बनाए रखा जाता है। इसलिए एक जातीय समूह, उदाहरण के लिए, दूसरे जातीय समूह के साथ आर्थिक क्रियाकलाप के उद्देश्य से परस्पर प्रभावी व्यवहार करता है, तो उसके वस्तुनिष्ठ जातीय चिन्हक उसकी पृथक सामूहिक पहचान की निरंतरता सुनिश्चित करते हैं। दूसरा पहलू यानी व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं की उपस्थिति का मतलब है समूह में *जातीय स्वचेतना* का मौजूद होना। जैसा कि हमने पीछे बताया है जातीय बंधुता के मूल में वास्तविक या काल्पनिक सामूहिक पहचान होती है। यहां गौर करने की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि एक साझी उत्पत्ति या साझे वंशक्रम का होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसमें विश्वास करना। महत्वपूर्ण यह है *लोग क्या सोचते-समझते* हैं। दूसरे शब्दों में जातीयता एक व्यक्तिनिष्ठ रचना या प्रस्थापना है। हम अपने आपको किस तरह देखते हैं यह वही है। इसका तीसरा आयाम व्यवहार है, जो ठोस, विशेष तरीकों की उपस्थिति के बारे में बताता है जिसमें जातीय समूह अन्य समूहों के संबंध में या उनके साथ परस्पर प्रभावी क्रिया के रूप में व्यवहार करते हैं या नहीं करते। इसका मतलब यह है कि एक जातीय समूह का अपना एक मानकीय व्यवहार या आचार संहिता होती है जिसमें नातेदारी, विवाह, मित्रता, धार्मिक अनुष्ठान की रीतियां इत्यादि शामिल हो सकती हैं।

9.3.2 जातीयता के प्रमुख घटक

इस प्रकार जातीय समूह एक ऐसा समूच्चय है समाज जिसे अन्य समूह से भाषा, धर्म, नस्ल , पैतृकगृह, संस्कृति इत्यादि में भिन्न मानते हैं और जिसके सदस्य स्वयं भी अपने आपको दूसरों से भिन्न मानते हैं और जो अपनी वास्तविक या मिथकीय सामूहिक उत्पत्ति और संस्कृति के इर्द-गिर्द रचित साझे क्रियाकलापों में हिस्सा लेते हैं। इन परिवर्ती कारकों के आधार पर एक समूह बमुश्किल जातीय से लेकर पूर्णत: जातीय हो सकता है। वृहत्तर समाज में यह एक ऐसा समुच्चय है जिसकी विशेषता एक वास्तविक या काल्पनिक साझी वंश-परंपरा, एक साझे ऐतिहासिक अतीत की समृतियां जैसे घटक हैं और जिसका सांस्कृतिक केन्द्र-बिन्दु नातेदारी के पैटर्न, धार्मिक संबंध, भाषा या बोली रूप इत्यादि जैसे एक या अधिक सांकेतिक घटक होते हैं। इसके अलावा जातीय समूह के सदस्यों में एक ही जाति का होने की चेतना भी इसके लिए उतना ही प्रासंगिक है। इस प्रकार जातीयता और जातीय समूहों की अधिकांश परिभाषाएं वस्तुनिष्ठ और अनैच्छिक बाहरी चिन्हकों के साथ-साथ व्यक्तिनिष्ठ और ऐच्छिक आंतरिक चेतना को इसका प्रमुख घटक मानकर चलती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.3.3 जातीयता के प्रमुख घटक

जातीयता के दो प्रमुख घटकों यानी वस्तुनिष्ठ बाह्य चिन्हकों और व्यक्तिनिष्ठ चेतना को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका कारण यह है कि आनुंवशिक और सांस्कृतिक समानताओं को सामाजिक अस्तित्व के लिए "स्वीकृत" माना जाता है मगर यह भी जातीयता की आंशिक व्याख्या है क्योंकि यह इस बुनियादी प्रश्न का समाधान नहीं करती है कि आखिर इस चेतना को कौन जन्म देता है। कूपर और स्मिथ (1969) और गैस्टिल (1978) जैसे विद्वानों का यह मानना है कि जब विभिन्न जातीय समूह एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं और परस्पर प्रभावी क्रिया करते हैं तो इससे जातीय चेतना उत्पन्न होती है। मगर यह भी संतोषजनक व्याख्या नहीं है कि संपर्क को हो जाने मात्र से जातीय चेतना आ जाती हो। इसलिए इस प्रश्न का समाधान करने के लिए जरूरी है कि सांस्कृतिक जातीयता और राजनीतिक जातीयता में भेद स्पष्ट हो।

बोध प्रश्न 1

1) जातीय समूह क्या है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2) जातीयता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

9.4 समकालीन परिप्रेक्ष्य

कुछ ही समय पहले जातीयता पर दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य उभरे हैं। इन समकालीन परिप्रेक्ष्यों में एक नृवैज्ञानिक और दूसरा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य है। जातीयता का नृवैज्ञानिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण साझे सांस्कृतिक मूल्यों और प्रथाओं में विश्वास को लेकर चलता है। इस अर्थ में, जातीय समूह को उसके सांस्कृतिक पहलुओं की रोशनी में परिभाषित किया जाता है जैसे सामूहिक प्रथाएं, संस्थाएं, धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। जातीयता की यह धारणा इस प्रकार्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित है कि लोगों को कहीं न कहीं एक दूसरे से लगाव की भावना की जरूरत पड़ती है जो उन्हें दबावों या संकटकाल में टिके रहने की शक्ति देती है। यह शक्ति उन्हें जातीय पहचान से प्राप्त होती है। ऐसा माना जाता है कि नगरीकरण के उदय, आर्थिक उन्नति, प्रौद्योगिक उन्नति, जनशिक्षा, जनसंचार माध्यमों के विकास के साथ-साथ व्यक्ति को अपनी परंपराओं और आद्य पहचान के खोने का डर भी रहता है। मगर इस प्रक्रिया में जातीय पहचान कमजोर होने के बजाए और अधिक मजबूत होती है क्योंकि एक बड़े समाज में व्यक्ति को किसी न किसी किस्म की पहचान की जबर्दस्त जरूरत महसूस होती है। यह पहचान राज्य से छोटी मगर परिवार से बड़ी होती है।

9.4.1 जातीयता और प्रकार्यवाद

गौर करने की बात यह है कि प्रकार्यवाद की हमेशा से यह धारणा नहीं रही है। असल में आरंभ में इसकी धारणा यह थी कि जातीय समूह जैसे 'अप्रचलित' प्रदत्त समुच्चयों का आधुनिक समाज में कोई स्थान नहीं है। यह समझा जाता था कि सर्वमुक्तिवादी और उपलब्धि उन्मुखी आधुनिक समाज में जातीय और सांस्कृतिक भेदों में कमी आती है और पूरा समाज अधिकाधिक समरूप, समांगी हो जाता है। इसके फलस्वरूप जातीय भेद भी क्षीण पड़ जाते हैं। केर और उनकी सहयोगी, रोस्टो और हेडन जैसे कुछ विद्वानों ने इसे बाजार (आर्थिक) शक्तियों की समांगीकारी प्रभाव का फल बताया है। वहीं गेलनर जैसे दूसरे विद्वान कहते हैं कि राष्ट्रवादी (राजनीतिक) रुझानों के उदय ने समाजों को एकता के सूत्र में बांधा जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक और जातीय भेद लुप्त हो जाते हैं।

अभ्यास 1

आधुनिक समाज में जातीयता का अंत क्यों नहीं होता? इस प्रश्न पर अपने सहपाठियों और जानकार लोगों से चर्चा कीजिए। आपको इस चर्चा से जो भी जानकारी हासिल हो उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

मगर इसके विपरीत ग्लेजर जैसे विद्वान कहते है कि आधुनिक समाज में जातीयता लुप्त होने के बजाए बल्कि असल में वह पुनर्जीवित हो जाती है। यही नहीं जातीय पहचान की बढ़ती महत्ता या जातीयकरण का श्रेय आधुनिकीकरण की स्थितियों को ही जाता है। इस प्रकार आइजनस्टैद, मरफी और वालरस्टीन जैसे विद्वान कहते हैं कि उन्हें आधुनिक विश्व में विजातीय करण के कोई लक्षण नजर नहीं आते बल्कि हमें इसमें विशिष्टतावादी रुझान देखने को मिलते हैं। शर्मा भारतीय समाज से उदाहरण देकर इसे अच्छी तरह से सिद्ध करते हैं, जिसमें आधुनिकीकरण के प्रौद्योगिकी, संस्थायी, मूल्यात्मक और व्यवहार संबंधी तमाम लक्षणों के बावजूद जातीयता का सबसे ज्यादा बोलबाला है। उदाहरण के लिए, खानपान, वेशभूषा और आंतरिक सज्जा की दृष्टि से अगर किसी व्यक्ति का घर जातीय है तो उसे उत्तम और सुंदर कहा जाता है। इसी प्रकार यूनानी लोकतंत्र जैसी आधुनिक संस्था ने धर्म, जाति इत्यादि की आध चेतना को फिर से जगा दिया है। संक्षेप में कालांतर के प्रकार्यवादी विद्वान आधुनिकीकरण के बावजूद या उसके कारण भी जातीयता के अटल सत्य को स्वीकार करते हैं।

कोहिमा में एक सब्ज़ी बाज़ार
साभार : प्रो. कपिल कुमार

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

9.4.2 जातीयता का राज़नीतिक परिप्रेक्ष्य

वर्तमान काल में जातीयता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य ही अधिक लोकप्रिय है। यह जातीयता के आधार पर एक समूह की राजनीतिक चेतना और उसकी गोलबंदी है। इसके फलस्वरूप कुछ समूह सचेतन रूप से अपनी जातीयता को जोरदार ढंग से पेश करते हैं। कभी-कभी वे अपनी जातीय विशेषताओं को बढ़ा-चढ़ा कर भी पेश करते हैं ताकि वे राजनीतिक स्वायत्तता या संप्रभुता का लक्ष्य हासिल कर सकें। इसका यहां यह तर्क दिया जाता है कि पूंजीवाद के उदय से असमान विकास हुआ है जिसके फलस्वरूप लोगों में संकीर्ण निष्ठाएं और जातीय स्वचेतना प्रबल हो जाती हैं। जातीयता पर अभी तक जितने अध्ययन-शोधकार्य हुए हैं उनमें से अधिकांश साहित्य का मुख्य विषयवस्तु भेदभाव रहा है। ये अध्ययन बताते हैं कि वंचित समूह संसाधनों के वितरण को जिस नजरिए से देखते हैं वह किस तरह से उनमें जातीय चेतना लाता है। उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक रूप से बहुविध समाज में एक अल्पसंख्यक समूह को अगर बहुसंख्यक समूह अपने विशेषाधिकारों की सिद्धि के लिए शोषण का रवैया अपनाकर उसे दबाता है तो ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक समूह राजनीतिक जातीयता का विकल्प चुन सकता है। तब भेदभाव का विरोध करने के लिए अल्पसंख्यक समुदाय अपनी एक जातीय पहचान बनाने लगता है या उसे ईजाद कर लेता है। राजनीतिक कारणों के लिए भी समूह आद्यनिष्ठाओं का दोहन भी कर सकते हैं जिनका इस्तेमाल वे अपने राजनीतिक हितों को साधने और अपने सत्ताधिकार को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने के लिए कर सकते हैं। समूह हितों का प्रतिनिधित्व करने और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए जातीयता का इस्तेमाल किस तरह से किया जाता है, इसका एक बड़ा उदाहरण हमें राजनीति में इसके प्रयोग से मिलता है। जातीय समूह राजनीतिक मंच से अपनी स्थिति में बदलाव लाने, अपने आर्थिक कल्याण, शैक्षिक अवसरों, नागरिक अधिकारों इत्यादि के लिए अपनी जातीयता का प्रयोग करते हैं। इसका सीधा सा मतलब यही है कि जातीयता हितों पर आधारित होती

है और जातीय समूह कुछ और नहीं बल्कि हित समूह हैं। शर्मा इन दोनों श्रेणियों को क्रमश: सामान्य और उदीयमान जातीयता की संज्ञा देते हैं। अपने सामान्य अर्थ में जातीयता एक पहचान है जिसका आधार कुछ वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक चिन्हक होते हैं। ये चिन्हक एक समूह के सदस्यों को अपने को दूसरों से अलग करने और दूसरे समूहों द्वारा भी उन्हें अलग पहचानने में सहायक होते हैं। इस अर्थ में, जातीय समूह एक परिबद्व सांस्कृतिक समूह होता है जिसमें कुछ खास विभेदी लक्षण होते हैं जो उन्हें अन्य समूहों से अलग रखते हैं। यहां हमें विभिन्न समूहों की सांस्कृतिक विविधता की चेतना का पता चलता है। मगर यह चेतना जब राजनीतिक विभेदन बन जाती है तो उदीयमान जातीयता जन्म लेती है जिसकी विशेषता सत्ताधिकार की प्रक्रिया है।

बॉक्स 9.0.1

जातीयता की उत्पत्ति और पुनरुत्थान के मूल में अंत:समूह संपर्क है यानी जब विभिन्न प्रकार के समूह एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में आते हैं तो यह जो आकार लेता है वह उस समाज विशेष में मौजूद स्थितियों पर निर्भर करता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जातीयता का इस्तेमाल शोषित समूह अपनी अस्मिता की मौजूदा मांगों की पूर्ति के लिए करते हैं। जब दबे-कुचले समूहों के लिए अन्य लोगों का प्रभुत्व, उनका वर्चस्व असह्य हो जाता है और वे अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करने लग जाते हैं तो इससे जातीयता उत्पन्न होती है।

9.5 जातीय स्तरीकरण

स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा लोगों को उनकी संपदा, सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा के आधार पर असमान रूप से श्रेणियों में बांटा जाता है और उसी के अनुरूप उन्हें पुरस्कृत किया जाता है। यह हर समाज का एक अनिवार्य अंग है और यह अलग-अलग रूपों में हो सकता है जैसे वर्ग, जेंडर (सामाजिक-लिंग सोच), नस्ल और जातीयता। सामाजिक स्तरीकरण पर हुए आरंभिक अध्ययनों का मुख्य विषय जाति और नस्ल थे। मगर सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और जातीयता को इनमें पार्श्व मुद्दों के रूप में लिया गया। पर अब जातीयता और सामाजिक लिंग सोच को सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन-विश्लेषण में महत्व मिलने लगा है। यही नहीं, सामाजिक विभाजन के सबसे पहले रूप में वर्ग की जगह अब जातीय स्तरीकरण ले रहा है क्योंकि अब संपति संबंध जातीय श्रेणीकरण से निर्धारित होने लगे हैं। जातीय पुनरुत्थान और द्वंद्वों का विश्लेषण करने के लिए आंतरिक उपनेशवाद का मॉडल प्रयोग किया जा रहा है। इस मॉडल में प्रभावी समूह द्वारा अल्पसंख्यक समूहों पर राजनीतिक नियंत्रण, उनका आर्थिक शोषण और उन पर सांस्कृतिक वर्चस्व बनाए रखना और फिर इस विषम, संबंध को विचाराधारा की आड़ लेकर न्यायोचित ठहराना, इन सब पहलुओं को उठाया जाता है। जातीय स्तरीकरण की कई बातें स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों से मिलती है। जैसे: श्रेणीकरण, असमानता, भेदभाव, शोषण इत्यादि। मगर दोनों में एक महत्वपूर्ण अंतर भी मौजूद है। जातीय समूहों में एक स्वतंत्र राष्ट्र बनने की क्षमता होती है। यह विकल्प वर्ग और सामाजिक लिंग (जेंडर) समूहों को हासिल नहीं है।

9.5.1 जातीय राष्ट्रवाद

जातीय समूह की सदस्यता समाज में व्यक्ति की स्थिति, उसकी हैसियत को तय करती है। यह दो तरीके से होता है। धन, प्रतिष्ठा और सत्ताधिकार जैसे सामाजिक पारितोषिकों का आबंटन अक्सर जातीय आधार पर होता हैं। दूसरा, अधिकांश समाजों में एक या अधिक जातीय समूहों का दूसरे समूहों पर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मामलों में वर्चस्व होता है। इसलिए जातीय राजनीति जातीय स्तरीकरण का स्वरूप धारण कर सकती है जिसके फलस्वरूप जातीय राष्ट्रवाद का उदय होता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है जातीय पहचान का संबंध राजनीतिक आवश्यकतओं और मांगों से हो सकता है। ऐसा तब होता है जब एक बहुविध समाज में अल्पसंख्यक समूह अपने लिए बेहतर सौदा हासिल करने के लिए जातीयता का पत्ता फेंकते हैं। मगर कुछ जातीय समूह इसमें एक कदम आगे बढ़ जाते हैं और राजनीतिक व्यवस्था में हक या एक अंचल पर अपना नियंत्रण या फिर राष्ट्र का दर्जा भी मांगने लग जाते हैं। ये समूह अगर इसमें से किसी भी उद्देश्य में सफल हो जाते हैं तो वे एक राष्ट्रीयता या राष्ट्र बन जाते हैं।

9.5.2 राष्ट्र और जातीय समूह

राष्ट्र, राष्ट्र राज्य, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक इत्यादि धारणाएं पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद के उदय के साथ-साथ उपजीं और शेष विश्व में फैलीं। राष्ट्र शब्द लैटिन शब्द *नैसाई* और लैटिन संज्ञा *नेशोनेम* से बना है जिनका अर्थ क्रमशः 'जन्म लेना' और 'प्रजातिया' 'नस्ल' है। यह ऐतिहासिक रूप से विकसित, भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और मनोवैज्ञानिक रचना की स्थायी एकरूपता है जिसे हम साझी संस्कृति के रूप मे देख सकते हैं। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि राष्ट्र एक प्रकार का जातीय संप्रदाय है, जिसका राजनीतिकरण हो चुका है और जिसने राजनीतिक व्यवस्था में समूह अधिकारों को स्वीकार कर लिया है।

बॉक्स 9.02

राष्ट्र के कई अर्थ हैं जैसे देश, समाज, राज्य और जातीय समूह। इसे एक देश के रूप में या एक अकेली स्वतंत्र सरकार यानी राज्य के अधीन संगठित देश के वासियों के रूप में परिभाषित किया गया है। मगर इसे ऐसे लोगों के रूप में भी परिभाषित किया जाता है जो तथाकथित रक्त संबंधों से परस्पर जुड़े रहते हैं जिन्हें हम प्राय: उनके सामूहिक हितों और अंतर्संबंधों में देखते हैं। यहां रोचक बात यह है कि जातीय समूह की भी यही परिभाषा है। राष्ट्र और जातीय समूह को अक्सर एक दूसरे के तुल्य माना जाता है या राष्ट्र को एक प्रकार के जातीय समूह के रूप में देखा जाता है, जिसका अतीत में अपना एक राज्य या उसका मिथक होता है या राज्य का दर्जा पाने की जिसमें तीव्र इच्छा होती है। इस प्रकार के मिथकों, इतिहास और अपेक्षाओं से शक्ति पाकर राष्ट्रवाद लोगों को अक्सर उच्च सामाजिक स्तर, स्वतंत्रता और स्वायत्तता की चाह में जातीय आंदोलन छेड़ने के लिए एकता के सूत्र में बांधने का काम करता है। इस प्रकार जातीय संप्रदाय में जो उनके पास था उसे दुबारा हासिल करने की इच्छा स्वायत्तता और राजनीतिक संप्रभुता की मांग को जन्म देती है जिससे वह एक राष्ट्रीय समुदाय का स्वरूप धारण कर लेता है।

ऊमेन के अनुसार राष्ट्र और जातीय समुदाय में कई विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं पर दोनों में एक महत्वपूर्ण बिंदू पर भेद दिखाई देता है जो भू क्षेत्र या प्रदेश होता है। एक जातीय समूह राष्ट्र का स्वरूप तभी धारण करता है जब वह अपनी पहचान को एक क्षेत्र/प्रदेश या अंचल विशेष से जोड़ कर देखने लगता है। इसके विपरीत एक राष्ट्र जातीय समुदाय का स्वरूप तब धारण करता है जब उसके सदस्य अपनी मातृभूमि से अलग हो जाएं। जातीय समूह का कोई भी लक्षण उसके अन्य लक्षणों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता है। प्रत्येक लक्षण को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में महत्ता मिलती है। परंतु क्षेत्र के बिना राष्ट्र को एक राष्ट्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसलिए ऊमेन जातीय समूहों को "निष्क्रिय राष्ट्र" की संज्ञा देते हैं जिसमें राष्ट्र का स्वरूप धारण करने की संभावना विद्यमान होती है। वहीं राष्ट्र को वह "सक्रिय जातीयता" कहते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति जातीय घटकों से ही होती है। इसी प्रकार बैकाल जैसे विद्वान ने भी जातीय समूहों के लिए 'लघु राष्ट्र' (माइक्रो नेशन) और राष्ट्रों के लिए "वृहत्तर-जातीय" (मैक्रो-नेशन) शब्दों का प्रयोग किया है। इस तरह वह भी ऊमेन की इस व्याख्या की पुष्टि करते दिखाई देते हैं कि दोनों में भेद करने वाला मुख्य कारक भू क्षेत्र है।

बोध प्रश्न 2

1) राष्ट्र और जातीय समूह में क्या संबंध है? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) जातीय राष्ट्रवाद क्या है? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

9.5.3 राष्ट्रवाद और जातीयता

राष्ट्रवाद लोगों की अपनी एक स्वशासी राजनीतिक इकाई को स्थापित करने और उसे चलाने की प्रकट भावना है। समकालीन विश्व में यह आधुनिक राज्यों के सृजक और विध्वं दोनों रूपों में सबसे प्रभावशाली शक्ति प्रमाणित हुई है। राष्ट्रवाद और जातीयता दोनों परस्पर जुड़े हैं, लेकिन दोनों भिन्न भी हैं। जातीयता राष्ट्रवाद का रूप धारण कर सकती है और राष्ट्रवाद का आधार हमेशा वास्तविक या कल्पित जातीय संबंध बनते हैं। पर राष्ट्रवाद के मूल में तीन मुख्य बातें निहित होती हैं: स्वायत्तता, एकता और पहचान। स्वायत्तता का अभिप्राय उस प्रयास से है जिसे लोग अपनी नियति को खुद तय करने और खुद को बाहरी बेड़ियों से मुक्त करने के लिए करते हैं। एकता का मतलब आंतरिक विभाजनों, मतभेदों को समाप्त कर एकजुट हो जाना है और पहचान का तात्पर्य एक समूह के प्रयास से है जो वह अपनी प्रामाणिक सांस्कृतिक विरासत और पहचान को हासिल करने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए करता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद जातीयता का एक रूप है जिसमें एक खास जातीय पहचान एक राजनीतिक एजेंडा हासिल करके ठोस और संस्थागत रूप धारण करती है। राष्ट्रों का निर्माण तब होता है जब एक बहुजातीय राज्य में कोई जातीय समूह एक स्वचेतन राजनीतिक इकाई में परिवर्तित हो जाता है। इस तरह संप्रभुता और आत्मनिर्णय ही राष्ट्रवाद को जातीयता से अलग करते हैं।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

अपने अध्ययन केन्द्र के छात्रों और अन्य जानकार व्यक्तियों के साथ राष्ट्रवाद और जातीयता के बीच संबंध पर चर्चा कीजिए। इससे आपको जो भी जानकारी हासिल होती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

9.5.4 राष्ट्रीयता का विकास

ब्रास के अनुसार राष्ट्रीयता का निर्माण दो चरणों में होता है। पहले चरण में एक जातीय श्रेणी का एक सुमदाय में रूपांतरण होता है। इस प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन होते हैं, जैसे एक स्व-चेतन भाषायी एकता का सृजन, जाति संगठन का निर्माण इत्यादि। यह बहुजातीय समाज में आधुनिकीकरण के आंरभिक दौर में होता है जिसमें विभिन्न प्रकार के सामाजिक विभाजन विद्यमान रहते हैं। दूसरे चरण में समूह के सदस्यों या समूचे समूह के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की पैरवी और फिर उन्हें प्राप्त करना शामिल है। यह समूह जब अपने प्रयासों से सामूहिक अधिकारों को राजनीतिक कारवाई और गोलबंदी के जरिए हासिल करने में सफल हो जाता है तो वह जातीयता के दायरे से निकल जाता है और खुद को एक राष्ट्रीयता के रूप में स्थापित कर लेता है।

मगर जातीयता क्यों राष्ट्रीयता में बदल जाती है? इस प्रश्न का समाधान सापेक्षिक वंचना के दृष्टिकोण से मिलता है जो हमारा ध्यान कुंठा की भावना की ओर खींचता है। जब लोगों को लगता है कि जो उन्हें जायज रूप से मिलना चाहिए और जो उन्हें असल में मिलता है उसमें भारी अंतर है तो इसी से उनमें कुंठा की यह भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार पराधीन या दबाए हुए समूहों को जब प्रभावी समूहों द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार उचित सफलता नहीं मिल पाती है तो उनकी प्रतिक्रिया की प्रकृति जातीय वैमनष्य का पुट लिए रहती है। यह जातीय वैमनष्य या विरोध (क) देशीय लोगों के जमीन और संस्कृति के अधिकार की लड़ाई (ख) अल्पसंख्यक समूहों द्वारा समान आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अधिकार

हासिल करने के प्रयासों, (ग) दुर्लभ संसाधनों को प्राप्त करने के लिए जातीय समूहों में स्पर्धा और (घ) पृथक राष्ट्र के आंदोलन का स्वरूप धारण कर सकता है।

9.5.5 जातीय राष्ट्रवाद और भारत

शर्मा के अनुसार जातीय वैमनष्य ने भारतीय राज्य के लिए कई गंभीर खतरे पैदा कर दिए हैं। ये खतरे इस प्रकार हैं:

जातिवाद: यह जातीय पहचान और आधुनिक हितों का एक विचित्र मिश्रण है जिसमें जातीय समूह अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों के लिए जातिगत विचारधाराओं का प्रयोग करता है। जैसे, एक राजनीतिक दल एक जाति समूह विशेष से वोट मांगता है।

सांप्रदायिकता: यह धर्म और राजनीति के बीच एक 'अनैतिक' गठजोड़ है जिसमें राजनीतिक या आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए धर्म का प्रयोग किया जाता है। जैसे, अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिए भारतीय जनता पार्टी हिन्दुत्व की विचारधारा को इस्तेमाल कर रही है।

स्वसंस्कृतिवाद: इसे हम देशीयता भी कहते हैं। यह 'भूमि-पुत्र' जैसी धारणा को लेकर चलता है जिसमें आंचलिक पहचान उग्र जातीय संघर्ष का स्रोत बन जाती है। जैसे बंगाली मूल के विदेशियों को निकाल बाहर करने का असम आंदोलन।

जातीय राष्ट्रवाद: यह जातीय समूह का राष्ट्रीयता में कायांतरण है। इसमें एक अंचल विशेष में स्वायत्त शासन की मांग या अलगाव और एक स्वयंभू राष्ट्र के रूप में मान्यता की मांग उठाई जा सकती है। जैसे, पंजाब का खालिस्तानी आंदोलन और कश्मीर में चल रहा पृथकतावादी आंदोलन।

9.6 सारांश

MAADHYAM IAS

सबसे महत्वपूर्ण और आखिरी प्रश्न यह है कि आखिर वे कौन सी परिस्थितियां हैं जिनके चलते जातीय विविधता समाज को संघर्ष और भेदभाव की दिशा में ले जाती है और कब इसकी परिणति सांस्कृतिक समृद्धि और सामाजिक अनुकूलनशीलता में होती है। अवधारणा की दृष्टि से जातीयता किसी समूह द्वारा अपनी पहचान की तलाश और इस पहचान को सार्वजनिक मान्यता देने की मांग है। मगर जातीयता के पीछे उस समूह का एक व्यावहारिक ध्येय भी होता है, जैसे, आर्थिक उन्नति, जीवन स्तर में सुधार, अधिक प्रभावशाली राजनीतिक व्यवस्था, अधिक सामाजिक न्याय की मांग और विश्व राजनीति के विशाल रंगमंच पर भूमिका हासिल करने की अपेक्षा ताकि वह राष्ट्रों में अपना प्रभाव बढ़ा सके।

जातीय विचारधाराओं के दृश्यपटल से अदृश्य होने की निकट भविष्य में कोई संभावना नहीं है बल्कि जातीयता बनी रहेगी। जातीय व्यवहार, मनोवृत्तियां और पहचान सिर्फ इसी से तय होती रही हैं, हो रही हैं और होती रहेंगी कि स्वयं जातीय समूहों में क्या हो रहा है। बल्कि वृहत्तर समाज में क्या परिवर्तन हो रहे हैं और समाज जातीय समूहों से किस तरह व्यवहार कर रहा है, इससे भी वे तय होंगी। अधिकांश बहुजातीय समाजों में संपदा, सत्ताधिकार और हैसियत को लेकर विभिन्न जातीय समूहों में भिन्नताएं पाई जाती हैं।

हालांकि इसकी परंपराएं कमजोर पड़ती जा रही हैं मगर इसके बावजूद सामाजिक स्तरीकरण में जातीयता एक बड़ा कारक है। इसी के फलस्वरूप अधिकांश लोग जब भी अपनी पहचान जांचेंगे वे सबसे पहले अपनी जातीयता के बारे में ही सोचेंगे। इस समस्या का समाधान यही है कि निजी जातीय पहचान और मानवीय पहचान को समरस बनाया जाए, उनमें एकात्मता स्थापित की जाए। हर समाज को ऐसा वातावरण बनाना जरूरी है जो जातीयता के अधिकार की रक्षा करे, आपसी आदर भाव को बढ़ावा दे और जातीय पहचान को व्यक्ति का अपेक्षतया छोटा हिस्सा बनाने की दिशा में भी काम करे। जातीय विशिष्टता के साथ-साथ मानव निजता और राष्ट्रीय समाज के साथ एकीकरण के मुद्दे भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं

इसलिए जातीय विशिष्टता को इनसे अधिक महत्व नहीं मिलना चाहिए । ऐसा संतुलन स्थापित किए जाने की जरूरत है जिससे जातीय पुनरुत्थान से निजी व्यक्तित्व और राष्ट्रीय अखंडता को कोई खतरा पैदा न हो और न ही जातीय पहचान को निजता और राष्ट्रवाद से कोई खतरा हो।

9.7 शब्दावली

सांस्कृतिक जातीयता : यह जातीयता को साझे सांस्कृतिक मूल्यों और प्रथाओं के रूप में परिभाषित करने का नृवैज्ञानिक तरीका है।

सांस्कृतिक चिन्हक : ये वस्तुगत सांस्कृतिक विशेषताएं हैं, जैसे, भाषा, धर्म, वेशभूषा इत्यादि। इनके माध्यम से समूहों के बीच अंतर स्पष्ट होते हैं और उनमें दूरी बनी रहती है।

उदीयमान जातीयता : जब राजनीतिक विभेदन और लाभ के लिए सांस्कृतिक जातीय पहचान का इस्तेमाल किया जाता है।

जातीय चेतना : किसी एक समूह के सदस्यों का यह व्यक्तिनिष्ठ नजरिया कि वे ऐसा समूह हैं जो दूसरों से भिन्न, एकदम अलग हैं।

जातीय समूह : एक ऐसा समूह जिसे समाज में अन्य लोग भाषा, धर्म, नस्ल, पैतृक गृह, संस्कृति इत्यादि की दृष्टि से भिन्न मानते हैं और जिसके सदस्य खुद को दूसरे लोगों से भिन्न मानते हैं और जो एक वास्तविक या कल्पनिक साझे वंशमूल और संस्कृति के इर्दगिर्द रची गई साझी गतिविधियों में भाग लेते हैं।

जातीय राष्ट्रवाद : यह जातीय समूहों द्वारा अपने लिए राजनीतिक और प्रशासनिक स्वायत्तता, राष्ट्रीय दर्जा या स्वतंत्र देश की मांग है।

जातीय स्तरीकरण : समाज में जातीयता के आधार पर वित्तीय, सत्ताधिकार और सांस्कृतिक संसाधनों का असमान वितरण।

MAADHYAM IAS

जातीयता : किसी सामाजिक समूह की एक साझी (वास्तविक या कल्पनिक) नयी, भाषायी या सांस्कृतिक विशेषताओं पर आधारित पहचान।

अंतरराष्ट्रीय उपनिवेशवाद : इस अवधारणा का प्रयोग एक ही समाज में आंचलिक राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं और किसी समाज में अल्पसंख्यक समूहों की पददलित स्थिति और शोषण को बताने के लिए किया जाता है।

राष्ट्र : एक देश या देश की जनसंख्या जो समान रक्त संबंधों से जुड़ा हो और जिसका संचालन सिर्फ एक सरकार करती है।

राष्ट्रवाद : किसी राष्ट्र या उसके लोगों की स्वशासन राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैकाल एप्रिल (1997) "सिटिजनशिप एंड नेशनल आइडेंटिटी इन लैटिन अमेरिका: द परसिस्टिंग सैलिएंस ऑफ रेस ऐंड एथनिसिटी" टी० के० उमेन (संपा०) *सिटिजनशिप ऐंड नेशनल आइडेंटिटी: फ्रॉम कॉलोनियलिज्म टू ग्लोबलिज्म* में नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

ब्रास, पॉल आर., (1991) *"एथनिसिटी ऐंड नेशनलिज्म: थ्योरी ऐंड कॉम्प्रिजन,"* सेज पब्लिकेशंस

बर्गस, एम.ई. (1978) "द रिसर्जेंस ऑफ एथनिसिटी: मिथ और रिएलिटी", *एथनिक ऐंड रेशिसल स्टडीज*

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एक जातीय समूह की कुछ वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं जो उन्हें अन्य समूहों से अलग करते हैं। दूसरा, इसमें जातीय स्वचेतना होती है। इस प्रकार जातीय समूह की सामूहिकता है जो अपने आपको औरों से भिन्न मानता है और भाषा, धर्म, पैतृक गृह, इत्यादि की दृष्टि से भी अपने को विशिष्ट और भिन्न मानते हैं।

2) जातीयता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का अभिप्राय जातीयता के आधार पर किसी समूह में राजनीतिक चेतना और उसका गोलबंद होना है। इस आधार पर ये समूह सचेतन रूप से अपनी जातीयता का दावा पेश करते हैं, यहां तक कि वे अपनी जातीयता को बढ़ा-चढ़ाकर भी पेश करते हैं ताकि वे राजनीतिक स्वायत्तता या संप्रभुता का लक्ष्य हासिल कर सकें।

बोध प्रश्न 2

1) राष्ट्र भाषाओं की स्थायी एकरूपता, अस्थायी आर्थिक जीवन और संस्कृति के रूप में मनोवैज्ञानिक ढांचा है जिसके विकास के सूत्र इतिहास से जुड़े होते हैं। राष्ट्र एक तरह का जातीय समुदाय है जिसका राजनीतिकरण होता है और राजनीतिक व्यवस्था में जिसके अधिकार होते हैं। राष्ट्र और जातीय समूहों में अनेक विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं मगर अस्थायी तोर पर इनमें भिन्नता होती है। एक जातीय समूह तभी राष्ट्र का स्वरूप ले लेता है जब वह अस्थायी रूप से अपनी पहचान बना लेता है।

2) जातीय वैमनष्य राज्य के लिए अनेक प्रकार के खतरे पैदा करता है जिसमें मुख्यत: जातिवाद, साम्प्रदायिकता और देशीयता शामिल हैं। सबसे बड़ा खतरा जातीय-राष्ट्रवाद से उत्पन्न होता है जो एक जातीय समूह का राष्ट्रीयता में रूपांतरण है। भारत में पहले भी और आज भी इसके प्रयास हुए और चल रहे हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 10 जनजातीय जातीयता और पूर्वोत्तर भारत

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 जनजातियां और जातीयता
10.3.1 जनजातियों की विभेदी विशिष्टताएं
10.3.2 जनजातियों का रूपांतरण
10.3 पूर्वोत्तर की जातीय संरचना
10.3.1 पूर्वोत्तर की जनजातीय आबादी
10.4 पूर्वोत्तर में जनजातियों का सामाजिक स्तरीकरण
10.4.1 मिजो की प्रशासन प्रणाली
10.4.2 नागाओं में सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा
10.4.3 जैंतिया और खासी
10.4.4 पारंपरिक श्रेणीकरण प्रणाली
10.5 पूर्वोत्तर में जनजातीय आंदोलन
10.5.1 नगा आंदोलन
10.5.2 त्रिपुरा में जनजातीय नीति
10.5.3 मणिपुर में जनजातीय आंदोलन
10.6 मिजोरम
10.6.1 मिजो पहचान
10.7 बोडो आंदोलन
10.8 स्तरीकरण के आधार के रूप में जनजातीय जातीयता
10.8.1 जातीय आंदोलन
10.8.2 गतिशीलता और जातीय समूह
10.9 सारांश
10.10 शब्दावली
10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- जनजातियों और जातीयता के बीच संबंध है स्पष्ट कर सकेंगे;
- उत्तर-पूर्व की जातीय संरचना की रूपरेखा बता सकेंगे;
- उत्तर-पूर्व में जनजातियों में स्तरीकरण किस तरह से होता है, यह बता सकेंगे; और
- स्तरीकरण के आधार के रूप में जनजातीय जातीयता के बारे में बता सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

'जनजाति' शब्द का प्रयोग आम तौर पर नृविज्ञान, समाजशास्त्र और संबंद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में किया जाता है। यही नहीं इसका प्रचलन पत्रकारिता और रोजमर्रा की बातचीत में भी आम है। मगर इसके अर्थों, अनुप्रयोगों और प्रयोगों को लेकर भारी विवाद रहा है। बहरहाल, यह शब्द सारी दुनिया में अलग-अलग परिस्थितियों में अनेक विविधरूपी समूहों के लिए प्रयोग किया जा रहा है। इस विविधता के

साथ-साथ जिन जिन समूहों के लिए यह शब्द प्रयोग किया जा रहा है, वे तरह-तरह के परिवर्तनों से गुजर रहे हैं। मगर इस शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है जिसके चलते इसे परिभाषित करना कठिन हो जाता है।

10.2 जनजातियां और जातीयता

मैकमिलन के नृ-विज्ञान कोश (*डिक्शनरी ऑफ एंथ्रोपोलॉजी*) के अनुसार 'जनजाति' शब्द किसी भी आदिम जन-समूह के पर्याय के रूप में आम प्रयोग में आ गया है। इसी से जुड़ा है नृ-वैज्ञानिक नव-विकासवादी प्रयोग, जिसमें 'जनजाति' शब्द इस आरोही क्रम के हिस्से के रूप में दिखाई देता है: (1) दल-मुख्यत: शिकार करने और भोजन एकत्र करने वाला समाज, जिसके सदस्यों में सरल सहकार/सहयोग होता था, (2) जनजाति-सिर्फ जीवन-निर्वाह करने वाले जन-समुदाय जिनमें सीमित स्तर पर परस्पर आदान-प्रदान होता है। (3) प्रधानी-इसका संबंध अधिक उन्नत श्रम का सामाजिक विभाजन और वैधानिक प्रभुसत्ता और (4) राज्य की शुरुआत होती है जिसमें शोषण, बल का केन्द्रित एकाधिकारवाद और बेशी उत्पादन के संचयन पर आधारित वर्ग मौजूद होते हैं।

अफ्रीका के परिप्रेक्ष्य में ई.ई. इवांस प्रिचार्ड ने जनजाति शब्द का प्रयोग वृहत्तर न्यूएर भाषाई और सांस्कृतिक समूह की राजनीतिक दृष्टि से संगठित एक विशिष्ट इकाई को बताने के लिए किया था। इस प्रकार यहां इस शब्द का प्रयोग जनजातीय को राज्य और वृहत्तर सांस्कृतिक समूह से उपजे एक राजनीतिक संगठन से अलग करने के लिए किया गया, जिसका एक हिस्सा वह संगठित इकाई होती है। इधर भारत में औपनिवेशकालीन ब्रिटिश नृजातिकारों ने जनजाति शब्द का प्रयोग सिर्फ विशिष्ट 'आदिम' सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों को बताने के लिए ही नहीं किया बल्कि इसका प्रयोग उन्होंने जातियों के लिए भी किया। उन्होंने जनजातियों और जातियों में भेद करने का कोई प्रयास नहीं किया। ऐसा करने वाले सबसे आरंभिक नृजातिकारों में हमें रिसले, लेसी, एल्विन, गिग्रॉन, टेलेंट्स सेजाविद, मार्टिन को गिन सकते हैं।

ए.वी. ठक्कर ने जनजातियों के स्वस्थानिक चरित्र को विशेष महत्व देने का प्रयास किया था (हालांकि यह जरूरी नहीं कि जनजातियां स्वस्थानिक हों क्योंकि उनमें भी अपने निवास-स्थान से पलयान करने की परंपरा पाई जाती है)। इसलिए उन्होंने इन्हें आदिवासी की संज्ञा दी जिसका यह अर्थ था कि उनके आसपास रहने वाले हिंदू और अन्य लोग उस स्थान में उनके बाद बसे थे। दूसरी ओर जी.एस. घुर्ये ने उन्हें पिछड़े हिन्दू का नाम दिया जिसके पीछे उनका मंतव्य जनजातियों और उनके पास-पड़ोस में रहने वाले हिन्दू देहातियों में धार्मिक और सांस्कृतिक व्यापन को दर्शाया था। बहरहाल, 1947 में भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद ही जनजाति की एक सुस्पष्ट और व्यवस्थित व्याख्या देने और जनज़ातियों को देहातियों से अलग करने की जरूरत राजनीतिक हलकों और विद्वानों में अधिक महसूस हुई।

दुबे ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में जनजाति को परिभाषित करने के प्रयासों में अस्पष्टता और अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि इस शब्द का प्रयोग "स्वस्थानिक आदिवासी और अधूरे समूहों तक सीमित होता प्रतीत होता है। हमारे पास किसी भी चरण पर जनजातीयता का निर्धारण करने के लिए सुस्पष्ट संकेतक उपलब्ध नहीं रहे हैं।" वह आगे कहते हैं कि प्रचलित परिभाषाएं जनजातियों में निम्न विशेषताओं में सभी नहीं तो कुछ विशेषताएं अवश्य पाती हैं: वे मूल या सबसे पुराने वासी होते है, आपेक्षिक पार्थक्य में पहाड़ियों या जंगल में रहते है, उनमें हलका इतिहास बोध होता है, उन्हें अपनी पांच-छह पीढ़ीयों की ही याद रहती है, उनमें प्रौद्योगिक और आर्थिक विकास निम्न स्तर का होता है, सांस्कृतिक लोकाचार में वे समाज के अन्य वर्गों से अलग दिखाई देते हैं, उनमें क्रम परंपरा नहीं पाई जाती और अगर वे समतावादी नहीं हों तो उनमें विभेदन भी नहीं पाया जाता है। इन सभी प्रतिमानों में किसी को भी हालांकि संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, इसके बावजूद दुबे इनके आधार पर जनजातियों और गैर जनजातियों में भेद कर लेते हैं। देश की 6.9 प्रतिशत जनसंख्या को जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। चूंकि यह वर्गीकरण राजनीतिक स्वार्थों से प्रभावित है और इसमें ऐसे समूह शामिल किए गए हैं जो गैर जनजातीय हैं, इसलिए इससे विद्वानों के अलावा वे लोग भी संतुष्ट नहीं हैं जिन्हें इस सूची से बाहर रखा गया है। दुबे के अनुसार जनजाति की परिभाषा पर यह बहस निरर्थक है। उनका माना है कि

जनजाति को एक जातीय श्रेणी मान लेना ही सबसे उत्तम रहेगा जिसकी पहचान किसी वास्तविक या कल्पित वंश से होती है और जिसकी अपनी एक सामूहिक पहचान और अनेक किस्म के साझी सांस्कृतिक विशिष्टताएं होती हैं। नस्लीय, धार्मिक और भाषायी समूह भी जातीय चरित्र अर्जित कर सकते हैं इसलिए हमें इन समूहों की जातीयता के साथ-साथ जनजातिय जातीयता को भी लेकर चलना होगा।

10.2.1 जनजातियों की विभेदी विशिष्टताएं

जनजातियों के विभेदी लक्षणों को जाति की विशेषताओं की तुलना में देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि जनजातियां और जातियां दो भिन्न किस्म के सामाजिक संगठनों को दर्शाते हैं। श्रम का आनुवशिक विभाजन, क्रम परंपरा, शुद्धि और अशुद्धि का सिद्धांत, नागरिक और धार्मिक वर्जनाएं जातियों का नियमन करती हैं। लेकिन जनजाति इन से मुक्त रहती है। इस प्रकार सामाजिक संगठन के संचालन में नातेदारी, वंशावली, गोत्र इत्यादि को जनजातियों में सबसे ज्यादा महत्व मिलता है।

जाति समाजों की विशेषता असमानता, पराधीनता और परनिर्भरता है। इसी प्रकार जनजातियां जाति समूहों की तरह धर्म के उपयोग और अनुप्रयोग संबंधी प्रकार्य के बीच ज्यादा गहरा भेद नहीं करतीं। विषम जाति समाज के विपरीत जनजाति समाज को कमोबेश एक अधिक समांगी समाज के रूप में देखा जाता है। जनजातीय समाज का स्वरूप खंडात्मक माना जाता है जिसकी अपनी विशिष्ट प्रथाएं, अनुष्ठान, वर्जनाएं होती हैं और वे अपनी उत्पत्ति एक ही प्रदेश और पूर्वज से मानते हैं। मगर यह आदर्श विशिष्टता या भेद हमें भारत में नहीं दिखाई देती है क्योंकि यहां कुछ जनजातियां हमें सांतत्यक (अविच्छिन्नता) के किसी एक छोर पर खड़ी मिलती हैं तो वहीं अधिकांश जनजातीय समूह उसके मध्य में खड़े दिखाई देते हैं जो अनेक विविधरूपी घटक अपने में समेटे रहते हैं। बेटीला ने दोनों में समान रूप से जो विशिष्टता का उल्लेख किया है वह यह है कि सभी कमोबेश हिन्दू सभ्यता के दायरे से बाहर खड़े हैं।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

बेली ने इस विशिष्टता को किसी समुदाय के जमीन से जो संबंध होता है, उसकी रोशनी में समझाने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि जिस किसी समाज की जितनी बड़ी जनसंख्या की प्रत्यक्ष पहुंच जमीन तक होगी वह समाज सांतत्यक के जनजातीय छोर के उतना ही समीप होगा और जिस समाज में जितने ज्यादा लोगों को जमीन का हक निर्भरता के संबंध के जरिए हासिल होता है वह समाज जाति भूमिका के उतने ही नजदीक आ जाता है।

बेली की इस प्रस्थापना की आलोचना में सुरजीत सिन्हा ने जनजाति की एक और विशिष्टता बताई है। उनके अनुसार जनजाति पारिस्थितिकी, अर्थव्यवस्था, राजनीति में अन्य जातीय समूहों से पृथक होती है। यह पार्थक्य उसमें एक प्रबल अंतःसमूह की भावना उत्पन्न करता है और यही भावना इस पार्थक्य को और मजबूत बनाती है। वह अपनी संस्कृति को अन्य समूहों की संस्कृति से स्वतंत्र मानती है। इसके फलस्वरूप वह वस्तुनिष्ठ वास्तविकता और व्यक्तिनिष्ठ जागरुकता के मामले में भारतीय सभ्यता की महान परंपराओं से अलग हो जाती है। जैसे, समानता की एक मूल्य व्यवस्था, मानवीय, प्राकृतिक और अलौकिक विश्व की निकटता, विचारों की व्यवस्थापना का अभाव, संस्कृति का एक जटिल स्तर, नैतिक धर्म और कठोर तपस्या, इन सबसे उसका संबंध नहीं रहता। इसके विपरीत जाति को उससे अभिन्न रूप से जुड़ा विषमांगी स्तरित समूह के रूप में देखा जाता है जिसकी विशेषता स्थानीय समुदाय के बीच बहुजातीय रहन-सहन और अर्थव्यवस्था में अंतः जातीय सहभागिता है।

10.2.2 जनजातियों का रूपांतरण

जनजातियों के समाज पर एक बड़ी बहस जनजातियों के जाति में रूपांतरण और जाति संरचना में उनका उत्तरोत्तर अंतर्लयन को लेकर रही है। यह अमूमन इन प्रक्रियाओं के जरिए होता है:

i) प्रौद्योगिकी का अपनाया जाना

ii) संस्कृतिकरण

iii) राज्य का बनना

iv) हिन्दूकरण

v) भाषा

vi) धर्म

इसके पश्चात जनजातियों का देहाती और सामाजिक रूप से विभेदित समाजों में रूपांतरण होता है। मगर यह दृष्टिकोण जनजाति को उनके प्राकृतिक स्वरूप और समुदायों के रूप में जानने और उनके अध्ययन को अनदेखा करता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए आजकल जनजातियों का अध्ययन जातीयता के नजरिए से करने के प्रयास किए जा रहे हैं, जिससे उनके अंत:समूह संबंधों पर गहरी दृष्टि मिल सके और यह जाना जाए कि जनजातियां क्यों अपने आपको अन्य से विपरीत और भिन्न समझती हैं। इस सिद्धांत की मुख्य विशेषता जन समूहों और श्रेणियों का निर्धारण और चिन्हांकन तथा व्यतिरेक का प्रयोग है। इसमें स्व-पहचान, वर्ग रूढ़िकरण, संसाधन स्पर्धा, राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व और परिवर्तन, सांस्कृतिक स्थायित्व और सीमाओं का निर्माण जो लोगों को तरह-तरह से अलग रखने और बांधने दोनों का काम करते हैं, इन सबका अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है।

10.3 पूर्वोत्तर की जातीय संरचना

पूर्वोत्तर भारत एक सुस्पष्ट भूभाग है। इसकी बहुविध और विषमांगी, भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान है। यह भूभाग एक जातीय-सांस्कृतिक सीमांत है जो अपने में भारत की समृद्ध मगर अज्ञात मंगोल विरासत को समेटे है, जो भाषायी, नस्लीय और धार्मिक धाराओं का एक जटिल संक्रमण क्षेत्र है। यह एक अनूठा जैव-भौगोलिक सीमांत भी है, जहां भारतीय, चीनी और मलेशियाई-बर्मी नस्लों के संगम ने जैव विविधता के एक अकूत भंडार का सृजन किया है।

देश के विभाजन के बाद एक 'सेतु और मध्यवर्ती' (ब्रिज ऐंड बफर) अंचल के रूप में इसकी भूमिका भी बदल गई क्योंकि विभाजन ने उत्तर-पूर्व को समग्र मुख्य भारत से अलग कर दिया। आज इसकी 3,000 किमी लंबी सीमा चीन, म्यानमार (बर्मा), बांग्लादेश, भूटान इत्यादि देशों से मिलती है और यह एक संकीर्ण गलियारे के जरिए भारत से जुड़ा है। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार, इस प्रदेश की कुल जनसंख्या 3 करोड़ 14 लाख थी जो देश की जनसंख्या का 3.70 प्रतिशत अंश है।

MAADHYAM IAS

यह भूभाग सात राज्यों से मिलकर बना है। ये राज्य हैं: अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड और त्रिपुरा। भूभाग की दृष्टि से हम इस क्षेत्र को दो उप-प्रदेशों में बांट सकते हैं: (क) ब्रह्मपुत्र, बरक, इम्फाल नदियों के मैदान और (ख) विशाल पर्वतीय भूभाग जो पूरे क्षेत्र का 72 प्रतिशत भाग है। अरुणाचल, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय और असम अमूमन पहाड़ी हैं लेकिन असम, मणिपुर और त्रिपुरा का कुछ भाग मैदानी हैं। जनजातीय और गैर जनजातीय आबादी के बीच विभाजन भी इसी आधार पर होता है। साठ लाख की आबादी वाली जनजातियां मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश के पहाड़ी राज्यों के 80 प्रतिशत भूभाग में रहती हैं (असम इसका अपवाद है)। गैर जनजातीय लोग मैदानी इलाकों में रहते हैं। अधिकांश जनजातीय लोग मंगोल मूल के हैं जबकि मैदानवासी अपने को काकेशियाई मूल का मानते हैं जो विभिन्न युगों में वहां आ बसे थे।

10.3.1 पूर्वोत्तर की जनजातीय आबादी

पूर्वोत्तर की जनजातीय आबादी में भारी विषमता और विविधता देखने में आती है। यहां सौ से ज्यादा जनजातियां समूह है जिनकी अपनी अलग भाषा, अनुष्ठान, विश्वास, धर्म और सांस्कृतिक पैटर्न हैं। इसी प्रकार पीपुल ऑफ इंडिया भाग IX के अनुसार जो 325 भाषाएं भारत में बोली जाती हैं, उनमें से सबसे ज्यादा भाषाएं तिब्बती-बर्मी कुल की हैं और इनमें से 175 भाषाएं पूर्वोत्तर के समुदाय बोलते हैं। यह विषमता हमें प्रचलित रीति-रिवाजों, विशेषकर मातृवंशीय और पितृवंशीय जनजातियों में मौजूद अंतर में भी

दिखाई देती है। विभिन्न जनजातीय समूहों में पाई जाने वाली समानताएं उनके पारंपरिक आर्थिक पैटर्नों के संरक्षण, झूम खेती, सामाजिक और सांस्कृतिक पैटर्नों में नजर आती हैं। इसी प्रकार आधुनिकीकरण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और उनमें जातीय चेतना का विकास, ये दोनों उन्हें एक दूसरे से एक प्रकार के बंधन में बांधते हैं। पूर्वोत्तर राज्यों की बनावट इस प्रकार है:

i) *मिजोरम* की 94.26 प्रतिशत आबादी जनजातीय है। मिजो इतिहास की श्रुति पंरपरा के अनुसार उनके पूर्वजों ने दूर चीन में चुनलुंग नामक कंदरा या चट्टान में जन्म लिया था, जहां से वे तिब्बत के रास्ते होते हुए बर्मा की हुकवांग घाटी में आ बसे और अंततः 18वीं सदी में लुशाई पहाड़ियों में प्रवेश कर गए। मगर मिजो लोगों नें लंबे समय तक बाहरी दुनिया से अपनी दूरी बनाए रखी। अट्ठारहवीं सदी में वे ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बने। मिजो शब्द का अर्थ पहाड़ी लोग है, जिसमें लुशाई राल्टे, हुमार, पावी, पोल, लाकर्सी समेत पंद्रह जनजातियां आती हैं जो मिलकर मिजो पहचान बनाती हैं। इस प्रक्रिया को दो महत्वपूर्ण कारकों ने सहज बनाया। ये थे: ईसाई धर्म और लुएसी भाषा की डबलीन बोली का अपनाया जाना। इस बोली की लिपि रोमन थी। मिजोरम के दो उपप्रदेश हैं। पहला उपप्रदेश ईसाई धर्म से प्रभावित लुशाई पहाड़ियां हैं। इसमें अधिकांश मिजो समूह आते हैं। दूसरा उपभाग बौद्ध चकमा और माघ और हिन्दू धर्म से प्रभावित रियांग जनजातियों का है, जो चिटगांव पहाड़ियों से सटी पश्चिमी पट्टी में रहती हैं।

ii) *नागालैंड* राज्य की 88.61 प्रतिशत जनसंख्या जनजातीय है। नागा एक सामान्य जातिगत शब्द है जिसका अर्थ योद्धा होता है। यह 32 जनजातियों के समूह के लिए प्रयोग होता है जिनमें से पांच बर्मा में बसी हैं। शेष नागालैंड (16), मणिपुर (सात), अरुणाचल प्रदेश में तिरुपुरा और असम के उत्तरी कछार और कार्बी अंगलोंग जिले में पाई जाती हैं। नागाओं में महत्वपूर्ण जनजातियां अंगामी, आओल चाकेसंग, संगटम, मोतीकुमी, यिमचुंगे हैं। ये जनजातियां अपनी अलग तिब्बती-बर्मी बोलियां बोलते हैं और आपस में नगमी भाषा का प्रयोग करते हैं। ये ईसाई धर्म मानते हैं, जिसने इनमें एकता की भावना पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार जातीय-भाषाई और सांस्कृतिक दृष्टि से नागा जनजातियां अपनी आंतरिक एकरूपता और अंतरा सामुदायिक समांगता को बनाए रखती हैं मगर इनमें बड़ा समूह बनाने का रुझान देखने में आया है। जैसे: 1974 में जेमी, लैंगमेई और रोंगमेई जैसी समान विशेषताओं वाली जनजातियों ने मिलकर जेलियांग्रोंग समूह बनाया और सापो, केछू और खूरी जनजातियां पोछुरी बन गई।

MAADHYAM IAS

iii) *मेघालय* राज्य की सबसे बड़ी विशेषता इसका मातृवंशीय समाज है। यह पूर्वोत्तर का अपेक्षतया अधिक शांतिपूर्ण राज्य है। राज्य की 80.84 प्रतिशत आबादी जनजातियों की हैं। इनमें गारो, खासी और जैन्टिया जनजातियां मुख्य हैं। लोडो तिब्बती-बर्मी मूल की गारो जनजाति पिछले चार सौ वर्षों से गारो पहाड़ियों में रह रही हैं। गारो लोग पांच मातृवंशी गोत्रों में बंटे हैं। इनमें संगमा और मराक सबसे प्रमुख हैं। गोत्र का मुखिया या परिवार का *नोकमा.* सबसे छोटी बेटी होती है जिसका पति संपत्ति की देख-रेख, उसका संचालन करता है।

खासी लोग मोन खमेर समूह के हैं। ये भी मातृवंशी हैं। इनमें मामा का भारी नियंत्रण और प्रभुत्व रहता है। 25 खासी प्रदेशों को सोलह लीमा या क्षेत्रों में बांटा गया था। प्रत्येक लीमा का एक *सियाइम* या सरदार था। लीमा के बाद तीन अर्द्ध-स्वायत्त इकाइयां आती हैं जो लिंडोह, पांच सूबेदारों और एक वहादार के अधीन होती हैं। *जैन्तिया* भी सिन्टैक्स या पनार लोगों के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द है ये भी मातृवंशी जनजातियां हैं और इनमें उत्तराधिकार *मामा* से *भांजे* को मिलता है। जैंतियों पर हिन्दुत्व और इस्लाम को बड़ा प्रभाव है, लेकिन इनमें ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या सबसे ज्यादा 47 प्रतिशत है। वहीं सेंग-खासी जैसे पुनरुत्थानवादी आंदोलनों ने समाज को पारंपरिक जनजातीय रीति-रिवाजों, धर्म और त्योहारों की ओर लौटाने का प्रयास भी किया है।

iv) *मणिपुर* उत्तर-पूर्व का एक प्राचीन राज्य है। इस राज्य को अठारहवीं सदी के राजा गरीब नवाज के शासनकाल में ख्याति मिली। तब यहां का राज्य धर्म वैष्णव था। इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण जनजातियां मैती, मरांग, लुयांग, खुमान, हैं। इनमें हिन्दू मैती सबसे शक्तिशाली और प्रभावी जनजाति है। यह संभवतः तिब्बती-बर्मी मूल की है और इसमें सात गोत्र हैं जिन्हें सलई-निंगयाउजा, लुवांग, खुमान, मोइरंग, अंगोम, खाबानगानिया और चेंगलेई के स्थानीय नामों से जाना जाता है। मणिपुर की अन्य

महत्वपूर्ण जनजातीय समुदाय ऐमोल, अनाल, अंगामी, चीरू, गंगटे, हमार, कबुई, काचा, कोइराओ, कियोरेंग, कोम, लामगांग, मर्रम, मार्रिंग, माओ मोनसंग, मोयोन, सेमा, टंगखुल इत्यादि हैं। मगर इन जनजातियों को मोटे तौर दो समूहों में बांटा जाता है। ये हैं— नागा और कुकी या कुकी चिन क्योंकि इन्हें वहां इन्हीं नामों से जाना जाता है और ये मणिपुर के पहाड़ी भागों, कछार, लेठा और बर्मा की अरकान पहाड़ियों में बसी हुई हैं। मणिपुर की 60 प्रतिशत आबादी हिन्दू है, शेष ईसाई और कुछ मुस्लिम है।

v) *अरुणाचल प्रदेश* को पहले 'नेफा' कहा जाता था, जिसकी आबादी का 79.02 प्रतिशत जनजातियां हैं। इसमें लगभग 110 जनजातियां हैं जिनमें 26 जनजातियां अधिक ज्ञात हैं। इनमें मुख्य जनजातीय समूह बफला और बंगनी, मिन्योंग, मिशमी, नोक्टे, अपाटानी, मिरी, अका, श्रोदुकपेन, मिकिर, टेंगिया हैं। शेष पूवोत्तर की तुलना में अरुणाचल प्रदेश अधिक दूर और अलग है।

vi) *असम* बड़ा राज्य है जिसमें जनजातियों की संख्या कुल 10.99 प्रतिशत है जो ब्रह्मपुत्र के मैदानो में रहती हैं। यहां की महत्वपूर्ण जनजातियां अहोम, बोडो-कचारी, रबा, मेच, जोजई, लेलुंग, मिकिर इत्यादि हैं। इनमें से अधिकांश जनजातियों का हिन्दू धर्म में अतंर्लयन हो गया है और वे जनजाति से जाति की ओर संक्रमण को दर्शाती हैं।

vii) *त्रिपुरा* राज्य पश्चिमोत्तर से दक्षिणोत्तर में छोटी पहाड़ियों की छह श्रृंखलाओं से घिरा है जिनकी ऊंचाई 100 से 3000 फुट तक है। इन पहाड़ियों की ऊंचाई दक्षिण-पश्चिम दिशा से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ती है, जबकि इन पहाड़ियों के छोरों पर मैदानी पट्टियां हैं। यहां कुल अट्ठारह जनजातियां रहती हैं जो अमूमन तिब्बती-बर्मी मूल की हैं। इनमें ज्यादातर जनजातियां हिन्दू हैं और दो बौद्ध जनजातियां चकमा और माघ तथा छह बागानों में रहने वाली जनजातियां हैं। इनमें मुख्य त्रिपुरी (जो बोडो मूल के हैं), रियांग, नाओतिया और हलाम जनजातियां हैं।

10.4 पूर्वोत्तर की जनजातीयों में सामाजिक स्तरीकरण

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

यहां सामाजिक स्तरीकरण के दो मुख्य आयाम हैं। इनमें एक आयु, लिंग, नातेदारी इत्यादि पर आधारित स्तरीकरण की पारंपरिक व्यवस्था है और दूसरा है आधुनिकीकरण की अनेक प्रक्रियाओं के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में उभरता स्तरीकरण। जैसे: शिक्षा, औद्योगीकरण, व्यावसायिक विभेदन, स्थिति क्रम परंपराएं जिनके मूल में संसदीय लोकतंत्र, सरकारी नौकरी इत्यादि कारक हैं जो समाज को नए वर्गों और स्थिति क्रम परंपराओं में स्तरित करते हैं।

पारंपरिक दृष्टि से पूर्वोत्तर की जनजातियां समरूप समतावादी इकाइयां नहीं रही हैं। यहां कि विभिन्न जनजातियों में स्तरीकरण उत्पन्न होने के पीछे अनेक कारकों का योगदान रहा है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वंशावली, जमीन से संबंध, आनुष्ठानिक स्थिति, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व की स्थिति हैं। अब ये कारक जिस रूप में मौजूद होंगे उसी के अनुसार विभिन्न जनजातीय समूहों में क्रम परंपराएं बनेंगी और उनका शाश्वतीकरण होगा और एक जनजातीय समूह का अन्य समूह पर प्रभुत्व भी तय होगा। उदाहरण के लिए, गारो जनजाति में झूम खेती की जमीन और गृहभूखंड को सात वंशों (महारियों) की संपत्ति माना जाता था, जिन्हें राजा का दर्जा प्राप्त था।

बॉक्स 10.01

राजा के बंदोबस्ती का अधिकार एक खास कुल को प्राप्त होता है। इसी प्रकार खासी लोगों में कबीले का हर सदस्य कबीले की सामूहिक जमीन *राई* पर अपना हक मांग सकता था। तेकिन *राई क्यांति* भूमि कुछ विशिष्ट कुलों के उपयोग के लिए होती थी जिस पर उन्हें मालिकाना, आनुवंशिक और हस्तांतरणीय अधिकार होता था। एक अध्ययन में यह देखने में आया है कि 22.2 प्रतिशत परिवारों का गांव की 70 प्रतिशत जमीन पर नियंत्रण था, शेष 30 प्रतिशत जमीन पर 54 प्रतिशत परिवारों का अधिकार था और बाकी के जो 24 प्रतिशत परिवार थे उनके पास कोई जमीन नहीं थी।

10.4.1 मिजो प्रशासन-प्रणाली

मिजो लोगों की अपने सरदारों के तहत एक सु-स्थापित शासन प्रणाली थी। गांव के जीवन के सभी कार्य-कलाप सरदार और उसके घर के इर्दगिर्द होते थे, जो उसका शासक होता था। सरदार के बेटे का विवाह होने पर सरदार उसे कुछ घर सौंप देता था जिससे कि वह अपना गांव खुद बसाए और स्वतंत्र होकर उस पर राज करे। साधारणतया कुल के अनुसार सरदार का बड़ा या छोटा बेटा उसी के पास रहता था जो सरदार की मृत्यु होने पर उसकी गद्दी और संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था।

साइलो लोगों में आनुवंशिक उत्तराधिकार सबसे छोटे जबकि पैइट कबीले में सबसे बड़े बेटे को मिलता था। प्रशासन का काम-काज चलाने के लिए सरदार को सयाने लोग सभी मदद देते हैं जिन्हें उपा कहते हैं। इसी तरह युवा लोगों के लिए *सहप्रांगण* होता था जिसे *जौलबुक* कहा जाता था। उपा के सदस्यों को झूम के लिए खेतों के चुनाव में वरीयता दी जाती थी और सरदार द्वारा आयोजित किए जाने वाले भोजों या समारोहों में उन्हें महत्व दिया जाता था। गांव के महत्वपूर्ण अधिकारियों या कर्मियों में मुख्य त्लांगाऊ (गांव की रुदाली), थिरदेंदिंग (लोहार) और पुईथियाम (पुरोहित) होते थे। प्रत्येक कर्मी को गांव के सदस्यों के लिए क़िए जाने वाले काम के एवज में एक टोकरा धान दिया जाता था। इसी तरह जौलबुक भी एक महत्वपूर्ण संस्था थी।

मिजो सरदारों को कुछ अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त थे, जैसे वह (i) फथंग (धान पर कर), (ii) स्छिया (मांस कर), (iii) सलाम (जुर्माने के रूप में भेंट) लेता था और (iv) उसके घर का निर्माण और मरम्मत उसके कहने पर की जाती थी। इसके अलावा वह रमहुआल और सलेन कहे जाने वाले किसानों के एक विशेष वर्ग को विशेषाधिकार भी प्रदान करता था, जिन्हें झूम खेतों को चुनने का सबसे पहले मौका दिया जाता था।

मगर स्वतंत्रता के बाद आंतरिक संघर्ष, जागरुकता, नगरीकरण में वृद्धि और अपेक्षाओं-आकांक्षाओं से भरे मध्यम वर्ग के उदय के फलस्वरूप सरदारशाही संस्था समाप्त हो गई और उसकी जगह वर्ग और अन्य उभरते हितों पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण ने ले ली।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.4.2 नागाओं में सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा

इस तरह की असमानता नागाओं में भी सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और संपदा के असमान वितरण के रूप में विद्यमान थी। इन्हें *योग्यता भोज* के जरिए अर्जित किया जाता था; जिसमें नष्ट हो जाने वाले भोज्य पदार्थों को कबीले के सदस्यों में बांट दिया जाता था। इसका एक सामाजिक प्रकार्य यह था कि यह युद्ध और शांति दोनों के दौरान सांकेतिक प्रतिष्ठा अर्जित करने और सम्मानित गठबंधन स्थापित करने का अवसर देता था। उदाहरण के लिए, नागा लोग (i) केकामी (सरदार), (ii) चोकोभी (छोटे सरदार), (iii) मुघामी (अनाथ या जनसाधारण), अकाहेमी (सरदार के आश्रित या परिजन) और (v) अनुकेशिमी (सरदार के खेत जोतने वाले किसान)। हैमेनडॉर्फ बताते हैं कि सरदारशाही क्नोयक कबीले में रक्त पवित्रता के सिद्धांत पर जीवित रही है।

अभ्यास 1

नागाओं में सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा पूर्वोत्तर के अन्य जनजातीय समूहों से किस तरह से भिन्न या समान हैं? अध्ययन केन्द्र में अपने सहपाठियों के साथ इस विषय पर विचार-विमर्श करें और आपको जो भी जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

हैमनडॉर्फ ने अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों का गहराई से जो अध्ययन किया है उससे इनमें भी इसी तरह के रुझानों का पता चलता है। इस राज्य की सबसे महत्वपूर्ण जनजाति अपटानी है, जो सात गांवों में बसी है। प्रत्येक गांव में 160 से 1000 घर हैं। अपटानी किसान हैं और उनका समाज बड़ी कठोरता से स्तरित है। इनमें मुख्यत: दो वर्ग हैं जो स्थिति या हैसियत में एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें एक उच्च वर्ग

है जिसके सदस्य जमीन के बड़े हिस्से के स्वामी हैं और अपने वर्ग और गांवों में राजनीतिक शक्ति रखते हैं। दूसरा निम्न वर्ग है जिसमें कुछ व्यक्ति जमीन के स्वामी हैं तो शेष घर-दास है। यानी ये मुख्यत: माटे, मिटे-गुथ (कुलीन वर्ग) और मुरा, कुची (दास/जनसाधारण) में बंटे हैं।

जैंतिया कबीले में भी एक विस्तृत स्तरीकरण प्रणाली प्रचलित थी। इसके लोग इन वर्गों में विभाजित थे:

i) राजा

ii) डोलोई (गवर्नर)

iii) वाहेन चनोंग (गांव का प्रधान)

iv) माइंतिए, पाटस, लस्कर, संगत, माजी (ये जनसाधारण हैं और इनमें सभी शामिल हैं)।

तिलपुत नोंगब्री ने जनजातियों में स्तरीकरण प्रणाली के एक रोचक पहलू पर जेंडर (सामाजिक लिंग) की रोशनी में दृष्टिपात किया है। वह कहती हैं कि पारंपरिक जनजातीय नियम भी गैर जनजातीय समाजों की तरह महिलाओं को संपत्ति पर बराबरी का अधिकार नहीं देते हैं। उनके साथ यह भेदभाव विशेषकर उत्तराधिकार के नियमों में किया जाता है, जिनमें उन्हें सिर्फ भरण-पोषण और खर्च का अधिकार प्राप्त है। मातृवंशीय समाज में भी जमीन को लेकर 'स्वामित्व' और 'नियंत्रण' के बीच भारी भेद है। इसलिए जमीन का स्वामित्व तो महिला को मिलता है लेकिन उसका नियंत्रण और संचालन पुरुषों के हाथ में रहता है। खासी, जैंतिया, गारो, राभा इत्यादि जनजातियों में ये नियम प्रचलित हैं। इसी प्रकार जिन पितृसत्तात्मक समाजों में महिलाओं को भोगाधिकारी का अधिकार प्राप्त है वहां भी उन पर कई शर्तें थोप दी जाती हैं। जैसे, उन्हें अविवाहित रहना पड़ता है, या उनके कोई भाई न हो, या वे विधवा हों और उन्हें उनकी इच्छा विरुद्ध ऐसे व्यक्ति से विवाह करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है जिसे लोग चुनते हैं। इसी प्रकार सामुदायिक संपत्ति संसाधनों के आबंटन और संचालन को लेकर भी महिलाओं को पूर्वाग्रह का सामना करना पड़ता है। उन्हें विवाह और तलाक के मामले में भी भेदभाव का सामना करना पड़ता है। वधू-मोल की प्रथा ने उन्हें खरीद की वस्तु जैसा बना दिया है जो उनके लिए अपमानजनक है। महिलाएं विशेषकर जब कबीले से बाहर गैर-जनजातीय व्यक्तियों से ब्याह रचाती हैं तो उन्हें वंश समूह और जातीय पहचान के लिए खतरा समझ लिया जाता है क्योंकि इससे उनके समाज पर अप्रत्यक्ष जनसांख्यकीय प्रभाव पड़ते हैं। इसके कारण कई पुरुष चाहते हैं कि उनके समाज में प्रचलित उत्तराधिकार की मातृवंशीय व्यवस्था को पितृवंशीय व्यवस्था में बदल दिया जाए। मगर इससे मातृवंशीय व्यवस्था का आधार कमजोर हो जाएगा।

MAADHYAM IAS

10.4.3 पारंपरिक श्रेणीकरण प्रणाली

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न जनजातियों की सामाजिक श्रेणीकरण की सुव्यवस्थित और अलग-अलग पारंपरिक प्रणालियां हैं जिन्हें उनकी विशिष्ट पारिस्थितिकी और ऐतिहासिक परिस्थितियां तय करती हैं। औपनिवेशिक शासन का आरंभ और देश के स्वतंत्र होने पर इसकी समाप्ति से अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आए जिन्होंने पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों की दुनिया को हिला दिया, जिसे अभी तक बड़ी ही सावधानी से सुरक्षित और अपेक्षतया पृथक रखा गया था। जैसे, जनजातियों को औपनिवेशिक प्रशासनिक प्रणाली से जोड़ना, जिसके फलस्वरूप इनका बाहरी विश्व से संपर्क बढ़ा, ईसाई मिशनरियों का आगमन, बाजार व्यवस्था का चलन, प्रशासनिक और राजनीतिक सुविधा के लिए अंग्रेजों का जनजातियों में प्रचलित स्थिति क्रम परंपरा को औपचारिक रूप देना और उसे सुदृढ़ बनाना, जनजातियों के हित में रक्षात्मक भेदभाव की नीति और पिछड़े इलाकों में विकास योजनाएं लागू करना और आखिर में स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सहभागिता। इन सबके फलस्वरूप कई स्तरों पर परिवर्तन आए हैं।

बोध प्रश्न 1

1) मिजो प्रशासनिक प्रणाली पर पांच पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

2) पूर्वोत्तर में जैंतिया और खासी जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण के बारे में बताइए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

इन सबके फलस्वरूप सामाजिक स्तरीकरण की पारंपरिक प्रणाली कमजोर हुई, नए सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक हित उभरे और उनसे जुड़ी विषमताएं भी उत्पन्न हुई जिनके साथ-साथ समाज में वर्ग स्थान का महत्व बढ़ता गया। इस प्रकार प्रदत्त स्थिति के सह-अस्तित्व में अर्जित स्थिति ने उसे मजबूत बनाने और उसे बदलने दोनों का काम किया है और वह एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है।

बॉक्स 10.02

एक नए मध्यम वर्ग, ठेकेदारों, बिचौलियों व्यापारियों और राजनीतिज्ञों का उदय हुआ, जो स्थानीय, जनपदीय, राज्य या राष्ट्रीय स्तर पर काम करते हैं। इन सबने मिलकर जनजातीय समाज को वर्ग के आधार पर बांटा। लेकिन परंपरागत रूप से जिन वर्गों को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रभावी दर्जा हासिल था उन्होंने नए परिवेश में ऊंचा दर्जा हासिल करने के लिए अपनी आरंभिक स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। इन सब परस्पर प्रभावी क्रियाओं ने एक ऐसे समाज की रचना की है जो स्तरित और प्रदेश, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर तमाम राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक रुझानों से जुड़ा हुआ है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मगर वहीं इन सब कारकों ने ही एक विशिष्ट पहचान को बचाए रखने और उसे जोरदार ढंग से अभिव्यक्ति देने की जरूरत भी इन जनजातियों में पैदा की।

10.5 पूर्वोत्तर में जनजातीय आंदोलन

पूर्वोत्तर के जनजातिय आंदोलनों की विशिष्टता और अन्य क्षेत्रों के जनजातीय आंदोलनों से भिन्न इसके चरित्र को समझने के लिए पहले हमें यह ध्यान में रखकर चलना होगा कि पूर्वोत्तर की जनजातियों की एक विशिष्ट अनूठी भू-राजनीतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि के कारक इस प्रकार हैं:

i) अंतरराष्ट्रीय सीमाओं पर बसे होने के कारण इनमें से कई जनजातियों ने सेतु और मध्यवर्ती समुदायों की भूमिका निभाई और इसी कारण सीमा पार के कुछ विशेष जन समूहों से उनके संबंध बन गए।

ii) ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इन जनजातियों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से शेष देश से पृथक रखने की नीति अपनायी। उन्होंने जनजातीय क्षेत्रों को अपवर्जित और अंशत: अपवर्जित क्षेत्रों में बांटा और इन क्षेत्रों में बाहरी व्यक्तियों के आवागमन को बड़ी कड़ाई से नियमित किया। खासकर अपवर्जित क्षेत्रों में तो कोई बाहरी व्यक्ति परमिट के बगैर प्रवेश कर ही नहीं सकता था। यही कारण है कि ये क्षेत्र भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव से कमोबेश अछूते रहे। बल्कि स्वतंत्र भारत में ये अपनी अलग पहचान और राजनीतिक स्वायत्तता को बनाए रख पाएंगे या नहीं इसको लेकर भी उनमें आंशकाएं घर कर गईं।

iii) मध्य भारत की जनजातियों के विपरीत त्रिपुरा को छोड़ बाकी समूचे पूर्वोत्तर में जनजातियां बहुसंख्यक हैं। पड़ोसियों के साथ आर्थिक और सामाजिक शोषणात्मक चंगुल से मुक्त होने के कारण उन्हें अपनी जमीन और जंगलों से बेदखली जैसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए इन्हें देश के अन्य भागों की जनजातियों की तरह किसान आंदोलनों की आवश्यकता नहीं पड़ी।

iv) ईसाई धर्म और मिशनरी शिक्षा के प्रसार ने यहां की जनजातियों को अपनी विशिष्ट पहचान का बोध दिया और स्वतंत्र भारत में अपने भविष्य को लेकर उन्हें शंकालु बनाया।

v) द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव जैसा कि युद्ध भूमि, पूर्वोत्तर में इन जनजातियों की वासभूमि के समीप ही थी।

vi) भारत के स्वतंत्र होने के बढ़ते आसार और उसके फलस्वरूप राजनीतिक चेतना और संघर्ष में वृद्धि।

vii) स्वतंत्रता के पश्चात यहां की जनजातियों और बाहरी लोगों में असीमित संपर्क। अनेक व्यापारी, शरणार्थी और अन्य प्रवासी लोग पूर्वोत्तर में आ बसे और उन्होंने भूमि और संसाधनों को हासिल कर लिया। इससे जनजतियों में यह भय उत्पन्न हो गया कि बाहरी लोग उन पर हावी हो जाएंगे और ये लोग उनसे उनके जंगल और जमीन छीन लेंगे और उन्हें अन्य संसाधनों से भी वंचित कर देंगे।

viii) जनजातीय जीवन और सामाजिक संस्थाओं पर आधुनिकीकरण के प्रभाव फलस्वरूप विशेषकर उभरते मध्यम वर्ग के सदस्यों और पारंपरिक सरदारों के बीच संघर्ष बढ़ा और भूमि नियंत्रण और भूमि संबंध के पारंपरिक स्वरूप भी बदल गए।

अलग-अलग आंदोलनों की खास परिस्थितियों और उद्देश्य के अनुसार इनमें से कई कारकों ने अलग-अलग मिश्रण में विभिन्न जनजातीय आंदोलनों के उद्‌भव और विकास को प्रभावित किया। इन आंदोलनों की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण इनका आवेग मुख्यत: राजनीतिक रहा है और ये मुख्यत: 'पहचान और सुरक्षा' के मुद्दों पर केन्द्रित रहे हैं। इन आंदोलनों के लक्ष्य स्वायत्तता से लेकर स्वतंत्रता और साधन संवैधानिक से लेकर सशस्त्र विद्रोह रहे हैं। हांलाकि अधिकांश आंदोलन भाषा, लिपि और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के मुद्दों पर केन्द्रित रहे हैं, लेकिन इन आंदोलनों में भी वही राजनीतिक संघर्ष प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है। आइए, अब हम कुछ आंदोलनों पर विस्तार से दृष्टि डालकर उनकी विशिष्टता को समझने का प्रयास करेंगे।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

उत्तर-पूर्व की एक आदिवासी महिला
साभार : कपिल कुमार

10.5.1 नागा आंदोलन

अनेक कारकों ने नागा आंदोलन को जन्म देने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाई। ये कारक इस प्रकार थे:

i) अंग्रेजों से प्राप्त विशेषाधिकारों को खोने का डर,

ii) सांस्कृतिक स्वायत्तता और विशिष्ट जातीय पहचान खोने का खतरा,

iii) पहाड़ियों पर पारंपरिक स्वामित्व को खोने का डर,

iv) ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार

v) नगा पहाड़ियों में औपचारिक शिक्षा का विकास,

vi) जटिल राजनीतिक ताने-बाने का उदय

नागा जातीय पहचान और आंदोलन को प्रखर अभिव्यक्ति हालांकि स्वतंत्रता के बाद ही मिली थी, लेकिन इसके बीज 1918 में कोहिमा में नागा क्लब की स्थापना के साथ ही पड़ गए थे। इस क्लब ने 1929 में साइमन कमीशन को एक ज्ञापन दिया था जिसमें नागा पहाड़ियों पर प्रत्यक्ष ब्रिटिश प्रशासन को जारी रखने के साथ-साथ कई तरह के मुद्दे उठाए गए थे। इस ज्ञापन पर अधिकांश नगा कबीलों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए थे।

नागा पहचान के पुनर्जागरण में अति महत्वपूर्ण भूमिका जापू फिजो ने निभाई, जिन्होंने जापानियों और आजाद हिन्द फौज की इस उम्मीद के साथ मदद की थी कि बदले में उन्हें एक संप्रभु नागा राज्य की स्थापना करने में सहायता मिलेगी। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद इस विषय पर बड़ी जबर्दस्त बहस हुई कि नागा आखिर क्या चाहते हैं। बहस का मुद्दा मुख्यत: स्वायत्तता बनाम स्वतंत्रता थी।

बॉक्स 10.03

असम के गवर्नर ने 29 जून, 1947 को कोहिमा में नागा नेशनल कांउसिल के साथ एक नौ-सूत्री समझौता किया। यह समझौता विवादों से परे नहीं था। विशेषकर इसके उपबंध 9 की व्याख्या को लेकर बड़ा विवाद उठा। नागा लोगों का दावा था कि इसका मतलब 10 वर्ष बाद उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार है। मगर भारत सरकार को लगता था कि समझौते के सभी पहलू संविधान की छठी अनुसूची में सम्मिलित कर लिए गए हैं। नागा नेशनल कांफ्रेंस के कई सदस्य इस समझौते को आजमाना चाहते थे मगर भारत सरकार ने फिजो और अधिकांश नागा नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। अपनी रिहाई के बाद फिजो ने नागा नेशनल कांउसिल का नेतृत्व फिर से संभला और नागा स्वायत्तता के मुद्दे पर 'जनमत संग्रह' कराया। कुछ हजार लोगों के विचार के आधार पर यह घोषणा कर दी गई कि 99 प्रतिशत नागा स्वंतत्रता चाहते हैं।

MAADHYAM IAS

नागाओं ने 1952 में हुए पहले आम चुनावों और जिला परिषद योजना का बहिष्कार किया। आंदोलन के नेता फिजो ने जब 18 सिंतबर 1954 को 'काउटागा' में एक स्वतंत्र नागालैंड गणतंत्र की सरकार के गठन की घोषणा की तो इस आंदोलन ने हिंसक मोड़ ले लिया। इस प्रक्रिया में साखरी जैसे मध्यमार्गी लोग आंदोलन के हाशिए पर धकेल दिये गये। कुछ ही समय बाद साखरी की हत्या कर दी गई और गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया गया। नागा विद्रोह को कुचलने के लिए केन्द्र सरकार ने 27 अगस्त 1955 को नागरिक प्रशासन की सहायता के लिए राज्य को सेना के हवाले कर दिया। गुरिल्ला संघर्ष धीरे-धीरे कमजोर पड़ गया। लेकिन कठोर सैनिक शासन के अधीन नागा लोगों को दमन और घोर कष्ट झेलने पड़ रहे थे। इस स्थिति ने मध्यमार्गियों को आगे आने का मौका दिया और उन्होंने स्वतंत्रता की मांग छोड़कर भारतीय संघ में एक ऐसे नागालैंड की संभावना को तलाशना शुरू किया जिसे अपनी विरासत और जीवन शैली की रक्षा करने की पूरी स्वतंत्रता हो। अगस्त 1957 में कोहिमा में नागा लोगों की एक सभा बुलायी गयी। इस सभा में नागा पहाड़ियों और नेफा के तुएनसांग जिले के लगभग सभी कबीलों के 760 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। गहन विचार-विमर्श के पश्चात सभा ने भारतीय संघ के तहत एक नागा पहाड़ी - तुएनसांग प्रशासनिक (एन.एच.टी.ए.) इकाई की मांग करने का फैसला किया। फलत: भारत सरकार ने एक स्वायत्त

जिले के रूप में एन.एच.टी.ए का गठन किया जिसके प्रशासन की बागडोर भारत के राष्ट्रपति की ओर से असम के राज्यपाल को सौंपी गई। इस सम्मेलन के बाद दो और सम्मेलन बुलाए गए। अक्तूबर 1959 में विचार-विमर्श के आधार पर भारत सरकार के साथ जुलाई 1960 में एक ऐतिहासिक समझौता हुआ। इस समझौते के तहत एन.एच.टी.ए को नागालैंड का नया नाम देकर 1963 में स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया जाना तय हुआ। नवगठित राज्य की विधानसभा के चुनाव हुए तो उधर भूमिगत नागा नेताओं के बीच बातचीत, सुलह-समझौते के अनके निष्कर्षपूर्ण दौर चले। फलस्वरूप 1964 में एक शांति मिशन गठित किया गया, जिसके सदस्यों में जयप्रकाश नारायण, बी. पी. कालिका, रेवरेंड माइकल स्कॉट और शांधकारो देव थे। इन सब गतिविधियों और प्रयासों की परिणति 11 नवंबर, 1975 की शिलांग समझौते में हुई। इस समझौते के तहत भूमिगत नागा आंदोलनकारी संगठनों ने भारतीय संविधान को स्वीकार कर लिया, उन्होंने अपने हथियार सौंप दिए। बदले में भारतीय सुरक्षा बलों ने अपनी कारवाई रोक दी और उन्हें आखिरी ससझौते के लिए मुद्दे तय करने के लिए पर्याप्त समय दिया। इस समझौते से राज्य में शांति तो कायम हो गई लेकिन 1980 में गठित नेशनलिस्ट सोशलिस्ट कांउसिल ने एक संप्रभु नागा राष्ट्र के लिए अपना भूमिगत आंदोलन अभी तक नहीं छोड़ा है।

10.5.2 त्रिपुरा में जनजातीय नीति

त्रिपुरा एक ऐसे राज्य का उदाहरण है जिसके शासन की बागडोर एक जनजातीय शासक के हाथों में थी पर उसने ऐसी नीतियां अपनायी जिनके चलते इसके मूल जनजातीय वासी ही यहां अल्पसंख्यक बन गए। इस राज्य में मुख्यत 19 जनजातियां थीं जिनमें सबसे प्रभावी त्रिपुर जनजाति थी। राज्य का राजा इसी जनजाति का था। अनेक ऐतिहासिक कारणों से यहां के अधिकांश जनजातीय लोग हिन्दू धर्म खासकर वैष्णव पंथ के प्रभाव में आए। त्रिपुरा के महाराजा ने आर्थिक कारणों से बंगाली किसानों को त्रिपुरा में झूम खेती की जगह नियमित खेती का विकास करने के लिए बुलाया। बगल के कोमिला, नोआखाली और चिटगांव जिलों में खुद राजा की जमींदारी थी। इन बंगाली किसानों को जिरातिया काश्तकार कहा जाता था। इन्होंने कृषि को विकसित करने के साथ-साथ राज्य के लिए बेहद जरूरी राजस्व भी जुटाया। राजा ने मानवीय दृष्टिकोण से भी बंगाली शरणार्थियों को अपने राज्य में बसने और वनभूमि को कृषि योग्य बनाने की अनुमति दी। इसी प्रकार अनेक उद्यमियों को राज्य में चाय के बागान लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। राज्य में प्रशासन के काम-काज की भाषा बंगाली होने के कारण बंगाली व्यवसायी और सफेदपोश कामगार, अध्यापक और अन्य लोग भी बड़ी संख्या में आ बसें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 2

अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से त्रिपुरा में जनजातीय नीति पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा से आपको जो जानकारी मिलेगी उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

इस प्रक्रिया ने त्रिपुरा के जनसांख्यिक स्वरूप को ही बदल डाला। जिस राज्य में जनजातियों की संख्या 1874 में 64 प्रतिशत थी, वहीं 1911 में उनकी संख्या 36 प्रतिशत रह गई। वर्ष 1931 तक आसाम और बंगाल से आ बसने वाले लोगों की संख्या 1,14,383 हो गई। त्रिपुरा के महाराजा ने 1931 और 1943 की राजकीय घोषणा में 5050 वर्ग कि.मी. का क्षेत्र त्रिपुरा की त्रिपुरी, रेंग, जमाती, नाओती, और हलाम जनजातियों के लिए नियमित खेती के लिए आरक्षित कर दी थी।

बॉक्स 10.04

स्वतंत्रता से पहले ही त्रिपुरा भारतीय संघ में 13 अगस्त 1947 में शामिल हो गया। मगर सिर्फ एक दिशा को छोड़ बाकी सभी दिशाओं से पूर्वी पाकिस्तान (आज का बांगलादेश) से घिरा होने कारण सीमा पार होने वाली सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं, खासकर साम्प्रदायिक दंगों ने त्रिपुरा पर भारी प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप इसमें शरणार्थियों की बाढ़ आं गई। इसका वहां की जनजातियों के लिए एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि राज्य में उनकी जनसंख्या जहां एक ओर बढ़ी मगर वहीं बाहरी लोगों के अनुपात में वह 1971 में कुल 28.44 प्रतिशत ही रह गई।

i) इस जनसांख्यिक बदलाव का सीधा सा परिणाम यह रहा कि अप्रवासियों का जनजीवन के विभिन्न पहलुओं खासकर बाजार और ऋण व्यवस्था के साथ-साथ व्यावसायिक और सेवा क्षेत्रों में वर्चस्व और नियंत्रण बढ़ता गया। इसके फलस्वरूप मूल आदिवासियों को भारी संख्या में भीतर की ओर धकेल दिया गया, भूमि पर दबाव भी बढ़ गया, गिरवियों और कर्ज में भारी वृद्धि हो गई, झूमखेती जिसमें जंगल को काटकर खेती योग्य बनाया जाता था, उस पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया, जनजातीय लोगों से जमीन गैर-जनजातीय लोगों के हाथों में चली गई। इस प्रकार, बदलते जनसांख्यिक संतुलन बाहर से आने वाले लोगों की संख्या में आकस्मिक वृद्धि से उत्पन्न दबाव और शिक्षा के प्रसार, इन सबने मिलकर नए आवेगों, अपेक्षाओं और असंतोष की भावनाओं के मिश्रण को जन्म दिया।

इस असंतोष का पहला परिणाम यह रहा कि 1947 में सेंग क्राक के नाम से एक उग्रपंथी जनजातीय संगठन का गठन कर लिया गया, इसके कुछ समय बाद आदिवासी समिति और त्रिपुरा राज्य आदिमवासी संघ का गठन हुआ। इन दोनों संगठनों ने 1954 में मिलकर आदिवासी संसद बना ली। इधर ईस्टर्न इंडिया ट्राइबल यूनियन (पूर्वी भारत जनजातीय संगठन) ने भी त्रिपुरा में अपनी शाखा खोल ली और 1957 और 1962 में चुनाव लड़े। इसी प्रकार साम्यवादियों ने भी 1947 में राज्य मुक्ति परिषद का गठन किया और जनजातियों के हितों की पैरवी करके त्रिपुरा में अपनी उपस्थिति मजबूत बना ली थी। मगी कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन और उसके पतन के साथ-साथ बदलते समीकरणों में कांग्रेस पार्टी को भी अपने पैर पसारने का भरपूर मौका मिला। इन सबके चलते नई पीढ़ी के लोगों में भारी मोहभंग और असंतोष पैदा हो गया और उन्होंने समाचारण त्रिपुरा के तहत त्रिपुरा उपजाति जूबा समिति (टीयूजेएस) का 10 जून 1967 को गठन कर लिया। इस संगठन के एंजेंडे में मुख्य चार मांगे थी: क) भारतीय संविधान की छठी अनुसूची के तहत जनजातियों के लिए एक स्वायत्त जिला परिषद का गठन, ख) गैर जनजातीय लोगों द्वारा अवैध रूप से हथियाई गई जमीन को जनजातियों को बहाल कर लौटाना, ग) केक बारक भाषा को मान्यता, घ) रोमन लिपि को स्वीकृति।

ii) टीयूजेएस ने अपनी मांगों की पूर्ति के लिए जबर्दस्त अभियान छेड़ दिया। आंदोलन, प्रचार, याचिकाओं, धरनों, विरोध प्रदर्शनों के जरिए तमाम उतार-चढ़ावों से गुजरते हुए इसने अपनी पकड़ बनाए रखी और जब 1972 में त्रिपुरा को स्वतंत्र राज्य का दर्जा मिला तो यह जनजातियों के उत्थान के लिए कार्य करती रही। मगर 1977 के चुनावों में साम्यवादियों की स्थिति सुधर गई और उन्होंने सरकार बना ली जिससे टीयूजेएस और कांग्रेस दोनों हाशिए में चले गए।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) की सरकार ने राज्य में जनजातियों की स्थिति को बहाल और उसे मजबूत करने के लिए कई कदम उठाए। जैसे, केक-बारक भाषा को मान्यता दी, अवैध रूप से हथियाई गई जमीन को मूल जनजातीय लोगों को लौटाने के लिए कृषि कानून लागू किया, और स्वायत्त पर्वतीय परिषद् के गठन की प्रक्रिया आरंभ की। इन कदमों का जनजातियों और टीयूजेएस के मध्यमार्गियों ने स्वागत तो किया मगर इसके घटते प्रभाव से चिंतित चरमपंथी नेताओं ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। बल्कि उनके नेतृत्व की कमान ईसाई मिशनरी विजय कुमार रैंखेल ने अपने हाथ में ले ली। रैंखेल ने ईसाइयत के धार्मिक बंधन को जनजातियों में एकता लाने और उसे प्रबलता से व्यक्त करने की माध्यम बनाया। उन्होंने टीयूजेएस के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए मिजो नेशनल फ्रंट की सहायता ली। वह त्रिपुरा ट्राइबल नेशनल फ्रंट और त्रिपुरा सेना के स्वयंभू नेता बन गए। त्रिपुरा का भारत से अलगाव और स्वतंत्रता उनका मुख्य ध्येय बन गया। त्रिपुरा अलगावादी आंदोलन में दुबारा उफान मणिपुर, मेघालय और असम में बाहरी लोगों के विरुद्ध चल रहे आंदोलनों के दौर के साथ आया। टीयूजेएस ने मार्च 1980 में एक सम्मेलन किया जिसमें उन तमाम विदेशियों को राज्य से बाहर निकालने की मांग उठाई गई जो 15 अक्तूबर 1949 के बाद वहां बसे थे। आंदोलन का हिंसक दौर विदेशियों विशेषकर व्यापारियों के बहिष्कार और उनके विरुद्ध सरकारी दफ्तर के सामने विरोध प्रदर्शनों के आह्वान के साथ शुरू हुआ। बंगालियों और अन्य प्रवासियों पर हिंसक हमले हुए जिन्होंने इस आंदोलन का विरोध अरमा बंगाली से किया। एक महीने के अंदर हिंसा नें नरसंहार का वीभत्स रूप ले लिया। यह हिंसा लेंबुचेरा कांड से भड़की।

MAADHYAM IAS

iii) केन्द्र सरकार ने त्रिपुरा पर दिनेश सिंह समिति बैठाई। इस समिति की राय थी कि त्रिपुरा की समस्या का वास्तविक समाधान क्षेत्र के आर्थिक विकास में है। मूल आदिवासी समाज में व्यापारियों, जमीन हथियाने वालों, शरणार्थियों और ईसाई मिशनरियों की जनजातीय समाज में घुसपैठ के फलस्वरूप राज्य में जो परिवर्तन आया था उसकी ओर समिति ने ध्यान दिया। समिति ने अपनी सिफारिशों में समस्या के समाधान के लिए तात्कालिक और दूरगामी उपायों की एक लंबी-चौड़ी फेहरिसत दी। इनमें मुख्य था विषमताओं को दूर करना, मूल जनजातीय लोगों को उनकी जमीन बहाल करना और उनका पुनर्वास करना। टीयूजेएस ने रैंखेल के नेतृत्व वाले उग्रपंथी त्रिपुरा नेशनल वॉलटियर्स से नाता तोड़ लिया और उसने दिनेश सिंह समिति की सिफारिशों को लागू करने, जून में हुई हिंसा की न्यायिक जांच कराने और एक जनजातीय अंचल स्वायत्त परिषद् (ट्राइबल एरिया ऑटोनॉमस कांउसिल) के गठन के लिए शांतिपूर्ण आंदोलन का आह्वान किया। विदेशी विरोधी आंदोलन को रोक दिया। कुछ समय तक कठोर संघर्ष करने के बाद त्रिपुरा नेशनल वॉलटियर्स (टीएनवी) के उग्रपंथियों ने भी आखिरकार 12 अगस्त 1988 को भारत सरकार से समझौता कर लिया। इस समझौते के तहत हथियाई गई जमीनों को उनके मूल स्वामियों को लौटाने के लिए शीघ्र कार्रवाई, सीमा पार से घुसपैठ को रोकने के लिए कड़े उपाय, इत्यादि निर्णय लिए गए।

iv) मगर टीएनवी के सभी गुट इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने आंदोलन को जारी रखने के लिए अलग-अलग गुट बना लिए। जैसे ऑल त्रिपुरा ट्राइबल फोर्स, द नेशनल लिबरेशन फ्रंट ऑफ त्रिपुरा, त्रिपुरा राज्य रक्षा वाहिनी, त्रिपुरा स्टेट वॉलंटीयर्स, त्रिपुरा नेशनल डेमोक्रैटिक ट्राइबल फोर्स। इनमें से भी ऑल त्रिपुरा ट्राइबल फोर्स ने 1993 में सरकार से समझौता कर लिया। यूं तो इस बीच आंदोलन की तीव्रता, आस्था और समर्पण में कमी तो आई है लेकिन इसके विभिन्न गुट अभी तक जीवित हैं। दरअसल, इन्हें एक ओर विभिन्न राजनीतिक दलों से संरक्षण और समर्थन मिल रहा है तो दूसरी ओर इन्हें सीमा पार के भूमिगत संगठनों से संसाधन और हथियार मिलते हैं।

10.5.3 मणिपुर में जनजातीय आंदोलन

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

मणिपुर में आंदोलनों का एक लंबा इतिहास देखने को मिलता है। इनमें 1917-19 का कुकी विद्रोह 1930-32 का जेलियांग्रोग का नागा विद्रोह और अंग्रेजों की व्यापार नीति के खिलाफ महिला आंदोलन, मेतेई राज्य समिति इत्यादि मुख्य हैं।

मणिपुर एक रियासत थी जिसका विलय भारत में 1949 में हो गया था। तब से लेकर 1972 में राज्य का दर्जा मिलने तक वह एक केन्द्र शाषित प्रदेश रहा। काबुई राज्य में आंदोलनों और विद्रोहों के फिर से उभरने के पीछे कई कारण बताते हैं जैसे पहचान का संकट, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का खोखलापन, आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और विदेशी शक्तियों का प्रभाव और विचारधारा। जैसा कि हमने पीछे कहा है इस राज्य में भी अनेक आंदोलन हुए हैं, जिनमें से मुख्य आंदोलनों के बारे में हम अब आपको जानकारी देंगे।

i) 1967 *मैतेई राज्य समित* का गठन में मणिपुर के भारत में विलय के विरोध में हुआ। इस संगठन ने धीरे-धीरे एक क्रांतिकारी रूप धारण कर लिया जो एक ऐसे स्वंतत्र मणिपुर की मांग करने लगा जिसका संचालन इराबोत सिंह की समाजवादी विचारधारा के अनुसार हो। लेकिन मगर कुछ ही वर्षों में यह आंदोलन धीमा पड़ गया और फिर 1971 में समिति ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस आंदोलन की असफलता के मुख्य कारण इस प्रकार थे:

क) इसके नेता कम पढ़े लिखे थे,

ख) नेताओं में आंदोलन को उद्देश्यों के लेकर स्पष्ट समझ नहीं थी,

ग) बुनियादी संगठनों और समर्थन की कमी।

ii) मणिपुर में कुकी विद्रोह 1917-19 में जनजातीय लोगों के पारंपरिक सामाजिक ढांचे और जीवन-शैली में अंग्रेज शासकों के दखल के कारण भड़का था। इस आंदोलन को ब्रिटिश हुकूमत ने दबा दिया।

मगर फिर मेतेई लोगों के साथ सरकार के बर्ताव को लेकर भी यही प्रतिक्रिया हुई जो कुकी आंदोलन के लिए एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। इस आंदोलन को सनमाही पंथ की बढ़ती महत्ता से तेज गति मिली जिससे यह मिथक धराशायी हो जाता है कि मेतेई लोग मूलत: आर्य हैं, जिन्होंने अट्ठारहवीं सदी में हिन्दू धर्म अपना लिया था। इस आंदोलन में मणिपुर नेशनल फ्रंट की भूमिका महत्वपूर्ण रही है, जिसका ध्येय मंगोल विरासत को पुनर्जीवित करना और इसके जरिए सनमाही और पूर्वोत्तर की अन्य मंगोल जातियों को एकता के सूत्र में बांधना है। मणिपुर नेशनल फ्रंट समाज को अपने आदिवासी धर्म की ओर ले जाने का प्रयास कर रहा है और ब्राह्मणवादी और वैष्णव प्रथाओं के वर्चस्व और शोषण से उनकी मुक्ति चाहता है। सनमाही पंथ के पुनरोदय के परिणामस्वरूप मेतेइर लिपि, भाषा और साहित्य को पुनर्जीवन मिला जिससे मेतेई लोगों की एक विशिष्ट पहचान बनी। मगर वहीं इस पहचान की पुनर्स्थापना के मूल में हिन्दुओं और अन्य बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश भी था। आंदोलन ने मणिपुर के गौरव और भारत से उसकी सांस्कृतिक भिन्नता को उभारा। मेतेई राष्ट्रवाद के इस उदय का एक परिणाम यह रहा है कि मणिपुर और मणिपुरी शब्दों की जगह अब क्रमश: कांगलेईपक और मेतेई ने ले ली है, जिन्हें एक स्वतंत्र मेतेई राष्ट्र के निर्माण से प्राप्त किया जा सकता है।

इन सभी कारणों ने मणिपुर में विद्रोह को भड़काया और फैलाया है। इस विद्रोह के मुख्य सूत्रधार दो संगठन हैं। इनमें से एक पिपुल्स रिवोलुशनरी पार्टी आफ कांगीलेईपक (प्रिपाक) मार्क्सवादी लेनिनवादी दल है जो मेतेई पुनरुत्थान से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। दूसरा संगठन, पिपुल्स लिबरेशन आर्मी (पीएलए) है जो एक आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा मानती है। गांवों में इसका जनाधार बड़ा मजबूत है। यह साम्यवादी विचारधारा को फैलाना चाहती है और पूर्वोत्तर में सक्रिय विभिन्न विद्रोही संगठनों को एकता के सूत्र में बांधना चाहती है। इस प्रकार मेतेई लोगों को हम दोराहे पर खड़ा एक रोचक समूह पाते हैं, जिन्होंने अपने पारंपरिक धर्म को पुनर्जीवित तो कर लिया है मगर जिन्हें जनजातीय, मूल आदिवासी होने का दर्जा नहीं मिल पाया जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। यह दर्जा नहीं मिल पाने के कारण उन्हें संविधान की अनुसूची छह में निहित विशेषाधिकार नहीं मिल पाए हैं।

MAADHYAM IAS

कुकी आंदोलन 1946 में कुकी नेशनल एसेंब्ली के गठन के साथ फिर से उभरा। धीरे-धीरे इस आंदोलन ने कुकी इंबाल लोगों के लिए एक स्वायत्तशासी जिले या राज्य के लिए राजनीतिक मांग को स्वर देना शुरू किया। इसका उद्देश्य अपनी संस्कृति और जीवनशैली को खोया गौरव वापस दिलाना है।

iii) मणिपुर की महिलाओं ने अंग्रेजों की चावल व्यापार और निर्यात नीति का विरोध किया। इस आंदोलन की वजह एक तात्कालिक समस्या थी जो मौसम की अनिश्चितता के कारण अनाज में आई भारी कमी से पैदा हुई थी। तिस पर चावल के निर्यात और निहित व्यापारिक हितों के दबाव के कारण स्थानीय बाजार में चावल की कीमतें बेहद बढ़ गईं। इस स्थिति में अरीबाम चाओतियन नाम की एक मणिपुरी महिला ने कुछ साथी महिलाओं को एकजुट करके मिल मालिकों को धान बेचना बंद कर दिया। देखते-देखते उनके इस आंदोलन में अन्य महिलाएं भी शामिल हो गईं। अंग्रेजों ने हालांकि इस विद्रोह को कुचल दिया मगर यह आंदोलन राज्य के प्रशासनिक ढांचे और सांस्कृतिक स्वरूप पर अपनी छाप अवश्य छोड़ गया।

iv) जेलियांग्रोंग आंदोलन की शुरुआत जेमेई, लियांगमेई और रोंगमेई तीन आदिवासी समूहों ने की थी जिन्हें सामूहिक रूप से जेलियांग्रोंग कहा जाता था। इस विद्रोह की शुरुआत पहले एक सामाजिक सुधार आंदोलन के रूप में हुई जिसका नेतृत्व रोंगमेई नागा जदोनांग और उसकी चचेरी बहन रानी गैदिनलुई ने किया था। दोनों ने हेराका पंथ की स्थापना की, जिसने कुछ रीति-रिवाजों को खत्म करने और पारंपरिक धर्म को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इन प्रयासों के मूल में हिन्दू और ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव की काट करना था। यह आंदोलन अंग्रेजों के विरुद्ध होने के साथ-साथ कुकी विरोधी भी था और इसका उद्देश्य जेलियांग्रोंग पहचान बनाकर नागा शासन स्थापित करना था। जदोनांग की गिरफ्तारी और फिर उसे फांसी हो जाने से इस आंदोलन को बड़ा धक्का पहुंचा। मगर उसकी बहिन गैदिनलुई ने इसे ब्रिटिश शासन के खिलाफ कांग्रेस के नेतृत्व में हो रहे राष्ट्रीय

आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन से जोड़कर अपने आंदोलन को आगे बढ़ाया। मगर इस बीच उसे 14 वर्ष तक कारावास में रहना पड़ा। इस दौरान आंदोलन ठंडा पड़ गया। धीरे-धीरे इसने पूर्णतः शांतिपूर्ण स्वरूप धारण कर लिया और फिर अनेक जनजातीय संगठनों जैसे कबनुई समिति (1934), कबुई नागा एसोसिएशन (1946) जेलियांग्रोंग कांउसिल (1947) मणिपुर जेलियांग्रोंग यूनियन (1947) का भी उदय हुआ जिनका उद्देश्य ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकना था। दो दशकों के बाद इस आंदोलन का उद्देश्य राजनीतिक बन गया। अब यह आंदोलन मणिपुर, नगालैंड और असम की कछार पहाड़ियों के जेलियांग्रोंग बहुल क्षेत्रों को मिलाकर एक पृथक जेलियांग्रोंग प्रशासनिक इकाई की स्थापना की मांग करने लगा है।

10.6 मिजोरम

मिजो लोगों में पहचान बनने की प्रक्रिया लगभग 15 स्थानीय जनजातियों द्वारा एक विशिष्ट मिजो पहचान धारण कर लेने से शुरू हुई। लुशाई पहाड़ियों में राजनीतिक जागरुकता प्रथम विश्व युद्ध से मिजो सैनिकों की वापसी से आंरभ हुई। मगर उनमें राजनीतिक सुस्पष्टता का स्तर कम था और राजनीतिक एकता की अभिव्यक्ति साइमन कमीशन के साथ हुई। यह क्षेत्र 1935 के अधिनियम के अंतगर्त एक अपवर्जित क्षेत्र बना रहा। इधर, द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ भारत की स्वतंत्रता की संभावनाएं भी बढ़ गईं। इसी बीच मिजो लोगों में शिक्षित ईसाई लोगों का एक संपन्न तबका भी खड़ा हो चुका था जो अपने सरदारों की तानाशाही पूर्ण कार्यशाली में घुटन महसूस कर रहा था। इन लोगों ने 1946 में मिजो कॉमन पीपुल्स फ्रंट और मिजो यूनियन के नाम से दो संगठन बना लिए। इन्होंने अपने सरदारों के बराबर वोट डालने का अधिकार मांगा। जैसे-जैसे ये लोग संगठित और मजबूत होते गए ये अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक विशिष्टता को स्थापित करने के साथ- साथ आत्मनिर्णय के अधिकार और अपनी पहचान को बचाए रखने के लिए कई तरह के लाभों की मांग करने लगे। साधारण मिजोवासियों को डिस्ट्रिक्ट कान्फ्रेंस में स्थान मिल गया। इससे भी साधारण लोगों और सरदारों में दूरी बढ़ गई क्योंकि सरदार अपने को उपेक्षित महसूस करने लगे थे। सरदारों ने 5 जुलाई 1947 के दिन यूनाइटेड मिजो फ्रीडम ऑर्गनाइजेशन के नाम से अपना अलग से एक राजनीतिक दल बना लिया और इस मंच से मिजो क्षेत्रों को बर्मा में मिलाने की मांग आई। मगर मिजो यूनियन के नेताओं को महसूस होता था कि वे भारत से जुड़े हैं इसलिए उन्होंने भारत में रहने का निर्णय लिया मगर इसके साथ उन्होंने यह शर्त भी रखी कि वे जब चाहेंगे भारत से स्वतंत्र होने की उन्हें छूट रहेगी। इसके प्रत्युत्तर में भारत सरकार ने मिजो जनजातियों को छठी अनुसूची की सुरक्षा प्रदान की और जिला परिषद् सहित लुशाई पहाड़ियों को कुछ विशेषाधिकार भी दिए।

MAADHYAM IAS

10.6.1 मिजो पहचान

असम सरकार ने जब असमी को राजकीय भाषा घोषित किया तो इसने मिजो लोगों में अपनी विशिष्ट पहचान को लेकर जो आशंका, जो भय था, उसे और गहरा कर दिया। इसके बाद यूनाइटेड मिजो फ्रीडम ऑर्ग्नाइजेशन ने ईस्टन इंडिया ट्राइबल यूनियन से हाथ मिला लिया और असम से पृथक होने की मांग उठाई। उनके इस प्रयास में उन्हें ऑल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस से भी समर्थन मिला।

मिजो असंतोष का तात्कालिक कारण 1959 में बांस में फूलों का खिलना था जिसके फलस्वरूप पूरे क्षेत्र में भारी अकाल पड़ गया। समस्या से निपटने में सरकारी अकर्मण्यता, किसानों का दमन और राहत के अपर्याप्त उपायों कारणों ने पृथक राज्य के मुद्दे में आग में घी का काम किया। इस स्थिति से निपटने के लिए मिजो सांस्कृतिक सोसाइटी को मिजो नेशनल फैमाइन फ्रंट (मिजो राष्ट्रीय अकाल मोर्चा) में बदल दिया गया। कालांतर में यह संगठन 1963 में लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट के रूप में उभरा। इस संगठन को व्यापक जनसमर्थन मिला और इसने अपने संघर्ष के लिए पाकिस्तान से सहायता मांगी। फिर 20 फरवरी 1966 को 'ऑपरेशन जेरिको' अभियान के तहत मिजोरम को एक स्वतंत्र संप्रभु राज्य घोषित करके सभी प्रमुख सरकारी भवनों, प्रतिष्ठानों इत्यादि पर कब्जा कर लिया गया। इस विद्रोह को दबाने के लिए भारतीय वायु सेना और थल सेना को बुला लिया गया। मिजोरम नेशनल फ्रंट को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया जिससे 'विद्रोही सरकार' को भूमिगत होना पड़ा। भारत सरकार ने मिजोरम को अशांत क्षेत्र घोषित कर दिया। इसके पश्चात भारतीय सुरक्षा नियम अधिनियम और

सार्वजनिक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम के अंतगर्त 1967 और 1970 के बीच चार चरणों में गांवों को समूहों में बांटने की रणनीति पर अमल किया गया।

बोध प्रश्न 2

1) पूर्वोत्तर में हुए नागा आंदोलन के बारे में दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) मणिपुर में हुए जनजातीय आंदोलनों के बारे में दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

मिजो नेशनल फ्रंट और इसके नेता लालडेंगा भूमिगत हो गए। सरकार ने गांवों का विसमूहन किया और फिर मिजोरम को एक केन्द्र शासित प्रदेश घोषित कर दिया गया। एक लंबे और कठोर मगर निष्फल संघर्ष के बाद लालडेंगा ने समझौते के लिए हाथ बढ़ाए और सरकार और आपसी सहमति से एक 'शांति समझौते' पर 1 जुलाई 1976 को हस्ताक्षर हुए। समझौते के तहत मिजो नेशनल फ्रंट सशस्त्र विद्रोह को समाप्त करने, आत्म समर्पण करने और मलूतीय संविधान के तहत राजनीतिक समझौते के लिए राजी हो गया। मगर भूमिगत आंदोलन नहीं थमा और सशस्त्र सेनाओं और आंदोलनकारियों के बीच संघर्ष फिर से छिड़ गया। इसके बाद दमन और समझौता वार्ता के कई दौर चले। सुलह वार्ता अंतत: एक औपचारिक समझौते में समाप्त हुई जिस पर 30 जून 1986 को लालडेंगा, लालथन वालो और भारत सरकार के प्रतिनिधि प्रधान ने हस्ताक्षर किए। आखिरकर भारतीय संघ में मिजोरम को एक पृथक राज्य का दर्जा दे दिया गया।

10.7 बोडो आंदोलन

समकालीन दौर में बोडो आंदोलन एक बड़ा रोचक विषय है। इस आंदोलन को ऑल बोडो स्टुडेंट्स यूनियन (अखिल बोडो छात्र संगठन) ने 1987 में शुरू किया था। इस आंदोलन की मुख्य दो मांगे हैं: (क) ब्रह्मपुत्र के नदीतट पर एक पृथक राज्य की मांग और (ख) संविधान की छठी अनुसूची में

बोडो-कहारी कुछ अन्य जनजातियों को शामिल किया जाना। इस आंदोलन के मूल में हम एक गैर जनजातीय बहुल राज्य में एक प्रभावी जनजातीय समूह के रूप में बोडो लोगों की स्थिति को देख सकते हैं। सरकार का जनजातीयों के प्रति उपेक्षापूर्ण और उदासीन रवैया, आर्थिक शोषण, भूमि, नौकरियों और अन्य संसाधनों के नियंत्रण, भाषा, लिपि और जनजातीय जीवन के अन्य सांस्कृतिक पहलुओं के मद्देनजर बोडो पहचान को खोने का डर इत्यादि कारकों ने इस आंदोलन में उत्प्रेरक का काम किया।

10.8 जनजातीय जातीयता का स्तरीकरण का आधार बनना

जातीयता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि जाति की तरह यह भी एक स्थिति समूह है। परिवार और राज्य या राष्ट्र के बीच एक मध्यस्थ है। वेबर के अनुसार स्थिति समूह एक ऐसा जनसमूह है जिसे ऐसे ही अन्य समूहों की तुलना में एक विशिष्ट प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त रहता है। किसी भी वृहत्तर समूह में सांस्कृतिक भेद होना लाजमी है। मगर उभरती जातीय चेतना के चलते कुछ सांस्कृतिक भेदों को समूह की पहचान के जातीय चिन्हकों के रूप में प्रयोग किया जाने लगता है। सामूहिक पहचान और चुनिंदा चिन्हकों की यह जोरदार अभिव्यक्ति समूह को आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि तरह-तरह के सामूहिक उद्देश्यों, हितों की पूर्ति के लिए लामबंद करने में सहायक होती है। ये सामूहिक उद्देश्य और हित जिस हद तक पूरे होते हैं या नहीं होते वह सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

10.8.1 जातीय आंदोलन

जातीय आंदोलनों को आम तौर पर एक खास सामाजिक परिस्थिति में समूहों की प्रतिक्रिया के रूप में लिया जाता है जिसमें समूह विशेष को यह महसूस हो रहा हो कि उन्हें वंचित किया जा रहा है। इसकी वजह यह है कि उसे वह सब नहीं मिलता है जिसे वह अपने लिए न्यायोचित समझता है। इस न्यायोचित मान्यता का मतलब यह है कि जैसे उसके सदस्यों से हैसियत में बराबरी का बर्ताव नहीं किया जा रहा हो (यह उन्हें स्थिति तुल्य नहीं माना जा रहा हो) या उन्हें अन्य समूह से निचले दर्जे पर अनुचित रूप से रखा गया हो। उसका सरोकार स्थिति हैसियत की बराबरी या अपने 'अधिकार' के रूप में ऊंची स्थिति हो सकती है। इस प्रकार भौतिक हितों के अलावा स्थिति, सामाजिक मान्यता, प्रतिष्ठा के सरोकार भी उतने ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कोई भी जनजाति या आदिवासी समूह समानता की मांग कर सकता है या फिर अपनी संस्कृति, भाषा इत्यादि की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करना चाह सकता है। जनजातीय लोगों के घोर संघर्ष के पश्चात आयाम राज्य से नागालैंड, मिजोरम और मेघालय राज्यों का उदय और उसके बाद अपने अलग राज्य, भाषा और लिपि के लिए बोडो लोगों का जारी आंदोलन इन सबने अंत: जातीय और अंतरजातीय स्तरीकरण व्यवस्था को कई महत्वपूर्ण कोणों से प्रभावित किया है।

जातीय आंदोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू आर्थिक लाभ, नौकरी, शैक्षिक सुविधा इत्यादि प्राप्त करने की स्थिति में आने के लिए लामबंदी से जुड़ा है। यह इस प्रकार की मांग का रूप ले सकती है कि कुछ पद स्थान सिर्फ एक खास जनजाति को ही दिए जाएं या उन्हें जनजातीय आबादी के अनुपात के अनुसार बांटा जाए। इस प्रकार जातीय लामबंदी की प्रक्रिया संघर्ष दो सामान्य स्तरों पर प्रभावित करती है। (क) एक है उचित मान्यता के लिए संघर्ष (ख) दूसरा है विशेष आधार पर अधिक आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए संघर्ष के आरंभ होते ही विभिन्न सांगठनिक और नेतृत्व स्तरों पर नए पद/स्थान अस्तित्व में आ जाते हैं जिनको अलग-अलग सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। यह नया परिवर्तन समूह के अंदर मौजूदा संबंधों को बदल सकता है।

10.8.2 गतिशीलता और जातीय समूह

वृहत्तर जातीय समूहों के अंदर व्यक्तियों और उप-समूहों को नए किस्म के अवसर उपलब्ध हो सकते हैं जिसके फलस्वरूप निजी और उप-वर्गों के स्तरों के बीच उपरिगामी और अधोगामी गतिशीलता उत्पन्न होती है। अगर कोई समूह अपने समूह के अंदर संस्कृति, सम्मान, प्रतिष्ठा इत्यादि भेदों को प्रतिष्ठित करता है तो इससे आमदनी, जीवनशैली, शिक्षा इत्यादि में मौजूदा व्यावयायिक विभेदन और विकसित रूप ले सकता है। तिर्यक-समूह समानताओं को पैदा कर और *अंतरासमूह* भेदों को बढ़ा करके यह प्रक्रिया विभिन्न

जातीय समूहों के बीच मौजूद सीमा चिन्हकों को खतरे में डाल सकती है। विशेषकर जब वर्ग संबंध और वर्ग संबंधी जीवन शैलियां जातीय समूहों की सीमाओं को तोड़कर एक नया गठबंधन बना ले और भौतिक मान्यता और पुरस्कार पाने के लिए अपनी घनिष्ठता को अभिव्यक्ति दें। बल्कि यह पृथक राज्य या पृथक प्रांतीय स्वायत्तता की मांग उठा सकती है। इस लक्ष्य की पूर्ति होते ही इस समूह में नए विकार पैदा होने की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं। विशेषकर पूर्वोत्तर जैसी स्थिति में भारतीय संविधान की छवि अनुसूची का कार्यान्वयन, संरक्षणात्मक भेद की गति विकास और एकीकरण की नीति, चुनाव प्रक्रिया में भागीदारी इन सबने जातीय चेतना को और धारदार बना दिया है जिसे वृहत्तर राजनीतिक सत्ताधिकार, संसाधनों और गतिशीलता पाने के लिए प्रयोग किया जा रहा है। इन सब कारणों से जनजातीय और गैर जनजातीय लोगों के बीच संबंध भी बदल रहे हैं। एक सामाजिक श्रेणी के रूप में जनजातीय लोगों को अब घृणा से नहीं देखा जाता या निकृष्ट नहीं समझा जाता है बल्कि वे राज्य में प्रभावी समूह के रूप में देखे जा सकते हैं। जनजातीय समूह एक वंचित समूह हो सकता है जिसके अंदर कठोर असमानताएं मौजूद रहती हैं। इस प्रकार एक हद तक जनजातीय और सामान्य लोगों में भेद तुलनीय शैक्षिक वर्ग स्थिति वालों के मुकाबले घट रहे हैं, जिनमें समानता जनजातीय और गैर जनजातीय लोगों के बीच विद्यमान समानताओं से कहीं ज्यादा समतावादी हो सकती है।

10.9 सारांश

जातीयता को अगर साकारात्मक नजरिए से देखें तो वह समानता, आत्मोत्कर्ष सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण, सांस्कृतिक विविधता, समतावादी सामाजिक व्यवस्था के प्रसार इत्यादि का एक बड़ा माध्यम है। इस अर्थ में जातीय समूह की लामबंदी राजसत्ता के सत्ताधिकार को कम करने का जरिया है। मगर वहीं यह कलह, जातीय संघर्ष, जातीय असहिष्णुता, समूहों की दासता इत्यादि का कारण भी बन सकती है।

10.10 शब्दावली

अंतर्लयन : वह प्रक्रिया जिसके जरिए जनजातियां अन्य समूहों और समुदायों में जा मिलीं, और उनका हिस्सा बन गईं।

जातीयता : यह आदतों, विशेषताओं और उत्पत्ति की सांस्कृतिक परतों से मिलकर बनती है, जो एक विशेष जातीय वंश-कुल से संबंध रखने वाले एक समूचे समुदाय को एकात्मता में बांधती है।

पहचान : किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय विशेष के विशिष्ट लक्षण।

सत्ताधिकार : किसी व्यक्ति या समूह को उनकी इच्छा के विपरीत भी उन्हें प्रभावित करने की शाक्ति।

प्रतिष्ठा : एक तरह का दर्जा जो किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय से जुड़ जाता है।

जनजाति : ऐसे समूह/समुदाय को उसके विशिष्ट लक्षणों से अलग पहचाना जा सकता है।

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.सी. भूपिंदर सिंह (संपा.) *ट्राइबल स्ट्डीज ऑफ इंडिया सिरीज* 183 *एंटिक्विटी टु मॉडर्निटी इन मॉडर्न इंडिया* (खंड II) पृ. 221-247

बर्मन, बी.के. रॉय, 1972 "इंटेग्रेटेड एरिया एप्रोच टु द प्रॉब्लेम्स ऑफ ट्राइबल्स इन नॉर्थ-ईस्टर्न इंडिया" के. सुरेश सिंह (संपा.) *ट्राइबल सिचुएशन इन इंडिया*, नई दिल्ली/शिमला, मोतीलाल बनारसीदास

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मुखियों की संख्या के माध्यम से मिजो लोगों के पास एक स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था थी। मुखिया और उसका घर उनके क्रियाकलापों का केन्द्र थे। विवाह होने पर मुखिया के बेटे को कुछ घर सौंप

दिए जाते थे जिससे वह अपना गांव बसाकर स्वतंत्र हो जाता था। मगर उसका दूसरा बेटा मुखिया के साथ रुक कर उसका उत्तराधिकारी बनता था। गांव का राजकाज चलाने के लिए बुजुर्गों का एक सभा मुखिया का हाथ बंटाती थी।

2) जैंतिया समाज राजा, प्रशासक (गवर्नर), ग्राम प्रधान और जनसाधारण (इसमें अधिकारी वर्ग भी शामिल था) में बंटा था। संपत्ति का स्वामित्व महिलाओं को प्राप्त तो होता था, मगर उसका नियंत्रण और संचालन पुरुषों के हाथ में था। भोगाधिकारी बनाने का अधिकार मिलने पर महिलाओं का अविवाहित रहना पड़ता था, उनका कोई भाई नहीं होना चाहिए। महिलाओं के साथ विवाह और तलाक के मामलों में भी भेदभाव बरता जाता था। वधू के मोल की प्रथा भी उनके लिए अपमानजनक थी।

बोध प्रश्न 2

1) नागा आंदोलन को जन्म देने वाले कई कारक महत्वपूर्ण थे। इनमें सबसे मुख्य अंग्रेजों से मिले विशेषाधिकारों के हर लिए जाने की आशंका और उनकी जातीय पहचान में भारी ह्रास था। नागा जातीय पहचान को ठोस अभिव्यक्ति 1918 में नागा क्लब की स्थापना से मिली थी। वर्ष 1947 में असम के गवर्नर ने नागा नेशनल काउंसिल के साथ एक समझौता किया। लेकिन नागाओं ने 1952 के चुनावों और जिला परिषद योजना का बहिष्कार किया। फिर 1975 में शिलांग समझौता हुआ जिसके तहत भूमिगत नागा गुरिल्ला संगठनों ने भारतीय संविधान को स्वीकार कर लिया। मगर 1980 के दशक में भी नेशनलिस्ट सोशलिस्ट कांउसिल ऑफ इंडिया ने संप्रभु राज्य की स्थापना के लिए अपना संघर्ष नहीं छोड़ा था।

2) मणिपुर में जनजाति संघर्ष का एक लंबा इतिहास है, जेलियांग्रोंग नागा विद्रोह (1930-32) और कुकी विद्रोह (1917-19) इसकी दो कड़ियां हैं। इन विद्रोह के कई कारण बताए गए हैं, जिनमें मुख्य थे पहचान का संकट, भारत की कमजोर राजनीतिक व्यवस्था, हर तरह का शोषण, भ्रष्टाचार और बेरोजगारी। इसी तरह 1967 में एक स्वतंत्र मणिपुर के लिए मैती स्टेट कमेटी के नेतृत्व में भी आंदोलन हुआ था। कमेटी ने 1971 में हथियार डाल दिए। इस आंदोलन के असफल होने का कारण शिक्षा की कमी और सांगठनिक कमजोरी थी। मणिपुर का कुकी विद्रोह (1917-19) अंग्रेजों के खिलाफ था। अन्य संगठनों में प्रमुख मणिपुर नेशनल फ्रंट है जिसका लक्ष्य मंगोल विरासत को फिर से जगाना है। अंत में लिपि भाषा, और साहित्य मैतियों को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है।

MAADHYAM IAS

इकाई 11 पंजाब और धार्मिक जातीयता

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 जातीयता और जातीय पहचान क्या है
11.3.1 जातीय पहचान के रूप में धर्म
11.3 स्तरीकरण का धार्मिक जातीय आधार: आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक
11.3.1 पंजाब में धार्मिक/जातीय पहचान की राजनीति
11.4 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
11.4.1 स्वतंत्रता के बाद पंजाब
11.4.2 उग्रवाद का उदय
11.4.3 उग्रवाद और मानवाधिकार
11.4.4 उग्रवाद के परिणाम
11.5 धार्मिक जातीयता को स्तरीकरण का आधार बनाने वाली परिस्थियां
11.6 शब्दावली
11.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई में आपको जातीयता और धर्म की अवधारणाओं के अलावा बताया गया है कि सामाजिक स्तरीकरण का आधार बन सकते हैं। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- जातीयता और जातीय पहचान के एक स्वरूप के रूप में धर्म के बारे में बता सकेंगे;
- स्तरीकरण के आधार के रूप में धार्मिक जातीयता के बारे में समझा सकेंगे;
- पंजाब में धर्म की राजनीति और जातीय पहचान के बारे में बता सकेंगे; और
- यह बता सकेंगे कि किन परिस्थितियों में धार्मिक जातीयता स्तरीकरण का आधार बनती है।

11.1 प्रस्तावना

मानव समाज विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों का बना होता है। आधुनिक युग में इनमें सबसे महत्वपूर्ण राष्ट्र राज्य है। मगर राष्ट्र राज्य ही एकमात्र सामूहिक पहचान नहीं है जिससे कि समकालीन समाज में व्यक्ति अपने को पहचानता है, अपने आपको उसके साथ जोड़ कर देखता है। पश्चिम के औद्योगिक विकसित देशों और तीसरी दुनिया के तमाम विकासशील देशों सहित आज अधिकांश राज्यों में नाना प्रकार के सामाजिक समूह बसे हैं जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और जीवन शैली है। दूसरे शब्दों में आज दुनिया के अधिकांश देश बहुजातीय समाज हैं। ऐसे समाज बहुजातीय समाज कहलाते हैं, जिनमें अनेक बड़े जातीय समूह एक साझी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था राष्ट्र राज्य में साथ-साथ तो रहते हैं मगर सबकी अपनी अलग विशिष्टताएं होती हैं और सभी एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

11.2 जातीयता और जातीय पहचान क्या हैं

समाजशास्त्र और नृविज्ञान के क्षेत्रों में जातीयता को आधुनिक राष्ट्र राज्य के संदर्भ में ही लोकप्रियता मिली। इस शब्द का प्रयोग बीसवीं सदी के मध्य में अमेरिकी समाजशास्त्र में विभिन्न राष्ट्रीय मूल के लोगों को नाम देने के लिए आंरभ हुआ था। जातीय समूह कुछ सांस्कृतिक प्रतिमानों के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न समझे जाते हैं। आर.ए. शेर्महॉर्न के अनुसार जातीय समूह एक वृहत्तर समाज के अंदर एक

जनसमूह है जो अपनी एक वास्तविक या काल्पनिक मानता है वंशावली जो साझे ऐतिहासिक अतीत की समृति लेकर चलता है और सांस्कृतिक धुरी एक या अधिक प्रतीकात्मक घटक होते हैं जिसे वह अपनी सामूहिक अस्मिता के आदर्श के रूप में देखता है। नातेदारी के पैटर्न, शारीरिक समरूपता, धार्मिक बंधुता, भाषा या बोली रूप, जनजातीय गठबंधन, राष्ट्रीयता, व्यक्तिरूपी-विशेषताओं या इनका मिश्रण— ये सब इस तरह के प्रतीकात्मक घटकों के उदाहरण हैं। मगर इसके साथ-साथ समूह के सदस्यों में यह चेतना या बोध का होना भी उतना ही जरूरी है कि वे सभी एक ही किस्म के लोग हैं। जातीय समूह के सदस्यों में सिर्फ यह साझी पहचान ही नहीं होती कि वे अमुक समूह से संबंध रखते हैं, बल्कि समाज में अन्य जनसमूह भी उन्हें इसी रूप में देखते हैं।

लेकिन जातीयता सिर्फ प्रतीकात्मक या सांस्कृतिक पहचान तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि कुछ खास परिस्थितियों में यह राजनीतिक लामबंदी और संघर्ष का स्रोत बन सकती है। जैसा कि शर्मा कहते हैं, जातीयता के दो आयाम होते हैं: अप्रभावी और प्रखर। अप्रभावी स्वरूप में जातीयता पहचान की एक निरापद रीति है जो कुछ अपेक्षतया भिन्न सांस्कृतिक विशिष्टताओं पर आधारित है। अपने प्रकट या प्रखर स्वरूप में जातीयता सांस्कृतिक विशिष्टता के बोध पर आधारित राजनीतिक सत्ताधिकार हासिल करने की इच्छा को दर्शाती है। किसी जातीय समूह की विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना विभिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय बन सकती है। जैसे मुख्यधारा की संस्कृति में मिलकर अपनी विशिष्ट पहचान खो देने की आंशका, भेदभाव का अनुभव होना या स्वायत्तता और स्वशासन के लिए राजनीतिक महत्वकांक्षा का उदय होना।

11.2.1 जातीय पहचान के रूप में धर्म

धर्म को अक्सर 'पवित्र' या 'ईश्वर' से जोड़कर देखा जाता है। एंथनी गिडंस के अनुसार, "सभी धर्म में कुछ प्रतीक होते हैं जो आदरभाव या विस्मय की भावना उत्पन्न करते हैं और अनुयायियों के एक संप्रदाय में प्रचलित अनुष्ठानों या रस्मों से जुड़े होते हैं।" इस परिभाषा से पता चलता है कि धर्म के दो पहलू हैं। पहला, अनुष्ठानों और आस्थाओं की एक व्यवस्था है जिसमें पवित्र प्रतीक या परमेश्वर की धारणा भी शामिल रहती है। इसका दूसरा पहलू अनुयायियों का एक "संप्रदाय" है जो इस धारणा को मानते हैं। प्रख्यात शिक्षाशास्त्री एमीले दुर्खीम का भी कहना था कि धर्म विश्वास का साध्य पद मात्र नहीं होता। बल्कि सभी धर्मों में नियमित संस्कारिक और आनुष्ठानिक क्रियाकलाप होते हैं जिनमें अनुयायियों का एक समूह परस्पर मिलते हैं, भाग लेते हैं। इन आनुष्ठानिक क्रियाकलापों में उनकी नियमित भागीदारी ऐसे समूह के सदस्यों को एक संप्रदाय के रूप में बांधती है। राष्ट्र राज्यों विशेषकार जिनमें एक से अधिक धर्मों के अनुयायी रहते हों उनके समकालीन परिप्रेक्ष्य में ये धार्मिक संप्रदाय अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं और स्वयं को विशिष्ट जातीय समूहों के रूप में देखते हैं। इसलिए इन स्थितियों में धर्म जातीय पहचान का आधार बन जाता है।

MAADHYAM IAS

11.3 स्तरीकरण का धार्मिक जातीय आधार: आधुनिक राष्ट्र राज्यों में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक

जातीय विभेद निरपेक्ष नहीं होते। जैसा कि गिडंस कहते हैं, इनका संबंध साधारणतया संपदा और सत्ताधिकार में व्याप्त सुस्पष्ट विषमताओं से होता है। अधिकांश बहुजातीय समाजों का जातीय गठन कुछ इस तरह रहता है कि उनके नागरिक साधारणतया एक बड़े जातीय समूह और कई छोटे अन्य जातीय समूहों में बंटे होते हैं। यह राष्ट्र राज्य को एक 'बहुसंख्यक' और अनेक 'अल्पसंख्यकों' में बांट देता है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे अधिकांश समाजों में सत्ताधिकार पर नियंत्रण बहुसंख्यक समूह का ही होता है, लेकिन वहीं अल्पसंख्यक पूर्वाग्रहों और भेदभाव का शिकार बनते हैं। इसके फलस्वरूप जातीय समूहों में असमानता का संबंध जन्म लेता है और सामाजिक स्तरीकरण एक शक्तिशाली और प्रभावी बहुसंख्यक और अनेक अधीनस्थ जातीय अल्पसंख्यकों के रूप में होता है।

अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का अर्थ हम अक्सर उनकी संख्या से लेते हैं लेकिन समाजशास्त्र की दृष्टि से उनमें विद्यमान भेद इससे कहीं ज्यादा होते हैं। गिडंस के अनुसार अल्पसंख्यक समूह की भिन्न विशेषताएं होती हैं:

i) इसके सदस्य अन्य लोगों द्वारा बरते जाने वाले भेदभाव के फलस्वरूप हानि की स्थिति में रहते हैं। भेदभाव तब होता है जब एक समूह के लोगों को प्राप्त अधिकार और अवसर अन्य समूह के लोगों को नहीं दिए जाते। उदाहरण के लिए एक स्वर्ण हिन्दू ऐसे व्यक्ति को अपना किराए का कमरा देने से इसलिए मना कर सकता है कि वह मुस्लिम या आदिवासी है।

ii) अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों में सामूहिक एकता की, एक दूसरे से जुड़े होने की भावना होती है। पूर्वाग्रहों और भेदभाव का शिकार होने का अनुभूति उनमें प्राय: परस्पर निष्ठा और हित की भावना को बलवती बनाता है। अल्पसंख्यक समूह के लोग खुद को बहुसंख्यकों से 'एकदम अलग' मानते हैं।

iii) अल्पसंख्यक समूह प्राय: कुछ हद तक शारीरिक और सामाजिक दृष्टि से वृहत्तर संप्रदाय से पृथक रहते हैं। वे एक खास बस्ती, शहर या देश के किसी अंचल में एकत्रित रहते हैं। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों के बीच विवाह नहीं होते। अल्पसंख्यक विशिष्टता को बनाए रखने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते है।

कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की धारणाएं संख्यात्मक के बजाए सामाजिक हैं। कुछ परिस्थितियों में एक अल्पसंख्यक समूह आबादी का बड़ा और बहुसंख्य हिस्सा भी हो सकता है। इसके लिए दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी सरकार का उदाहरण दिया जाता है जिसके तहत मुट्ठी भर श्वेत लोगों ने वहां की विशाल अश्वेत बहुसंख्यक जनता पर शासन किया था। मगर ऐसी परिस्थितियां विरले ही बन पाती हैं। अल्पसंख्यक समूह ज्यादातर स्थितियों में ऐसे जातीय समुदाय ही होते हैं जिनकी संख्या कम होती हैं मगर यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि संख्या में छोटे सभी समूह जरूरी नहीं कि जातीय अल्पसंख्यक हों। किसी भी जातीय समूह को हम तभी अल्पसंख्यक कह सकते हैं जब वह उपरोक्त समाजशास्त्रीय प्रतिमानों में खरे उतरें। हमें इसके कई उदाहरण मिलते हैं, जहां छोटे जातीय समूह किसी देश के सत्ताधिकार ढांचे में इस तरह एकात्म रहते हैं कि उन्हें अन्य समूहों के मुकाबले किसी भी तरह के भेदभाव का सामना नहीं करना पड़ता है। इसी तरह स्थायी अल्पसंख्यक कोई नहीं होते। यह ज्यादातर राजनीतिक प्रक्रिया पर निर्भर करता है। राजनीतिक शासन और विचारधाराओं में परिवर्तन होने के समाज के सत्ताधाराओं में परिवर्तन होने से समाज के सत्ताधिकार ढांचे में विभिन्न जातीय समूहों की स्थिति बदल सकती है। एक लोकतांत्रिक समाज में अल्पसंख्यकों में यह भावना पनपने की संभावना कम रहती है कि वे उपेक्षित हैं और उनके साथ भेदभाव पूर्ण बर्ताव किया जा रहा है। इस तरह की भावना पैदा होने की संभावनाएं निरंकुश, एकाधिकारवादी शासन व्यवस्था में अधिक रहती हैं। फिर ऐसा भी हो सकता है कि कुछ समूह जो सत्ताधिकार ढांचे में अच्छी तरह से एकात्म हो चुके हैं वे कुछ समय बाद एक विशिष्ट पहचान बना लें और पूर्वाग्रहों और भेदभाव का अनुभव करने लग जाएं। इस प्रक्रिया को हम अल्पसंख्यकीकरण कहते हैं। इसी प्रक्रिया के दायरे में हम पंजाब के सिखों की स्थिति को समझ सकते हैं, जिन्होंने एक कालावाधि में एक अल्पसंख्यक समूह की विशिष्ट आत्मछवि बना ली है।

11.3.1 पंजाब में धार्मिक जातीय पहचान की राजनीति

आज का पंजाब पश्चिमोत्तर भारत में स्थित अपेक्षतया एक छोटा राज्य है। मगर छोटे आकार के बावजूद भी भारतीय राजनीति में पंजाब महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह राज्य पाकिस्तान की सीमा से लगा है। स्वतंत्रता के बाद 1947 में हुए देश के विभाजन का प्रभाव सबसे ज्यादा पंजाब पर पड़ा। नई सीमा के आर-पार लोगों ने दोनों ओर से भारी संख्या में पलायन किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पंजाब भारत का एक ऐसा राज्य है जहां की बहुसंख्यक आबादी एक अल्पसंख्यक धर्म के अनुयायी हैं। पंजाब की आबादी का लगभग 60 प्रतिशत सिख हैं। यही नहीं यह प्रांत 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कई प्रकार के जातीय आंदोलनों का साक्षी रहा है। मगर सबसे महत्वपूर्ण अलगाववादी आंदोलन यहां 1980 के दशक में हुआ। इन सभी आंदोलनों के चलते पंजाब के सिखों को एक पृथक जातीय और धार्मिक पहचान मिली है।

बोध प्रश्न 1

1) जातीय पहचान के रूप में धर्म के बारे में पांच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2) सामाजिक स्तरीकरण का आधार धर्म किस प्रकार से बनता है? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

11.4 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पंजाब भारतीय उपमहाद्वीप के उन भागों में रहा है जिनमें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जबर्दस्त जन-आंदोलन हुए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से इस प्रांत में सामाजिक सुधार और विरोध आंदोलन हुए थे। इसी काल में सिखों में अपनी एक पृथक धार्मिक पहचान के प्रति चेतना जागी।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 1

पंजाब राज्य की पृष्ठिभूमि के बारे में पंजाबी मूल के मित्रों से पूछिए। पंजाब में हुए जिन महत्वपूर्ण सुधार और विरोध आंदोलनों के बारे में पता चलता है उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

अंग्रेजों का शासन स्थापित हो जाने के बाद पंजाब प्रांत में सामाजिक और आर्थिक विकास की जो प्रक्रिया चली उसके फलस्वरूप सिखों में एक नया मध्यम वर्ग उभरा। इसी वर्ग ने प्रांत के सिखों के बीच एक सुधारवादी आंदोलन शुरू किया और सिख धर्म को हिंदू धर्म से अलग बताना शुरू कियां। इस आंदोलन का नेतृत्व सिंह सभा और मुख्य खालसा दीवान नामक दो सुधारवादी संगठनों ने किया। इनका मुख्य उद्देश्य सिखों के बीच आंतरिक संपर्क को शक्तिशाली बनाना और सिखों और हिन्दुओं के बीच स्पष्ट सीमारेखा खींचना था।

सांप्रदायिक सीमाओं को पुनर्परिभाषित करने की प्रक्रिया की परिणति सिखों के बीच कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों में हुई। इनमें सबसे मुख्य 1920 के दशक में हिंदु महंतों के नियंत्रण से गुरद्वारों की "मुक्ति" का आंदोलन था। सिखों ने मांग की कि उनके सभी ऐतिहासिक गुरद्वारों के संचालन के नवगठित सिख गुरद्वारा प्रबंधक कमेटी के हाथों में सौंप दिया जाए। इसी आंदोलन के दौरान ही सिखों ने शिरोमणि अकाली दल के नाम से अपनी एक राजनीतिक पार्टी भी बना ली।

इस आंदोलन ने जहां एक ओर सिखों में एक विशिष्ट आत्म-छवि विकसित की वहीं दूसरी ओर इसने सिख लोगों को स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने के लिए प्रेरित किया। इस आंदोलन में ब्रिटिश शासकों ने हिंदू महंतों का पक्ष लिया। इसके फलस्वरूप पंजाब के सिख औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध हो गए। अहिंसक आंदोलन होने के कारण अकालियों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन मिला और यह व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न बन गया। लंबे संघर्ष के बाद आखिरकार उन्हें गुरद्वारों की महंतों से 'मुक्त' कराने में सफलता मिल ही गई।

बॉक्स 11.01

हिंदुओं और सिखों के बीच सामाजिक विभेदन की प्रक्रिया को तब और तेजी मिली जब 1921 में ब्रिटिश शासकों ने सिखों को पृथम निर्वाचन क्षेत्र घोषित कर दिया। इसी प्रकार औपनिवेशिक शासकों उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जनगणना का जो चलन शुरू किया उसने भी पंजाब प्रांत में संप्रदायों के पुनर्निर्धारण में भूमिका निभाई। इसमें अंग्रेजों ने प्रशासनिक और राजनीतिक उद्देश्य से जनसंख्या को सुनिर्धारित धार्मिक संप्रदायों की श्रेणियों में बांटना शुरू किया। इस प्रक्रिया में पंजाब वासियों से कहा गया कि वे हिंदू या सिख पहचान को चुनें हालांकि दोनों संप्रदायों में स्पष्ट भेद नहीं थे।

11.4.1 स्वतंत्रता के बाद पंजाब

कई कारणों के चलते पंजाब प्रांत के जातीय गठन और विभिन्न धार्मिक संप्रदायों की पहचान में ब्रिटिश शासन काल में भारी परिवर्तन आए। 'विशेषकर 19वीं सदी और 20वीं के पूर्वाद्ध के काल में एक धार्मिक पंथ से सिख एक पृथक जातीय समूह के रूप में उभरे। इस समूह ने वस्तुनिष्ठ रूप से विभेदित और व्यक्तिनिष्ठ रूप से स्वपरिभाषित संप्रदाय का रूप ले लिया था। यह प्रक्रिया आजादी के बाद भी जारी रही।

स्वतंत्रता के बाद राज्यों को भाषा के आधार पर पुर्नगठित किया गया लेकिन पंजाब इस प्रक्रिया से बाहर रखा गया। इससे सिख नाराज हो गए। वे ऐसा प्रांत चाहते थे जिसमें वे बहुसंख्यक हों। विभाजन के बाद प्रांत में आए भारी जनसांख्यिक बदलाव के कारण सिखों के लिए इस उद्देश्य को पूरा कर पाना संभव हो चला था। भारत विभाजन के साथ भारत और पाकिस्तान के बीच "आबादी का आदान-प्रदान" भी हुआ। पश्चिमी पंजाब में रहने वाले सिखों और हिंदुओं की समूची आबादी सीमा पार से इधर आ गई और इसी प्रकारी मुस्लिम आबादी पाकिस्तान चली गई। इसके फलस्वरूप प्रांत के कुछ खास जनपदों में सिख बहुसंख्यक हो गए। अविभाजित पंजाब में सिख वहां की आबादी के कुल 13 से 14 प्रतिशत थे। मगर पश्चिमी जनपद पाकिस्तान में चले जाने के कारण विभाजन के बाद के भारतीय पंजाब में उनकी संख्या लगभग 55 प्रतिशत हो गई। अकालियों को इसमें सिखबहुल राज्य की मांग करने का मौका नजर आया। सो, उन्होंने सिखों का पंजाब के इस तरह से पुनर्गठन के लिए मोर्चाबंद करना शुरू कर दिया जिसकी सीमाओं में सिर्फ सिख बहुल जनपद ही शामिल किया जाए। मगर पंजाबी हिंदुओं ने सिखों की अपेक्षाओं से सहमति नहीं रखी, बल्कि उन्होंने जनगणना में हिंदी को ही अपनी मातृभाषा बताया। इसलिए अब अकालियों ने भाषा के आधार पर भी एक अलग सिख बहुल राज्य की मांग उठाई। लंबे संघर्ष के बाद पंजाब प्रांत को 1 सितंबर 1966 को विभाजित कर दिया गया। दक्षिण पंजाब के हिंदी भाषी जनपदों को मिलाकर एक नया राज्य हरियाणा बना दिया गया। पश्चिमोत्तर के कुछ पहाड़ी जिलों को हिमाचल प्रदेश में मिला दिया गया।

बॉक्स 11.02

नए पंजाब राज्य में अब सिख स्पष्ट बहुमत में थे। लेकिन हिंदुओं की संख्या भी कम नहीं थी। सिखों का यूं तो राज्य की राजनीतिक संस्थाओं में स्पष्ट वर्चस्व रहा है लेकिन अर्थव्यवस्था पर उनका दखल आंशिक ही था। पंजाब का जनसांख्यिक और आर्थिक ढांचा कुछ इस तरह रहा है कि कृषि भूमि तो लगभग पूरी तरह से सिखों के नियंत्रण में है, लेकिन शहर का व्यापार हिंदुओं की बनिया जातियों के लगभग एकाधिकार में रहा है। यह आगे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाता है। समग्रता में सिख यूं तो राज्य में स्पष्टत: बहुसंख्यक हैं लेकिन पंजाब के नगरीय क्षेत्रों में वे अल्पसंख्यक हैं। लगभग 69 प्रतिशत सिख गांवों में तो 66 प्रतिशत हिंदू शहरों/कस्बों में रहते हैं। अमृतसर और भटिन्डा जैसे सिख बहुल जिलों में यह पैर्टन और स्पष्ट नजर आता है।

हरित क्रांति की सफलता ने हिंदुओं और सिखों के बीच तनाव को और बढ़ाया। खेती में आधुनिक प्रौद्योगिकी और विधियों के प्रयोग से भूमि की उर्वता बेहद बढ़ गई। पारंपरिक खेती को त्याग कर किसानों ने अब नकदी फसलों को उगाना शुरू किया और अपने बेशी उत्पादन को बेचने के लिए मंडियों में ले गए। बदले में उन्हें शहर की मंडियों से आधुनिक सामान, जैसे रासायनिक खाद, उन्नत किस्मों के बीज और कीटनाशक खरीदने पड़ते थे। मंडियों में व्यापारी लोग ज्यादा प्रभावशाली थे। इसलिए विशेषकर

छोटी जोत वाले किसान को अपनी जरूरतों के लिए व्यापारियों पर आश्रित होना पड़ा। उन्हें व्यापारियों से अक्सर कर्ज लेना पड़ता था। राजनीतिक रूप से हावी किसानों को महसूस हुआ कि व्यापारियों से यह नया संबंध उन्हें उन पर निर्भर बना रहा है। सिख किसानों और हिंदू व्यापारियों के बीच इस आर्थिक द्वंद्व को कुछ लोगों ने साम्प्रदायिक नजरिए से भी देखा। कुछ विद्वानों ने 1980 के दशक में सिखों में भड़के उग्रवादी आंदोलन को इसी कारण से जोड़ कर देखा है।

जिला	हिंदू			सिख		
	कुल	ग्रामीण	शहरी	कुल	ग्रामीण	शहरी
भटिंडा	22.56	12.92	61.13	76.93	86.67	37.96
अमृतसर	23.43	8.23	60.31	74.22	89.29	37.65
संगरूर	27.14	21.25	50.25	66.90	75.20	34.33
लुधियाना	33.22	16.88	63.82	65.71	82.47	34.34
फिरोजपुर	33.58	24.02	72.22	65.07	74.82	25.69
कपूरथला	38.02	28.45	69.69	61.26	70.80	29.68
रोपड़	43.49	39.21	67.46	55.61	60.10	30.51
पटियाला	44.37	37.49	63.92	54.24	61.03	34.93
गुरदासपुर	48.02	40.94	75.90	44.82	51.03	20.38
जालंधर	53.91	44.91	76.49	440.90	54.73	24.04
होशियारपुर	59.25	57.13	74.65	39.38	41.60	23.23
पंजाब कुल	37.54	28.56	663.39	61.21	69.37	30.79

स्रोत: डीसूजा, समीउद्दीन सं. 1985 पृ. 54

11.4.2 उग्रवाद का उदय

पंजाब प्रांत के सिखों में 1980 के दशक में धार्मिक जातीय आधार पर एक और शक्तिशाली आंदोलन हुआ। अकाली दल ने यह आंदोलन पंथनिरपेक्ष मुद्दों पर आरंभ किया। मगर धीरे-धीरे यह आंदोलन सिखों की सांप्रदायिक राजनीति करने वाले उग्रपंथी तत्वों के हाथों में चला गया और शीघ्र ही यह पृथकतावादी आंदोलन बन गया। 1980 दशक के आरंभ में अकालियों ने पंजाब से गुजरने वाली नदियों के पानी के बंटवारे के मुद्दे पर सिख किसानों को गोलबंद किया। इस आंदोलन में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी अकालियों का समर्थन किया था। अकालियों ने अपने संघर्ष को धीरे-धीरे वृहत्तर स्वायत्तता की मांग पर केन्द्रित करना शुरू कर दिया। उन्होंने यह मांग 1974 में आनंदपुर साहिब में सिख संगठनों के संगत में पास हुए प्रस्ताव के आधार पर की। इस प्रस्ताव को आनंदपुर साहिब प्रस्ताव कहा गया। आनंदपुर साहिब प्रस्ताव में भारतीय संघ के प्रांतों को और अधिक स्वायत्तता देने की मांग की गई थी।

इस प्रस्ताव में केन्द्र सरकार से मांग की गई थी कि वह शासन के अति महत्वपूर्ण क्षेत्रों को ही अपने नियंत्रण में रखे। जैसे करेंसी (मुद्रा) नोट जारी करना, सुरक्षा बलों का प्रबंध और विदेश नीति बनाना और उसका संचालन। शेष सभी महकमे राज्य सरकारों को सौंप दिए जाने चाहिए। अकालियों ने शुरू में आनंदपुर साहिब प्रस्ताव को एक पंथ निरपेक्ष ढांचे के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें भारतीय संघ के सभी राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता और सत्ता के विकेन्द्रीकरण की मांग की गई थी। मगर केन्द्र सरकार ने

MAADHYAM IAS

आनंदपुर साहिब प्रस्ताव में अलगाववाद के संकेत देखे और अकालियों की राजनीतिक मंशा उसी नजर में संदिग्ध बन गई।

स्वर्ण मन्दिर में संयुक्त अकालीदल की बैठक
साभार : आई. टी.

इस दौरान सिख राजनीति में एक नया रुझान तेजी से उभरने लगा। संत जरनैल सिंह भिंडरवाले नाम के सिख धार्मिक उपदेशक के नेतृत्व में सिखों के लिए एक पृथक राष्ट्र की मांग को लेकर उग्रवादी आंदोलन शुरू हो गया। भिंडरवाले का उदय उसके अनुयायियों और निरंकारी पंथ के बीच धार्मिक संघर्ष से हुआ था। निरंकारी पंथ हिंदुओं और सिखों की एक सुधारवादी धार्मिक धारा है। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने यह सोचकर भिंडरवाले को संरक्षण दिया कि वह सिख धार्मिक राजनीति में अकालियों का विकल्प बनेगा। मगर फिर शीघ्र ही भिंडरवाले ने स्वतंत्र रूप से काम करना शुरू कर दिया और एक पृथक राष्ट्र खालिस्तान की खातिर सिख युवकों को आंदोलन के लिए प्रेरित करने लगा। इसके लिए उसे सीमा पार से भी सहायता मिली। उग्रवादियों ने आतंक को राजनीतिक रणनीति के रूप में अपनाया। इसके लिए उन्होंने लोगों की चुनिंदा और अंधाधुंध हत्याएं करके जनमानस में आतंक का माहौल बनाया। मीडिया ने भी अकालियों से ज्यादा खालिस्तानियों पर ध्यान दिया। इस सबके फलस्वरूप पंजाब की राजनीति में अकाली अलग-थलग पड़ गए।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

अपने सहपाठियों से चर्चा कीजिए कि क्या राष्ट्र की भीतरी राजनीतिक समस्याओं के समाधान के रूप में अपनाई जाने वाली हिंसा को स्वीकार किया जाना चाहिए। आपको इस चर्चा से जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

शुरू-शुरू में खालिस्तानियों को संरक्षण देने के बाद केन्द्र में तत्कालीन कांग्रेस सरकार को महसूस होने लगा कि स्थिति उसके हाथ से निकली जा रही है। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने सिख उग्रवादियों से निबटने के लिए बलप्रयोग करने का निश्चय कर लिया। सो, भारत सरकार ने संत भिंडरवाले को जो अपने हथियारबंद अनुयायियों के साथ अमृतसर स्थित स्वर्ण मंदिर में छिपा बैठा था गिरफ्तार करने के लिए सेना को कारवाई करने को आदेश दे दिया। सैनिक कारवाई को सरकार ने "ऑपरेशन ब्लूस्टार" का नाम दिया। इस कार्रवाई में उग्रवादियों से सीधी भिड़त की रणनीति अपनाई गई थी। आधुनिक अस्त्रों और टैंक इत्यादि से लैस भारतीय सेना ने सिखों के सबसे पवित्र स्थल पर 3 जून 1984 को धावा बोल दिया और सैनिक कार्रवाई का पहला चरण 6 जून की रात को समाप्त हुआ।

सेना ने स्वर्ण मंदिर में सिखों के त्यौहार के दिन प्रवेश किया जब अनेक तीर्थयात्री गुरद्वारे के दर्शन के लिए वहां आए हुए थे। इसके फलस्वरूप उग्रपंथियों और सेना के बीच हुई गोलीबारी में महिलाओं और

बच्चों समेत कई तीर्थयात्री मारे गए। एक अनुमान के अनुसार इसमें सेना के 700 अधिकारी और जवान और 5,000 नागरिक हताहत हुए। जो अकाली नेता स्वर्ण मंदिर के अंदर थे उन्हें सेना ने सुरक्षित बाहर निकलने दिया लेकिन भिंडरवाले और उसके घनिष्ठ समर्थक उग्रपंथी इस कार्रवाई में मारे गए। इस काररवाई में चरमपंथी सिख नेतृत्व का सफाया तो हो गया पर प्रांत में व्याप्त राजनीतिक संकट वैसा ही बना रहा, बल्कि "ऑपरेशन ब्लूस्टार" के बाद उग्रवादी राजनीति ने और भी भयानक हिंसक रूप धारण कर लिया।

भारत सरकार की इस सैनिक कार्रवाई ने सिखों को और नाराज कर दिया और इसी के फलस्वरूप उग्रवादी संगठनों की संख्या और उनकी शक्ति बढ़ती गई। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सिख विरोधी दंगों में नरसंहार ने उग्रवादियों के जनआधार को और मजबूत बनाया। इन आतंकवादी संगठनों को सीमा पार से अत्याधुनिक हथियार और पड़ोसी देश पाकिस्तान से प्रशिक्षण भी मिला।

11.4.3 उग्रवाद और मानवाधिकार

लेकिन इस उग्रवादी आंदोलन को दिशाहीन होकर भटकते देर नहीं लगी। उग्रवादियों ने सिर्फ सुरक्षा बलों को ही अपनी गोलियों का निशाना नहीं बनाया बल्कि पंजाब और पड़ोसी राज्यों में रहने वाले साधारण नागरिक हिन्दू और सिख सभी उनकी आतंकवादी गतिविधियों का शिकार बने। चूंकि उग्रवादी ज्यादातर पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों के थे इसलिए सुरक्षा बलों ने साधारण नागरिकों को प्रताड़ित करना शुरू कर दिया। नतीजनत: पंजाब वासी यह भी भूल गए कि शांति में रहना क्या होता है। उनके बुनियादी मानवाधिकारों का हनन आतंकवादियों और सुरक्षा बलों, दोनों ने किया। राज्य में डरा कर धन ऐंठना, अपहरण और अंधाधुंध हत्याएं रोज़मर्रा की घटनाएं हो गई। उग्रवादियों ने साधारण सिखों पर एक आदर्श आचार संहिता थोपने का प्रयास भी किया। इस प्रयास में उन्होंने सिख महिलाओं के पश्चिमी पोशाक पहनने पर प्रतिबंध लगाया। सिखों में विवाह किस तरह से कराए जाएं, इस तरह के कई मसलों पर उन्होंने निर्देश जारी किए। पर उग्रवादियों द्वारा शुरू किए गए इन सुधारों को आम सिख से कोई समर्थन नहीं मिला।

बॉक्स 11.03

उग्रवादियों से हमदर्दी रखने और उन्हें आश्रय इत्यादि देने के आरोप लगा कर पुलिस और अर्धसैनिक बलों ने साधारण लोगों को बेहद प्रताड़ित किया। उनके खिलाफ इस तरह के आरोपों की पुष्टि के प्रमाण नहीं होने के बावजूद उन्हें बख्शा जाता था। दूसरी ओर अगर कोई उग्रवादी गांवों वालों से आश्रय मांगता तो बंदूक के आंतक से लोग उसे आश्रय दे देते थे। करें तो मरें न करे तो भी मरें-उनकी ऐसी ही स्थिति हो गई। दोनों ही स्थितियों में उन्हें जुल्म का शिकार होना पड़ रहा था।

MAADHYAM IAS

पंजाब में लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया पूरी तरह से थम चुकी थी। और लंबे समय तक राज्य में कोई चुनाव नहीं हुए। स्वतंत्र खालिस्तान के उग्रवादियों के आंदोलन को पंजाब के साधारण सिख से खास समर्थन नहीं मिल पाया। स्वर्ण मंदिर पर भारत सरकार की सैन्य कारवाई और उसके बाद नंवबर 1984 के दंगों में दिल्ली आदि शहरों में हुए सिख नरसंहार से कई सिख हालांकि बेहद नाराज थे, लेकिन उग्रवाद की राजनीति से कोई खुश नहीं थे। लोकप्रिय राजनीतिक जनाधार न मिल पाने के कारण खालिस्तान आंदोलन 1980 दशक के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीर बिखर गया। फिर 1990 दशक के आरंभ में अधिकांश उग्रवादी संगठन या तो टूटकर बिखर चुके थे या सुरक्षा बलों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनका सफाया कर दिया था। इस प्रकार सिख उग्रवादी आंदोलन कोई राजनीतिक उद्देश्य पूरा किए बिना ही समाप्त हो गया। राज्य में लोकतांत्रिक प्रक्रिया को फिर से शुरू किया गया और 1996 में अकालियों ने दुबारा सरकार बना ली।

11.4.4 उग्रवाद के निहितार्थ

राजनीतिक रूप से यह आंदोलन असफल रहा और सिखों के लिए कुछ ठोस हासिल नहीं कर पाया, लेकिन सिख समुदाय और देश के लिए इसके अनेक निहितार्थ निकले। इसने समूचे देश को राजनीतिक संकट का अभूतपूर्व एहसास कराया। इसने विद्वानों और नीति-नियामकों को भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की

फिर से समीक्षा करने के लिए बाध्य किया। सिख संप्रदाय के लिए 1980 के दशक का संकट विकट परीक्षा बन कर आया। "ऑपरेशन ब्लूस्टार" और दिल्ली तथा देश के अन्य भागों में हुए सिख विरोधी दंगों की त्रासदियां सहने के बावजूद इस 'संकट' ने उनकी पहचान को फिर से परिभाषित किया। अल्पसंख्यक जातीय समूह होने का बोध उनमें और गहराया। न सिर्फ सिख लोग अपने आपको एक विशिष्ट अल्पसंख्यक के रूप में देखने लगे, बल्कि अन्य संप्रदाय भी उन्हें इसी रोशनी में देखने लगे। "ऑपरेशन ब्लूस्टार" और सिख विरोधी दंगों से उन्हें पहली बार यह प्रमाण मिल गया कि उनके संप्रदाय के साथ भेदभाव बरता जा रहा है। इससे उनमें अपनी सामूहिक पहचान का बोध और मजबूत हुआ। वे अपनी हैसियत, स्थिति को जातीय अल्पसंख्यक की उस धारणा के काफी समीप देखने लगे जिसका उल्लेख हमने पीछे किया है। दूसरे शब्दों में उग्रवादी आंदोलन और 1980 के दशक के संकट ने भारत के सिखों के अल्पसंख्यकीकरण की प्रक्रिया को तेज किया।

देश में सिखों की आबादी दो प्रतिशत से कुछ ऊपर है। लगभग 75 प्रतिशत सिख पंजाब में शेष 25 प्रतिशत देश के अन्य भागों और विदेश में रहते हैं। चूंकि पंजाब में बहुसंख्यक हैं इसलिए अधिकांश सिखों को अपने अल्पसंख्यक होने का बोध दैनिक जीवन में नहीं हो पाता है। मगर चेतना के स्तर वे अपने आपको एक जातीय अल्पसंख्यक ही समझते हैं।

11.5 धार्मिक जातीयता को स्तरीकरण का आधार बनाने वाली परिस्थितियां

समाजशास्त्र के प्रतिष्ठित साहित्य में सामाजिक स्तरीकरण को साधारणतया "सामाजिक" श्रेणियों के जरिए देखा गया है। सामाजिक स्तरीकरण के सभी सिद्धांत वर्ग, पेशा या सत्ताधिकार जैसी श्रेणियों पर अधिक जोर दिया है। कुछ समय पहले से ही समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण की संरचना के निर्धारण में सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और जातीयता जैसे कारकों के महत्व को स्वीकार किया है। सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में जातीयता को दो भिन्न रूपों में काम करते देखा गया है। पहला, नस्लीय भेदभाव के रूप में जो कि लंबे समय तक पश्चिमी समाजों में मौजूद रहा है। दूसरा रूप है, धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक समूहों के लोगों से भेदभाव नस्लीय भेदभाव का एक चिर-परिचित उदाहरण अश्वेतों के साथ होने वाला भेदभाव है। अधिक पश्चिमी देशों में प्रभावी श्वेत आबादी ने युगों से अश्वेतों के साथ भेदभावपूर्ण बर्ताव किया है। नस्लीय भेदभाव कई स्तरों पर काम करता है। यह संगठनों के भीतर और वृहत्तर समाज दोनों में काम करता है। उदाहरण के लिए संगठनों में वरिष्ठ पदों पर 'श्रेष्ठ' नस्ल के सदस्य आसीन रहते हैं और निचले पदों पर अमूमन वे लोग आसीन रहते हैं जो "निम्न" नस्लों के होते हैं। नस्लवाद की प्रथा और विचारधारा के विरोध में कई तरह के राजनीतिक आंदोलन हुए हैं। इसके फलस्वरूप अश्वेतों के प्रति नस्लीय पूर्वाग्रह काफी कम हो गए हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आधुनिक युग में धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव अनेक समाजों में व्याप्त है। इसने कई रूप धरे हैं, जैसे हिटलर के शासनकाल में चरम फासीवाद के तहत यहूदियों का सामूहिक संहार से लेकर भेदभाव के सूक्ष्म रूप। अधिकांश आधुनिक राष्ट्र राज्य यूं तो शासन-संचालन में धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों का पालन करने का दावा करते हैं लेकिन असल में उनकी उत्पत्ति मूलतः जातीय आंदोलनों से ही हुई है। यही नहीं आज अधिकांश राष्ट्र राज्यों में एक से अधिक जातीय मूल के नागरिक रहते हैं जो उन्हें बहुजातीय समाज बनाता है। मगर राजसत्ता में प्रायः विभिन्न जातीय समूहों की समान भागीदारी नहीं होती। यही भेद विषमताओं और जातीय आधार पर स्तरीकरण को जन्म देता है। भाषा के अलावा धर्म भी जातीय भेद का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत रहा है।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाब में धार्मिक जातीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझाइए। पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2) पंजाब में उग्रवाद के उदय के बारे में पांच से दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

यह जरूरी नहीं है कि जातीय/धार्मिक भेद जातीय असमानताओं को जन्म देते हों। दुनिया के कई देशों में विभिन्न धार्मिक समुदायों के लोगों को लगभग बराबर का दर्जा हासिल है। सिर्फ कुछ विशेष परिस्थितियों में ही धार्मिक जातीयता सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनती है। इसमें सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण *राजनीतिक शासन की प्रकृति* है। कोई समाज अगर धर्मनिरपेक्ष है तो उसमें धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक लोगों के साथ सोचे-समझे ढंग से भेदभावपूर्ण बर्ताव होने की संभावना नहीं होगी। मगर समाज अगर धर्मतंत्रीय और अलोकतांत्रिक हो तो उसमें धार्मिक जातीयता सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार बन जाती है। ऐसे समाज में धार्मिक अल्पसंख्यक लोगों को सत्ताधिकार के पद-स्थान हासिल नहीं हो सकेंगे। मगर एक धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक समाज में भी किसी जातीय अल्पसंख्यक समुदाय के साथ भेदभाव बरता जा सकता है, विशेषकर अगर समाज के अन्य वर्गों में उसके प्रति पूर्वाग्रह व्याप्त हों। इसी प्रकार अगर किसी राजनीतिक गुट को अपने चुनावी लाभ के लिए एक जातीय समूह विशेष के खिलाफ अन्य समुदायों को मोर्चाबंद करने में फायदा नजर आता है तो ऐसी स्थिति में वह जातीय समूह भेदभाव का शिकार बन सकता है।

धार्मिक जातीयता को सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनाने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारक देश का *जनसांख्यिक ढांचा* है। किसी देश में अगर एक बड़ा धार्मिक बहुसंख्यक समुदाय और उसके साथ-साथ अनेक धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय रहते हों तो उसमें धार्मिक जातीयता के स्तरीकरण का आधार बनने की संभावनाएं उस देश से अधिक होती हैं जिसमें अनेक धार्मिक समुदाय तो रहते हों मगर किसी भी धार्मिक समुदाय को बहुसंख्यक का दर्जा नहीं मिला हो। या फिर जनसंख्या सिर्फ एक ही जातीय सम्प्रदाय से संबंध रखती हो। तीसरा महत्वपूर्ण कारक *धर्म और अर्थव्यवस्था* के बीच संबंध है। अगर किसी धार्मिक सम्प्रदाय विशेष के लोगों का अर्थव्यवस्था के उत्पादन साधनों पर नियंत्रण हो तो दूसरे समुदायों के बनिस्बत उन्हें समाज में अधिक शक्तिशाली स्थान हासिल होना लाजमी है। सबसे आखिरी और महत्वपूर्ण *सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारक* हैं। ये कारक ही समाज में जातीय/धार्मिक समुदायों के बीच संबंधों को तय करते हैं। जिस समाज में सहिष्णुता और परस्पर सम्मान को बढ़ावा देने वाले सांस्कृतिक मूल्य हों उसमें धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव की संभावना उस समाज से बेहद कम होती है जिसमें इस तरह के सांस्कृतिक मूल्य न हों। इसी प्रकार ऐतिहासिक स्मृतियों की अपनी भूमिका है। अगर किसी समाज का इतिहास जातीय विद्वेषों से भरा है तो उसका वर्तमान भी पूर्वाग्रहों से भरा रहेगा।

11.6 शब्दावली

जातीयता : साझी संस्कृति, साझा पैतृक इतिहास और एक-दूसरे से जुड़े होने की भावना।

पहचान : किसी समूह या व्यक्ति की जातीयता जैसे कारकों के आधार पर पहचान।

धर्म : एक विचारधारा से जुड़ा स्मृति पुंज जो अधिराष्ट्र यानी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दिशा में जाती है।

उग्रवाद : किसी उद्देश्य के लिए अपनाया जाने वाला आक्रामक और हिंसक नजरिया, जैसे, किसी जातीय समूह की स्वायत्तता की मांग।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

11.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिडंस, ए., (1989) *सोशियोलाजी*, कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस

ग्रेवाल, जे. एस. (1994) द *सिख्स ऑफ पंजाब*, कैम्ब्रिज यूनि. प्रेस

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) धर्म के कुछ नियमित संस्कार और अनुष्ठान होते हैं जिन्हें उसके अनुयायी व्यवहार में लाते हैं। इस तरह के क्रियाकलाप अनुयायियों को एक समुदाय में जोड़े रखती है। जिन देशों में एक से ज्यादा धर्मों के अनुयायी हों वहां अनेक प्रकार की सांस्कृतिक पहचान जन्म लेती हैं, जो अपने आपको विशिष्ट जातीय समूहों के रूप में देखती हैं। ऐसी स्थिति में धर्म जातीय पहचान का आधार बनता है।

2) धार्मिक जातीयता राज्य के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूहों में बांटती है। इसमें बहुसंख्यकों के हाथों में सत्ताधिकार होता है लेकिन अल्पसंख्यक के साथ भेदभाव का बर्ताव होता है। इसके फलस्वरूप जातीय समूहों में असमानता का संबंध बन जाता है। और उसी के अनुरूप सामाजिक स्तरीकरण होता है। ऐसे में समाज में प्राय: एक शक्तिशाली और प्रभावशाली बहुसंख्यक और कई अधीनस्थ जातीय अल्पसंख्यक समूह देखने को मिलते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाब में ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ जबर्दस्त आंदोलन हुआ था। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में यहां सामाजिक सुधार आंदोलन और जन विद्रोह हुए थे और इसमें एक पृथक धार्मिक पहचान का उदय हुआ। इससे साम्प्रदायिक सीमाओं का पुनर्निमाण हुआ। धीरे-धीरे सभी प्रमुख धार्मिक-राजनीतिक समूहों की रचना हुई, सिखों ने स्वतंत्रता आंदोलन में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) 1980 के दशक में अकाली दल ने एक पंथनिरपेक्ष आंदोलन शुरू किया जो धीरे-धीरे उग्रपंथियों के हाथों में चला गया। पहले जहां सिंचाई के पानी के अधिकार जैसे मुद्दों के लिए मांग होती थी उसकी जगह भारतीय राज्य से स्वायत्तता की मांग ने ले ली। इससे राज्य में हिंसक संघर्ष छिड़ गया जिसके फलस्वरूप 1984 में ऑपरेशन ब्लूस्टार हुआ। उग्रपंथियों पर सेना के हमले के बाद उग्रवाद अपनी दिशा से भटक गया क्योंकि यह निर्दोष नागरिकों को भी अपनी गोलियों का निशाना बनाने लगा।

इकाई 12 भारत में भाषायी जातीयता

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 भारत में भाषा का इतिहास
12.3 भाषायी जातीयता और राज्यों का पुनर्गठन
 12.3.1 भाषायी जातीयता और राज्य
 12.3.2 भाषा और आधुनिकीकरण
12.4 द्रविड़ आंद्रोलन
 12.4.1 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय
 12.4.2 सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा की भूमिका
 12.4.3 भाषा के मुद्दे पर भारत सरकार की नीति
 12.4.4 भाषा का मुद्दा
12.5 पंजाबी सूबा आंदोलन
 12.5.1 एक पृथक भाषीय राज्य
 12.5.2 नेहरू-मास्टर समझौता
12.6 भाषायी जातीयता के अन्य आंदोलन
 12.6.1 राज्यों का पुनर्गठन
12.7 जनजातीय भाषायी आंदोलन
 12.7.1 संथाली भाषा आंदोलन
 12.7.2 मिशिंग लोगों का भाषा आंदोलन
 12.7.3 जैंतिया लोगों की जातीय-भाषायी अपेक्षाएं
 12.7.4 भाषा और संस्कृति
12.8 भाषा आंदोलन के मूल कारण
12.9 सारांश
12.10 शब्दावली
12.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.0 उद्देश्य

भारत में भाषायी जातीयता पर इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारत में भाषा के इतिहास के मुख्य पहलुओं के बारे में बता सकेंगे;
- भाषायी जातीयता के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बारे में बता सकेंगे;
- डीएमके मूवमेंट की चर्चा कर सकेंगे;
- पंजाबी सूबा आंदोलन और अन्य भाषायी आंदोलनों पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- भारत में जनजातीय भाषा आंदोलनों के बारे में बता सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

'जातीयता' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 1953 में एक जातीय समूह की विशेषताओं या गुणों को बताने के लिए हुआ था। जातीय (एथनिक) समूह की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'एथनोस' से हुई जिसका अभिप्राय ऐसी जन श्रेणी से है जिसे उनकी संस्कृति, धर्म, नस्ल या भाषा के आधार पर अलग पहचाना जा सकता है। अपनी पहचान के लिए इनमें से किसी भी विशेषता का प्रयोग करने वाला जनसमूह जरूरी नहीं कि इन पहचान चिन्हकों को भेदभाव बरतने के लिए प्रयोग करे। इन श्रेणियों में सहभागी व्यक्ति अंत: समूह एकात्मता को

मजबूत करने के लिए इन प्रतिमानों को दृढ़ता से रख सकते हैं। इस प्रकार की साहचर्यता का एक बड़ा माध्यम भाषा है और एक ही बोली बोलने या भाषा का प्रयोग करने वाले जन-समूह को जो अंतर सामूहिक एकात्मता की भावना का एहसास होता है उसे ही हम भाषायी जातीयता कहते हैं। भारत में 1500 से ज्यादा मातृभाषाएं प्रचलित हैं। जैसा कि आप जानते हैं हिन्दी राष्ट्र भाषा है जिसके साथ संविधान की आठवीं अनुसूची के तहत अन्य 14 क्षेत्रीय भाषाओं को भी मान्यता दी गई है। अन्य भाषाओं को राजकीय भाषा का दर्जा नहीं दिया गया है। ऐसा अनुमान है कि 1000 या उससे अधिक व्यक्ति लगभग 105 भाषाएं बोलते हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा विज्ञानियों में इस बात को लेकर सहमति नहीं है कि भारत में ठीक-ठाक कितनी भाषाएं बोली जाती हैं।

जॉर्ज क्रायर्सन ने भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया में 179 प्रमुख भाषाओं और 544 बोलियों के बारे में बताया है। पहला भाषायी जनगणना सर्वेक्षण उन्नीसवीं सदी में किया गया था जिसके अनुसार "भारत में हर 20 मील के बाद भाषा बदल" जाती है। फिर 1961 की जनगणना से पता चला कि भारत मे 1652 भाषाएं बोली जाती हैं जिनमें 1549 भाषाएं देशज हैं। ऐसा माना जाता है कि इन 1549 देशज भाषाओं में लगभग 572 भाषाओं को भारत की 99 प्रतिशत जनसंख्या बोलती है। भारतीय संविधान में जिन 15 भाषाओं को मान्यता दी गई है उनकी लगभग 387 बोलियां प्रचलित हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन्हें भारत की 95 प्रतिशत जनता बोलती है। भारत के बहुभाषी चरित्र को स्वतंत्रता के बाद गठित राज्य पुनर्गठन आयोग ने स्वीकार किया था। भाषायी और सांस्कृतिक समरूपता के आधार पर राज्यों का गठन भारतीय लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य की बहुभाषा प्रकृति की पुष्टि थी। इस आयोग के तहत 1956 तक आठ प्रमुख भाषा समूहों असमी, बंगाली, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, तेलुगु और तमिल को स्वतंत्र राज्यों का दर्जा दे दिया गया था। गुजराती और मराठी भाषा समूहों को 1966 तक स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया गया और फिर इसी वर्ष पंजाबी को भी राज्य की मान्यता मिल गई। वर्ष 1966 तक संस्कृत, उर्दू और सिंधी भाषाओं को छोड़कर पांच हिन्दी भाषी राज्यों समेत सभी मान्यताप्राप्त भाषाओं को राज्य का दर्जा मिल गया था। जाने या अनजाने में भाषा स्वतंत्र भारत में राज्यों के पुनर्गठन का वैध मानक बन गई।

12.2 भारत में भाषा का इतिहास

MAADHYAM IAS

भारतीय जनजातियों का अध्ययन करने वाले नृवैज्ञानिक मानते हैं कि भारत के मूल वासी ऑस्टो-ऐशियाई मूल के हैं जिनका संबंध उपकुल मुडा से है। इनकी भाषाएं मोन-खमेर भाषा, विशेषकर वियतनामी भाषा से जुड़ी हैं, छोटा नागपुर से लेकर उत्तर पूर्व में हिन्द-चीन तक फैली हुई हैं। हिंद-यूरोपीय भाषाएं बोलने वाले आर्यों का भारत में आगमन 1500 ईसा पूर्व पश्चिमोत्तर दिशा से हुआ था। वैदिक काल (लगभग 1500-500 ईसा पूर्व) के आने तक उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में संस्कृत बोली जाती थी। भारत पर मुस्लिम आक्रमण होने से पहले संस्कृत यहां कि आम भाषा बन गई थी जो अलग-अलग रूपों में बोली जाती थी। विभिन्न प्रकार के मध्य हिंद-आर्य भाषाओं के सबसे पुराने स्वरूपों, जिन्हें हम प्राकृत कहते हैं, का विकास इसी काल में हुआ। भाषाविदों का मानना है कि संस्कृत और ये सभी हिन्द आर्य प्राकृत भाषाएं उत्तरी भारत से लेकर दक्षिणी पठार तक बोली जाती थीं। द्रविड़ भाषाएं दक्षिणी पठार से नीचे दक्षिण भारत में बोली जाती थीं। भाषा इतिहासकार अक्सर हिन्द-आर्य उत्तरी भारत और द्रविड़ दक्षिण भारत के बीच एक गहरी खाई की बात करते हैं। अपनी विस्तृत सांस्कृतिक विरासत के फलस्वरूप भारत की भाषायी परंपरा समृद्ध हुई है। प्रमाणों के अनुसार तमिल में साहित्यिक उत्कृष्टता ईसा पूर्व दूसरी सदी औंर कन्नड़ में चौथी सदी-मलयालम में 10वीं सदीं और तेलुगु में सातवीं सदी से चली आ रही है। यहां ध्यान देने की एक रोचक बात यह है कि अंग्रेजी और जर्मन भाषा में लिखित दस्तावेजों के प्रमाण पांचवीं सदी से मिलते हैं। बौद्ध-धर्म की सबसे प्राचीन वंदना कार्यपद की रचना 1000 और 1200 ईसवी के बीच बंगाली, असमी और उड़िया भाषाओं में की गई थी।

भारत में मुस्लिम शासन का आरंभ होने से पहले संस्कृत और अन्य क्षेत्रीय भाषाएं ही राजकाज की भाषा थीं जिसके बाद इनकी जगह विशेषकर उत्तरी भारत में फारसी ने ले ली। राजनीतिक रूप से उपेक्षित रहने के बावजूद भी भारत की समृद्ध भाषायी विरासत भावनात्मक और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में जीवंत रहीं।

बॉक्स 12.01

शासन में उच्च पदों की आकांक्षा रखने वाले लोगों ने फारसी भाषा और फिर उसके परिवर्तित स्वरूप उर्दू को सीखा। राष्ट्रवादियों ने अपनी राष्ट्रवादी और देशभक्ति की जरूरतों के अनुरूप क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों में समृद्ध साहित्य का सृजन किया। मौखिक परंपरा ही प्रत्येक जातीय समूह के लिए अपनी समृद्ध सांस्कृतिक और भाषायी विरासत की रक्षा करने का एक महत्वपूर्ण जरिया बन गई। प्राच्य भाषाविद स्वीकार करते हैं कि भारत की मूल भाषाओं में जो साहित्य उपलब्ध है वह अंग्रेजी भाषा में सृजित साहित्य से कहीं ज्यादा समृद्ध है हालांकि दुनिया में बोल-बाला अंग्रेजी साहित्य का ही है। अंग्रेजी भाषा ने भारतीय सांस्कृतिक ताने-बाने में आधुनिकीकरण और सशक्तीकरण का वाहन बनकर प्रवेश किया। मगर स्वतंत्रता के पश्चात इसे शक्तिशाली और धनाढ्यों की भाषा के रूप में पेश किया गया। भाषायी दंगों के आरंभिक दौर में इसे स्वाभाविक स्वीकृति भी मिल गई।

12.3 भाषायी जनजातीयता और राज्यों का पुनर्गठन

प्रसिद्ध भाषाविद और एशियाई विषयों के सिद्ध विद्वान रॉबर्ट डी. किंग के विचार में भाषायी सीमाओं के अनुरूप राष्ट्र राज्यों की धारणा भौगोलिक राजनीति में एक नई घटना है जिसकी शुरुआत 19वीं सदी में हुई थी। किसी राष्ट्र का एक भाषी होना निश्चित ही लाभकारी हैं क्योंकि इससे संप्रेषण संवाद आसान हो जाता है। मगर यह कहना सही नहीं है कि बहुभाषी समाज अनिवार्यत: विखंडनशील होते हैं। समरूप और समांगी समाजों में अधिक राजनीतिक जीवनक्षमता और स्थायित्व होती है, इस मान्यता को भारत ने गलत सिद्ध कर दिखाया है जो एक लोकतांत्रिक राजनीतिक संघ में फूलने फलने में सक्षम रहा है। मगर इस प्रक्रिया में उसे कठिन समस्याओं से जुझना है। भाषायी जातीयता और इस सिद्धांत पर राज्यों का पुनर्गठन ऐसी ही विकट समस्या थी। स्वतंत्रता से पहले भारत में राज्य की सीमाएं मनमाने ढंग से तय की गई थीं। पंजाब, बंगाल और सिंध प्रांतों को छोड़कर कोई भी राज्य नृजातिवर्णन, संस्कृति, भाषा और उसके उपयोग धर्म या साझी जातीयता के किसी अन्य घटक पर आधारित ऐतिहासिक रचना के प्रतिमानों के अनुरूप नहीं था। अब मद्रास प्रेसीडेंसी को ही लें। इसकी सीमा दक्षिण-पूर्वी ढलान पर स्थित केप कैमोरिन से शुरू होकर पूर्व में जगन्नाथपुरी मंदिर तक फैली थी और बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में मालाबार तट पर अरब सागर को छूती थी। इसमें ओड़िया, मलयालम, तेलुगु, तमिल और कन्नड़ जैसी प्रमुख भाषाएं बोली जाती थीं। यहां एक रोचक बात यह है कि मद्रास प्रेसीडेंसी की 60.3 प्रतिशत आबादी गैर तमिल भाषी थी। इसी प्रकार बंबई प्रेसीडेंसी में रहने वाले 57.2 प्रतिशत लोग मराठी से अलग भाषाएं बोलते थे जैसे गुजराती, सिंधी और कन्नड़। बंगाल प्रेसीडेंसी में 70.000.000 लोग रहते थे जिनमें आज के बिहार और उड़ीसा राज्य भी शामिल थे और जिसकी सीमा पश्चिमोत्तर में सतलज नदी तक फैली थी। लार्ड कर्जन ने बंगाल प्रेसीडेंसी को दो भागों में बांटकर पूर्वी बंगाल और असम प्रांत बनाया, जिसकी आबादी लगभग 31,000,000 थी। इस प्रांत में बोली जाने वाली मुख्य भाषाएं बंगाली और असमी थीं। दूसरा प्रांत पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और बिहार थे जिनमें मुख्यत: बंगाली, हिंदी और ओड़िया भाषाएं बोली जाती थीं। इतिहासकारों का मानना था कि बंगाल का विभाजन देखने में तो प्रशासनिक कारणों से किया गया था लेकिन इसके मूल में एक मुस्लिम बहुल पूर्वी बंगाल और एक हिंदू बहुल पश्चिम बंगाल बनाने का उद्देश्य था। इस तरह के पुनर्गठन में धार्मिक जातीयता को प्रमुखता दी गई और भाषायी घटकों के प्रसिद्ध नृविज्ञानी हरबर्ट राइजली का कहना था कि इससे ओड़िया भाषा की समस्या का समाधान हो गया। भारत सरकार द्वारा वर्ष 1955 में गठित किए गए राज्य पुनर्गठन आयोग का कहना है:

"इन मौकों पर भाषायी सिद्धांत का प्रयोग महज प्रशासनिक सुविधा के लिए किया गया उसी हद तक जहां तक यह राजनीतिक जरूरतों से निर्धारित सामान्य पैटर्न में सही जांचा। बल्कि वास्तविकता यह थी कि बंगाल के विभाजन में भाषायी बंधुता की भारी अवहेलना की गई। सन् 1912 के बंदोबस्त में भी भाषायी सिद्धांत की अवहेलना ही की गई क्योंकि इसने बंगाली मुसलमानों और बंगाली हिंदुओं के बीच एक विभाजन रेखा खींच दी थी। इस तरह ये दोनों विभाजन इस धारणा के प्रतिकूल थे कि विभिन्न भाषायी समूह सामाजिक भावना की विशिष्ट इकाइयां हैं जिनके साझे राजनीतिक और आर्थिक हित होते हैं।"

12.3.1 भाषायी जातीयता और राज्य

ब्रिटिश शासकों ने राज्य के राजनीतिक गठन में भाषायी जातीयता को कभी नहीं जाना। दरअसल, अंग्रेजों के आने से पहले और भारत में उनका शासन स्थापित हो जाने पर भी देश के अधिकतर राज्य अमूमन ऐतिहासिक घटनाएं मात्र थे। बहरहाल, जाने-अनजाने बंगाल का पुनर्गठन आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की नीति को बढ़ावा देने का बहाना बन गया। इसी के फलस्वरूप 1918 में मोंटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने भारत में भाषायी आंदोलनों की उपस्थिति को पहली बार स्वीकार किया। मगर इस प्रतिमानात्मक परिवर्तन के बावजूद भारत सरकार के अधिनियम 1919 में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रोत्साहन के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए। महात्मा गांधी ने 1920 में भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन का समर्थन किया हालांकि उन्हें यह आशंका भी थी कि इस तरह से भाषायी प्रांतों के गठन की पैरवी करना कहीं हिन्दुस्तानी के प्रचार प्रसार में बाधक न बन जाए क्योंकि वह इसे राष्ट्र भाषा बनाना चाहते थे। बहरहाल, गांधी की इस रणनीतिक सहमति के बाद नेहरू की स्वीकृति के फलस्वरूप काँग्रेस का पुनर्गठन भाषायी प्रांतों के आधार पर कर लिया गया। इस प्रकार 21 प्रांतीय काँग्रेस कमेटियां बनाई गईं। फिर 1927 में काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें आंध्र, उत्कल (उड़ीसा), सिंध और कर्नाटक के लिए अलग-अलग भाषायी प्रांतों के गठन करने की मांग सरकार से की गई।

बॉक्स 12.02

कांग्रेस के 1927 के प्रस्ताव के दस वर्ष बाद जाकर नेहरू ने भाषायी राज्यों के विचार को स्वीकार किया। इससे पहले सर्वदलीय सम्मेलन की रिपोर्ट में भाषा को एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति, साहित्य और परंपरा के समकक्ष, उसके तदनुरूप मान लिया गया था। इसमें यह भी कहा गया कि एक भाषायी क्षेत्र में ये कारक यानी संस्कृति, साहित्य और परंपरा उस प्रांत की सामान्य प्रगाति में सहायक होंगे। इस तरह की स्वीकृतियां भारत की आजादी के पहले और आरंभिक स्वातंत्रयोत्तर इतिहास में एक सामाजिक आंदोलन के रूप में भाषायी जातीयता के उदय की शुरुआत थी। अंग्रेजों ने 1930 में जाकर भाषायी आंदोलनों और उनके राजनीतिक महत्व को समझना शुरू किया। उड़ीसा प्रांत का गठन अक्सर भारत में पहले भाषायी आंदोलन की सफलता कहा जाता है। इसे संयुक्त संसदीय समिति (सत्र 1932-33) की सहमति प्राप्त थी। पर अनेक इतिहासकारों का मानना है कि उड़ीसा का गठन भाषायी कारणों से नहीं किया गया था, बल्कि इसे हिंदू भावनाओं की तुष्टि के लिए बनाया गया था। वहीं सिंध प्रांत को सिंधी भाषी लोगों के लिए नहीं बल्कि बहुसंख्यक मुस्लिम भावनाओं को तुष्ट करने के लिए बनाया गया था।

MAADHYAM IAS

बहरहाल, कांग्रेस ने भाषायी प्रांतों की नीति को जारी रखा और आंध्र और कर्नाटक के लिए दो और प्रांतों के गठन की मांग रखी। इसके बाद 1938 में मलयालम भाषी लोगों के लिए एक स्वायत्त भाषायी प्रांत-केरल का गठन करने की मांग रखी गई। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भाषायी प्रांतों की मांग कुछ समय के लिए थम गई। मगर 1945-46 में अपने चुनावी घोषणापत्र में काँग्रेस ने फिर इस विचार को छोड़ दिया कि प्रशासनिक इकाइयों का गठन यथासंभव भाषायी और सांस्कृतिक आधार पर हो। औपनिवेशिक शासन के खत्म हो जाने के बाद कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने भाषायी आधार पर राज्य बनाने की व्याख्या करते हुए कहा है कि इनके पीछे प्रछन्न और गुप्त इरादे थे। रॉबर्ट डी. किंग के अनुसार, "भाषायी प्रांतों के गठन की मांग के पीछे जो भावनाएं काम कर रही थीं उनका संबंध भाषा से कम बल्कि जाति और सांप्रदायिक वैमनस्य, विशेषाधिकारों के लिए आपसी संघर्ष से ज्यादा था।"

12.3.2 भाषा और आधुनिकीकरण

एक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत को अपने शुरुआती दौर में इस जटिल समस्या से जुझना पड़ा था कि वह शासन चलाने के लिए ऐसी कौन सी आम भाषा चुने जिससे अन्य भाषाओं की निजी, महत्ता, उनकी प्रतिष्ठा को ठेस नहीं पहुंचे। भारतीय संविधान ने 1950 में हिंदी को देश की राजकीय भाषा का दर्जा दिया, उधर अंग्रेजी सरकारी अकादमी और व्यापारिक कामकाज की भाषा बनी रही। संविधान में अंग्रेजी को सरकारी प्रयोजनों के लिए संघ की भाषा के रूप में बने रहने के लिए 15 वर्ष का समय दिया गया। मगर अंग्रेजी को जनमानस ने आधुनिकीकरण और वैश्विक भागीदारी का एक सशक्त माध्यम के रूप में

देखा। यही कारण है कि जबर्दस्त भाषायी जातीयतावादी लोग भी अपनी भाषायी जातीयता के प्रति कोई पुर्वाग्रह रखे बिना अंग्रेजी की लोकप्रियता और उसके चलन के कायल हैं। मगर वहीं द्रविड़ भारतवासी विशेषकर तमिल भाषी लोग हिंदी विरोधी थे। भारतीय राष्ट्र राज्य ने जब हिंदी को भारतीय राष्ट्रवाद और देशभक्ति के प्रतीक के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया तो इसने जन विद्रोह को भड़का दिया। आर.एन.श्रीवास्तव के अनुसार, दक्षिणी राज्यों में पहले द्रविड़ कड़गम और फिर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) कट्टर और ऊर्जावान धर्म-विरोधी भावनाओं के उफान की एक कड़ी मात्र थे। इस आंदोलन के सूत्रधार ई.वी. रामास्वामी नैकर थे जिन्हें बाद में पेरियार के नाम से पुकारा जाने लगा। उन्होंने 1925 में "आत्मसम्मान आंदोलन" की शुरुआत की। 1938 में उन्होंने हिन्दी विरोधी आंदोलन छेड़ा जिसके दौरान जस्टिस पार्टी इनके आत्मसम्मान आंदोलन से जुड़ गई। इसके बाद 1944 में दोनों ने मिलकर द्रविड़ कड़गम की स्थापना की, जिसने हिंदी विरोधी और ब्राह्मण विरोधी आंदोलन का नेतृत्व किया। द्रविड़ कड़गम ने 25 दिसंबर 1974 को रावण लीला का आयोजन किया जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता के पुतले फुंके गए। इससे पहले वर्ष 1956 में तेलुगु अकादमी ने मद्रास में एक भाषा सम्मेलन बुलाया जिसमें दक्षिण में हिंदी थोपने पर बड़ा जबर्दस्त विरोध प्रकट किया गया। फिर 1958 में राजागोपालाचारी के नेतृत्व में एक अखिल भारतीय भाषा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में फ्रैंक एंथनी ने घोषणा की: "आज हिन्दी सांप्रदायिकता का प्रतीक है, यह धर्म का प्रतीक है, यह भाषा अतिवादिता है और सबसे बढ़कर यह अलसंख्यक भाषाओं के दमन का प्रतीक है।" वहीं राजागोपालाचारी ने भी इस सम्मेलन में कहा: "हिन्दी गैर-हिन्दी भाषियों के लिए उतनी ही पराई भाषा है जितनी पराई अंग्रेजी भाषा हिन्दी के पैरोकारों के लिए है।" इस हिन्दी विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करते हुए डीएमके (द्रविड़ मुनेत्र कड़गम) ने 17 जनवरी 1965 को मद्रास में एक हिन्दी-विरोधी सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में 26 जनवरी 1965 को शोक दिवस मनाने की घोषणा की। इसके बाद आंदोलन उग्र और हिंसक हो गया जिसमें छात्रों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। छात्रों ने तमिलनाडु स्टुडेंट्स ऐंटी-हिन्दी एजीटेशन काउंसिल (तमिलनाडु छात्र हिन्दी-विरोधी आंदोलन परिषद्) का गठन किया, जिसके आह्वान पर मद्रास कॉलेज के पचास हजार से अधिक छात्रों ने प्रदर्शन किया। इस प्रकार समूचे दक्षिण भारत में हिन्दी-विरोधी प्रदर्शन हुए। इसी दौरान दो छात्रों ने आत्मदाह कर लिया जिससे आंदोलन हिंसक और उग्र हो गया जिनमें 70 लोग मारे गए। इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने 1967 में राजकीय भाषा संशोधन अधिनियम संसद में पारित कराया। यह अधिनियम द्विभाषा सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार राज्यों को सरकारी काम-काज अंग्रेर्जी या हिन्दी में चलाने की छूट है। जैसे: (क) प्रस्ताव, सामान्य आदेश नियम, अधिसूचना इत्यादि (ख) प्रशासनिक और अन्य रिपोर्टों और (ग) अनुबंध समझौतों, लाइसेंस, निविदा प्रपत्रों इत्यादि में दोनों में से कोई भी भाषा प्रयोग की जा सकती है। इसी अधिनियम के तहत हिन्दी में प्रदत्त सामग्री को अंग्रेजी में अनुवाद करने का प्रावधान भी किया गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 1

भाषा का मुद्दा आखिर इस तरह की भावनाओं को क्यों भड़काता है। अपने ऐसे सहपाठियों और मित्रों से इस विषय पर चर्चा कीजिए जो अलग-अलग भाषाएं बोलते हों और फिर इस चर्चा में आपको जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

12.4 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम आंदोलन का जन्म

भाषा के मुद्दे पर उत्तर और दक्षिण के बीच विभाजन आंरभिक पश्चिमी विद्वानों जैसे रॉबर्टो डी मोबिली (1577-1656), कोंस्टेनियस बेशी (1680-1743) रेव. रॉबर्ट काल्डवेल (1819-1891) के समय से चला आ रहा है। इस सिद्धांत को गढ़ने का श्रेय मूलत: काल्डवेल को जाता है, कि संस्कृत को आर्य ब्राह्मण उपनिवेशक दक्षिण भारत लाए थे जिन्होंने ठेठ हिन्दुत्व को जन्म दिया जिसमें मूर्तिपूजा की जाती थी। तमिल भाषा को वहां के मूल वासियों ने ही विकसित किया जिन्हें ये ब्राह्मण आर्य लोग शूद्र कहकर बुलाते थे। इन सब में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के चिन्ह हैं क्योंकि वहां के मूलवासी सरदार, सैनिक, किसान इत्यादि थे। आप्रवासी ब्राह्मण इन तमिल भाषियों को जीत नहीं पाए। इन विद्वानों ने तर्क दिया 'शूद्र' संबोधन को हटाकर उसकी स्थानीयता के अनुसार प्रत्येक द्रविड़ का नाम प्रयोग किया जाना चाहिए। (उर्सविक, 1969) इससे स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण में भाषायी जातीयता की जड़ें जातिगत राजनीति में हैं।

मद्रास के गवर्नर माउंटस्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने 1866 में मद्रास कॉलेज के स्नातकों को एक अभिभाषण में कहा था: "हम यूरोपवासियों में नहीं बल्कि इन्हीं संस्कृतभाषी लोगों दक्षिणवासी नस्लों की गिनती राक्षसों में की थी। उन्हीं लोगों ने जानबूझकर वर्ण, रंग के आधार पर सामाजिक विभेद खड़े किए।" इन घटनाओं के आधार पर बारनेट निष्कर्ष निकालते हैं: "इस प्रकार गैर ब्राह्मणों की विचाराधारात्मक श्रेणी के बनने से पहले एक ऐसे द्रविड़ सांस्कृतिक इतिहास के बोध का जन्म हुआ जो दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों की संस्कृति से अलग, विशिष्ट और संभवत: उससे श्रेष्ठ थी।" इसी सांस्कृतिक इतिहास के बोध ने 1916 में साउथ इंडियन लिबरेशन फेडरेशन (जस्टिस पार्टी) को जन्म दिया। यह प्रतिक्रियावादी आंदोलन ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए शुरू हुआ था, उसके राजनीतिक संवाद की भाषा तमिल के बजाए अंग्रेजी थी। इसी से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद दक्षिण भारत में हुए भाषा आंदोलन मूलत: हिन्दी विरोधी और अंग्रेजी समर्थक तो थे मगर वे अनिवार्यत: तमिल समर्थक नहीं थे।

बॉक्स 12.03

द्रविड़ पहचान का समर्थन ही इस आंदोलन का मुख्य ध्येय था। जस्टिस पार्टी ने अपने अंग्रेजी प्रकाशन *जस्टिस* और तमिल साप्ताहिक *द्रविड़ियन* के माध्यम से इस आंदोलन को फैलाया। उसने वर्णाश्रम और धर्म को अपनी आलोचना का निशाना बनाया और जब महात्मा गांधी ने हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था को उचित ठहराया तो उनकी तीखी आलोचना हुई। अभिजात सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं पर ब्राह्मणों के वर्चास्व ने दक्षिण भारत में ब्राह्मणों और गैर ब्राह्मणों के बीच मौजूद खाई को और गहरा किया।

बहरहाल, तमिल भाषा के महत्व का पता हमें *द्रविड़ियन* के 29 सितंबर 1920 अंक में छपे एक लेख से चलता है। इस लेख में एक तमिल विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव पर संतोष व्यक्त किया गया था। यह प्रस्ताव त्रिचुरापल्ली में हुए एक गैर ब्राह्मण सम्मेलन में पारित हुआ था। लेख में यह तर्क दिया गया था: "आजकल के विश्वविद्यालयों में तमिल को समुचित प्रोत्साहन नहीं दिया जाता और इन विश्वविद्यालयों में पदासीन प्रभावशाली विदेशी आर्यों ने ही तमिल भाषा की ऐसी दुर्दशा की है।" इस लेख का कहना था कि तमिल भाषी लोग तभी प्रगति और राजनीतिक प्रभाव प्राप्त कर सकते हैं जब तमिल भाषा को मान्यता मिले।

MAADHYAM IAS

इस प्रकार ही ब्राह्मण विरोधी भावनाओं को 1924 में ई. वी. रामास्वामी द्वारा सेल्फ रेस्पेक्ट लीग (आत्मसम्मान लीग) की स्थापना के बाद और मजबूती मिली। यह आत्म सम्मान आंदोलन एक सक्षम सांस्कृतिक विकल्प ढूंढने का प्रयास था। इस आंदोलन ने गैर ब्राह्मणों की सामाजिक और राजनीतिक चेतना को आमूलचूल बदल डाला। आत्मसम्मान आंदोलन की महत्ता काँग्रेस में व्यावहारिक राजनीति के उदय के साथ कम होती गई। फिर 1930 और 1940 के दशकों के दौरान गैर ब्राह्मण काँग्रेसी सक्रिय रहे क्योंकि उन्हें यह महसूस होने लगा था कि स्वतंत्र भारत में काँग्रेस ही राज करेगी। कम्मा और कप्पू जैसे अग्रणी गैर ब्राह्मण समुदाय काँग्रेस समर्थक थे। काँग्रेस ने 1936 में मद्रास प्रेसिडेंसी में चुनाव जीते जो 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत हुए थे। इसके बाद सी. राजागोपालाचारी काँग्रेस की प्रांतीय सरकार के प्रीमियर नियुक्त हुए। यहीं से द्रविड़ आंदोलन ने जन्म लिया जिसका कारण कुछ स्कूलों में हिन्दुस्तानी को अनिवार्य विषय बनाया जाना था। *कुडी आरसू* विद्रोह और *जस्टिस* हिन्दी और हिन्दुस्तानी का 1920 के दशक से ही विरोध करते आ रहे थे जो उनकी दृष्टि से उत्तर की आर्य भाषाएं थी। इससे भाषा का मुद्दा गैर काँग्रेस दलों के लिए मोर्चाबंद होने का बहाना बन गया। इसके बाद 1938 में एक जबर्दस्त आंदोलन छिड़ गया। विरोधी राजनीतिक दलों ने प्रीमियर के घर के सामने धरना दिया। कुछ खास हाई स्कूलों के सामने जुलूस निकाले गए। इसके बाद कई सभाएं और प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों के दौरान सबसे उत्तेजक नारा यह लगाया जाता था: "ब्राह्मण राज खत्म हो" गृह विभाग ने 1939 में जो रिपोर्ट तैयार की थी उसके अनुसार इस आंदोलन के दौरान 536 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। लेकिन यह आंदोलन एक वर्ष बीतते-बीतते ठंडा पड़ गया। इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इसने सी.एन.अन्नादुरै जैसे प्रवीण संगठनकर्ता और आंदोलनकारी को जन्म दिया वहीं ई.वी.रामास्वामी को नवंबर 1939 में आयोजित तमिलनाडु महिला सम्मेलन ने 'पेरियार' की उपाधि दी। मद्रास प्रेसीडेंसी के

तमिल भाषी उत्तरी आरकोट, सालेम, त्रिचुरापल्ली, तंजौर, मदुरै और रामनाड जिलों को मिलाकर 1 जुलाई 1939 को एक द्रविडनाडु निर्माण दिवस मनाने की घोषणा की गई। "द्रविड़ों के द्रविडनाड़" का यह नारा असल में ब्राह्मणवादी राजनीतिक प्रभुत्व और तमिल संस्कृति में आर्यों के विचारों की घुसपैठ के खिलाफ प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति थी। हिन्दुस्तानी विरोधी आंदोलन द्वितीय विश्व युद्ध के चलते समाप्त हो गया। इसी बीच काँग्रेस ने भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ा और अंग्रेजों को युद्ध में सहायता देने से मना कर दिया। मगर दूसरी ओर ई.वी. रामास्वामी ने अंग्रेजों का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने क्रिप्स कमीशन से मुलाकात करके उसके सामने एक पृथक द्रविड़नाड की मांग रखी। उन्होंने इस विषय पर जिन्ना और अंबेडकर से मुलाकात की। लेकिन 1939-1944 के बीच अपने तमाम प्रयासों के बावजूद रामास्वामी को द्रविड़ कड़गम की स्थापना होने तक लोगों से कोई विशेष समर्थन नहीं मिल पाया। बारनेट ने इस काल की घटनाओं पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है: "द्रविड़ विचारधारा में आमूल परिवर्तन मुख्यत: 1930 के दशक में हुआ। लेकिन इसकी जड़ें ई. वी. रामास्वामी के प्रयासों में हैं जो 1924 में कुडी अरासू की स्थापना से शुरू हुए थे। तीस के दशक के दौरान काँग्रेस की बढ़ती लोकप्रियता, जो कि 1936 की चुनावी जीत से सिद्ध हो गई थी, और द्रविड़ आंदोलन में चरमपंथियों और मध्यमार्गियों के बीच मतभेदों के बावजूद 'द्रविड़' राजनीतिक पहचान प्रमुख बनी रही।

अभ्यास 2

क्या आप समझते हैं कि भाषा के आधार पर राज्य सही है? अपने सहपाठियों और मित्रों से इस पर चर्चा कीजिए और उसके निष्कर्ष को अपनी नोटबुक में लिखिए

12.4.1 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय

द्रविड़ कड़गम की स्थापना में 1944 सालेम में आयोजित जस्टिस पार्टी एक सम्मेलन में की गई थी। यूं तो रामास्वामी जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष 1938 से थे लेकिन हिन्दुस्तानी विरोधी आंदोलन के दौरान उन्हें जब जेल भेज दिया गया तो वे आंदोलन के लिए अपेक्षित जनसमर्थन नहीं जुटा पाए। मगर जस्टिस पार्टी के द्रविड़ कड़गम में बदल जाने से अन्नादुरै का पार्टी के राजनीतिक एजेंडे पर प्रभाव स्पष्ट हो गया। अन्नादुरै ने यह जान लिया था कि जस्टिस पार्टी का कोई जनाधार नहीं था क्योंकि उसे धनाढ्यों की पार्टी समझा जाता था। अन्नादुरै ने जनसाधारण में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं के जगाने का प्रयत्न किया जिसे द्रविड़ कड़गम की लोकप्रियता बढ़ी मगर भारत के स्वतंत्रता दिवस 15 अगस्त 1947 को रामास्वामी और अन्नादुरै में मतभेद गहरे हो गए। इसके फलस्वरूप द्रविड़ कड़गम में औपचारिक विभाजन हो गया। इस प्रकार अन्नादुरै के नेतृत्व में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) एक राजनीतिक दल के रूप में उभरा द्रविड़ कड़गम (डीएम) के लगभग 75,000 सदस्य उनके दल में शामिल हो गए। हालांकि दोनों दलों का एजेंडा वही रहा। सी. अनादुरै ने जब *आर्यन इल्यूजन* के नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की तो इससे उनकी राजनीतिक लोकप्रियता में बड़ी उछाल आई। बाद में भारत सरकार ने 1952 में इस पुस्तक को उत्तेजक और भड़काऊ बताकर प्रतिबंधित कर दिया गया।

12.4.2 सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा की भूमिका

जुलाई 1952 में कांग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री सी. राजगोपालाचारी ने सार्वजनीक प्राथमिक शिक्षा की योजना चालू की। इस योजना के तहत बच्चों को आधे दिन तक अपने स्कूलों में पढ़ाई करनी थी और शेष आधा दिन अपने पारंपारिक धंधों पर लगना था। इस पर डीएमके ने जातिगत शिक्षा का ठप्पा लगाया और एक जबर्दस्त आंदोलन छेड़ दिया। इस के साथ-साथ डीएमके ने त्रिची जिले के डालमियापुरम का नाम बदलकर कलाकुडी रखने की मांग भी की। इसकी मांग इसलिए उठाई गई क्योंकि डालमिया उत्तरी भारत के बड़े सीमेंट निर्माता थे। आजाद भारत में ये नई घटनाएं थीं जिनमें दक्षिण राज्यों में उत्तर के वर्चस्व को चुनौती दी जा रही थी। आंदोलन बड़ा उग्र और हिंसक था जिसमें नौ लोगों की मृत्यु हुई और सैकड़ों घायल हुए।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 12.04

इस काल में कांग्रेस के अंदर कामराज गुट भी तेजी से उभरा। ई.वी. रामास्वामी की सलाह पर कामराज 1954 में राज्य के मुख्यमंत्री बन गए। उन्हें रामास्वामी ने 'पक्का तमिझन' (सच्चा तमिल) कहा क्योंकि कामराज पिछड़ी जाति के थे। कामराज ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे और कांग्रेस के अन्य प्रतिष्ठित नेताओं की तरह धाराप्रवाह अंग्रेजी नहीं बोल पाते थे। उन्होंने 1954 से 1963 तक राज्य पर शासन किया और उन्हीं के शासनकाल में डीएमके ने अपना जनाधार बनाया।

इस आंदोलन में कई तमिल विद्वान शामिल थे। *मुरासोली, मामनाडू द्रविड़* और *मानराम* जैसे पार्टी समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन से तमिल साहित्य और भाषा में पुनर्जागरण का दौर आया। तमिल चेतना को फैलाने के लिए नाटक और अन्य लोक माध्यमों का प्रयोग किया गया। तमिलों की गरीबी और उनके मोहभंग को नाटकों के जरिए उजागर किया जाता था। ऐसे ही एक नाटक *परशक्ति* की रचना एम. करुणानिधि ने 1952 में की थी। इस नाटक में शिवाजी गणेशन जैसे कलाकार ने भूमिका निभाई थी। जनाकर्षण और जन संचार माध्यमों ने डीएमके की विचारधारा को घर-घर तक पहुंचाया। इन्हीं प्रभावों के तहत तमिल भाषा के मुद्दे ने 1965 में हिंसक मोड़ लिया।

12.4.3 भाषा का मुद्दा

यह अब तक बेहद जटिल हो चला था। यह मुद्दा अब डीएमके की तमिल भाषा के प्रति चिंता और तमिल के हिंदी, संस्कृत या अंग्रेजी के प्रति विरोध के दायरे से बाहर निकल चुका था। इसमें अब छात्र राजनीति के तत्व शामिल हो चुके थे। क्षेत्रीय पहचान ने उपराष्ट्रवाद का स्वरूप धारण कर लिया था। डीएमके का कहना था कि हिंदी भाषा क्षेत्र देश का एक छोटा सा हिस्सा भर है। एक क्षेत्रीय भाषा का वर्चस्व और सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए इसकी जानकारी अनिवार्य होने के कारण दक्षिण के छात्रों में भारी असुरक्षा की भावना घर कर गई। 26 जनवरी 1965 को हुए एक विरोध प्रदर्शन के दौरान डीएमके समर्थक एक छात्र ने आत्मदाह कर लिया। उसने कहा कि ऐसा वह हिंदी के विरोध में तमिल की बेदी पर अपने प्राण न्यौछावर करने के लिए कर रहा है। इसके बाद 12 फरवरी तक डीएमके के चार और समर्थकों ने भी आत्मदाह कर लिया। राज्य के छात्रों की नजर में ये आत्मदाह शहादत बन गई। डीएमके के नेता सी. अन्नादुरै ने हालांकि आत्मदाह की अन्य घटनाओं को राजनीति से प्रेरित बताते हुई इनकी भर्त्सना की लेकिन इन 'हिन्दी विरोधी शहीदों' ने छात्र नेतृत्व को वैधता प्रदान कर आंदोलन में व्यापक और खुली राजनीतिक भागीदारी के द्वार खोल दिए। इससे उत्साहित होकर तमिलनाडु छात्र हिंदी विरोधी आंदोलन परिषद् ने स्वतंत्र नजरिया रखने का फैसला कर लिया भले उसे डीएमके का समर्थन मिले या न मिले। पहली बार द्रविड़ सांस्कृतिक आंदोलन को डीएमके के बाहर से भी समर्थन मिला। कांग्रेस के कामकाज और डीएमके के अन्नादुरै दोनों ने कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व से राज्य के छात्र समुदाय को फिर आश्वस्त करने का निवेदन किया कि पंडित नेहरू ने 1963 में अंग्रेजी का सहभाषा का दर्जा जारी रखने का जो आश्वासन. दिया था उसे तोड़ा नहीं जाएगा। इस आंदोलन के दौरान मद्रास शहर में 900 और मदुरै में 200 गिरफ्तारियां की गईं। मद्रास में सरकार ने 15 फरवरी तक सभाओं पर प्रतिबंध तक लगा दिया।

आठ फरवरी को स्कूल और कॉलेज फिर से खोल दिए गए लेकिन छात्रों ने छात्र हिंदी विरोधी परिषद् के आह्वान पर कक्षाओं का बहिष्कार किया। उन्होंने अब अंग्रेजी भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में जारी रखने के लिए संविधान में संशोधन की मांग उठाई। 9 फरवरी को वकील भी उनके समर्थन में आंदोलन में कूद पड़े और उन्होंने अदालतों का बहिष्कार किया। इसके बाद फिर हिंसा भड़क उठी। त्रिची में एक बस फूंक दी गई, दो डाकघरों में तोड़-फोड़ हुई। अन्नादुरै की अपीलों को भी कोई नहीं सुन रहा था। 10 फरवरी से लेकर 12 फरवरी तक सरकारी भवनों, पुलिस थानों, ट्रेनों, बसों डाकघरों, कारखानों को लूटा और फूंक दिया गया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस हिंसा में लगभग 70 लोग मारे गए जिनमें पुलिस की गोली से मरे तीन बच्चे भी शामिल थे। हजारों लोगों को गिरफ्तार किया गया। एक करोड़ की संपत्ति नष्ट हुई।

असामाजिक और अराजक तत्व भी इस हिंसक आंदोलन में कूद पड़े। मदुरै में पुलिस के दो सिपाहियों को भीड़ ने पीट-पीटकर मार डाला। इन सब घटनाओं में डीएमके की भूमिका किसी से छिपी नहीं थी हालांकि सार्वजनिक तौर इसके नेता हिंसा की निंदा करते नहीं थकते थे। इस हिंसा ने डीएमके की लोकप्रियता पर स्वीकृति की मुहर लगा दी, मगर वहीं इसने डीएमके के पतन का रास्ता भी खोल दिया। डीएमके को अब यह एहसास हो चला था कि वह एक चरमपंथी एजेंडे को ज्यादा समय तक बरकरार नहीं रख सकता जो कि अलगाववादी प्रवृत्तियों को लेकर चल रहा था। इसलिए इसके नेताओं को राजनीतिक स्वायत्तता के मुद्दे पर अपने नजरिए में नरमी लाने के लिए बाध्य होना पड़ा। मगर वहीं उसने भाषा के मुद्दे को जीवंत बनाए रखने की जरूरत को अनदेखा नहीं किया, जिसका सबसे उपयोगी जरिया तमिल हितों की रक्षा था। इसके लिए उसने वकील जैसे समाज के कानून पसंद लोगों को अपने आंदोलन की गति को बनाए रखने के लिए शामिल किया। इन सभी घटनाओं के मद्देनजर तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने पं. जवाहर लाल नेहरू के आश्वासन को दोहराते हुए 11 फरवरी 1965 को एक राष्ट्रीय प्रसारण में कहा: "एक अनिश्चित काल तक मैं अंग्रेजी को सहयोगी भाषा के रूप में ही रखूंगा क्योंकि मैं नहीं चाहता कि गैर हिंदी प्रदेशों के लोग यह समझें कि उनके लिए उन्नति के कुछ दरवाजे बंद कर दिए गए हैं जब तक लोगों को जरूरत पड़ेगी मैं इसे एक वैकल्पिक भाषा बनाए रखूंगा और यह निर्णय मैं उन पर नहीं छोडूंगा जो हिंदी भाषी हैं बल्कि उन पर छोडूंगा जो हिंदी भाषी नहीं हैं।"

12.4.4 भाषा के मुद्दे पर भारत सरकार की नीति

भाषा के मुद्दे पर प्रधानमंत्री शास्त्री ने निम्न नीतिगत निर्णय लिए:

i) प्रत्येक राज्य अपना कामकाज अपनी पसंदीदा भाषा या अंग्रेजी में चला सकता है।

ii) अंतरराज्यीय संवाद अंग्रेजी में हो या उसके साथ प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध कराया जाए।

iii) गैर हिंदी राज्य केन्द्र सरकार से अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

iv) केन्द्रीय सेवाओं के लिए भर्ती परीक्षाएं हालांकि अंग्रेजी में ही होती थीं, लेकिन 1960 में हिंदी में भी परीक्षाओं की अनुमति दे दी गई। इस सिलसिले में शास्त्री ने गैर हिंदी भाषी छात्रों को आश्वस्त किया कि सरकार हर कीमत पर उनके हितों की रक्षा करेगी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) भाषायी जातीयता और राज्यों के पुनर्गठन पर पांच से दस पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

2) भाषा के मूद्दे पर डीएमके आंदोलन का वर्णन पांच से दस पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

....

प्रधानमंत्री शास्त्री के आश्वासनों से संतुष्ठ होकर हिंदी विरोधी आंदोलकारियों ने अपना आंदोलन 22 फरवरी को वापस ले लिया। इसके बाद आंदोलन के नेताओं ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि उनके एक

शांतिपूर्ण प्रदर्शन को असमाजिक-तत्वों ने अपने हाथ में ले लिया था। बहरहाल, इस आंदोलन ने राज्य में अपना राजनीतिक वर्चस्व बनाने के लिए डीएमके का रास्ता साफ कर दिया और 1967 में डीएमके चुनाव जीतकर राज्य में अपनी सरकार बना ली। डीएमके के शासनकाल में ही 27 नवंबर 1967 को लोकसभा में राजकीय भाषा अधिनियम 1963 की धारा 3 के लिए एक संशोधन विधेयक लाया गया। इस विधेयक में यह व्यवस्था की गई कि केन्द्र सरकार और गैर-हिंदी राज्य सरकारों के बीच कुछ खास कार्यों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग होगा। इस विधेयक ने हिंदी भाषी राज्यों को अंग्रेजी के प्रयोग को समाप्त करने की स्वतंत्रता भी दे दी। डीएमके हालांकि चिंतित थी लेकिन उसने विधेयक को इस शर्त पर अपना समर्थन देने का निर्णय किया कि वह बिना किसी परिवर्तन के पारित किया जाए। जिसका मतलब यह था कि यह अंग्रेजी के प्रयोग को संवैधानिक अनुमति दे।

12.5 पंजाबी सूबा आंदोलन

उत्तर भारत में सबसे महत्वपूर्ण भाषायी आंदोलन के सूत्र हमें 1919 में मिलते हैं जब इस वर्ष दिसंबर में केन्द्रीय सिख लीग गठित की गई थी। इसके बाद 1920 में शिरोमणी अकाली दल का गठन हुआ जिसका उद्देश्य सिखों के धार्मिक स्थलों गुरद्वारों की रक्षा करना था। लेकिन शीघ्र ही यह सिख समुदाय के हितों के लिए लड़ने वाला एक जुझारु धार्मिक-राजनीतिक संगठन बन गया। मगर 1946 तक इसकी राजनीति में सांप्रदायिक रुख बिल्कुल स्पष्ट हो चला था। *रैडक्लिफ एवार्ड* की तर्ज पर 18 अगस्त 1947 को पंजाब को सांप्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप संयुक्त पंजाब में जिन हिन्दुओं की संख्या सिर्फ 30 प्रतिशत थी वे अब बहुसंख्यक हो गए और कुल जनसंख्या में उनका प्रतिशत 70 पहुंच गया। इसी प्रकार अविभाजित पंजाब में सिखों की संख्या 15 प्रतिशत थी। लेकिन अब उनकी संख्या भी 30 प्रतिशत हो गई थी और विभाजित पंजाब में वे सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह बन गए। मुसलमानों की संख्या घटकर बहुत कम हो गई। नवगठित पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों के कारण दक्षिण-पूर्वी जिलों में हिंदुओं का और मध्य जिलों में सिखों का जमाव बढ़ गया। इसके फलस्वरूप शरणार्थियों के बीच होने वाले छोटे-मोटे साधारण से झगड़े और तनावों ने साम्प्रदायिकता का रंग ले लिया। बसे हुए सिखों और आप्रवासी आबादी के बीच शहरी और ग्रामीण विभाजन भी उत्पन्न हो गया। स्थानीय हिंदुओं को ऐसा महसूस होने लगा कि पहले के पंजाब से आए लोग उनका शोषण कर रहे हैं।

MAADHYAM IAS

पाकिस्तान से आए सिख और अधिकांश स्थानीय सिख अपनी जमीन से जुड़े थे। वे असल में ग्रामीण उद्यमी थे, अपनी मिट्टी से प्रेम करने के लिए प्रसिद्ध थे। सिख शरणार्थियों को विभाजन की मार सबसे ज्यादा झेलनी पड़ी थी। आसान पहचान होने के कारण उन्हें जान-माल का नुकसान सबसे ज्यादा उठाना पड़ा था। उनके अनेक गुरद्वारे और सांस्कृतिक केन्द्र पाकिस्तान में ही छूट गए। हिन्दू लोगों में शरणार्थी और मूल निवासी दोनों अमूमन व्यापारी थे, जिन्होंने कुछ परिश्रम करके अपने को फिर से बसा लिया। उनकी सांस्कृतिक जड़ें अक्षत थीं और वे एक अखिल हिंदू संस्कृति में आसानी से घुलमिल हो गए। विभाजन के शुरुआती दिनों में राजनीति उथल-पुथल भरी थी। जोतदार किसानों और शहरी सिखों ने कांग्रेस से नाता जोड़ लिया। अकाली दल के सिखों में राजनीतिक एकता लाने के तमाम प्रयास 18 मार्च 1948 को विफल हो गए जब सभी निर्वाचित सिख विधानसभा सदस्य कांग्रेस में शामिल हो गए। मगर अकाली नेतृत्व ने विधानसभा से बाहर सिख पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष करना नहीं छोड़ा। भारत के संविधान को जब आखिरी रूप दिया जा रहा था तो अकाली दल ने गुरुमुखी लिपि में पंजाबी भाषा को मान्यता देने और सिखों के हितों की रक्षा के लिए संवैधानिक उपाय करने की मांग रखी।

बॉक्स 12.05

मास्टर तारा सिंह के कहने पर 15 नवंबर 1948 को 23 अकाली विधायकों ने कहा कि अगर उनकी मांगों में पांच संवैधानिक उपायों को स्वीकार नहीं किया गया तो उन्हें सात जिलों को मिलाकर अलग प्रांत बनाने की अनुमति दी जाए जिसमें लुधियाना, फिरोजपुर, अमृतसर, गुरुदासपुर, जालंधर और होशियरपुर ये सात जिले शामिल हों। उन्होंने पंजाब सूबे का वैकल्पिक नारा दिया। अप्रैल 1949 में हुए एक सिख सम्मेलन ने पंजाब सूबे को अपना परम लक्ष्य बना दिया। संविधानसभा ने सिखों के लिए अलग निर्वाचक-मंडल और सीटों को आरक्षित करने की मांग को ठुकरा दिया। पंजाबी भाषा को स्वीकार करने के लिए पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री भीम सिंह सच्चर ने एक फार्मूला निकाला, जिसके अनुसार प्रांत को दो मंडलों में बांटा गया–हिंदी भाषी और पंजाबी भाषी।

पंजाबी मंडल की भाषा गुरुमुखी लिपि वाली पंजाबी और देवनागरी लिपि वाली हिंदी भाषा हिंदी मंडल के लिए तय की गई। मगर राज्य को द्विभाषी बनाने के लिए जरूरी था कि लोग दोनों भाषाएं सीखें। यहां पर यह फार्मूला गड़बड़ा गया। आर्य समाज द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों ने इस फार्मूले को मानने से मना कर दिया। शीघ्र ही सच्चर ने समर्थन खो दिया और राज्य से अकालियों का मोहभंग और गहरा हो गया।

मास्टर तारा सिंह ने 10 अक्तूबर 1949 को घोषणा की कि सिखों की संस्कृति हिन्दुओं से भिन्न है। सिखों की भाषा, उनकी परंपराएं और उनका इतिहास भिन्न हैं, उनके नायक अलग हैं, उनकी सामाजिक व्यवस्था भिन्न हैं। तो भला वे अपने लिए आत्मनिर्णय का अधिकार क्यों न मांगे। (*अकाली पत्रिका* 11 अक्तूबर 1949)।

12.5.1 एक पृथक भाषा भाषी राज्य

अकाली नेता मास्टर तारा सिंह ने जुलाई 1950 से पंजाबी बोलने वाले और गुरुमुखी लिपि में लिखने वाले लोगों के लिए पृथक भाषा भाषी राज्य बनाने की मांग करना शुरू कर दिया था। वह कश्मीर की तर्ज पर ही इस राज्य के लिए आंतरिक स्वायत्तता भी चाहते थे। अकाली दल कार्य समिति के सदस्य हरचरण सिंह बाजवा द्वारा दर्ज ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि 1931 से 1960 के बीच एक भाषायी राज्य की मांग के पीछे दरअसल डॉ. अम्बेडकर की सलाह थी। कुछ अकाली नेताओं के अनुसार डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें निम्न सुझाव दिया था:

अगर आप पाकिस्तान में रहते तो आप वहां अल्पसंख्यक बन जाते। संयुक्त पंजाब में आप सिर्फ दो तहसीलों को छोड़कर अल्पसंख्यक थे। ये तहसील भी एक दूसरे से जुड़े नहीं थे। उधर, पूर्वी पंजाब में भी आप अल्पसंख्यक हैं। अगर आप एक सिख राज्य की मांग करते हैं तो यह नक्कारखाने में तूती की आवाज होगी। आप पंजाबी भाषी राज्य की मांग क्यों नहीं करते? कांग्रेस तो भाषा के आधार पर राज्यों के पुर्नगठन के लिए प्रतिबद्ध है। इस मांग की पूर्ति को वह टाल तो सकते हैं लेकिन उसका लंबे समय विरोध नहीं कर सकते। आप 'पंजाबी सूबा' के नाम पर एक सिख राज्य पा सकते हैं।

MAADHYAM IAS

चेन्नई में हिन्दी विरोधी प्रदर्शन
साभार : सुन्दरम

बाजवा के अनुसार, इस सुझाव ने एक वास्तविक सिख राज्य का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस आंदोलन को हिंदुओं के विरोध ने और हवा दी। इसका परिणाम यह रहा कि 1951 की जनगणना में पंजाबी बोलने वाले अधिकांश हिंदुओं ने हिन्दी को ही अपनी भाषा बताया। शहरी हिन्दू पंजाबी ने सिखों की "पंजाबी

सूबे" की मांग के बदले में पंजाब, पेप्सु, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों को मिलाकर एक महा पंजाब बनाने की मांग रखी। मगर पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग में रहने वाले हिन्दू इस विचार से सहमत नहीं थे। वे अपना एक अलग राज्य चाहते थे।

अकाली दल ने पंजाबी सूबे के सीमांकन के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग को 18 पन्ने का एक ज्ञापन दिया। उसने ग्रामीण सिखों का समर्थन भी जुटाया जिसके लिए उन्होंने सिख राजनीतिक भागीदारी के लिए धर्माज्ञा का आह्वान किया। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अकाली दल की मांग को ठुकरा दिया। इसके बजाए पंजाब, पेप्सु और हिमाचल प्रदेश को एक प्रशासनिक इकाई में जोड़ने का फार्मूला रखा गया। मगर पंडित जवाहर लाल नेहरू के निजी हस्तक्षेप पर फरवरी 1956 को एक और क्षेत्रीय फार्मूला रखा गया:

i) इस फार्मूले के अनुसार, राज्य पुनर्गठन आयोग के विपरीत, हिमाचल प्रदेश को पंजाब से बाहर रखा जाना था। और पेप्सु को पंजाब में मिलाया जाना था।

ii) नए पंजाब राज्य की सीमाएं पंजाबी और हिंदी भाषी क्षेत्रों को मिलाकर बनाई जानी थीं और पंजाबी व हिंदी दोनों को राज्य की क्षेत्रीय भाषाओं का दर्जा दिया जाना था।

iii) पंजाब को एक द्विभाषी राज्य रहना था और पंजाबी (गुरुमुखी लिपि में) और हिंदी (देवनागरी लिपि में) राज्य की सरकारी भाषाएं बनने वाली थीं।

v) प्रशासनिक और विकास के उद्देश्य से दोनों क्षेत्रों के लिए दो क्षेत्रीय समितियों का गठन किया जाना था जिसके सदस्य दोनों क्षेत्रों के विधानसभा सदस्य और मंत्री होंगे। मगर प्रत्येक के मामले में अंतिम निर्णय राज्य मंत्रीमंडल के हाथों में होना था। क्षेत्रीय समितियों में मतभेद होने की स्थिति में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार राज्यपाल को था।

12.5.2 नेहरू-मास्टर तारा समझौता

इस फॉर्मूले के बाद जवाहरलाल नेहरू और मास्टर तारा सिंह के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार अकाली दल कांग्रेस में शामिल हो गया। अकाली दल की कार्य समिति ने 30 सितंबर 1956 को घोषणा की: "दल पंथियों के शैक्षिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक हितों की रक्षा और उनकी उन्नति पर ध्यान देगा।" मगर यह फार्मूला भी शहरी पंजाबी हिंदुओं की उम्मीदों में खरा नहीं उतरा, बल्कि उन्हें लगा कि इससे उनकी शक्ति, उनका सत्ताधिकार कम हो गया है। पंजाबी हिंदुओं ने गुरुमुखी लिपि में पंजाबी हिंदुओं को पंजाबी की शिक्षा देने का विरोध किया। हालांकि उनका हिंदी बचाओ आंदोलन दिसंबर 1957 तक ठंडा पड़ गया था लेकिन पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री प्रताप सिंह कैरों ने इसके परिणामों को भांप लिया। इसलिए उन्होंने 15 सितंबर 1958 को क्षेत्रीय फार्मूले को लागू ही नहीं किया। सो, मास्टर तारा सिंह ने पंजाबी सूबे की मांग दुबारा उठाई। उधर, बंबई के महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों में विभाजन ने इस मांग पर वैधता की मुहर लगा दी।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 3

नेहरू और मास्टर तारा समझौता संतोषजनक क्यों नहीं था? अपने सहपाठियों के साथ इस पर चर्चा करें और जो निष्कर्ष निकले उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लें।

बंबई के विभाजन के बाद पंजाब ही एक अकेला द्विभाषी राज्य बच गया था। इस नए समर्थन से उत्साहित होकर अकाली दल ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का चुनाव 'पंजाबी सूबे' के मुद्दे पर लड़ा। इस चुनाव में उसने 139 सीटों में 132 सीटें जीतीं। 22 मई, 1960 को अमृतसर में एक पंजाबी सूबा सम्मेलन बुलाया गया जिसमें एक अलग पंजाबी भाषी राज्य की मांग की गई। इस मांग को अब स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, सैफुद्दीन किचलू और पंडित सुंदर लाल जैसे सभी स्वतंत्रता सेनानियों ने समर्थन दिया। फिर मई 1960 में अलग पंजाबी राज्य के लिए एक आंदोलन छेड़ दिया गया। मास्टर तारा सिंह की गिरफ्तारी के बाद अकाली दल के उपाध्यक्ष फतेह सिंह ने नेतृत्व संभाल लिया। उन्होंने दावे से कहा कि वे एक पंजाबी भाषी राज्य चाहते हैं। सिखों में ज्यादातर हिंदू हैं या नहीं यह उनकी प्राथमिकता नहीं। इसके फलस्वरूप राजनीतिक समीकरण बदल गए। साम्यवादी अकालियों की मांग

का समर्थन करने लगे। इधर, कांग्रेस ने ग्रामीण सिखों में अपना जनाधार बढ़ा लिया था, उधर, जनसंघ भी शहरी हिंदुओं और शहरी सिखों के छोटे तबके में लोकप्रिय हो गया।

बॉक्स 12.06

पॉल ब्रास जैसे राजनीतिशास्त्री के अनुसार पंजाब में अभिजात वर्ग के उदय की प्रक्रिया ने ही पंजाब राज्य के आंदोलन को गति दी। इस दौर में अकाली दल में विभाजन भी हुआ। भारतीय राष्ट्र राज्य की सीमाओं के अंदर गठन पर मास्टर तारा सिंह और संत फतेह सिंह का नजरिया सही सिद्ध हुआ। 1962 में चीन के आक्रमण कर देने पर संत फतेह सिंह ने आंदोलन को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। मगर 1964 में कैरों और पंडित नेहरू की मृत्यु हो जाने के बाद आंदोलन फिर से उभरा। लाल बहादुर शास्त्री की सरकार ने पंजाबी सूबे की मांग का विरोध करना जारी रखा। शास्त्री सरकार से वार्ता असफल हो जाने के बाद संत फतेह सिंह ने 16 अगस्त 1965 को अकाल तख्त से घोषणा की कि अगर उनकी मांग पूरी नहीं की गई तो वे 10 सितंबर से आमरण अनशन करेंगे। उन्होंने इस मुद्दे को यह कहकर भावनात्मक बनाया कि अगर वह इस अनशन में 15 दिन तक जीवित रह गए तो वे पंद्रहवें दिन आत्मदाह कर लेंगे। मगर 5 सितंबर 1965 को भारत और पाक युद्ध छिड़ गया जिसमें सिखों ने अपने शौर्य और वीरता का एक बार फिर परिचय दिया।

भारत-पाक में युद्ध विराम होने के बाद केन्द्र सरकार ने पंजाबी सूबे की मांग पर विचार करने के लिए एक तीन सदस्यीय कमेटी गठित की। वाई.बी. चह्वाण, श्रीमती इंदिरा गांधी और महावीर त्यागी इस कमेटी के सदस्य नियुक्त किए गए। इस कमेटी की सहायता के लिए लोकसभा के अध्यक्ष सरदार हुकुम सिंह की अध्यक्षता में एक 22 सदस्यीय संसदीय समिति भी बनाई गई। जनवरी 1966 में शास्त्री की मृत्यु के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने कांग्रेस पार्टी की कार्य समिति की 9 मार्च 1966 को एक बैठक बुलाई। इस बैठक में एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें सरकार से एक पृथक पंजाबी भाषी राज्य बनाने का निवेदन किया गया था। इसके बाद 18 मार्च 1966 में संसदीय समिति ने भी इसी तर्ज पर प्रस्ताव पास किया। इन घटनाओं के बाद केन्द्र सरकार ने संसद में पंजाब राज्य के पुनर्गठन के लिए एक विधेयक रखा और न्यामूर्मि जे.सी. शाह की अध्यक्षता में पंजाब सीमा निर्धारण आयोग गठित किया। इस आयोग के अन्य सदस्य सुनिल दत्त और एम.एम. फिलिप थे। आखिरकार पहली नवंबर 1966 को राज्य को पंजाब और हरियाणा में विभाजित कर दिया गया। नवगठित राज्य में पूर्ववर्ती पंजाब राज्य का 41 प्रतिशत भाग और 55 प्रतिशत जनसंख्या थी। अब इसमें बहुसंख्य जनसंख्या सिख थी। भारत सरकार ने चंडीगढ़ को केन्द्रशासित बनाकर उसके साथ-साथ भाखड़ा और ब्यास बांध परियोजनाओं पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। बहरहाल, अकाली नेतृत्व की अधिकांश आपत्तियां दूर हो गईं और अब ग्यारह जिलों में आठ में सिख बहुसंख्यक थे।

MAADHYAM IAS

मगर भाषायी जातीयता के आधार पर पंजाब के पुनर्गठन से कई समस्याएं अनसुलझी रह गईं। जैसे, इस प्रक्रिया में कई पंजाबी भाषी क्षेत्र छूट गए। इसके अलावा इसने चंडीगढ़, नदियों के पानी के बंटवारे, अबोहर और फजिलका जैसे विवादों को जन्म दिया जिनके चलते 1980 के बाद कई विकराल समस्याएं उठ खड़ी हुई जो अभी तक नहीं सुलझ पाई हैं। पंजाब के उदाहरण से हम यहां यह कह सकते हैं कि भारत में भाषायी जातीयता को धार्मिक, जाति और अन्य जातीयताओं के पूरक के रूप में प्रयोग किया गया है। इसने पुनर्गठन के एकनिष्ठ सिद्धांत के रूप में यहां कभी कार्य नहीं किया है।

12.6 भारत में अन्य भाषायी जातीयता आंदोलन

सुरेन्द्र गोपाल के अनुसार दसवीं सदी तक भारत में बुनियादी राष्ट्रीयताएं विकसित हो चुकी थीं। जैसे: असमी, ओड़िया, आंध्रा, पंजाबी, गुजराती, मराठा, बंगाली, कन्नडिगा, तमिल, मलयाली इत्यादि। वे कहते हैं कि ये राष्ट्रीयताएं उत्तर में यमुना-गंगा दोआब और मध्य भारत में बसीं थीं। ये राष्ट्रीयताएं अपने प्रादेशिक राज्यक्षेत्रों के अनुरूप शक्तिशाली भाषाई-जातीय समूह के रूप में उभरी। गंगा-यमुना दोआब को आर्यावर्त कहा जाता था, जहां में बृज, अवधि, भोजपुरी, मैथिली और छत्तीसगढ़ी भाषाएं विकसित हुईं। राजनीतिक दृष्टि से आर्यावर्त का हमेशा महत्वपूर्ण स्थान रहा। मगर इसने एक शक्तिशाली जातीय-भाषाई पहचान का स्वरूप कभी धारण नहीं किया। भाषा आंदोलन सिर नहीं उठा पाया क्योंकि स्थानीय भाषाओं

को शाही संरक्षण नहीं मिला। कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी, विद्यापति तुलसी और सूरदास जैसे संतों ने सूफी-संत परंपरा बना कर स्थानीय भाषाओं को जीवंत बनाए रखा। जातीय-भाषाई राष्ट्रीयताएं मुगल सम्राट के शासनकाल में फूली-फलीं। अकबर ने अपने साम्राज्य की सीमाएं अजमेर, लाहौर, गुजरात, बिहार, बंगाल इत्यादि प्रांतों में बढ़ाई। इस काल में राजपूत और जाट जातीय-भाषाई समूहों ने अपनी पहचान बनाई। उधर, शिवाजी के नेतृत्व में मराठा पहचान भारतीय प्रायद्वीप में मुगलों के आक्रमण के प्रत्युत्तर में विकसित हुई। इसी प्रकार कन्नड़ और तेलुगु पहचान बीजापुर और गोलकुंड राज्यों के अधिग्रहण के समय उभरी। पंजाब, बंगाल और मैसूर में शक्तिशाली जाती-भाषाई राष्ट्रीयताएं 18वीं सदी के अंत में विकसित हुईं। मुख्यत: इसी कारण से ब्रिटिशकालीन भारत में दो सबसे शक्तिशाली आंदोलन बंगाल और पंजाब में हुए। ये दोनों आंदोलनों के मूल में क्षेत्रीय आकांक्षाएं थीं। व्यापक स्वीकृति और वैधता पाने के लिए इन आंदोलनों ने राष्ट्रीय व स्वदेशी जामा पहना। पंजाबी जाटों को अंग्रेजों से लड़ने के लिए प्रेरित करने के लिए "पगड़ी संभालो जट्टा" जैसा नारा भाषाई एकात्मत्ता का प्रतीक था। इस भाषाई-जातीय एकात्मता ने हिंदू-मुस्लिम और सिखों को अपने आंचल में समेट लिया। पंजाबी राष्ट्रीयता के चलते ही अमेरिका में गदर पार्टी जैसा शक्तिशाली संगठन बना। इस काल में एक पृथक पंजाबी राष्ट्र राज्य की मांग कुछ समय तक उठी। इसी दौर में यूनियनिस्ट पार्टी ने ब्रिटिश सरकार की सहायता से पंजाब में अपनी सरकार बनाई। सिख जातीयता ने अपनी पहचान अकाली दल के नेतृत्व में बनाई। उधर, मुस्लिम जातीयता का विकास उर्दू के माध्यम से हुआ, जिसे धार्मिक और राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने के लिए संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग किया गया।

12.6.1 राज्यों का पुनर्गठन

स्वतंत्र भारत में भाषायी बंधुता के सिद्धांत पर राज्यों का जो पुनर्गठन हुआ उसने विशाल क्षेत्रीय प्रांतों को टुकड़ों में बांट दिया। मद्रास और मध्य प्रांत इसके उदाहरण हैं। इसी पैटर्न पर छोटे-छोटे राज्यों को जोड़कर एक किया गया, जैसे मध्य भारत, पटियाला और पूर्वी पंजाब को जोड़ा गया। मगर इस प्रक्रिया ने नवोदित प्रजातंत्र के विभिन्न अंचलों में भाषाई विद्वेष और तनाव को भी जन्म दिया। भाषाई राष्ट्रीयता की मांग के चलते ही बंबई का विभाजन महाराष्ट्र और गुजरात में हुआ, पंजाब का हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और पंजाब में हुआ।

MAADHYAM IAS

आंचलिक और भाषाई एकता के चलते ही क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय हुआ। डीएमके, तेलुगुदेशम, अकाली दल, असम गण परिषद, महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल, गोरखा नेशनल लिबरेशन फ्रंट, झारखंड मुक्ति मोर्चा इत्यादि सभी दल प्रांतीय जातीय-भाषाई राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं। भाषाई राष्ट्रीयता के अंतरराष्ट्रीय पहलू बारंबार यही बताते हैं कि भारत ने भाषाई विविधता के मुद्दों को सफलतापूर्व सुलझा लिया है। मगर ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य में गहराई से विश्लेषण करने से पता चलता है कि अगर अतीत में ये भाषाई आंदोलन हिंसक और उग्र थे तो कुछ क्षेत्रों में आज भी इसकी प्रबल अंतरधाराएं विद्यमान हैं।

12.7 जनजातीय भाषाई आंदोलन

वर्ष 1961 की जनगणतना के अनुसार, भारत में प्रचलित 1965 मातृभाषाओं में लगभग 500 भाषाएं जनजातीय अंचलों में बोली जाती हैं। संथाली, गोंडी और खासी इनमें सबसे बड़ी भाषाई समूह हैं। भारत के जनजातीय भाषाई समूहों को तीन वर्गों में बांटा गया है: (i) द्रविड़ (ii) ऑस्ट्रिक (iii) तिब्बती-चीनी। राज्य के ढांचे के पुनर्गठन की प्रक्रिया में जनजातीय भाषाओं की विविधता दब जाती है। उड़ीसा में भाषा की स्थिति की विस्तृत व्याख्या से यह स्पष्ट किया जा चुका है। उड़ीसा राज्य में 1961 की जनगणना के अनुसार उड़िया बोलने वाले लोगों की संख्या मात्र 1.5 करोड़ थी। वर्ष 1981 में हुई जनगणना में उड़ियाभाषी लोगों की भाषा की संख्या बढ़कर 3 करोड़ हो गई थी। जबकि खाड़िया और भूमिजी भाषी लोगों की संख्या (1961 और 1971 जनगणना के अनुसार) 1.4 लाख ओर 91,000 से घटकर 1981 की जनगणना में क्रमश: 49,000 और 28,208 रह गई थी। यह आश्चर्यजनक है कि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में एक भी आदिवासी भाषा को मान्यता नहीं दी गई है, हालांकि भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा इन भाषाओं को बोलता है। जैसे संथाली को 36 लाख लोग, भीली भाषा को 12.5 लाख लोग,

लाम्मी भाषा को 12 लाख लोग बोलते हैं। संविधान की आठवीं अनुसूची ने अनजाने में भाषाओं की जो क्रम-परंपरा स्थापित की है और त्रिभाषीय सूत्र के तहत राजकीय भाषा को राज्य से जो संरक्षण मिला है उसने हमारी मातृभूमि के मूल निवासियों को अलग-थलग कर दिया है। आदिवासियों में बढ़ती साक्षरता और शिक्षा से उनमें अपनी जातीय विशिष्टताओं को लेकर चेतना भी बढ़ रही है। इस जागरुकता के फ़लस्वरूप उनमें कुछ महत्वपूर्ण भाषाई-जातीयता के आंदोलन खड़े हुए हैं। हम यहां उनमें से सिर्फ तीन आंदोलनों के बारे में बता रहे हैं।

12.7.1 संथाली भाषा आंदोलन

संथाली पहचान के आंदोलनों का सिलसिला 19वीं सदी में खेरवाड़ आंदोलन से शुरू हुआ था। दरअसल यह सामाजिक गतिशीलता का आंदोलन था जिसके जरिए संथाल लोग वृहत्तर हिंदू जनसंख्या के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहते थे। उन्होंने हिंदू संस्कृति की विशेषताएं अपना ली और जनेऊधारी बन गए। जनेऊधारी संथालों ने अपने आपको गैर-जनेऊधारियों से अलग कर लिया और दोनों में आपस में विवाह बंद हो गए। मगर 1938 में *आदाबासी* आंदोलन ने संथाल परगना में मजबूत स्वरूप गृहण कर लिया। इस आंदोलन के तहत संथाल लोग छोटा नागपुर के मूल आदिवासियों के लिए एक पृथक प्रांत और स्कूलों में संथाली और अन्य मूल जनजातीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की मांग की। रगनाथ मुर्मु ने झारखंड आंदोलन के हिस्से के रूप में जनजातीय एकता को दर्शाने के लिए *सरना धोर्मा समलेट* शुरू किया था। यह संगठन मूल संथाली लिपि और धर्म ग्रंथों को प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील रहा। अब एक महानायक भी खोज लिया गया जिसको *गुरु गोमके* कहा गया। ये गुरु खेरवाड़ बीर के मूल रचियता माने जाते हैं। खेरवाड़ बीर महाभारत के ही समान है। सिंधी और कश्मीरी जैसे भाषाई समूहों से बड़े संथाल लोग अपनी जातीय पहचान को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मगर उनका आंदोलन भी दो गुटों में बंटा है। एक गुट ईसाई बने संथाल लोगों का है जो संथाली के लिए रोमन लिपि की मांग करता है। दूसरा गुट *अल चिकि संथाली* का समर्थक है। झारखंड आंदोलन के नेताओं ने इन मतभेदों को दबाए रखने की कोशिश की ताकि पृथक राज्य की मांग को मजबूती मिल सके। संथाली को अब प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है लेकिन संविधान की छठी अनुसूची में उसे अभी तक स्थान नहीं मिल पाया है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.7.2 मिशिंग लोगों का भाषा आंदोलन

अरुणाचल प्रदेश के सियांग और सुबंदश्री जनपदों के मूल वासी मिशिंग या मिरी लोग असम की दूसरी सबसे बड़ी अनुसूचित जनजाति हैं। इनकी संख्या लगभग तीन लाख है। मिशिंग लोगों ने अपनी पारंपरिक सीमाओं और मूल बोली की रक्षा प्रचंडता से की है। वर्ष 1968 में शिक्षित मिरी लोगों के एक समूह ने मिशिंग अगम केबंग का गठन किया। मिशिंग में इसका अर्थ मिशिंग भाषा संगठन है। इस संगठन ने अपनी भाषा के लिए रोमन लिपि को अपनाया। असम सरकार ने शुरू में मूल मिशिंग लोगों के इस आंदोलन का विरोध किया, लेकिन बढ़ते दबाव के कारण उसे अब झुकना पड़ा है। मिशिंग भाषा को प्राथमिक विद्यालयों में शुरू करने के प्रयास किए जा रहे हैं और असम सरकार सिद्धांतत: मिशिंग बहुल विद्यालयों में मिशि पढ़ाने के लिए अध्यापकों की नियुक्ति के लिए सहमत हो गई है।

12.7.3 जैंतिया लोगों की जातीय-भाषाई अपेक्षाएं

खासी जनजातीय लोगों द्वारा बोली जाने वाली खासी भाषा को जब स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बना दिया गया तो 1975 में गठित जैंतिया भाषा और साहित्य संगठन भी सक्रिय हुआ। रोमन लिपि में लिखी जाने वाली जैंतिया भाषा को जैंतिया भाषी लोगों का छोटा सा समूह ही बोलता है। संगठन को लगा कि उनकी भाषा इसी दायरे में सिमट के रह जाएगी इसलिए उसने अपनी भाषाई पहचान को प्रतिष्ठित करने का प्रयास आरंभ कर दिया। यह संगठन जैंतिया भाषा में नियमित रूप से साहित्यिक सम्मेलन आयोजित करता है, वादविवाद को बढ़ावा देता है और निबंध लेखन प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है। यह जैंतिया भाषा में साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन भी करता है।

स्वतंत्र भारत में अनेक जनजातीय पुनर्जागरण आंदोलन हुए हैं। आदिवासी हितों की ओर इसलिए ध्यान नहीं दिया गया कि आदिवासी लोग एक शक्तिशाली दबाव समूह नहीं थे। हम कह सकते हैं कि विकास और वंचना दोनों को जातीय-भाषाई आंदोलनों को गति देने का श्रेय जाता है। साक्षरता, गतिशीलता, राजनीतिक भागीदारी जैसे कुछ महत्वपूर्ण कारकों ने लोगों में अपनी विशिष्ट पहचान के प्रति जागरुकता पैदा कर दी है। आंचलिक स्वायत्तता की आकांक्षाएं राजनीतिक चेतना के स्तर से सीधी जुड़ी होती हैं। अलग गोरखालैंड, बोडोलैंड, झारखंड जैसी मांगों ने जो मुद्दे उठाए हैं वे इसी दिशा में संकेत करते हैं। ये आंदोलन भारतीय राष्ट्र राज्य के संघीय ढांचे में अधिक स्वायत्तता और आंचलिक सत्ताधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न हैं। मिजो यूनियन (1946), नागा नेशनल काउंसिल (1946), ईस्टर्न ट्राइबल काउंसिल (1952), एपीएचएलसी (1960) जैसे जनजातीय संगठनों के उदय को व्याख्या मध्यम वर्गीय आंदोलनों के रूप में की जाती है। मिजो फ्रीडम मूवमेंट (1940), मिजो नेशनल फ्रंट (1961) जैसे संगठन अपनी मांग को उठाने में राजनीतिक रूप से अधिक प्रखर थे।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाबी सूबा आंदोलन क्या था? इसके बारे में पांच से दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) एक उदाहरण देकर पांच से दस पंक्तियों में जनजातीय भाषाई आंदोलनों के बारे में समझाइए।

....

....

....

....

....

12.7.4 भाषा और संस्कृति

अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए नेतृत्व भाषा और संस्कृति के मुद्दों को साथ लेकर चलता है। इसके फलस्वरूप अक्सर सामूहिक पहचान बन जाती है। यही सामूहिक पहचान और एकात्मकता प्रतिष्ठित होकर एक पृथक क्षेत्रीय इकाई की मांग में परिवर्तित हो जाती है। गोरखाली, कुमराली और संथाली भाषाओं का एक कार्याधार के रूप में विलय और झारखंड आंदोलन इस स्थापना का एक अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार खसकुरा, जिसे जीएनएलएफ ने गोरखाली भाषा की मान्यता दे दी है, नेपाली मूल की विभिन्न बोलियों का एक मिश्रण है। इसी तरह कुरमाली और कुरुली शुरू में मौखिक बोलियां थीं जिन्हें झारखंड आंदोलन के दौरान ही अपनी लिपि मिली और दोनों को एक किया गया। यहां एक बात महत्वपूर्ण है कि क्षेत्रीय आंदोलनों को अक्सर नकारात्मक और विभाजनकारी माना जाता है। मगर इस वास्तविकता को समझने का प्रयास नहीं किया जाता इन क्षेत्रीय भाषाई आंदोलनों ने ही अभी तक सिर्फ मौखिक परंपराओं में ही उपलब्ध समृद्ध विरासत को एक ठोस स्वरूप दिया है।

12.8 भाषा आंदोलन के मूल कारण

प्रत्येक जातीय-भाषाई समुदाय अपने इर्दगिर्द एक सुरक्षा कवच बनाने का प्रयास करता है। अपनी विरासत को लुप्त होने से बचाने का बीड़ा वह खुद उठाता है। उसे अगर कोई खतरा महसूस होता है तो वह संगठित होकर विरोध आंदोलन छेड़ देता है। जातीयता की अभिव्यक्ति के रूप में क्षेत्रीय भाषाई आंदोलन तभी खड़े होते हैं जब उन्हें निम्न कारणों से अपनी अस्मिता को खतरा हो जाए:

i) राजकीय भाषा के रूप में हिंदी को मान्यता मिलना। छोटे भाषाई समुदायों में यह आशंका घर कर गई कि सरकार के इस कदम से उनके समुदाय के सदस्यों को सरकारी नौकरियां मिलने की संभावनाएं कम हो जाएंगी। इसके फलस्वरूप सरकारी मामलों में उनकी आवाज नहीं सुनी जाएगी।

ii) सत्ता पर काबिज मध्यम वर्ग के अभिजात लोगों ने सरकारी कामकाज में अंग्रेजी के प्रयोग को जारी रखने की पैरवी की। इस द्विभाषावाद के चलते सरकारी नौकरी के अवसर उन लोगों के लिए और संकुचित हो गए जो सिर्फ हिंदी या अंग्रेजी भाषा जानते थे।

iii) इसके फलस्वरूप उत्तर-दक्षिण के बीच विभाजन की खाई पैदा हो गई क्योंकि आजादी के बाद के नेतृत्व ने अपने आपको अमूमन उत्तरी भारत के साथ ही जोड़कर रखा। इसका मुख्य कारण यह था कि एक अकेले राज्य के विशाल आकार के कारण हिंदी के साथ इसके जुड़ाव को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया। दक्षिण भारत में हिंदी विरोधी आंदोलन हिंदी के प्रभुत्व को आर्यों और ब्राह्मणवादी सांस्कृति वर्चस्व के प्रतीक के रूप में देखता है।

iv) बड़े-बड़े दावों और संविधान के अनुच्छेद संख्या 350, 29.1, 344(I), 345, 346 और 347 के अंतर्गत भाषाई अल्पसंख्यकों और भाषाओं को सुरक्षा का प्रावधान होने के बावजूद अल्पसंख्यकों की भाषा संबंधी मांगों की उपेक्षा की जाती है। संविधान के अनुच्छेद 350(a) के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार को चाहिए की प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था मातृभाषा में करे। मगर जिला प्रशासन और शैक्षिक सशक्तीकरण के स्तर पर यह धारणा अभी तक कायम है कि इस तरह के प्रयास भारतीय राष्ट्र को तोड़ेंगे। इनसे निजी जातीय-भाषाई अपेक्षाओं को प्रोत्साहन मिलेगा और व्यक्ति मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ जाएगा। इसके अलावा यह आशंका भी रहती है कि स्थानीय बोली-भाषा में शिक्षा मिलने से लोग ऊंची और अच्छी शिक्षा प्राप्त करने से वंचित हो जाएंगे। खुद संविधान में भाषा को लेकर अस्पष्टता है। इसका अनुच्छेद 350 अलग-अलग भाषाओं को सम्मान देने की बात करता है, वहीं अलग अनुच्छे 351 कहता है कि सरकारी कामकाज में हिंदी को तरजीह मिलनी चाहिए। इस तरह के अस्पष्ट और भेदभावपूर्ण प्रावधानों ने भारत में भाषाई संघर्षों को बढ़ावा दिया है।

MAADHYAM IAS

12.9 सारांश

पिछले तीन दशकों से भारतीय राज्य को किसी भी गंभीर भाषाई संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत के भाषाई द्वंद्वों को सफलतापूर्वक शांत कर दिया गया है। वे अब भारत की राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए खतरा नहीं हैं। स्वतंत्रता के पश्चात विशेषकर 1947-1967 के दौर में अनेक भाषायी संघर्ष हुए। देश की काफी राजनीतिक ऊर्जा इन्हीं विवादों को सुलझाने में चुक गई। आज भी इस मुद्दे पर हिंसा की छिटपुट घटनाएं होती रहती हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश की तत्कालीन सरकार ने जब उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया तो प्रतिक्रिया में 28 सितंबर 1989 को बदायूं में सांप्रदायिक दंगा भड़क उठा। भाषा और जातीयता में घनिष्ठ संबंध है। भाषा को जातीय एकता का प्रतीक माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिकीकरण की शक्तियों और स्पर्धी समाज की कठोर अपेक्षाओं और आवश्यकताओं ने निजी मातृभाषा की प्रकार्यात्मक महत्ता को कमजोर कर दिया है, मगर सामुदायिक विशिष्टताओं के रूप में उनका महत्व अब भी उतना ही ज्यादा है। भाषा के मुद्दों को लेकर राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम रह गया है। असल में सामंजस्य की नीति इस

मामले में बड़ी कारगर साबित हुई है। लेकिन अंत में यहां एक सावधानी बरतने की जरूरत है जैसा कि रॉबर्ट डीकिंग ने स्पष्ट कहा है, "भाषाई समस्याएं वैसी नहीं होती जिस रूप में वे हमें दिखाई देती हैं बल्कि वे अक्सर उन इरादों या एजेंडों को छिपाने के लिए छद्मावरण का काम करती है जिनका भाषा और भाषा विज्ञान से बड़ा कच्चा संबंध होता है"।

यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि दक्षिण भारत में भाषाई आंदोलन जाति वर्चस्व और शोषण की प्रतिक्रिया में हुए थे। इसी प्रकार पंजाबी सूबा आंदोलन की जड़ें सिख पहचान में थीं। इसी तरह जनजातीय भाषाई आंदोलन के मूल में जातीयता, पहचान और अस्मिता के सवाल जुड़े थे। भाषायी जातीयता से हालांकि भारत को कोई खतरा नहीं है मगर जातीय रचना में इसकी सक्रिय स्थिति को कभी अनदेखा भी नहीं किया जाना चाहिए।

12.10 शब्दावली

जातीयता : लोगों की एक विशिष्ट श्रेणी है जिन्हें हम उनकी संस्कृति, धर्म, नस्ल या भाषा के आधार पर अलग पहचान सकते हैं।

भाषाई : इसका संबंध लोगों के एक वर्ग विशेष की भाषा से है जिसके क्षेत्र विशेष की संस्कृति के लिए निहितार्थ होते हैं।

आधुनिकीकरण : यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके जरिए कोई संस्कृति या समाज सामाजिक और प्रौद्योगिकी की दृष्टि से अधिक उन्नत होता है जिसमें समाज के कई तबकों के लिए बेहतर आजीविका सुनिश्चित रहती है।

12.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

MAADHYAM IAS

बार्नेट, रॉस मारगरेट, 1976: *द पॉलिटिक्स ऑफ कल्चरल नेशनलिज्म इन साउथ इंडिया;* न्यू जर्सी, प्रिंस्टन यूनि. प्रेस

गुप्ता, आर.एस., ऐविटा अब्बी, कैलाश, एस. अग्रवाल (संपा.) 1995, *लैंग्वेज ऐंड द स्टेट: परसेपिक्टिव ऑन द ऐड्थ शेड्यूल,* नई दिल्ली, क्रिएटिव बुक्स

किंग, रॉबर्ट डी. 1997 *नेहरू ऐंड लैंग्वेज पॉलिटिक्स इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

कृष्णा सूरी, 1991, *इंडियाज लिविंग लैंग्वेज,* नई दिल्ली, एलाएड पब्लिशर्स

उर्सचिक यूजीन, 1969, *पॉलिटिक्स ऐंड सोशल कनफ्लिक्ट इन साउथ इंडिया: द नॉन ब्रालिनिकल मूवमेंट ऐंड तमिल सेपरेशन* बर्कले, यूनि ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।

12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाषाई सीमाओं के अनुरूप राष्ट्र-राज्यों की अवधारणा का जन्म 19वीं सदी में हुआ। मगर भारत में इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया गया। भारत की स्वतंत्रता से पहले राज्यों की सामाएं भाषाई सिद्धांत पर नहीं चलती थीं। स्वतंत्रता के बाद भाषा का मुद्दा और राज्यों के पुनर्गठन पर गंभीरता से विचार हुआ। मगर यहां यह बात ध्यान रखी जानी चाहिए कि राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन के मूल में जातिगत और सामुदायिक अकांक्षाएं भी निहित थीं ताकि वे अपनी स्थिति को बेहतर बना सकें। आज के भारत में अनेक राज्य ऐसे हैं जिनका गठन भाषा के आधार पर हुआ था और जो राज्य के भीतर काम-काज चलाने के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं।

2) भारत में उत्तर और दक्षिण के बीच भाषाई जातीयता विभाजन सदियों पुराना है। उर्सचिक के अनुसार इसकी जड़ें जातिगत राजनीति में विद्यमान हैं। द्रविड़ कड़गम के नेताओं में जब स्वतंत्रता दिवस को लेकर मतभेद उभरे तो कुछ नेताओं ने उससे अलग होकर डीएमके (द्रविड़ मुनेत्र कड़गम) का गठन किया। कालांतर में डीएमके ने तमिल साहित्य को जोड़ा और तमिल चेतना को जागृत करने कि लिए तमिल भाषा में पुस्तकें, पार्टी-पत्र और पत्रिकाएं छापीं। डीएमके की विचारधारा समूचे मद्रास में फैली। वर्ष 1965 के आते-आते भाषा के मुद्दे में छात्र राजनीति प्रवेश कर गई। क्षेत्रीय पहचान ने जोर पकड़ लिया और राजनीतिक बहकावे में आकर छात्रों ने इस मुद्दे पर आत्मदाह किए। डीएमके के नेताओं ने हिंसा की खुले में भर्त्सना की मगर भाषा के मुद्दे पर छात्र हिंसा को वह समर्थन देती रही। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप भाषा और केन्द्र तथा राज्य में उसके प्रयोग को लेकर एक सरकारी नीति बनी।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाबी सूबा आंदोलन एक पंजाबी भाषी राज्य की स्थापन के लिए हुआ था। इसकी मांग सबसे पहले 1919 में उठी थी और जो 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी जा रही। सिख राज्य के बजाए पंजाबी भाषी राज्य की सलाह डॉ. भीमराव अंबेडकर ने दी थी। उनका कहना था कि पंजाबी भाषा के जरिए पंजाबी सूबा के नाम से एक सिख राज्य बनाया जा सकता है। वर्ष 1966 में पंजाब राज्य को पंजाब और हरियाणा में विभाजित कर दिया गया।

2) जनजातीय लोगों में साक्षरता के बढ़ने से उनमें अपनी जातीय विशिष्टताओं की चेतना भी बढ़ी। उदाहरण के लिए जैंतिया लोगों ने 1975 से साहित्य गोष्ठियों और साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन करके अपनी जातीयता को प्रतिष्ठित किया। साहित्यिक गतिशीलता और राजनीतिक भागीदारी के माध्यम से उन्होंने अपनी विशिष्ट जातीय पहचान को स्थापित किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

संदर्भ

कोनर, डब्लू. (1978) "एथनो-नेशनल वर्सस अदर फार्म्स ऑफ ग्रुप आइडेंटिटी: द प्रॉब्लम ऑफ टर्मिनॉलजी", एन. रुडी (संपा०) इंटरग्रुप एकोमोडेशन इन प्लुरल सोसाइटीज, लंदन, मैकमिलन

कोर्नेल, स्टीफन और डगलस हटमैन, (1998) *एथनिसिटी ऐंड रेस : मेकिंग आइडेंटिटीज इन ए चेंजिंग वर्ल्ड*, नई दिल्ली, पाइन फोर्ज प्रेस

डोलार्ड जे. (1937) *कास्ट ऐंड क्लास इन ए सदर्न टाउन*,न्यू यार्क, डबलडे

आइजनस्टैड, एस.एन. (1973) *कास्ट ऐंड क्लास इन ए सदर्न टाउन*, न्यू यार्क, डबलडे

फर्निवाल, जे. एस.(1973) *ट्रेडिशन, चेंज ऐंड मॉडर्निटी*, न्यू यार्क, जॉन वाइले ऐंड ऐंस

फर्निवल,जे-एस., (1942) "द पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ द ट्रॉपिकल फार ईस्ट," *जनरल ऑफ द रॉयल सेंट्रल एशियन सोसाइटी*, 29, 195, 210

गैस्टिल, आर.डी. (1978), "द राइट टु सेल्फडिटर्नमिनेशन : डेफिनिशन, रिएलिटी ऐंड आइज्यिल पॉलिसी" ,एन. रूडी(संपा०) *इंटरग्रुप एकोमोडेशन इन प्लुरल सोसाइटीज* लंदन मैकमिलन

गीत्ज. सी., (संपा०) 1963 *ओल्ड सोसाइटीज ऐंड न्यू स्टेटस*, न्यू यॉर्क, फ्री प्रेस

गेलजर, अर्नेस्ट (1983) *नेशंस ऐंड नेशनलिज्म* इथैका, कोर्नेल यूनि० प्रेस

ग्लेजर, नैथन (1975) *एफर्मेटिव डिस्क्रिमिनेशन: एथनिक इनइक्वैलिटी ऐंड पब्लिक पॉलिसी*, न्यू यार्क, बेसिक बुक्स

हेडन, जी०, (1983) *नो शॉर्टकट्स टु प्रोगेस*, लंदन, हाइनमैन

केर, क्लार्क *एट ऑल* (1960) इंडस्ट्रियलाइजेशन ऐंड इंडस्ट्रियल मैन: द प्रॉब्लम ऑफ लेबर ऐंड मैनेजमैंट इन इकॉनमिक ग्रोथ, मैसाचुसेट्स, हारवर्ड यूनि० प्रेस

कूपर एल और एम. जी. स्मिथ (संपा.) 1969 *प्लुरलिज्म इन अफ्रीका*, बकेले, यूनि० ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस

मैकक्रोन, आई. डी. (1937) *रेस ऐटीट्यूड्ज इन साउथ अफ्रीका: हिस्टोरिकल, एक्सपेरिमेंटल ऐंड साइकोलाजिकल स्टडीज*, लंदन, आक्सफर्ड यूनि० प्रेस

मर्फी, एम. डब्लू. (1986) "एथनिसिटी ऐंड थर्ड वर्ल्ड डेवेलपमेंट: पॉलिटिकल ऐ ऐकेडेमिक कनटेक्ट्स" जे. रेक्स ऐंड डी. मेसन (संपा०) *थ्योरीज ऑफ रेस ऐंड एथनिक रिलेशंस*, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनि० प्रेस

ऊमेन, टी. के., (संप) 1990, *स्टेट ऐंड सोसाइटी इन इंडिया: स्टडीज इन नेशन बिल्डिंग*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

ऊमेन, टी. के. (संपा) 1997 *सिटिजनशिप ऐंड नेशनल आइडेंटिटी: फ्रॉम कोलोनियलिज्म टु ग्लोबल्जिम*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

पैटरसन, ओ. 1953, *कलर ऐंड कल्चर इन साउथ अफ्रीका*, लंदन, राउटलेज एंड केगन पॉल

रोस्टो, डब्लू.डब्लू (1960), *द स्टेजेज ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

सभरवाल, एस. (1992) *"एथनिसिटी: क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कनसेप्शंस ऐंड पर्सपेक्टिव्ज" सोशल साइंस रिसर्च जरनल* (1 और 2) मार्च-जुलाई

शर्मा, एस. एल. (1990) "द सैलिएंस ऑफ एथनिसिटी इन माडर्नाइजेशन: एविडेंस फ्रॉम इंडिया" *सोशियोलोजिकल बुलेटिन* 30 (1 और 2) सितंबर

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

शर्मा, एस.एल. (1996) " एथनिक सर्ज फॉर पॉलिटिकल ऑटोनॉमी : ए केस फॉर ए कल्चरल रेस्पोंसिव पॉलिसी," ए० आर. मोमिन (संपा) *'द लिगेसी ऑफ जी.एस. घुर्ये: ऐ सेन्टिनियल फेस्ट स्क्रिफट*, मुंबई, पॉपुलर प्रकाशन,

स्मिथ, एम. जी (1965), *द प्लुरल सोसाइटी इन द ब्रिटिश वेस्ट इंडीज*, केलिफोर्निया, कैलिफोर्निया यूनि० प्रेस

वालरस्टीन, आई. (1986)"सोसाइटल डेवेलपमेंट ऑफ डेवेलपमेंट ऑव द वर्ल्ड सिस्टम?" *इंटरनेशनल सोशियॉलजी* (1)

चानना, एस. 1994 *अंडरस्टैंडिंग सोशियोलॉजी, कल्चर एंड चेंज*, नई दिल्ली, ब्लेज पब्लिकेशन

चिब, एस.एस., 1984, *कास्ट, ट्राइब्ज ऐंड कल्चर ऑफ इंडिया* खंड 8, नई दिल्ली, एसएस पब्लिकेशंस

डी.आर. मांकेकर, 1972 "ए पती फॉर पॉलिटिकल मोबिलिटी" मृणाल मिरी (संपा.) *कंटिन्यूइटी ऐंड चेंज इन ट्राइबल सोसाइटी*, शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट फॉर एडवांस स्टडीज
जाजा वर्जीनिया, 1999, *ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ ट्राइब्ज इन इंडिया: टर्म्स ऑफ डिस्कोर्स*, ईपीडब्लू, जून 12, पश. 1520-1524

डोले, डी. 1998; "ट्राइबल मूवमेन्ट्स इन नॉर्थ-ईस्ट" के.एस. सिंह (संपा.) *ट्राइबल मूवमेंट्स* इन इंडिया, ट्राइबल स्टडीज ऑफ इंडिया सिरीज टी 183 एंटिक्विटी टु माडर्निटी इन ट्राइबल इंडिया, खंड IV

दुबे, एस.सी. (संपा.) 1977 *ट्राइबल हेरिटेज ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, विकास पब्लिकेशंस

एल्विन, वेरियर, 1959, *ए फिलॉसफी फॉर नेफा*, शिलांग, नेफा

गोस्वामी, बी.बी. और डी.पी. मुखर्जी, 1992 "मिजो पॉलिटिक मूवमेंट", के.एस. सिंह (संपा.) ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया (खंड I) नई दिल्ली मनोहर (पृ. 129-150)

हैमनडॉर्फ, क्रिस्टोफर वॉन फ्यूरर, 1982 *ट्राइब्ज ऑफ इंडिया: स्ट्रगल फॉर सरवाइवल*, दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रेस

कैबुई, गैंगुमेर, 1983 "इंसर्जेंसी इन द मणिपुर वैली" बी.एल. अब्बी (संपा.) नॉर्थ-ईस्ट रीजन: प्रॉब्लम्स एंड प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ डेवलपमेंट, चंडीगढ़, सीआरआरआइडी पब्लिकेशंस

कैबुई, गैंगुमेर, 1982 "द जेलियांग्रांग मूवमेंट: ए हिस्टॉरिकल स्टडी" के.एस. सिंह (संपा.) *ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया* (खंड I) नई दिल्ली, मनोहर (पृ 53-67)

मुखर्जी, बाबानंद और के.एस. सिंह 1982 ट्राइबल मूवमेंट्स इन त्रिपुरा" के.एस. सिंह (संपा.) ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया (खंड I) नई दिल्ली, मनोहर (पृ 67-97)

पुरी, रक्षत 1972; टुवार्ड्स सिक्योरिटी इन द नॉर्थ-ईस्ट: ट्रांसपोर्टेशन ऐंड नेशनलिज़्म (पृ. 72-97) के. एस. सिंह (संपा) ट्राइबल सियुएशन इन इंडिया

राव, सी. नागार्जुन, 1983 ऋ"क्राइसिस इन मिजोरम" बी.एल. अब्बी (संपा.) नॉर्थ-ईस्ट रीजन: प्रॉब्लम्स ऐंड प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ डेवलपमेंट, चंडीगढ़, सीआरआरआइडी पब्लिकेशंस (पृ. 240-248)

सिन्हा, ए.सी. 1998 भूपिंदर सिंह (संपा.) "सोशल स्ट्रैटिफिकेशन एमंग द ट्राइब्ज ऑफ नॉथ-ईस्टर्न इंडिया" में (पृ. 197-221)

श्रीनिवास, एम.एन., और आर.डी० सनपाल 1972; "सम आस्पेक्ट्स ऑफ रोहसेल डेवलपमेंट इन नार्थ-ईस्ट हिल एरिया ऑफ इंडिया"

थंगा, एल.बी. 1998, "चीफशिप इन मिजोरम" भूपिंदर सिंह (संपा.) ट्राइबल सेल्फ-मैनेजमेंट इन नॉर्थ-ईस्ट इंडिया, ट्राइबल स्टडीज इन इंडिया सिरीज टी. 183 एंटिक्विटी टु मॉडर्निटी, ट्राइबल इंडिया खंड II (पृ. 247-274)

वर्गीज, बी.जी. 1994, *इंडियाज नॉर्थ-ईस्ट रिसर्जेंट*, नई दिल्ली, कोनार्क

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जोशी, सी. (1984) *भिंडरांवाले मिथ ऐंड रियलिटी*, दिल्ली, विकास

समीउद्दीन, ए. (1985) *पंजाब क्राइसिस: चेलैंज ऐंड रेस्पांस*

शर्मा, एस.एल., (1996) "एथनिक सर्ज फॉरं पॉलिटिकल ऑटोनॉमी: ए केस फॉर कल्चर-रस्पांसिव पॉलिसी ए.आर. मोमिन (संपा) *द लीगेसी ऑफ जी.एस. घुरये: ए सेन्टीनियल फेस्टस्क्रिफ्ट*, मुंबई, पॉपुलर प्रकाशन में सोलोर, डब्लू. (1996) *थ्योरीज ऑफ एथिनिसिटी: ए क्लासिकल रीडर*, लंदन, मैकमिलन

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 13 भेदभाव के आधार के रूप में सामाजिक-लिंग सोच

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 लिंग जन्य भूमिका संबंधी सिद्धांत
    13.2.1 लिंग जन्य भूमिकाओं का जैविकीय सिद्धांत
    13.2.2 लिंग जन्य भूमिकाओं का समाजशास्त्रीय सिद्धांत
13.3 लिंग भेदों का विकासीय परिप्रेक्ष्य
13.4 उपनिवेशवाद और विकास
13.5 महिलाओं पर विकास का प्रभाव
    13.5.1 ग्रामीण उत्तरी भारत में मादा शिशु हत्या और शिशु उपेक्षा
    13.5.2 सामाजिक लिंग-सोच, घर-परिवार और नातेदारी
    13.5.3 एंजेल्स लीकॉक के विचार
    13.5.4 समानता और विषमता: श्रमका लैंगिक विभाजन और सामाजिक लिंग सोच-जन्य स्तरीकरण
    13.5.5 सामाजिक लिंग सोच की सांस्कृतिक रचना
    13.5.6 औद्योगिकीकरण और नगरीकरण का प्रभाव
13.6 सारांश
13.7 शब्दावली
13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- लिंग आधारित भूमिकाओं के अर्थ को समझकर उनकी परिभाषा दे सकेंगे;
- लिंग आधारित भूमिका रूढ़ि प्ररूपों (स्टीरियोटाइप) के कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- लिंग भूमिकाओं से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों पर रोशनी डाल सकेंगे;
- श्रम के लैंगिक विभाजन और सामाजिक लिंग सोच-जन्य स्तरीकरण की रूपरेखा स्पष्ट कर सकेंगे; और
- विभिन्न समाजों में महिलाओं की दासता पर रोशनी डाल सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.1 प्रस्तावना

हर मनुष्य लिंग से स्त्री या पुरुष होता है। अपने सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति जो हिस्सा लेता है उसे ही हम 'भूमिका' कहते हैं। इस प्रकार महिला और पुरुष भिन्न-भिन्न भूमिकाएं अदा करते हैं। लिंग-जन्य भूमिका वह भूमिका है जिसे वह अपने लिंग के कारण अदा करता है। कालांतर में इसे *लिंग-जन्य भूमिका रूढ़ि* प्ररूपों का जन्म होता है। पुरुष प्रधान समाज में पुरुषों की भूमिकाओं को ऊंचा दर्जा या प्रतिष्ठा मिलती है। मगर वहीं महिलाएं जो भी करती हैं उसे हेय दृष्टि से देखा जाता है।

लंबे समय तक यह माना जाता था कि स्त्री और पुरुष के शारीरिक भेद का उनमें विद्यमान भावनात्मक और बौद्धिक भेदों और उनकी शारीरिक क्षमताओं में पाए जाने वाले भेदों से घनिष्ठ संबंध है। हमारी सांस्कृतिक परंपरा में पुरुषों और महिलाओं को कार्य और भूमिकाएं सौंपी गई थी उन्हें भी उनकी शारीरिक क्षमताओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ा माना जाता था।

पितृसत्ता का मतलब पुरुष के हितों की साधना करना है। लिंग-जन्य भूमिकाओं का विभाजन कुछ इस तरह से किया गया है कि उसमें पुरुषों का दायित्व उत्पादन तो महिलाओं का दायित्व प्रजनन है। स्त्री अपने घर में जो अवैतनिक अनदेखा कामकाज करती है उसे पुरुषों द्वारा घर से बाहर किए जाने वाले कार्य से तुच्छ समझा जाता है। महिलाओं को कामवासना की दृष्टि से असुरक्षित और कमजोर माना जाता है। इसलिए कई समाजों में उन पर कई किस्म के अंकुश लगा दिए जाते हैं और उनमें प्रचलित रस्मों और वर्जनाओं को उनके जीवन की विभिन्न जैविक घटनाओं से जोड़कर देखा जाता है।

13.2 लिंग-जन्य भूमिका संबंधी सिद्धांत

अब हम लिंग-जन्य भूमिकाओं से संबंधित धारणाओं और उनके विभिन्न पहलुओं पर गौर करेंगे।

13.2.1 लिंग-जन्य भूमिकाओं का जैविकीय सिद्धांत

जॉर्ज पीटर मुरडोक पुरुष और स्त्री में विद्यमान जैविक भेदों को समाज में श्रम के लैंगिक विभाजन का आधार मानते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार चूंकि पुरुषों में शारीरिक शक्ति अपेक्षतया अधिक होती है, इसलिए वे ऐसी भूमिकाएं लेते हैं जिन्हें अंजाम देने के लिए शारीरिक शक्ति की जरूरत पड़ती है। स्त्रियां बच्चों को जन्म दे सकती हैं और इसीलिए उन्हें परिवार के पालन-पोषण से जुड़े क्रियाकलापों से जोड़ा जाता है।

लायोनेल टाइगर और रॉबिन फॉक्स कहते हैं कि जैविक कारक मनुष्य के व्यवहार को "प्रोग्राम" करते हैं यानी उसकी रूपरेखा को तय करते हैं हालांकि सांस्कृतिक भिन्नताएं अवश्य हो सकती हैं। इसे दोनों विद्वान "ह्यूमन बायोग्रैमर" (यानी मानव जैव-योजना) की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष के "बायोग्रैमर" में कुछ फर्क होता है।

अमेरिकी समाजशास्त्री टालकोट पारसंस परिवार में स्त्री की भूमिका को "अभिव्यक्तिपरक" मानते हैं जो शिशु के समाजीकरण के लिए जरूरी भावनात्मक सहारा और उष्मा प्रदान करती है। दूसरी ओर पुरुष की भूमिका को समाज के *जीविकोपार्जक* के रूप में "साधक" माना जाता है। ये दोनों "अभिव्यक्तिपरक" और "साधक" भूमिकाएं समाज के लिए अनिवार्य और एक दूसरे की पूरक हैं।

MAADHYAM IAS

13.2.2 लिंग-जन्य भूमिकाओं का जैविकीय सिद्धांत

प्रसिद्ध ब्रिटिश समाजशास्त्री ऐन ओकले के अनुसार 'सेक्स' यानी लिंग एक जैविक शब्द है मगर 'जेंडर' (सामाजिक लिंग सोच) एक सांस्कृतिक शब्द है, जिसका अभिप्राय समाजीकरण के पश्चात व्यक्ति के लिंग से है।

मुरडोक की धारणा को अस्वीकार करते हुए ओकले तर्क देती हैं कि श्रम का विभाजन सर्वव्यापी नहीं है। वह इस तर्क को सिर्फ कोरा मिथक मानती हैं कि महिलाओं जैविकी की दृष्टि से भारी और कठोर काम करने की क्षमता नहीं होती। उनका कहना है कि मां के रोजगार करने से बच्चे के विकास पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। उनके अनुसार पारसंस ने महिलाओं की "अभिव्यक्तिपरक भूमिका" और पुरुषों की "साधक भूमिका" की जो व्याख्या दी वह पुरुषों की सुविधा के लिए है।

समाजशास्त्र के मूर्धन्य प्रवर्तक एमीले दुर्खीम ने कहा कि आदिम समाजों में पुरुष और स्त्री शक्ति और बुद्धिमत्ता में समान थे। मानव सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ समाज में नई संहिताएं भी विकसित होती गई जिन्होंने महिलाओं के घर से बाहर काम करने पर अंकुश लगाए। इस तरह स्त्रियां धीरे-धीरे अबला और बुद्धिहीन होती गईं।

व्यक्ति के जन्म लेते ही समाजीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। लिंग-जन्य भूमिकाएं अधिगत यानी सीखे हुए क्रिया-कलाप हैं क्योंकि बच्चों का समाजीकरण इन्हीं भूमिकाओं में किया जाता है। उन्हें इन्हीं

भूमिकाओं में ही ढाला जाता है। इसलिए लिंग-जन्य भूमिका का आबंटन एक विशिष्ट क्रिया है, जो असल में अधिगत व्यवहार है। महिलाओं को सदियों से निष्क्रिय भूमिकाओं में ढाला गया है, उनका समाजीकरण किया गया है।

13.3 लिंग भेदों का विकासीय परिप्रेक्ष्य

मैलिनोशी, रैडक्लिक ब्राउन जैसे शुरुआती मानवविज्ञानियों ने महिलाओं की भूमिका को कम करके आंका था। इन सभी ने मुख्यत: पुरुषों पर ही अपने अध्ययन को केन्द्रित किया था। तिस पर उन्होंने सामुदायिक जीवन पर ही नहीं बल्कि समुदाय में महिलाओं की भूमिका से संबंधित जानकारी भी गांव के पुरुषों से ही जुटाई। पुरुषों के प्रति उनके इस झुकाव को विख्यात मानवविज्ञानी मार्गरैट मीड ने आड़े हाथों लिया। उन्होंने प्रशांत महासागरीय द्वीप में बसे आदिम मानव समाजों का गहन अध्ययन किया था।

श्रम के लैंगिक विभाजन पर 1930 के उत्तरार्ध और 1960 के बीच के दौर में जो अंत: सांस्कृतिक आंकड़े और जानकारियां मिलीं उन्होंने इस धारणा को धराशायी कर दिया कि हमारे समाज में पुरुष महिलाओं को सौंपे जाने वाले कुछ कार्य नहीं कर सकते और इसी प्रकार स्त्रियां पुरुषों के कार्यों को नहीं कर सकतीं। कुछ समाजों में आज भी बुनाई, कताई और खाना बनाना जैसे घरेलू कामकाज पुरुषों के कार्यक्षेत्र में आते हैं जबकि मोतियों के लिए गोताखोरी करना, डोंगी चलाना और घर बनाने जैसे साहसिक और कठोर कार्यों को महिलाएं अंजाम देती हैं। प्रशांत महासागरीय द्वीपों में बसी जनजातियों पर मागरेट मीड के प्रवर्तक शोधकार्य से ही इन मुद्दों पर नई रोशनी पड़ी। इस अध्ययन से मीड को पता चला कि इन आदिम जातियों में लिंग-जन्य भूमिकाएं और व्यक्तित्व पश्चिमी दुनिया से एकदम उलट हैं। अपनी इसी खोज के आधार पर उन्होंने इन भूमिकाओं के जैविकीय आधार को चुनौती दी।

मगर वहीं सरल समाजों में भी लिंग भेद मौजूद होते हैं। जैसे शिकार और भोजन का संचय करने वाले आदिम समाजों में शिकार करना पुरुषों का कार्य है क्योंकि इसमें घंटों चलना पड़ता है। प्रजनन और बच्चों के पालन-पोषण के दायित्वों के कारण महिलाओं के लिए ऐसा कर पाना कठिन होता है। लेकिन इन समाजों में स्त्रियां भी बड़ा कठोर श्रम है और खाद्य-अखाद्य पादपों और फलों की पहचान करने और जंगली जानवरों के पद-चिन्हों, उनके रास्तों को पहचानने में बड़ी निपुण रहती हैं। इसलिए स्त्रियां इन कामों को अंजाम देने में जो शारीरिक श्रम करती हैं वह पुरुषों के श्रम से भिन्न नहीं होता। इसके बावजूद भी इन समाजों में पुरुषों के वर्चस्व के चलते उनके कार्यों को अलग-अलग दर्जा दिया जाता है।

MAADHYAM IAS

फ्राइडल का कहना है कि पुरुषों को सौंपे जाने वाले कार्यों को स्त्रियां पूरा करती हैं तो उन्हें वही प्रतिष्ठा हासिल नहीं होती। इसका मुख्य कारण पुरुषों का वर्चस्व है। समाज में पुरुषों का वर्चस्व इसलिए बनता है कि पुरुषों का जीवन अधिक सार्वजनिक होता है और स्त्रियों का जीवन संतानोत्पत्ति और शिशुओं के लालन-पालन के कारण अधिक निजी बन जाता है। इसीलिए पुरुष घरेलू समूह से बाहर वस्तुओं के वितरण पर स्त्रियों से अधिक अधिकार मांगता है। पुरुष जब कोई शिकार मारकर लाता है तो उसके मांस को पूरे समुदाय या कबीले में बांटा जाता है। मगर जब वही शिकार स्त्री लाती है तो उसे सिर्फ उसके कुनबे के लोग ही खाते हैं। इसी प्रकार मूल्यवान वस्तुओं के आदान-प्रदान पर भी पुरुषों का अधिकार अधिक रहता है।

बोध प्रश्न 1

1) सही या गलत बताइए।

   a) पुरुष और महिलाएं एक दूसरे से भिन्न भूमिकाएं निभाते हैं। (ग़लत/सही)

   b) सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) एक जैविकीय शब्द है। (ग़लत/सही)

   c) व्यक्ति के जन्म लेते ही उसके समाजीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। (ग़लत/सही)

2) रिक्त स्थान भरिए।

a) .... स्त्री -पुरुष के बीच विद्यमान जैविकीय भेदों को श्रम के विभाजन का आधार मानते हैं।

b) .... ने प्रशांत महासागरीय द्वीपों में बसे आदिम समाजों का अध्ययन किया था।

नोट: अपने उत्तर की तुलना इकाई के आखिर में दिए गए उत्तरों से कीजिए।

13.4 उपनिवेशवाद और विकास

आज हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जो जटिल राजनीतिक और आर्थिक संबंधों पर टिकी है। अधिकतर उपनिवेशों को हालांकि 1960 तक स्वतंत्रता मिल गई थी। लेकिन औपनिवेशिक काल में पूंजीवादी विश्व व्यवस्था का जो आर्थिक वर्चस्व शुरू हुआ उसमें कोई विशेष बदलाव नहीं आया। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी औद्योगिक या "विकसित" विश्व और "विकासशील" या तीसरी दुनिया के देशों के स्त्री-पुरुषों पर पूंजीवाद के प्रवेश और भूमंडलीय अर्थव्यवस्था में उनके समाजों के एकीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है।

विश्व के कई भागों में मूलत: समतावादी सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) संबंधों की जगह अब क्रम परंपराबद्ध संबंधों ने ले ली है। इसके फलस्वरूप महिलाओं को हाशिए पर धकेल दिया गया है। औपनिवेशिक काल से पहले उन्हें आर्थिक और राजनीतिक निर्णय के जो पद-स्थान हासिल थे उनसे उन्हें हटा दिया गया है। पुरुष को ध्यान में रखकर बनाए जाने वाले विकास कार्यक्रमों के चलते स्त्री-पुरुष के बीच श्रम का नए ढंग से विभाजन हुआ है जिसने महिलाओं को पुरुषों पर और ज्यादा निर्भर बना दिया है।

MAADHYAM IAS

पुरुषों पर महिलाओं की बढ़ती निर्भरता नगरीकरण की प्रक्रिया, घर-परिवार से निकल कर कारखाने और उद्योग में काम करने, पारंपरिक खेती से नकदी फसलों के चलन से भी उत्पन्न हुई है। कुछ समाजों में महिलाओं को भूमि पर जो पारंपरिक अधिकार हासिल था, वह उनसे छिन गया है। पुरुष यूं तो महिलाओं की पारंपरिक सहायता पर आश्रित रहते हैं लेकिन फसलों को बेचने से होने वाली पूरी आमदनी पर वे अपना अधिकार जमाते हैं।

अहाता साफ करती हुई महिलाएँ
साभार : किरणमई बुसी

13.5 महिलाओं पर विकास का प्रभाव

भारतीय जनसांख्यिकविदों ने घटते स्त्री-पुरुष अनुपात को समझने के लिए कई अनुमान रखे हैं जिनके अनुसार इसके निम्न पांच कारक हैं:

i) भारतीय जनगणना में स्त्रियों की संख्या अधूरी बताई जाती है।

ii) महिलाओं में सामान्य मृत्यु दर पुरुषों से अधिक है।

iii) भारतीय परिवारों में पुत्रों को अधिक महत्त्व दिया है जिसके फलस्वरूप मादा शिशुओं को उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। इसके चलते महिला मृत्यु दर अधिक होती है।

iv) बारंबार और अत्यधिक संतानोत्पत्ति का महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।

v) कुछ बीमारियां महिलाओं में अधिक होती हैं।

इससे स्त्री के प्रति समाज के नजरिए और समाज में स्त्री की भूमिका के प्रति रवैयों का सवाल उठता है। हम इस निष्कर्ष से नहीं बच सकते कि भारत समेत अनेक देशों के लोगों में बेटों के प्रति जो अधिक चाह पाई जाती है उसके मूल में समाज में महिलाओं और बेटियों की निम्न स्थिति ही है। इतना ही चिंताजनक एक बात यह है कि विकास के प्रयत्नों, चिकित्सा और स्वास्थ्य सुविधाओं से लेकर कृषि विस्तार परियोजनाओं समेत तरह-तरह की जन सेवाएं जब लोगों को प्रदान की जाती हैं, तो यह पारंपरिक पुरुष पूर्वाग्रहों को और मजबूत बनाती हैं या महिलाओं को पारंपरिक समाज में जो दर्जा हासिल था उसे कम करती हैं।

13.5.1 ग्रामीण भारत में मादा शिशु हत्या और शिशु की उपेक्षा

इसमें कोई संदेह नहीं रह गया है कि भारत में आज भी बड़े व्यवस्थित तरीके से मादा शिशुओं की प्रत्यक्ष हत्या की जाती है। यह दो तरह से किया जाता है। पहला है लिंग चयन गर्भपात, जिसमें मादा भ्रूण को गर्भपात कराके मार दिया जाता है और दूसरा है प्रत्यक्ष मादा शिशु हत्या, जिसमें एक वर्ष से कम आयु की बच्ची को मार दिया जाता है। राजस्थान में ऐसे कुछ गांव हैं जिनमें कन्याएं नाम भर को भी नहीं हैं। तमिलनाडु के सालेम जिले में मादा शिशुओं की सरेआम हत्या की जाती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मादा शिशु हत्या प्रोक्ष रूप से भी होती है। असल में बलिकाओं का पोषण और स्वास्थ्य सुरक्षा से वंचित रखा जाता है। इस वंचना और उपेक्षा के फलस्वरूप ही बेटियों में मृत्यु दर काफी ज्यादा पाई जाती है। भारत के देहाती इलाकों में बेटों को बहुत ज्यादा तरजीह दी जाती है। बेटों को रत्न माना जाता है, खेतीबाड़ी के लिए वे जरूरी हैं और जब वे गांव छोड़कर रोजगार के लिए शहरों की ओर चले जाते हैं तो वे अपने परिवार की आमदनी का स्रोत बन जाते हैं। स्थानीय स्तर पर पानी और जमीन के लिए जो शक्ति संघर्ष छिड़ता है उसमें भी बेटों की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। विवाह के बाद बेटे अपने परिवार में ही रहते हैं और अपने मां-बाप को बुढ़ापे में सहारा देते हैं और उनकी देखभाल करते हैं। मगर बेटियों का विवाह हो जाने के बाद अपने मायके की देखभाल में कोई योगदान नहीं रहता।

बेटे का विवाह होने पर उसे दहेज मिलता है। इसके उलट बेटी अपने परिवार पर आर्थिक बोझ होती है क्योंकि विवाह पर उसके ससुरालियों को दहेज और फिर विवाह के बाद भी मौके-बेमौके उन्हें उपहार देना जरूरी होता है। हिन्दुओं में यह धारणा भी प्रचलित है कि परिवार को अनिष्ट से बचाने के लिए जरूरी है कि सारे संस्कार पुत्रों को ही करने चाहिए। पिता की मृत्यु के बाद बेटियों को इस तरह के संस्कार करने का कोई अधिकार नहीं रहता है। पुत्र के लिए ऐसी चरम चाह निम्न जातियों और वर्गों के बजाए ऊंची जातियों और उच्च वर्गों में अधिक देखने को मिलती है।

13.5.2 सामाजिक लिंग सोच, परिवार और नातेदारी

आइए, अब ताइवानी महिलाओं का उदाहरण लेते हैं। ताइवान में महिला अपने पति के परिवार में विवाह करती है। वूल्फ के अनुसार ताइवानी पत्नी को अपने पति के पुरखों को श्रद्धांजली देनी पड़ती है, अपने

पति और सास की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। अपने पति के पितृवंश को चलाने के लिए उसे संतानोत्पत्ति भी करनी पड़ती है। ताइवानी पत्नी जब बेटे को जन्म देती है तो ससुराल में उसकी स्थिति, उसका ओहदा बदलने लगता है। और अपने जीवनकाल में जैसे-जैसे वह एक नए कुल का सृजन करती जाती है उसकी प्रतिष्ठा उतना ही बढ़ती जाती है। वूल्फ इसे मातृज कुल कहते हैं जो मां और बेटों के बीच घनिष्ठ संबंधों से बनता है। ताइवानी पत्नी जब सास बनती है तो उसे अपने पति के कुटुंब में सबसे ज्यादा सत्ताधिकार और दर्जा हासिल होता है।

13.5.3 एंजेल्स लीकॉक के विचार

एंजेल्स लीकॉक के अनुसार आरंभिक सामुदायिक समाज आत्मनिर्भर थे। स्त्री-पुरुष मिल-जुलकर काम करते थे और कोई एक-दूसरे पर निर्भर नहीं था। इस प्रकार उनमें श्रम का पारस्परिक विभाजन था। इनमें पुरुषों के सार्वजनिक कार्यक्षेत्र और स्त्री का निज कार्यक्षेत्र था। घरेलू कामकाज के बीच कोई विभाजन भी नहीं था। स्त्री-पुरुष दोनों जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन करते थे। इस प्रकार के समाज में सिर्फ दैनिक जरूरतों की पूर्ति के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन होता था। कालांतर में औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू होने पर वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा तो व्यापार और वस्तु विनिमय के चलन ने जोर पकड़ा। अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए पूंजीपति महिलाओं और कामगारों का शोषण करने लगे। इसके फलस्वरूप परिवार एक पृथक इकाई के रूप में अलग हो गया और फिर महिलाएं अपने परिवार के दायरे में सिमटती चली गईं। इस प्रकार कार्य स्थान और आवास दोनों अलग-अलग हो गए।

13.5.4 समानता और असमानता: श्रम का लैंगिक विभाजन और सामाजिक लिंग-सोच जन्य स्तरीकरण

अधिकांश समाजों में कुछ खास काम मुख्यतः पुरुषों तो कुछ स्त्रियों को सौंपे जाते हैं। यूरोपीय और अमेरिकी संस्कृतियों में पुरुष का अपने परिवार का जीविकोपार्जक होना "स्वाभाविक" माना जाता था तो महिलाओं से घर की देखभाल करना और बच्चों का पालन-पोषण करने की अपेक्षा की जाती थी। श्रम के इस विभाजन के मूल में यह धारणा निहित थी कि परिवार के कल्याण में पुरुषों का योगदान स्त्रियों से अधिक होने के कारण वे हावी रहते हैं। अब चूंकि स्त्रियां पुरुषों पर आश्रित थीं इसलिए वे अपने-आप उनके अधीन हो गईं।

MAADHYAM IAS

महिलाएं जैसे-जैसे श्रम-शक्ति का अधिकाधिक हिस्सा बन रही हैं, श्रम के विभाजन की इस "स्वाभाविकता" को चुनौती दी जा रही है। लेकिन क्या इससे महिलाओं की स्थिति में अपने घर और वृहत्तर समाज में कोई सार्थक बदलाव आया है? या फिर क्या इसका मतलब यही है कि महिलाओं को अब "दोहरे दिन" काम करना पड़ रहा है—यानी अपने "असली" कार्य दिन से लौटकर उन्हें घर के वे सारे काम-काज पूरे करने पड़ रहे हैं जिन्हें महत्वहीन ही नहीं बल्कि काम समझा ही नहीं जाता है? रोजगार से अगर स्त्री की सामाजिक दशा उन्नत होती है तो फिर एक ही काम के लिए महिलाएं पुरुषों से सिर्फ 65 प्रतिशत ही क्यों कमा पाती हैं? सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) के आधार पर पेशागत पार्थक्य अब इतना ज्यादा क्यों है? महिलाओं की आर्थिक भूमिका और सामाजिक लिंग सोच-जन्य स्तरीकरण के बीच क्या संबंध है?

श्रम के लैंगिक विभाजन पर हुए अंतः सांस्कृतिक शोध कार्यों में अलग-अलग अर्थोपार्जन विधियों वाले समाजों में सिर्फ महिलाओं के उत्पादक क्रियाकलापों को बताने का ही प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि इनमें महिलाओं की स्थिति पर उनके प्रभावों का मूल्यांकन करने का प्रयास भी किया गया है।

13.5.5 सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) की सांस्कृतिक रचना

हम सभी प्रतीकों की दुनिया में रहते हैं जो स्त्री और पुरुष की श्रेणियों को एक अर्थ और महत्व प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका जैसे सभ्य और विकसित देश में कई दशकों से जन चेतना बढ़ने के

बावजूद वहां टेलीविजन और पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापन आज भी लैंगिक रूढ़िप्ररूपों को ही दर्शाते हैं। यूं अब महिलाओं को ज्यादा से ज्यादा कार्य स्थल के संदर्भ में इन विज्ञापनों में दिखाया जाने लगा है। इसलिए "सुंदर घर" की छवि पेश करने वाले विज्ञापन हालांकि कम हो गए हैं लेकिन "सुंदर देह" वाले विज्ञापनों का प्रसारण अब भी बदस्तूर जारी है। यहां तक कि बच्चों के कार्टूनों में भी महिलाओं को अबलाओं के रूप में चित्रित किया जाता है। जिन्हें निडर पुरुष नायक बचाने आता है। इसी प्रकार छोटे लड़कों और लड़कियों को ध्यान में रखकर खिलौने ऐसे रंगों और कपड़ों में बनाए जाते हैं, जो सांस्कृतिक दृष्टि से पुरुषोचित और स्त्रियोचित माने जाते हैं। ओकले तर्क देती हैं कि अपनी प्रजननात्मक भूमिका के कारण महिलाओं को सभी जगह प्रकृति के समीप माना जाता है। लेकिन पुरुषों को संस्कृति से जोड़कर देखा जाता है। वे संस्कृति को मानव चेतना के रूप में परिभाषित करती हैं जिसमें उसी की उपज, जैसे प्रौद्योगिकी, शामिल होती हैं जिन्हें प्रकृति के नियंत्रण और दोहन के लिए प्रयोग किया जाता है। जो सांस्कृतिक है और जो मानवीय कौशल के वश्य है, उसे प्राकृतिक से अधिक महत्व दिया जाता है। इसीलिए महिलाओं की भूमिकाओं को स्पष्टतया या अव्यक्त रूप से कम करके आंका जाता है या उन्हें निम्न दर्जा दिया जाता है।

बोध प्रश्न 2

1) श्रम के लैंगिक विभाजन पर होने वाले अंत: सांस्कृतिक शोधकार्य का क्या उद्देश्य होता है? लगभग दस पंक्तियों में बताइए।

....
....
....
....
....

2) उत्तरी भारत में बेटों के प्रति इतनी प्रबल चाह क्यों है? दस पंक्तियों में बताइए।

....
....
....
....
....

3) आरंभिक सामुदायिक समाजों के बारे में एंजेल्स लीकॉक के क्या विचार थे? दस पंक्तियों में बताइए।

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.5.6 महिलाएं और घरेलू कामकाज

लगभग सभी देशों और वर्गों में महिलाएं उपेक्षित हैं। ओकले के अनुसार गृह प्रबंध की विशेषता यह है कि इसमें महिलाएं स्वायत्तता के एहसास को महत्व देती हैं। चूंकि गृहणियां अपने अनुभवों को यह कहकर व्यक्त करती हैं कि घर की स्वामिनी होने में उन्हें आनंद आता है। इसका यह मतलब नहीं कि उनकी कार्यदशा का विश्लेषण हम उन्हें अपने घर में प्राप्त अधिक स्वायत्तता से करें। उदाहरण के लिए, उसे

अलग-अलग मौकों पर अलग-अलग किस्म के व्यंजन बनाने के लिए कहा जाता है। फिर एक निश्चित समय के अंदर उसे खाना बनाना होता है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि परिवार के उपभोक्ताओं की पसंद-नापसंद के चलते उस पर नियंत्रण होता है। यही पसंद-नापसंद परोसे जाने वाले भोजन के यथेष्ट स्वरूप को तय करती है।

13.5.7 औद्योगीकरण और नगरीकरण का प्रभाव

बढ़ते औद्योगीकरण और नगरीकरण के फलस्वरूप शहरी समाज में नौकरी-पेशा करने वाले युगलों की संख्या भी बढ़ रही है। ऐसे में पति-पत्नी में एक दूसरे की मदद करने की जरूरत भी बढ़ी है इसलिए वे घर के कामकाज मिलजुलकर और कई मामलों में एक दूसरे का सहयोग करने लगे हैं। ऐसा भी देखने में आता है कि जिन पतियों के काम की पारी अलग होती है वे अपनी पत्नियों के काम पर जाने के बाद घर पर बच्चों की देखभाल करते हैं। यही नहीं पति घर के काम-काज में भी पत्नियों का हाथ बंटाते हैं। मगर इस तरह के बदलावों के बावजूद दोनों लिंगों में विद्यमान सूक्ष्म भेदभाव अब भी बदस्तूर जारी हैं।

13.6 सारांश

इस इकाई में हमने यह जाना कि सामाजिक-लिंग सोच जन्य पूर्वाग्रह या विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं के प्रति बरते जाने वाले सूक्ष्य भेदभाव किस तरह विश्व के विभिन्न हिस्सों विशेषकर पितृसत्तात्मक समाजों में व्याप्त हैं जो पुरुषों के हितों की पूर्ति करते हैं।

13.7 शब्दावली

रूढ़िप्ररूप : एक निश्चित स्वरूप, विशेषता या छवि

पितृसत्ता : ऐसा कुल जिसका मुखिया पुरुष होता है और जिसमें वंश पुरुष वंशक्रम के आधार पर तय होता है

MAADHYAM IAS

समाजीकरण : बुनियादी सामाजिक प्रक्रिया जिसके जरिए व्यक्ति एक सामाजिक समूह की संस्कृति और उस समूह में अपनी भूमिका में ढलकर उसका अंग बन जाता है।

उद्यानकृषि समाज: ऐसा समाज जिसका मुख्य धंधा फूल, साग-सब्जी, फल और पौधे उगाना है।

जनसांख्यिकविद : मानव जनसंख्या के आकार, जन्म, मृत्यु इत्यादि आंकड़ों के विज्ञान का अध्ययन करने वाला अध्येता।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कैरोलीन, बी. बेटल, कैरोलीन, एफ. सार्जेंट (संपा) (1993); *जेंडर इन क्रॉस कल्चरल पर्सपेक्टिव*, न्यू जर्सी, प्रेंटिस हॉल

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) a) सही
   b) गलत
   c) सही
2) a) जार्ज पीटर मुरडोक
   b) मार्गरेट मीड

बोध प्रश्न 2

1) श्रम के लैंगिक विभाजन पर होने वाले शोध का प्रयास सिर्फ विभिन्न अर्थोपार्जन विधियों वाले समाजों में महिलाओं के उत्पादक क्रिया कलापों का ही वर्णन करना नहीं होता। बल्कि इसमें महिलाओं की स्थिति पर इन क्रियाकलापों के प्रभावों का मूल्यांकन भी किया जाता है।

2) ग्रामीण उत्तरी भारत में बेटे की चाहत लोगों में सबसे ज्यादा पाई जाती है। बेटों को आर्थिक आस्ती माना जाता है।, खेती-बाड़ी के लिए उन्हीं की जरूरत पड़ती है और जब वे जीवकोपार्जन के लिए गांव छोड़कर शहर चले जाते हैं तो वे अपने परिवार की आमदनी का स्त्रोत बनते हैं। विवाह के बाद बेटे अपने परिवार के साथ ही रहते हैं और बुढ़ापे में मां-बाप की सेवा करते हैं। बेटे विवाह में दहेज भी लाते हैं। पिता की मृत्यु के बाद होने वाले संस्कारों को अंजाम देने के लिए बेटों की आवश्यकता पड़ती है।

3) एंजेल्स लीकॉक के अनुसार आरंभिक सामुदायिक समाज में स्त्री-पुरुष के बीच श्रम का लैंगिक विभाजन पारस्परिक था और पत्नी और बच्चे पति पर आश्रित नहीं थे। पुरुष के कार्य के सार्वजनिक क्षेत्र और महिलाओं के घरेलू कामकाज के निजी क्षेत्र के बीच कोई भेदभाव नहीं था। समुदाय ही वृहत्तर सामूहिक कुटुंब था और स्त्री-पुरुष दोनों जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए मिलकर काम करते थे। महिलाओं का शोषण पृथक इकाई के रूप में व्यक्तिगत परिवार के उदय के साथ आरंभ हुआ और तभी से महिलाओं के श्रम को परिवार के संदर्भ में एक निजी सेवा माना जाने लगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 14 सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) पहचान का बनना

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 सामाजिक नियंत्रण के माध्यम के रूप में देह
    14.2.1 देह की अवधारणा
    14.2.2 देह की समाजशास्त्रीय व्याख्या
    14.2.3 संप्रेषणीय देह
14.3 लिंग पहचान को जन्म देने वाले कारक
    14.3.1 समाजीकरण की प्रक्रिया
    14.3.2 संस्कृति
    14.3.3 धर्म
    14.3.4 शिक्षा
    14.3.5 संप्रेषण और संचार माध्यम
    14.3.6 भाषा
    14.3.7 सामाजिक परिवेश
14.4 सारांश
14.5 शब्दावली
14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- निजी-व्यक्तित्व, देह, पहचान इत्यादि धारणाओं के विकास को समझ सकेंगे; और
- समाजीकरण-धर्म, शिक्षा, संस्कृति, जन-संचार माध्यम सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान की रचना को किस तरह से प्रभावित करते हैं, यह जान सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) लिंग की जीव-वैज्ञानिक धारणा से एकदम भिन्न है। सामाजिक लिंग-सोच की रचना की जाती है जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन के कई क्षेत्रों में होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री और पुरुष में कुछ विशेष शारीरिक भेद मौजूद रहते हैं। ये जैविकीय भेद दोनों में व्यवहार-संबंधी भेदों को भी जन्म देते हैं या नहीं और इस प्रकार जैविक लिंग भूमिकाओं और सामाजिक लिंग सोच जन्य स्तरीकरण का एक कारण है या नहीं, यह समाजशास्त्रियों में बहस का मुद्दा रहा है। जैविक नियतिवाद का मानना है कि जैविकी इन बातों को प्रभावित करती है। लेकिन समाजशास्त्री इस विरोध में तर्क देते हैं उदाहरण के लिए, जन्म से ही मादा शिशु को नर शिशु से एकदम भिन्न तरीके से लिया जाता है। शोध अध्ययनों से पता चलता है कि बच्चे का जन्म होते ही इस धारणा पर ही बल दिया जाता है कि स्त्री पुरुष से निम्न है। फिर समाज द्वारा लड़कियों और महिलाओं के लिए निर्दिष्ट आचार संहिताएं इस धारणा को मजबूत बनाती है। इसलिए समाजशास्त्री कहते हैं कि सामाजिक-लिंग सोच जन्य भेदभाव और भूमिकाएं काफी हद तक समाज ही थोपता है।

14.2 सामाजिक नियंत्रण के माध्यम के रूप में देह

आइए अब देह और उसकी संकल्पना पर आते हैं।

14.2.1 देह की धारणा

देह स्पष्टतः संस्कृति का माध्यम है। हम अपने देह की देखभाल करते हैं और उसे चुस्त दुरुस्त बनाए रखते हैं, सजते संवरते हैं, अन्य लोगों से बातचीत करते हैं। मगर देह संस्कृति का सिर्फ तानाबाना ही नहीं है। बल्कि.यह "सामाजिक नियंत्रण का आधार" भी है। इसलिए हम जैसा चाहते हैं वैसा नहीं बन पाते। बल्कि हमारा रूप हमारा व्यक्तित्व संस्कृति के जरिए ही बनता है। हमारे इसी रूप को फॉलकॉल्ट "विनेय देह" की संज्ञा देते हैं जिसे सांस्कृतिक जीवन के आदर्श नियमित करते हैं।

भारत के संदर्भ में देह पर एक महत्वपूर्ण कृति डेविड आरनर्लाल्ड द्वारा रचित *कोलोनाइजिंग द बॉडी* (देह का औपनिवेशीकरण) है। आर्नल्ड कहते हैं कि देह औपनिवेशिक शक्ति के लिए उपनिवेश स्थल तो है ही, यह उपनिवेश बनने वाले और उपनिवेश बनाने वाले राष्ट्रों के बीच संघर्ष का मैदान भी है।

14.2.2 देह की समाजशास्त्रीय व्याख्या

मानव-विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने नारी देह के विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या जाति, धार्मिक विश्वास, सामाजिक नियमों और प्रथाओं की रोशनी में की है और यह बताया है कि नारी के देह रूप और उसकी लैंगिकता किस तरह सामाजिक मर्यादा या सीमा के महत्वपूर्ण चिन्हकों का काम करते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि नारी की लैंगिकता को जाति और वर्गीय कारक नियंत्रित करते हैं। नारी की देह और उसकी लैंगिकता पुरुष के नियंत्रण क्षेत्र में रहती है। यह सिर्फ पितृसत्तात्मक शक्ति का ही नहीं बल्कि सामाजिक नियंत्रण का आग्रह भी है। स्त्री को अपनी लैंगिकता की एक स्वतंत्र, स्वगमित व्याख्या या उसकी अभिव्यक्ति करने की अनुमति नहीं होती। उसकी देह जाति, वर्ग और सामुदायिक आन की अभिव्यक्ति का माध्यम और प्रतीक बन जाती है। शुचिता, पवित्रता और शुद्धता का महिमामंडन कुल, संप्रदाय और राष्ट्र की आन स्त्रियोचित गुणों के रूप में किया जाता है। एक तरह से नारी की देह उसकी नहीं रहती बल्कि समाज में अपनी छवि को प्रतिष्ठापित करने और उसे वैध बनाने के लिए समुदाय विशेष उस पर अपना अधिकार समझता है। इस समुदाय में स्त्री और पुरुष दोनों ही शामिल रहते हैं।

नारी देह वह आधार है जिस पर लिंग समानता बनती है, स्थापित होती है और उसे वैधता मिलती है इसलिए नारी देह को विभिन्न संदर्भों, परिवेशों और परिस्थितियों में समझना जरूरी है।

14.2.3 संप्रेषणीय देह

नारी की देह को जब हम संप्रेषणशील या जिए जाने वाली काया के रूप में देखते हैं तभी हम जिए-जाने वाले अनुभव की सामाजिक प्रस्थापना के निहितार्थों को समझ सकते हैं। इसके साथ-साथ अपने देहरूप और उसकी अभिव्यक्ति को लेकर महिलाओं की अपनी जो समझ है उसे भी हम जाने सकते हैं। सामाजिक लिंग सोच की छाप महिलाओं पर उनके दैनिक जीवन में सामाजिक रूप से और उनके जीवन अनुभवों, बोध, आकांक्षाओं, फंतासियो के जरिए बनी रहती है। इस तरह लिंग पहचान इस मायने में विरचित और अनुभूत दोनों है।

नारी की पहचान के मूल में नारी देह के निरूपण का अंतःकरण है।

बोध प्रश्न 1

1) देह की समाजशास्त्रीय धारणा उसकी जीव-वैज्ञानिक धारणा से किस तरह से भिन्न है? आठ पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

14.3 लिंग-पहचान को जन्म देने वाले कारक

आइए अब देखते हैं कि समाजीकरण किस तरह लिंग पहचान को प्रभावित करता है।

14.3.1 समाजीकरण

समाजीकरण व्यक्ति द्वारा अपनी संस्कृति के अनुकूल ढलने के लिए समाज के मूल्यों का अंत:करण करने, उनका और उन्हें आत्मसात करने की प्रक्रिया है। जो तय करती है कि समाज में पुरुष और स्त्रियां किस तरह आचरण करें।

एक ओर सभी महिलाएं रजोधर्म, संतानोत्पत्ति और शिशुओं के लालन-पालन, रजोनिवृत्ति के अनुभवों से गुजरती हैं, जो पुरुषों के साथ नहीं होता। वहीं दूसरी ओर सभी स्त्री-पुरुष ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में रहते हैं जो देहरूप के अनुभव को उनके वर्ग, जातीय, धार्मिक और जातिगत कारकों के अनुसार अलग-अलग स्वरूप प्रदान करता है। इसलिए दैनिक जीवन में देहरूप के अनुभव के लिए ये सामाजिक-स्थानिक और अन्य ऐतिहासिक कारक महत्वपूर्ण हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

विभिन्न संस्कृतियों में प्रचलित समाजीकरण के चलन कन्याओं के पालन-पोषण में बरती जाने वाली तत्परता और चिंता को दर्शाते हैं। इससे हम सामाजिक नियमों, मूल्यों और प्रथाओं के अनुसार आचरण करने की सीख मिलती है। कालांतर में इस प्रक्रिया में महिलाएं सामाजिक अपेक्षाओं को इस तरह से आत्मसात कर लेती हैं कि वे उन्हें अपना अनुभव मानने लग जाता है। जिससे सत्ताधिकार उन पर बलात् काम नहीं करता बल्कि वह उन्हीं के भीतर काम करने लगता है।

समाजशास्त्रियों का मानना है कि समाजीकरण की जिस प्रक्रिया से लोग यह सीखते हैं कि उनके अभिभावक, संगी-साथी और वृहत्तर समाज उनसे क्या अपेक्षा करता है, वही प्रक्रिया स्त्री और पुरुष को अपने लिंग के अनुसार आचरण के नियम सिखाती है।

सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण: सामाजिक अधिगम की जो प्रक्रिया लोगों विशेषकर युवाओं में अपनी संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की समझ पैदा करती है उसमें सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण की प्रक्रिया भी आती है। लिंग-जन्य समाजीकरण की इस प्रक्रिया में समाज में प्रचलित सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाएं और उनके लाभ व सीमाओं को सीखने की प्रक्रिया आती है। अधिकतर समाजों में पुरुष या स्त्री का स्पष्ट श्रेणीकरण होता है कि स्त्री या पुरुष होने में क्या होता है। श्रेणीकरण की यह प्रक्रिया और सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं के ज्ञान को संचारित करने वाले समाजीकरण के कारक यह तय करते हैं कि व्यक्ति खुद को और अन्य लोगों को सामाजिक लिंग सोच और लिंग भूमिकाओं के आधार पर किस तरह व्याख्या करते हैं।

कई समाजों में सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाएं, जिनका अभिप्राय प्रत्येक लिंग के लोगों के लिए आचरण के अपेक्षित तौर-तरीकों से है, बड़ी कठोरता से परिभाषित रहती हैं। उदाहरण के लिए पुरुषों से यह अपेक्षा करने की परंपरा रही है कि वे बलवान, आक्रामक और यहां तक की हावी रहने वाले हों। इसी प्रकार "लड़के रोते नहीं", यह जुमला पुरुष की भूमिका के पहलू को दर्शाता है। लेकिन महिलाओं से अपेक्षा की जाती है कि उनमें ममता, पालन-पोषण करने की भावना हो, वे संवेदनशील और अपेक्षत्या सहनशील हों। बच्चों को उनकी शैशवास्था से ही सचेतन या अवचेतन रूप से इन मूल्यों को सिखाया जाता है। उदाहरण के लिए दोनों के लिए खिलौने भी अलग-अलग बनाए जाते हैं। लड़कों को बड़े, शोरगुल करने वाले या हिंसक किस्म के खिलौने दिए जाते हैं, लेकिन लड़कियों को हल्के फुल्के खिलौने दिए जाते हैं। इन्हें अभिव्यक्तियां से निजी-व्यक्तित्व की पहचान बनती है।

बालपन से ही होती है लिंगीय पहचान
साभार : किरणमई बुसी

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण के वाहक: माता-पिता, भाई-बहन, संगी-साथी, विद्यालय, समाज, धर्म और अन्य संस्थाएं समाजीकरण के वाहक का काम करते हैं। छोट-छोटे बच्चों के लिंग-जन्य समाजीकरण में मुख्य भूमिका उनके माता-पिता दादी-दादा सहित परिवार के अन्य सदस्य निभाते हैं। इसे वही तय करते हैं कि परिवार लड़के के साथ किस तरह का व्यवहार करे और बच्चे को किस तरह के खिलौने और कपड़े दिए जाएं।

लिंग पहचान दो वर्ष के भीतर ही स्थापित हो जाती है जिसके केन्द्र में "मैं मर्द हूं" या "मैं औरत हूं" यह धारणा होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड के सिद्धांत के अनुसार सम-लिंगी अभिभावकों (माता-पिता) के साथ तादात्म बनाने और उनके अनुकरण करने से लिंग-पहचान प्रभावशाली तरीके से बनती है। फ्रायड जिस प्रछन्न या अव्यक्त काल (सात से लेकर बारह वर्ष की आयु) की बात करते हैं उसी दौरान स्त्री और पुरुष अपने को एक दूसरे से पृथक करने लग जाते हैं। इसे हम समाजीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा मान सकते है और यह सामाजिक-लिंग सोच जन्य अभिज्ञान और भूमिका विशिष्ट आचरण को ठोस आकार देती है। किशोरावस्था में स्कूल और परिवार लिंग समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। किशोरावस्था के दौरान संगी-साथियों का प्रभाव लिंग समाजीकरण के सबसे शक्तिशाली कारक के रूप में काम करता है क्योंकि किशोर आपस में छोटे-छोटे सामाजिक समूह बनाते हैं जो वयस्क जीवन और वृहत्तर समाज में उनके संक्रमण को आसान बनाता है। जन संचार माध्यम भी किशोरावस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान और समाजीकरण व्यक्ति के आत्म-सम्मान के बोध पर गंभीर प्रभाव डाल सकते हैं।

14.3.2 संस्कृति

परंपरागत रूप से संस्कृति को लिंग पहचान के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। समाजीकरण का सिद्धांत विस्तारपूर्वक बताता है कि लड़के और लड़कियों से किस तरह शैशवावस्था से ही अलग-अलग तरीके से व्यवहार किया जाता है। इसी के फलस्वरूप वे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विशेषताएं लेकर बड़े होते हैं। शिक्षा को इस प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग माना गया है, जो लड़कों और लड़कियों को अलग-अलग क्रिया-कलापों और उपलब्धियों की ओर खींचती है। सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और संस्कृति का जो नवीनतम विश्लेषण किया गया है वह मुख्यत: साहित्यक सिद्धांत पर आधारित है जिसमें मुख्य डेरिडा (1967) का विसंरचनावाद और मिशेल फॉकॉल्ट का संवाद विश्लेषण है इसमें व्यक्तिगत अधिगम अनुभव के बजाए पाठों या निरूपण या संवाद/परिचर्चाओं के सृजन पर अधिक जोर दिया गया है, जिनसे हममें सामाजिक-लिंग सोच जन्य धारणाओं की रचना होती है (वीडन, 1987) इस अध्ययन में न सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच विद्यमान भेदों बल्कि स्त्रियों के बीच में मौजूद भेदों भी बात की गई है। असल में स्त्रियों के बीच विद्यमान भेदों को इस तरह जो महत्ता दी गई है उसने इस धारणा को ही उलझा के रख दिया है कि महिलाएं एकात्मक श्रेणी हैं।

भारत में स्त्री को दोहरे रूप में दर्शाया गया है। स्त्री को मिथक और जन-संस्कृति में देवी और विध्वंसक शक्ति, धर्म-परायण पत्नी और अनिष्टकारी, देहरूप से पवित्र और अपवित्र दोनों तरह से बताया गया है। स्त्रियों की पूजा और उनका आदर ही नहीं किया जाता बल्कि उसकी लैंगिकता को सीधे नियमित करके उसे नियंत्रण में भी रखा जाता है।

14.3.3 धर्म

किसी भी समाज में धर्म को लेकर स्त्री और पुरुषों का अनुभव एक जैसा नहीं होता। धर्म एक शक्तिशाली सामाजिक संस्था है जो समाज में सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान को बनाती है। इसमें ऐसे पवित्र स्थान हैं जिसमें प्रवेश की अनुमति सिर्फ पुरुषों को ही होती है, महिलाओं को नहीं। इसी प्रकार इसमें ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार धार्मिक कृत्यों में कुछ कर्तव्यों या दायित्वों को सिर्फ पुरुष ही पूरा कर सकते हैं। इस तरह धर्म सिर्फ यही नहीं बताता है कि विभिन्न धार्मिक कृत्यों में पुरुष और स्त्रियां किस तरह भाग लें बल्कि समाज में पुरुष और स्त्री को जो सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाएं सौंपी जाती हैं उन्हें भी वह प्रबल बनाता है और उन्हें वैधता का जामा पहनाता है।

MAADHYAM IAS

14.3.4 शिक्षा

औपचारिक शिक्षा सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं में दीक्षा देता है जिससे निजी-व्यक्तित्व धीरे-धीरे विकसित होता है और लिंग पहचान को प्रभावित करता है। स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जो अनेक आदर्श (रोल मॉडल) और अनुकरणीय उदाहरण बताए जाते हैं, वे सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) जन्य पहचान के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाते हैं। एक सामाजिक संस्था के रूप में शिक्षा को समाजशास्त्री सामाजिक लिंग सोच जन्य समाजीकरण प्रक्रिया और सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) का रूढ़िप्रकरण से जोंड़कर देखते हैं।

14.3.5 संचार माध्यम

हमारा जीवन किसी न किसी तरीके से संचार और उसके माध्यमों से संप्रेषित होने वाली छवि से प्रभावित होती है। दृश्य और प्रकाशन माध्यम (टेलीविजन, समाचार पत्र-पत्रिकाएं इत्यादि) नारी देह की छवि को एक 'पूर्ण' या 'वांछनीय' देह के रूप में प्रस्तुत करके महिलाओं के सोच को प्रभावित करते हैं। आधुनिक शहरी भारत में टेलीविजन और पत्र-पत्रिकाओं के बढ़ते प्रभाव के चलते नारीतव के नियम

सांस्कृतिक रूप से अब 'मानकीकृत दृश्य छवि' के माध्यम से ही संचारित हो रहे हैं। इससे हम सीधे दैहिक संवाद से यानी छवियों के नियमों को सीखते हैं जो हमे यह बताती हैं कि समाज में किस तरह की वेशभूषा, देहाकार, मुखाकृति, चाल-ढाल और आचरण जरूरी है। इस तरह की छवियां विज्ञापनों, फैशन शो, सौंदर्य प्रतियोगिताओं, फैशन मॉडलों, पत्र-पत्रिकाओं विशेषकर महिलाओं की पत्रिकाओं से हमें प्रस्तुत की जाती हैं। केबल टीवी हमारे घरों में विज्ञापनों, फिल्मों, टॉक शो इत्यादि के जरिए 'पूर्ण नारी देह' की पश्चिमी मनोग्रस्ति को भी ले आया है। इससे प्रसारित होने वाले संदेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नारी देह को ही संबोधित करते हैं।

14.3.6 भाषा

सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान मौखिक और अमौखिक दोनों माध्यमों से प्रेरित होती है और बनती है। कुछ समय से समाजशास्त्र में इस बात के अध्ययन पर रुचि ली जा रही है कि भाषा की अर्थ संरचना से सामाजिक लिंग सोच जन्य वर्गीकरण किस तरह से प्रभावित होता है। लैकॉफ (1975) के अनुसार भाषा में प्रचलित सामान्य जातीय शब्द संज्ञानात्मक संरचना और लिंग (जेंडर) के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। सामान्य शब्द पुरुष वर्चस्व और श्रेष्ठता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को दर्शाते हैं और उसे जारी रखते हैं। उदाहरण के लिए 'आदमी' शब्द सामान्य अर्थ में सभी मनुष्यों के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि 'स्त्री' शब्द सिर्फ महिलाओं के लिए प्रयोग होता है। इसी प्रकार अविवाहित (बैचलर) शब्द आज भी अकेले अनब्याहे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले मूल अर्थ को बरकरार रखे हुए है। लेकिन अविवाहिता (स्पिनस्टर) शब्द ने अब "उम्रदार अनब्याही महिला" जैसा नकारात्मक अर्थ ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार भाषा भी एक ऐसा माध्यम है जिसके जरिए सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान थोपी जाती है या उसे मजबूत बनाया जाता है।

14.3.7 सामाजिक परिवेश

दैनिक जीवन में महिला को अपने देहरूप को लेकर जो अनुभव होता है वह निसंदेह विभिन्न परिवेशों और परिप्रेक्ष्यों में उसकी स्थिति से जुड़ा होता है चाहे वह संप्रदाय हो या परिवार या फिर कार्यस्थल या अन्य स्थान जहां वह रहती हो, काम करती हो या आती-जाती हो। असल में लिंग पहचान के निर्माण की मुख्य धुरी यही है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) समाजीकरण के वाहक कौन हैं

(a) परिवार; (b) विश्वविद्यालय; (c) पुस्तकालय; (d) संगी साथी समूह

1) सिर्फ a

2) सिर्फ b

3) सिर्फ c

4) सिर्फ d

5) सभी

2) सिगमंड फ्रायड के अनुसार लिंग पहचान किस उम्र में स्थापित हो जाती है?

1) 18 वर्ष

2) 25 वर्ष

3) 30 वर्ष

4) 2 वर्ष

3) संचार माध्यम लिंग पहचान के निर्माण को किस तरह से प्रभावित करते हैं? पांच पंक्तियां में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

14.4 सारांश

स्त्री की रचना असल में समाज ने की है और उससे जो सामाजिक-लिंग सोच उपजी है वही रोजमर्रा की दुनिया में नारी के देहरूप के स्वभाव को समझने में मुख्य है। ऐसा नहीं है कि सामाजिक लिंग सोच और पहचान स्थायी और अपरिवर्तनीय हो। यह रचित और अनुभूतिपरक दोनों ही है। कभी-कभी इसे पार भी किया जा सकता है। इसलिए यह संप्रेषण और विनिमय की प्रक्रिया के दौरान निरंतर बनने वाली चीज है, जो स्त्रियों के रोजाना के जीवन अनुभवों के माध्यम से विकसित होती है।

14.5 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) : 'सेक्स' या लिंग का अभिप्राय स्त्री और पुरुष की जैविक विशेषताओं से होता है। लेकिन सामाजिक लिंग सोच को एक सामाजिक रचना माना जाता है, जिसमें व्यक्तित्व संबंधी सभी विशेषताएं, मूल्य, आचरण और वे सभी क्रिया-कलाप आते हैं जिन्हें समाज पुरुषों और महिलाओं को अलग-अलग तरीके से सौंपता है।

सामाजिक लिंग सोच: नर या मादा होने का बोध जो प्राय: दो वर्ष की उम्र तक जन्य पहचान हो जाता है।

सामाजिक लिंग सोच: सामाजिक लिंग सोच जन्य (जेंडर) भूमिकाओं का सामाजिक जन्य समाजीकरण और पारिवारिक अपेक्षाओं और इन भूमिकाओं का अन्य लोगों द्वारा निर्वाह करके उन्हें अंगीकार करना।

सामाजिक नियंत्रण : इसे मानव समाज में प्रचलित नियमों और प्रथाओं के पालन के लिए प्रयोग किए जाने वाले सभी प्रकार के बलों और अंकुशों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

समाजीकरण : अपनी संस्कृति के अनुकूल ढलने के लिए समाज के मूल्यों के आत्मसातीकरण या अंत:करण की प्रक्रिया जो यह तय करती है कि समाज में स्त्री-पुरुष किस तरह से आचरण करें।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

तपन, मीनाक्षी (संपा) 1997, *एंबोडिमेंट: एसेज ऑन जेंडर एंड इक्वैलिटी*, नई दिल्ली, ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

मैत्रेयी कृष्णराज और करुणा चानना (संपा) 1989, *जेंडर एंड द हाउसहोल्ड डोमेन: सोशल एंड कल्चरल डायमेंसंस*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

फैथ, कार्लीन (1994) "रेजिस्टेंस: लेसंस फ्रॉम फॉकॉल्ट एंड फैमिनिज्म" (संपा.) एच. लॉरिन रैडके और एच.जे. स्टैम (संपा.) *पावर/जेंडर सोशल रिलेशंस इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस*, लंदन, सेज पब्लिकेशंस में

14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) शरीर को लेकर जो जीव-वैज्ञानिक धारणा प्रचलित है वह स्त्री और पुरुष के बीच शारीरिक भेदों को बताती है। जैव नियतिवादी मानते हैं कि स्त्री और पुरुषों में विद्यमान आचरण संबंधी भिन्नता और उसके फलस्वरूप लिंग भूमिकाओं की व्याख्या के मूल में शारीरिक भेद हैं। लेकिन समाजशास्त्रियों ने देह की जो धारणा बनाई है वह उसकी जैविक धारण से बिल्कुल विपरीत है। समाजशास्त्रियों के अनुसार देह संस्कृति का वाहक, उसका माध्यम है। प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक नियम ही देह की धारण परिभाषित करते हैं और काफी हद तक सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिका और इससे संबंधित स्तरीकरण को ठोस स्वरूप प्रदान करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) 5 (सभी)

2) 4 (2 वर्ष)

3) दृश्य और प्रकाशन दोनों ही माध्यम सामाजिक लिंग सोच जन्य पूर्वाग्रहों के मुख्य स्रोत हैं और इनके जरिए प्रचारित रूढ़िप्ररूप आदर्श व्यक्तित्वों (स्टीरियोटाइप रोल मॉडल) से सामाजिक लिंग सोच जन्य पहचान प्रभावित होती है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण 'पूर्ण' या 'वांछनीय' देह के रूप में नारी देह की छवि का शक्तिशाली केबल टेलीविजन और पत्र-पत्रिकाओं समेत विभिन्न संचार माध्यमों से प्रचार है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 15 सामाजिक लिंग सोच (जेंडर), स्थिति और सत्ताधिकार

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता और जनन के मुद्दे
15.2.1 मातृत्व
15.2.2 वंशक्रम
15.2.3 जननक्षमता
15.3 सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता: उत्पादन के मुद्दे
15.4 सामाजिक संस्थाओं की भूमिका
15.4.1 सामाजिक लिंग सोच और जाति
15.4.2 सामाजिक लिंग सोच और धर्म
15.4.3 सामाजिक लिंग सोच और विवाह नियमन
15.5 सारांश
15.6 शब्दावली
15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आपः

- उत्पादन और जनन से जुड़े मुद्दों की रोशनी में सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) जन्य संबंधों के स्वरूप को समझ सकेंगे; और
- समदृष्टि के मुद्दों में सामाजिक संस्थाओं की भूमिका को जान सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.1 प्रस्तावना

पूरी दुनिया में महिलाओं को निजी विकास और सामाजिक विकास के लिए शिक्षा, रोजगार, विवाह और परिवार, व्यावसायिक और राजनीतिक जीवन में पुरुषों के बराबर अवसर नहीं दिए जाते हैं। भारत और विकसित देशों की महिलाओं की कई समस्याएं समान हैं। लेकिन भारत में महिलाओं को जो भेदभाव सहना पड़ता है, वह बड़ा ही व्यापक और गहरा है। इसका कारण भारतीय समाज का लिंग के आधार पर पृथक होना तथा निर्धनता और पारंपरिक मूल्य व्यवस्था हैं।

सामाजिक लिंग सोच जन्य संबंधों के स्वरूप और आधार के साथ-साथ महिलाओं के जीवन, उनके सरोकारों और सोच को समझने के लिए जरूरी है कि पहले हम सत्ताधिकार के आयामों को समझें। असल में समाज में महिलाओं की स्थिति या स्थान का पूरा सवाल इस मुद्दे पर निर्भर करता है कि पुरुषों की तुलना में उन्हें कितना सत्ताधिकार प्राप्त है। सत्ताधिकार की कई तरह से व्याख्या की गई है। स्वायत्त्ता, प्रभाव, अन्य लोगों के लिए निर्णय करने के अधिकार, हेरफेर करने की क्षमता, सम्प्रदाय के अधिकार ढांचे में संस्थागत पद-स्थान, अन्य लोगों को हानि पहुंचाने या उन्हें लाभ पहुंचाने की अलौकिक शक्ति इत्यादि के रूप में इसे देखा जा सकता है।

सामाजिक लिंग जन्य सोच पर अंत:संस्कृति शोध में लगे विद्वानों में लगभग आम सहमति है कि किसी भी समाज में महिलाओं को निर्णय करने के अधिकार के मूल में उसमें विद्यमान उत्पादन और जनन का ढांचा है।

15.2 सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता और जनन के मुद्दे

आइए अब हम सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता के मुद्दों जैसे मातृत्व, वंशागति, जननक्षमता इत्यादि पर चर्चा करें।

15.2.1 मातृत्व

नारी के अस्तित्व की धुरी मातृत्व ही है क्यों कि यह सबसे प्रामाणिक जैविक अनुभव है जो स्त्री को पुरुष से विशिष्ट और अलग खड़ा करती है। मानव जाति के जनन में स्त्री की भूमिका पुरुष से कहीं ज्यादा है। मनुष्य की जननी स्त्री ही है। मातृत्व और जनन के कृत्य को आम तौर पर जुड़ा माना जाता है। मगर विडंबना है कि नए जीवन के सृजन और उसे बनाए रखने का जो कृत्य मानव जाति की अस्मिता के लिए नितांत जरूरी है वही स्त्री की पराधीनता का साधन बन गया। मातृत्व-संबंधी दायित्व का बहाना लेकर स्त्री को सत्ताधिकार, सत्ता, निर्णय और सार्वजनिक जीवन में सहभागी भूमिका से बाहर कर दिया गया। मातृत्व और जननकृत्य का नियंत्रण उसके हाथ में कभी नहीं रहता।

भारतीय नारी की स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए कृष्णराज कहती हैं कि जो जननात्मक भूमिका मूलत: नारी शक्ति का स्रोत थी उसी ने उसे विशेषकर पुरुष के प्रभुत्व में लाकर, उसके अधीन बनाकर शक्तिहीन बना दिया। स्त्री को जमीन के रूप में देखा जाता है, जो बीज (वीर्य) के स्वामी के अधिकार में रहती है। इस तरह नारी के मातृत्व ने उसे पुरुष नियंत्रण और वर्चस्व के आगे लाचार बना दिया। न्यूनतम सुरक्षा जैसे सही पोषण, सुरक्षित प्रसव गर्भावस्था के दौरान पर्याप्त देखभाल, बच्चे की देखभाल की सुविधाओं से वंचित रहने के कारण मातृत्व भारतीय कामकाजी महिलाओं के लिए, विशेषकर गरीब देहातों में, अत्यधिक कठिन और पीड़ादायक कार्य बन जाता है। राज्य की ओर से मातृत्व को विचाराधारा के स्तर पर और भौतिक सहायता के रूप में जो प्रोत्साहन मिलता है, उसे भी पितृसत्तात्मक कहकर चुनौती दी जाती है, क्योंकि इससे महिलाएं अपने मातृत्व को भौतिक दृष्टि से सशक्तीकारी बनाने से वंचित रह जाती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.2.2 वंशक्रम

प्राचीन काल से ही भारत में मानव के जनन को नर बीज के रूप में देखा जाता रहा है जो मादा भूमि में अंकुरित होता है। इसे हम तमाम धार्मिक ग्रंथों में और विवाह संस्कारों और जीवन में शोक की स्थितियों के दौरान देख सकते हैं। इनकी उत्पत्ति वैदिक काल में हुई थी। मनु स्मृति जैसी संहिताएं इस अवधारणा के आधार पर ही मिश्र विवाहों से उत्पन्न होने वाली संतान की हैसियत और मिश्र विवाहों की मर्यादा का निर्धारण करती हैं।

मानव जनन की प्रक्रिया को लेकर शुरू में जो धारणा बनी युगों बाद वही साहित्य परंपरा और जन चेतना का अंग बन गई। लीला दुबे के अनुसार आयुर्वेद में हमें जो आयुर्विज्ञान मिलता है उसमें वंशक्रम में स्त्री के योगदान को स्वीकार किया गया है। लेकिन जन संस्कृति में इसी धारणा को प्रचारित किया गया कि बच्चा पुरुष का खून होता है क्योंकि वीर्य को उसके रक्त से उपजा माना जाता था। मगर दूसरी ओर कई मातृवंशीय जनजातियों में स्त्री की श्रेष्ठ जननात्मक भूमिका को स्वीकार किया जाता है।

गर्भधारण को जिस तरह भूमि में बीज बोने के रूप में लिया जाता है उसके निहितार्थों को वंश के जैविक प्रतीकीकरण, स्त्री-पुरुष के बीच संबंधों और उनके सापेक्षिक अधिकारों और उनके स्थान को समझने के लिए प्रयोग किया जाता है। इससे दो बातें उठती हैं। पहली बात यह है कि इन प्रतीकों के प्रयोग से मूलत: असमान संबंध प्रतिबिंबित होता है। दूसरा इस प्रतीकवाद को संस्कृति जैविक जनन में नारी के योगदान की महत्ता को नकारने के लिए बढ़ा चढ़ाकर प्रयोग करती है। नारी को मातृत्व के कर्तव्य से बांधकर यही प्रतीकवाद उसे अपनी ही संतान पर स्वाभाविक अधिकार से वंचित करने का बायस बन जाता है। यही नहीं यह एक ऐसी विचारधारा का सृजन करता है और उसे बनाए रखता है, जिसमें भौतिक और मानव दोनों किस्म के सामरिक संसाधन पुरुषों के हाथों में सिमटे रह जाते हैं।

15.2.3 जननक्षमता

विभिन्न अंचलों और ऊंची और छोटी जातियों के बीच आचरण में विद्यमान अंतर को छोड़ दें तो भारत में आम तौर पर महिला में निजी विकास का जो बोध देखने को मिलता है उसका संबंध उसकी जननक्षमता और पुत्रों की मां बनने पर उसे जो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है उससे जुड़ा है। लिंग के आधार पर विभाजित समाज में उच्च जनन क्षमता महिलाओं की स्थिति को कई तरह से प्रभावित करती है। पहला, बहुत ही कच्ची उम्र में पहले बच्चे के पैदा हो जाने, बार-बार गर्भधारण करने और उस पर कुपोषण इन सब के फलस्वरूप मातृ मृत्युदर और गर्भपात की दर अधिक रहती है। दूसरा, महिलाएं बच्चों की देखभाल, घर के कामकाज और खेतीबाड़ी के काम से इस कदर बंध जाती हैं कि मां-पत्नी के मुख्य भूमिका के अलावा उसके पास अपने निजी विकास के खास विकल्प नहीं रहते। तीसरा, जननात्मक कार्य को चूंकि इतना ज्यादा महत्व दिया जाता है कि उन्हें कम उम्र में ही विवाह और मातृत्व के दायित्व से लाद दिया जाता है, इसलिए लड़कियों की औपचारिक शिक्षा को अप्रासंगिक माना जाता हैं। कच्ची उम्र में विवाह और महिला शिक्षा के प्रति ऐसे नजरिए के कारण ही महिलाओं में निरक्षरता की दर इतनी अधिक है।

15.3 सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता और उत्पादन के मुद्दे

पुरुष का अधिकार सिर्फ स्त्री की लैंगिकता और जनन क्षमता तक ही सीमित नहीं है। बल्कि उसकी उत्पादक क्षमता और श्रम शक्ति पर भी पुरुष का ही अधिकार है। पुरुष को जिस तरह नारी की लैंगिकता और उसकी लैंगिकता के फल पर नियंत्रण रखने का अधिकार है उसी प्रकार उसके श्रम और उसके श्रम से मिलने वाली आमद पर भी उसे ही अधिकार है। उत्पादन की प्रक्रिया में उसकी भागीदारी कितनी है इससे उसके योगदान को नहीं आंका जाता क्योंकि उत्पादन के संसाधनों के मामले में वह पुरुष पर आश्रित है। उसकी हैसियत सिर्फ घरेलू मजदूर की है। घर या आश्रय के मामले में भी वह पराश्रित मानी जाती है, क्योंकि कानूनन और रीति-रिवाज के अनुसार वैवाहिक घर बनाने का अधिकार भी पुरुष को ही है। जन-मानस में यह धारणा गहरी बैठी हुई है कि पुरुष ही आश्रयदाता और अन्नदाता है। इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि खेती-बाड़ी और अन्य उत्पादक कार्यों में महिलाओं की भूमिका को गौण माना जाता है। उसकी आमदनी पर उसका कोई नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि वह अपने पति के घर में रहती है और उसी की कमाई खाती है। ये बात दीगर है कि एक तरह से वह भी कमा रही होती है। यह तर्क उस स्थिति में भी लागू होता है, जहां स्त्री दिहाड़ी मजदूर का काम कर रही हो। अर्थ-व्यवस्था में महिला के योगदान को मान्यता नहीं देना या उसे बिल्कुल कम करके आंकना कोई अलग बात नहीं है। इसके सूत्र पितृसत्तात्मक विचारधारा से जुड़े हैं जिसका प्रचार तरह-तरह से किया जाता है।

MAADHYAM IAS

श्रम के लैंगिक विभाजन के आधार पर पेशागत पार्थक्य के कारण शिक्षित महिलाओं की एक बड़ी संख्या नर्सिंग, अध्यापन और क्लर्की जैसे कामों में पाया जाता है। गिनी चुनी महिलाएं ही इंजीनियरिंग, प्रौद्योगिकी, विज्ञान, राजनीति और प्रशासन को अपना व्यवसाय बना पाती हैं। व्यावसायिक पार्थक्य के इस पैटर्न और कार्यकारी अधिकारी और नेतृत्व वाले पद-स्थानों से महिलाओं को बाहर रखे जाने के कई कारण हैं। पहला कारण है, परिवार में समाजीकरण और स्कूली शिक्षा जो सामाजिक लिंग सोच जन्य भूमिकाओं को स्थापित करते हैं। इसका यही मतलब है कि इनके जरिए पुरुष और स्त्री के लिए उचित गुणों और आचरण की सांस्कृतिक परिभाषा बताई जाती है और उन्हीं के अनुसार उन्हें ढाला जाता है। स्कूल में लड़कियों को ऐसे कुछ सीमित व्यवसायों की ओर जाने की सीख दी जाती है, जिन्हें स्त्रियोचित और पत्नी और उनकी मुख्य लिंग भूमिकाओं की जरूरतों के अनुरूप माना जाता है। व्यावसायिक और सेवा क्षेत्र में महिलाओं की संख्या बढ़ने के बावजूद भी सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार रखने वाले व्यावसायिक पदों के वितरण में लैंगिक समानता कहीं नजर नहीं आती।

बोध प्रश्न 1

1) भारतीय समाज में सामाजिक लिंग सोच संबंधों को प्रभावित करने वाले मुख्य जननात्मक मुद्दे क्या हैं? चार पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

2) महिलाओं को नर्सिंग, अध्यापन जैसे स्त्रियोचित पेशों में ले जाने वाले कारक क्या हैं?

....

....

....

....

a) समाजीकरण b) शिक्षा c) संचार माध्यम d) संस्कृति

1) सिर्फ a

2) सिर्फ b

3) सिर्फ c

4) सिर्फ d

5) सभी

15.4 सामाजिक संस्थाओं की भूमिका

अब हम सामाजिक लिंग सोच संबंधों को जाति, धर्म और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं के प्रकाश में देखेंगे।

भारत के सिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास कहते हैं: "इसके (भारतीय नारी की बदलती स्थिति के) कई आयाम हैं और विभिन्न अंचलों, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों, वर्गों और विभिन्न धार्मिक, जातीय और जाति समूहों में भारी अंतर होने के कारण सामान्यीकरण असंभव है।" प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर भी कहती हैं कि "भारतीय उपमहाद्वीप के अंदर महिलाओं की स्थिति में असंख्य अंतर विद्यमान हैं जो सांस्कृतिक परिवेश, परिवारिक ढांचे, वर्ग, जाति, संपत्ति अधिकारों और नैतिक मूल्यों के अनुसार अलग-अलग दिशा में बिखर जाते हैं।"

प्राचीन समाज में नारी की स्थिति क्या थी इसका सही-सही आकलन करने के लिए स्तरीकरण पद्धति का संक्षेप में उल्लेख करना जरूरी है जिसकी अभिव्यक्ति वर्ण और जाति व्यवस्था में मिलती है। नारी के श्रम और उसकी लैंगिकता पर नियंत्रण बनाए रखने की युक्ति के रूप में जाति, अंतर्विवाह जैसी विशेषता, समूहों को पृथक करने के साथ-साथ महिलाओं की गतिशीलता को नियंत्रित करने वाली शुद्धि और अशुद्धिता की धारणाएं इसमें बहुत महत्व रखती हैं। महिलाओं को कुछ खास तरह के काम तो पुरुषों को कुछ खास तरह के काम करने होते हैं। जैसे खेती बाड़ी में महिलाएं पानी लगाने, रोपाई करने, गुड़ाई-निराई जैसे काम तो कर सकती है लेकिन वे हल नहीं चला सकतीं हैं। फिर समूह विशेष के ऊर्ध्वगामी होने यानी उसका सामाजिक स्तर ऊंचा होने पर महिलाओं को बाहरी काम से हटा दिया जाता है। महिलाओं को कुछ खास क्रिया-कलापों से रोकने और उन्हें कुछ विशेष अधिकारों से वंचित करने वाले अप्रत्यक्ष नियम भी प्रचलन में हैं। लेकिन पितृसत्ता की सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रतीकवाद के जरिए होती है। यह प्रतीकवाद किंवदंतियों और आनुष्ठानिक रीति-रिवाजों के जरिए स्त्रियों की हीनता उनकी तुच्छता का संदेश प्रचारित करता है। किंवदंतियों में नारी की आत्मोत्सर्गी, पवित्र छवि को दर्शाया जाता है, जो अनुष्ठान निष्ठावान पत्नी और समर्पित मां के रूप में नारी की भूमिका को स्थापित करते हैं।

MAADHYAM IAS

स्तर और शक्ति पर चचा करती हुई ग्रामीण महिलाएँ
साभार : किरणमई बुसी

स्त्रियों और शूद्रों को एक ही दर्जा देना समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति का एक और प्रमाण है। महिलाओं और शूद्र दोनों को यगोपवीत संस्कार (जनेऊ धारण) से प्रतिबंधित रखना, शूद्र और नारी की हत्या करने पर समान दंड, और दोनों को धार्मिक विशेषाधिकारों से वंचित रखा जाना, ये सब कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो बताते हैं कि जाति और सामाजिक लिंग सोच ने जनमानस में किस तरह गहरी पैठ बनाई होगी।

15.4.2 सामाजिक लिंग सोच और धर्म

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अधिकांश धर्मों में मानव प्रकृति की अनिवार्य समानता, सभी मनुष्यों की नैसर्गिक महत्ता की बात कही जाती है क्योंकि स्त्री और पुरुष सभी में एक ही आत्मा होती है और सभी में परमात्मा वास करता है। मगर यह महान दर्शन, यह महान आदर्श व्यवहार में कहीं नजर नहीं आता। बल्कि जो नैतिक शिक्षा और धार्मिक प्रवचन हमें मिलते हैं वे सभी एक खास परिवेश में स्त्री की स्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं। हमारे कई पवित्र ग्रंथों में महिलाओं को पुरुषों से नीचे का दर्जा दिया गया है। महिलाओं की निम्न स्थिति को वैधता प्रदान करने के लिए युगों से इन पवित्र ग्रंथों का हवाला देकर उसे आध्यात्मिक आधार दिया जाता रहा है। ग्रंथ पवित्र सत्ता हैं जो बताते हैं कि महिलाओं की हैसियत पुरुषों से कम और असमान होनी चाहिए।

भारतीय समाज में मूल्य संरचना को समझने के लिए उसका एक महत्वपूर्ण पहलू हिंदू दर्शन में नारी की दोहरी अवधारणा है। एक ओर स्त्री को जननी, कल्याणकारी, समृद्धि दात्री का दर्जा दिया जाता है। लेकिन दूसरी ओर उसे उग्र, अपकारी और विध्वंसक माना जाता है। नारी का यह दोहरा चरित्र हमें देवियों में भी नजर आता है। जैसे एक तरफ काली और दुर्गा मां जैसी विकराल, उग्र, अपकारी देवियां हैं तो वहीं लक्ष्मी, सरस्वती, मरियम्मा जैसी कल्याणकारी, ममतामयी देवियां भी हैं। संक्षेप में नारी के दोहरे चरित्र का निरूपण करके मूल्यों के ढांचे संरचना ने यह मिथ रचा है कि भारतीय नारी में शक्ति है लेकिन वह दिखाई नहीं देती। यह भारत में महिलाओं की ऊंची और निम्न स्थिति को समझने के लिए एक अति महत्वपूर्ण धारणा है। इसीलिए हमारे सामने ऐसी विरोधाभासी स्थिति आ जाती है जिसमें धर्म कहीं मां और पत्नी की आदर्श भूमिका में नारी को एम सर्वोच्च सम्मान देता है तो वहीं उसमें नारी के आदर्श को उसके शाश्वत सार में दर्शाया जाता है। लेकिन वास्तविक सामाजिक जीवन में पराधीनता ही नारी की नियति है।

आज एकदम भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में धर्म को एक नई चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अब चूंकि नारी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुक्ति को सभी जगह स्वीकार किया जा रहा है, इसके चलते सामाजिक परिवेश सभी धार्मिक परंपराओं पर नए दबाव डाल रहा है और नारी की सामान्य स्थिति या छवि के बारे में उनकी शिक्षाओं को अब समूल चुनौती दी जा रही है।

15.4.3 सामाजिक लिंग सोच और विवाह नियमन

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह की धारणा अपनी परिभाषा से ही महिलाओं के लिए अपमानजनक है। ऐसे विवाह जिसमें ऊंची जाति का वर निम्न जाति की वधू से विवाह करता है, उसे अनुलोम विवाह के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन अनुष्ठान की दृष्टि से पवित्र समूहों की स्त्री के निम्न अनुष्ठानिक स्थिति वाले पुरुष से विवाह को प्रतिलोम विवाह की संज्ञा दी जाती है। नियमों का उल्लंघन करने पर बहिष्कार और मृत्युदंड जैसा कठोर दंड दिया जाता था। जाति नियमों के द्वारा शारीरिक गतिशीलता पर भी अंकुश लगाया जाता है। समाज में नारी की निम्न स्थिति का एक महत्वपूर्ण प्रतीक यह है कि निम्न जातियों की स्त्रियां तो ऊंची जाति के पुरुषों के लिए सुलभ हैं लेकिन वहीं ऊंचे जाति समूहों की स्त्रियों से प्रणय का दुस्साहस करने वाले निम्न जाति के पुरुषों को कठोर दंड दिया जाता है। कच्ची उम्र में विवाह, जाति और उपजाति के भीतर ही विवाह, प्रतिलोम विवाह पर प्रतिबंध, विवाह को अटूट पवित्र बंधन मानना जिसके बंधन में स्त्री को मृत्यु तक बंधे रहना पड़ता है, ये सभी प्रथाएं लैंगिकता के नियंत्रण को दर्शाती हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में जाति संस्था किस तरह से अन्यायपूर्ण सामाजिक लिंग सोच जन्य संबंधों को जन्म देती है? चार पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

15.5 सारांश

मौजूदा सामाजिक ढांचे और उसमें महिलाओं की स्थिति को अच्छे ढंग से समझने के लिए यह बेहद जरूरी है कि समाज को ढालने वाले विभिन्न कारकों और संस्थाओं के प्रभावों को जाना जाए, उन्हें समझा जाए। नारी की लैंगिकता सत्ताधिकार, वासना और वासना के त्याग की स्थली है। लिंग पर आधारित भेदभाव मूलत: अन्यायपूर्ण है। यह मानव गरिमा के प्रति अपराध और मानवाधिकारों का हनन है। इसलिए महिलाओं की स्थिति उनकी हैसियत मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सामाजिक उन्नति और विकास के लिहाज से भी इसके निहितार्थ महत्वपूर्ण हैं।

15.6 शब्दावली

सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) : समाज द्वारा तय अपेक्षाएं जो पुरुष और स्त्री से की जाती हैं। सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) वृहत्तर स्तरीकरण प्रणाली में एक घटक है जिसमें व्यक्तियों और समूहों की श्रेणी समाज में उपलब्ध मूल्यवान संसाधनों तक उनकी पहुंच के अनुसार तय की जाती है।

सामाजिक लिंग सोच जन्य असमानता : इसका अभिप्राय समाज में संसाधनों का वितरण लिंग के आधार पर किए जाने से है। यह अवधारणा हमें समाज में पुरुषों और स्त्रियों के सापेक्षिक लाभ और हानियों के बारे में बताती है।

स्थिति/हैसियत इसे प्रतिष्ठा के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। लेकिन समाजशास्त्रीय और नृवैज्ञानिक व्यवहार में इसका अर्थ सामाजिक ढांचे में पद-स्थान के रूप में लिया जा सकता है। भूमिका सिद्धांत में स्थिति और भूमिका के बीच भेद वही है जो सामाजिक स्थान और उस पर आसीन व्यक्ति से अपेक्षित आचरण के बीच है।

शक्ति/सत्ताधिकार: अन्य लोगों के आचरण को उनकी इच्छा से या उसके बिना प्रभावित करने की क्षमता।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देसाई, नीरा और मैत्रेयी कृष्णराज (1987) *वीमेन एंड सोसाइटी इन इंडिया*, दिल्ली, अजंता पब्लिकेशन

दुबे, लीला, एलीनर लीकॉक और शर्ले आर्डनर (संपा.) 1986; *विजिबिलिटी एंड पावर*, दिल्ली ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

राजन सुंदर राजेश्वर (संपा.) (1999) *जेंडर इशूज इन पोस्ट इनडिपेंस इंडिया*, नई दिल्ली, काली फॉर वीमेन

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक लिंग सोच जन्य संबंधों को प्रभावित करने वाले कारक मातृत्व, आनुवंशिकता ओर जनन क्षमता हैं। बिडंबना यह है कि संतानोत्पत्ति की जिस भूमिका को नारी शक्ति का स्रोत माना जाता है वह स्त्री को शक्तिहीन और पराधीन बनाती है। इसी प्रकार बीज और धरती (खेत) की विचारधारा के सचेतन प्रचार से नारी की समतुल्य जनन भूमिका को भारतीय समाज में नकार दिया जाता है।

2) 5 (सभी)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) जाति ने सिर्फ श्रम के सामाजिक विभाजन का निर्धारण ही नहीं किया। बल्कि इसने श्रम के लैंगिक विभाजन को भी तय किया। वर्ण व्यवस्था में स्त्री और पुरुष के लिए अच्छी तरह से परिभाषित भूमिकाएं थी। जातिगत अंतर्विवाह के जरिए वर्ण व्यवस्था ने स्त्री के श्रम और उसकी लैंगिकता पर नियंत्रण बनाए रखा। शुद्धि-अशुद्धिता और अपवित्रता की धारणा ने समूहों को एक दूसरे से अलग किया और महिलाओं की लैंगिकता को नियमित किया।

इकाई 16 महिला सशक्तीकरण: कुछ उदहारण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 अभिप्राय और परिभाषा
16.3 महिलाओं की अधिकारहीनता के कारण
16.4 महिलाओं का सशक्तीकरण
16.4.1 दक्षिण एशिया में महिला सशक्तीकरण पर श्रीलता बाटलीवाला का अध्ययनकार्य
16.4.2 ग्रामीण बांग्लादेश में महिला सशक्तीकरण पर सिडनी शुलर और सैयद हाशमी का अध्ययनकार्य
16.4.3 भारत में महिला आंदोलन पर लेजली कॉलमेन का अध्ययनकार्य
16.5 सशक्तीकरण: व्यक्तिपरक अध्ययन (केस स्टडीज)
16.5.1 व्यक्तिपरक अध्ययन I: महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण के प्रति प्रशिखा का नजरिया
16.5.2 वनों का बचाव
16.5.3 व्यक्तिपरक अध्ययन II: सेवा द्वारा तंबाकू श्रमिकों की यूनियन में लामबंदी
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- महिला सशक्तीकरण का अर्थ और उसकी परिभाषा बता सकेंगे;
- महिलाओं की अधिकारहीनता के कारणों पर रोशनी डाल सकेंगे;
- महिला सशक्तीकरण के लिए अपनाए जाने वाले विभिन्न उपायों के बारे में बता सकेंगे; तथा
- महिला सशक्तीकरण के उदहरण दे सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम महिला सशक्तीकरण पर चर्चा करेंगे। जिसकी शुरुआत में महिला सशक्तीकरण का अर्थ और उसकी परिभाषा से होती है। इसके बाद महिलाओं की शक्तिहीनता के विभिन्न कारणों पर चर्चा की गई है। इसका मुख्य कारण पितृसत्ता और उन्हें सिर्फ उनकी जननात्मक भूमिका तक सीमित रखना है। महिलाएं सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं के विभिन्न स्तरों पर शक्तिहीनता का अनुभव करती हैं। इसके बाद महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए तरह-तरह के उपायों पर चर्चा की गई है और अंत में सेवा और प्रशिखा जैसे महिलाए संगठनों द्वारा महिलाओं के सशक्तीकरण के उदाहरणों का ब्यौरा दिया गया है।

16.2 अर्थ और परिभाषा

"सशक्तीकरण" का शाब्दिक अर्थ शक्ति या सत्ताधिकार संपन्न बनाना है। इस तरह सशक्तीकरण का सीधा सा मतलब किसी को सत्ताधिकार संपन्न बनाने का काम है। इसी प्रकार स्त्रियों को अधिकार संपन्न बनाना, उन्हें सत्ताधिकार देने का काम ही महिला सशक्तीकरण है। मगर यह सशक्तीकरण सिर्फ कार्यस्थल या घर पर ही नहीं होता। बल्कि इसका व्यापक अभिप्राय सभी संसाधनों पर महिलाओं के नियंत्रण से है।

गरीबों और विशेषकर महिलाओं के सशक्तीकरण के उद्देश्य से कोई भी कार्यक्रम बनाने से पहले सत्ताधिकार की कमी के कारणों को समझने, उन्हें जानने की जरूरत है। इसी के बाद हम इन समस्याओं को दूर करने के लिए आवश्यक विकास रणनीतियां बना सकते हैं। इसके पीछे स्पष्ट तर्क है और विकासात्मक हलकों में "सशक्तीकरण" शब्द का प्रयोग आम हो गया है। लेकिन इसकी अवधारणा अपेक्षतया नई है और इसकी व्याख्या पूरी तरह से नहीं हो पाई है। अब आगे हम सत्ताधिकारहीनता के कारणों और उन्हें दूर करने के लिए आवश्यक रणनीतियों पर प्रकाश डालेंगे।

16.3 महिला सत्ताधिकारहीनता के कारण

सशक्तींकरण में रुचि रखने वाले विद्वान जिस मुख्य प्रश्न के समाधान की तलाश में लगे हुए हैं वह यह है कि महिलाओं जैसे एक सत्ताधिकारहीनता समूह विशेष की पराधीनता या उत्पीड़न के आखिर क्या कारण हैं?

एक नजरिया पितृसत्ता को महिला सत्ताधिकारहीनता का मुख्य कारण मानकर चलता है। इस नजरिए के अनुसार पितृसत्ता एक अतिक्रियाशील सामाजिक लिंग सोच (या नातेदारी) व्यवस्था है जो महिलाओं की भूमिका और संबंधों को तय करती है। पुरुष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को उनकी पारंपरिक भूमिकाओं में ही देखा जाता है जो पुरुषों के नियंत्रण में, उनके अधीन रहती हैं। अगर कोई स्त्री चाहे कि उसे एक स्त्री के रूप में स्वीकार किया जाए तो उसे अति प्रवीण, अति महत्वाकांक्षी, हावी रहने वाली न हो और वह नारीत्व के गुणों में कम न हो।

दूसरा नजरिया महिला सत्ताधिकारहीनता के एक मुख्य क्षेत्र को लेकर चलता है और इसके अनुसार सबसे आम क्षेत्र घर-परिवार ही है। यह नजरिया महिलाओं की जननात्मक या उत्पादक भूमिकाओं को ही केन्द्र मानकर चलता है। से भूमिकाएं स्त्रियां संतान के जनक और गृहणियों के रूप में निभाती हैं। भारतीय परिवारों में लड़कियों से उम्मीद की जाती है कि वे कच्ची उम्र में ही घर के काम-काज संभाल लें। साधारण स्थिति में भी लड़कियों से अपेक्षा यह रहती है कि वे अपनी मां के साथ घरेलू काम-काज जैसे खाना पकाना, बर्तन मांजना, घर की साफ सफाई और छोटे बच्चों यानी अपने भाई बहनों की देखभाल करें। इसलिए ऐसे समाजों में महिला होने का मतलब ही घर में काम-काज करना और अपनी सभी जरूरतों के लिए पूरी तरह से पुरुषों पर निर्भर रहना है। तीसरा नजरिया कहता है कि महिलाओं को बहुविध क्षेत्रों में (एक साथ या क्रमवार) पराधीनता या सत्ताधिकारहीनता के अनुभव से गुजरना पड़ता है। ये क्षेत्र हैं घर, कार्यस्थल और अन्य स्थान। घर में स्त्री से आशा की जाती है कि वह परिश्रमशील नारी के पारंपरिक आदर्श की कसौटी में खरी उतरे, जो अपने परिवार के अन्य सदस्यों की खुशहाली के लिए अपने हितों को न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहे और बदले में कुछ भी नहीं मांगे। इसी प्रकार कार्यस्थल पर उसे अपने कार्य में अत्यधिक प्रवीण नहीं होना चाहिए अन्यथा वह पुरुषों के कोप का भोजन बन सकती है। इस तरह की पराधीनता का मुख्य कारण यह है कि बचपन से स्त्री और पुरुष के बीच भेद कर दिया जाता है। लड़की का समाजीकरण कुछ इस तरह से किया जाता है कि वह विनम्र, आज्ञाकरी और शांत, सहनशील बने।

ये सभी नजरिए कई मामलों में एक-दूसरे से हालांकि भिन्न हैं लेकिन सभी यह मानकर चलते हैं कि स्त्रियों को सिर्फ घर पर नहीं बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और संस्थाओं के स्तर पर शक्तिहीनता या लाचारी का अनुभव होता है।

16.4 महिलाओं का सशक्तीकरण

महिलाओं के सशक्तीकरण में रुचि रखने वाले विद्वानों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि महिलाओं की पराधीनता या उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार कारणों को दूर करने का सबसे उत्तम उपाय क्या हो।

16.4.1 दक्षिण एशिया में महिला सशक्तीकरण पर श्रीलता बाटलीवाला का अध्ययनकार्य

श्रीलता बाटलीवाला ने दक्षिण एशिया में महिलाओं के सशक्तीकरण पर 1994 में एक अध्ययनकार्य किया था। इस अध्ययनकार्य में उन्होंने तीन स्वयंसेवी संगठनों के अलग-अलग नजरिए को समझा। समेकित विकास का नजरिया, आर्थिक नजरिया और स्थानीय स्तर पर काम न करने वाले स्वयंसेवी संगठनों द्वारा जागरुकता लाने और शोध कार्य करने तथा संसाधनदाता एजेंसी के रूप में काम करने के बजाए न करने का नजरिया।

बाटलीवाला के अनुसार सशक्तीकरण दो तरह का होता है:

क) आर्थिक सशक्तीकरण

ख) पूर्ण सशक्तीकरण

सरकार और विभिन्न एजेन्सियों को लगता है कि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम या उद्यमशीलता विकास कार्यक्रमों के जरिए विभिन्न प्रकार के संसाधन मुहैय्या कराके महिलाओं को सबल और अधिकार-संपन्न बनाया जा सकता है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि आर्थिक सशक्तीकरण से पूर्ण सशक्तीकरण हो जाए या उनकी हैसियत बढ़ जाती हो। उदाहरण के लिए धनाढ्य परिवारों की महिलाओं के पास सारे संसाधन और साधन होते हुए भी उन्हें खुद निर्णय करने का अधिकार नहीं होता। इसलिए उन्हें सबल और सत्ताधिकार संपन्न नहीं कहा जा सकता है। संसाधनों की कमी सत्ताधिकारहरण का कारण नहीं बल्कि सत्ताधिकारहरण उसका परिणाम है। इसके मूल में ऐतिहासिक कारक हैं। जैसे स्त्रियों की निम्न स्थिति-प्रतिष्ठा, पुरुष प्रधान समाज इत्यादि। इसलिए महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण से जरूरी नहीं कि उनका पूर्ण सशक्तीकरण हो जाए। इससे यह जरूर हो सकता है कि आर्थिक रूप से महिला स्वतंत्र हो जाए। लेकिन अपने परिवार में निर्णय करने का अधिकार तब भी उसके हाथ में नहीं रहता। उसके घर-परिवार पर वास्तविक नियंत्रण उसके पति या पिता के हाथों में ही रहता है।

MAADHYAM IAS

जैसा कि बाटलीवाला ने भी पाया है इन दृष्टिकोणों में अंतर हम सैद्धांतिक स्तर पर ही कर सकते है। व्यवहार में ये अंतर अक्सर धुधंले नजर आते हैं। अधिकांश विकास कार्यक्रमों में इन दृष्टिकोणों का मिश्रण रहता है। बाटलीवाला अपने वर्गीकरण में जिन अनुभवों को दर्ज किया था उन्हें हम समेकित ग्रामीण विकास या आर्थिक नजरिए की श्रेणी में रख सकते हैं। मगर इन सभी का आधार जागरुकता लाना और संगठित करना है और सभी प्रकट या अप्रकट रूप से महिलाओं के सत्ताधिकारहरण के लिए अनेक कारकों को दोषी मानते हैं न सिर्फ एक कारक को।

16.4.2 ग्रामीण बांगलादेश में महिला सशक्तीकरण पर सिडनी शुलर और सैयद हाशमी का अध्ययन कार्य

बांगलादेश के देहाती इलाकों में महिलाओं के सशक्तीकरण पर अपने अध्ययन कार्य में सिडनी शुलर और सैयद हाशमी (1993) ने अपने शोध को बांगलादेश ग्रामीण विकास समिति (बांगलादेश रूरल एडवांडसमेंट कमेटी) और ग्रामीण बैंक की महिला कार्यकर्ताओं के अनुभव की रोशनी में सशक्तीकरण पर केन्द्रित किया। ये दोनों संगठन व्यक्ति के निजी आर्थिक सशक्तीकरण का नजरिया लेकर चल रहे हैं। शुलर और हाशमी के अनुसार बांगलादेश में महिला सशक्तीकरण के छः विशिष्ट घटक हैं:

1) निजी-व्यक्तित्व का बोध और भविष्य की दृष्टि

2) गतिशीलता और दृश्यमानता

3) आर्थिक सुरक्षा

4) घर-परिवार में स्थिति-प्रतिष्ठा और निर्णय करने का अधिकार

5) सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में प्रभावशाली ढंग से परस्पर-व्यवहार करने की क्षमता

6) गैर-पारिवारिक समूहों में सहभागिता

सामूहिक सशक्तीकरण और कारखाई के रूप में वे उन उदाहरणों का उल्लेख करते हैं, जिनमें महिला समूहों के सदस्य अपने समूह के उन सदस्यों के पतियों के खिलाफ कारखाई करते हैं जो उन्हें मारते हों या जिन्होंने अपनी पत्नियों को तलाक दे दिया हो। ये महिला समूह चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ी करते हैं और स्थानीय चुनावों में अपनी इच्छा से वोट डालते हैं।

महिलाओं को निजी तौर पर आर्थिक रूप से सशक्त, सबल बनाने का यह नजरिया सामूहिक राजनीतिक प्रभाव पैदा कर सकता है।

MAADHYAM IAS

महिला शिक्षा सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण स्रोत है
साभार : किरणमई बुसी

16.4.3 भारत में महिला आंदोलन पर लेजली कॉलमैन का अध्ययनकार्य

अपने अध्ययन में लेजली कॉलमैन ने भारत के महिला आंदोलन में दो प्रमुख वैचारिक और सांगठनिक प्रवृत्तियां पाई हैं:

i) विशाल शहरी आधार वाला आंदोलन जिसका मुख्य सरोकार अधिकार और समानता के मुद्दे हैं

ii) गांव और शहर दोनों में जिसका आधार है जो सशक्तीकरण और मुक्ति के मुद्दे पर लड़ता है।

कॉलमैन के अनुसार महिला अधिकारों के पैरोकार महिलाओं के सरोकारों को नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के रूप में लेते हैं जिनका उद्देश्य कानून की नजर में समानता पाना है। लेकिन महिला सशक्तीकरण के समर्थक महिलाओं के सरोकारों को आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के रूप में देखते हैं। इसका अर्थ है आजीविका और अपना भाग्य खुद तय करने का अधिकार। इसका लक्ष्य निर्धन महिलाओं का निजी और सामुदायिक स्तर पर सशक्तीकरण करना है।

सशक्तीकरण की दिशा में संगठन बनाने के लिए पहला कदम है महिला समूहों का मिलजुलकर अपनी समस्याओं का विश्लेषण और फिर उनके समाधान के लिए सामूहिक कारखाई करना। कॉलमैन के वर्गीकरण में सेवा (सेल्फएम्प्लाइड वीमेंस एसोसिएशन) सशक्तीकरण संगठन का अग्रणी उदाहरण है। बल्कि उनके वर्गीकरण में प्रशिखा को भी एक सशक्तीकरण संगठन माना जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

नोट: अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिला लीजिए।

1) सही या गलत बताइए

   a) महिलाओं को दुर्बलता या सत्ताधिकारहीनता का एहसास सिर्फ आर्थिक संस्थाओं में ही होता है।

   b) महिला सत्ताधिकारहीनता के चिंतन का एक नजरिया पितृसत्ता को लेकर चलता है।

   c) सशक्तीकरण अपेक्षतया विकास की एक नई अवधारणा है और यह पूरी तरह से परिभाषित नहीं है।

2) खाली स्थान भरिए

   a) भारत में महिला आंदोलन का अध्ययन किया है।

   b) महिला की सत्ताधिकारहीनता का कारण और महिलाओं की भूमिका पर ही जोर देना है।

   c) कॉलमैन के वर्गीकरण के अंतर्गत एक अग्रणी उदाहरण है।

16.5 सशक्तीकरण: व्यक्तिपरक अध्ययन (केस स्टडीज)

अपने तर्क को स्पष्ट करने के लिए अब हम कुछ व्यक्तिपरक अध्ययनों (केस स्टडीज) पर रोशनी डालेंगे।

MAADHYAM IAS

16.5.1 व्यक्तिपरक अध्ययन I: महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण के प्रति प्रशिखा का नजरिया

बांगलादेश में निर्धनों के संगठनों को खड़ा करने का सबसे पहला श्रेय प्रशिखा को जाता है। प्रशिखा की दृष्टि में महिला सशक्तीकरण विकास की प्रक्रिया के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार देश में व्याप्त गरीबी, निरक्षरता, कुपोषण, निम्न उत्पादकता और बेरोजगारी की समस्या के मूल में महिलाओं को अधिकारों और अवसरों से वंचित रखा जाना है। प्रशिखा महिला समूहों के सदस्यों के लाभ के लिए मानव संसाधन विकास प्रशिक्षण पाठ्यक्रम चला रही है। ये प्रशिक्षण पाठ्यक्रम इस तरह से बनाए गए हैं कि इनसे गरीब महिलाएं अपने सामने खड़ी होने वाली कठिनाइयों को पहचानें, उन्हें समझ सकें और फिर इनके समाधान के लिए विकास की समुचित रणनीतियां जान सकें उन पर अमल कर सकें। इन पाठ्यक्रमों और कार्यक्रमों का मूल उद्देश्य महिलाओं का सशक्तीकरण करना है ताकि वे दहेज, पत्नी की पिटाई, झूठे आरोपों पर तलाक देने और असमान वेतन जैसे चलन के खिलाफ सामूहिक आवाज उठा सकें। चूंकि गरीब महिलाओं को नेतृत्वकारी या प्रबंधकीय पदस्थानों पर कार्य करने के अवसर नहीं मिलते थे, इसलिए इन कार्यक्रमों के जरिए उन्हें महिला समूहों और अपने समुदाय में ऐसे पदों पर कार्य करने के लिए अनिवार्य योग्यता अर्जित करने का अवसर भी मिलता है।

प्रशिखा की दृष्टि में महिला की आमदनी होना उनके सशक्तीकरण की दिशा में पहला कदम है। परिवार की आमदनी में योगदान करके महिलाओं को अपने परिवार में निर्णय करने का अधिकार मिलने लगता है। कमाने योग्य होने पर महिलाएं अपने जीवनयापन और आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक साधन जुटाने में समर्थ हो जाती हैं। प्रशिखा महिलाओं को घर से बाहर भी आर्थिक क्रिया-कलाप करने के लिए प्रोत्साहित करती है यह श्रम के सामाजिक लिंग सोच जन्य विभाजन को बदलने और महिलाओं को नई प्रवीणताएं अर्जित करने के साथ साथ नई और उन्नत प्रौद्योगिकी का उपयोग करने के अवसर जुटाने में सहायक हो रहा है।

प्रशिखा ने आर्थिक सशक्तीकरण का जो नजरिया अपनाया है वह हमें जमुना महिला समिति जैसे संगठनों के उदय और विकास से स्पष्ट हो जाता है।

16.5.2 वनों का बचाव

पैकपाड़ा में वनों का नाश एक गंभीर समस्या थी जो स्थानीय धनी लोगों के कारण उत्पन्न हुई जिन्होंने अपने मुनाफे के लिए पेड़ों को अंधाधुध काटा है। पैकपाड़ा में अधिकांश जमीन सरकारी आरक्षित वन है जिसे स्थानीय वन विभाग चलाता है। इसके कुछ भ्रष्ट अफसरों की सांठ़गांठ से ही लकड़ी के ठेकेदारों ने इस जंगल को वृक्षहीन बना दिया है।

अपने निजी अनुभवों और पर्यावरण के संरक्षण और पुनरोद्भवन के बारे में प्रशिखा से उन्हें जो प्रशिक्षण और ज्ञान मिला था उससे उन्हें एहसास हुआ कि जंगलों के खत्म होने से सिर्फ पर्यावरण को ही नहीं बल्कि उनकी रोजीरोटी को भी गंभीर खतरा हो गया है। उन्हें याद था कि उनके मां-बाप के दिनों में जंगल में किस्म-किस्म के फलदार पेड़, साग-सब्जियां और जंगली मुर्गियां पाई जाती थीं। मगर अब वन्यजीवन की वैसी बहुलता, वे सभी पेड़-पौधे गायब हो गए थे और जंगल में सिर्फ साल के ही पेड़ नजर आते थे। औरतें इनकी टूटी टहनियों, शाखाओं और पत्तियों को जलावन के काम लाती थीं। लेकिन उन्हें पेड़ों के अवैध कटान से उनके जंगल की यह थोड़ी सी उपयोगिता भी खतरे में नजर आने लगी। पर महिलाओं ने जैसे ही अपना समूह बनाया उन्होंने जंगल के विनाश से बचाने का बीड़ा उठा लिया।

इस अभियान के अंतर्गत 1990 में जमुना महिला समिति के सदस्यों ने बारी-बारी से जंगल की पहरेदारी की। हालांकि इस कार्य से उन्हें अपने समाज में अपमान सहना पड़ा जैसा कि अक्सर परदा प्रथा को चुनौती देनी वाली और सार्वजनिक रूप से गतिशील और दृश्यमान महिलाओं के साथ मुस्लिम समाज में किया जाता है। मुल्ला-मौलवियों, गांव के बुजुर्गों और स्थानीय सरकारी अधिकारियों ने जंगल में औरतों की मौजूदगी और परदे के तिरस्कार का कड़ा विरोध किया। उन्होंने महिलाओं को डराने-धमकाने के कई हथकंडे अपनाए ताकि वे अपना आंदोलन बंद कर दें। इस विरोध के मूल में एक बहाना था। लकड़ी के व्यापार से मालामाल हुए धनाढ्य वर्ग को लगने लगा कि वे अब मनमाने ढंग से पेड़ों को नहीं काट सकेंगे। उन्हें यह भी एहसास होने लगा कि सामूहिक क्रिया-कलापों के चलते धनी पड़ोसियों पर निर्धन महिलाओं की निर्भरता भी घट गई है। महिलाओं ने जब सामूहिक कार्य करना शुरू किया तो उन्हें धनी परिवारों में घरेलू नौकरानी बनकर काम करने की जरूरत भी कम से कम पड़ने लगी क्योंकि वे अन्य आर्थिक क्रिया-कलापों से कमाने लगी थीं। महिला मंडल की सदस्यों को अब धनी साहूकारों से ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेने की जरूरत भी नहीं थी क्योकि प्रशिखा से ही उन्हें सस्ता ऋण मिलने लगा था।

मगर महिलाओं के जंगल बचाओ अभियान के पहले चरण में गांव के धनी वर्ग को भी उन पर जवाबी हमला करने का मौका मिला। उन्होंने उन पेड़ों को काट डाला जो इन महिलाओं की सुरक्षा में बड़े हो गए थे और जब औरतें उनसे उलझीं तो उन्होंने कुछ की धुनाई कर डाली। इस घटना के बाद पैकपाड़ा के स्त्री पुरुष और आसपास के गांवों वालो ने एक हस्ताक्षर अभियान चलाया जिसके बाद 2000 लोगों ने वनों के विनाश के विरोध में रैली निकाली जिसमें पत्रकार भी शामिल हुए। इस प्रदर्शन के जरिए उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि जंगल की रक्षा छोड़ने के बजाए वे मौत को गले लगाना पसंद करेंगे।

धनाढ्यों ने स्थानीय वन अधिकारियों को फुसलाकर पैकपाड़ा की औरतों और मर्दों के खिलाफ फर्जी मुकदमे दायर कराए लेकिन आखिर में इन मुकदमों को वापस ले लिया गया। इस रैली से महिलाओं ने अपनी बात स्पष्ट कर दी थी। इसके बाद उन्हें धनी वर्ग और अन्य हित समूहों से समस्याओं का सामना ज्यादा नहीं करना पड़ा। तब से वे अपने जंगल की रक्षा और उसकी देख-भाल कर रही है।

प्रशिखा की सहायता से पैकपाड़ा की महिलाएं इस स्थिति में आ गई हैं कि वे सरकार से जंगल से होने वाले लाभ के बंटवारे पर बातचीत कर रही हैं। उन्होंने सरकार को एक ऐसी योजना का पारूप बनाकर भेजा है जिसके तहत उन्होंने जंगल की देखभाल के दौरान पेड़ों के कटान से होने वाली आमदनी का 40 प्रतिशत हिस्सा मांगा है। चूंकि महिला समूह वन की देखभाल में वन विभाग की मदद कर रहे हैं इसलिए

इससे उन्हें जंगल की रक्षा करने का अतिरिक्त लाभ नजर आएगा। हालांकि यह एक बड़ी कठिन और लंबी प्रक्रिया है लेकिन प्रशिखा के कार्यकर्ताओं को विश्वास है कि सरकार और महिला समूहों के बीच इस तरह का समझौता एक न एक दिन हो जाएगा। इसके अलावा पैकपाड़ा की महिलाएं सरकार से खास भूमि (सरकारी जमीन) के लिए भी बातचीत कर रही हैं ताकि पैकपाड़ा के अनेक घरहीन लोग उस पर अपने लिए घर बना सकें।

16.5.3 व्यक्तिपरक अध्ययन II: 'सेवा' द्वारा तंबाकू श्रमिकों की यूनियन में लामबंदी

अब हम गुजरात के खेड़ा जिले में महिला तंबाकू श्रमिकों के यूनियनीकरण की प्रक्रिया और उसके फलस्वरूप उन में आए आर्थिक और सामाजिक बदलाव पर चर्चा करेंगे। स्वरोजगार में लगी महिलाओं के संगठन 'सेवा' (सेल्फ एम्प्लाइड वीमेंस एसोसिएशन) ने खेडा जिले में अपनी यूनियन गतिविधियां 1986 में शुरू की थीं जिसके बाद से यह जिले की सबसे मुख्य ट्रेड यूनियन बन गई है। पूरे जिले में इसके सदस्यों की कुल संख्या 1994 के अंत तक 14500 हो गई थी। सेवा की सबसे मुख्य सांगठनिक शक्ति उसकी इस क्षमता में निहित है जिसके चलते वह अधिक वेतन या मजदूरी के लिए की जाने वाली सौदेबाजी की शुद्धत: ट्रेड यूनियन गतिविधि को सामाजिक सुरक्षा से जोड़ लेती है जैसे बच्चों की देखरेख, बचत, बीमा। इसके साथ-साथ वह रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए भी कार्य करती है। खेड़ा जिले में 'सेवा' के प्रयास निश्चय ही इसका उल्लेखनीय उदाहरण हैं कि सशक्तीकरण की दिशा में ले जाने वाली सामूहिक काररवाइयों के माध्यम से वे क्या कुछ हासिल कर सकती हैं। खेड़ा की गिनती गुजरात के सबसे समद्ध जिलों में होती है। मगर इसमें असमानताएं भी उतनी ही ज्यादा हैं। धनाढ्य दुग्ध उत्पादकों, कपास और तंबाकू के किसानों और तंबाकू के कारखानों के साथ-साथ दरिद्र और शोषित श्रमिक भी रहते हैं जो कि जिले की बहुसंख्य आबादी हैं। यूं तो मजदूरों को खेती के लिए गुजरात में तय न्यूनतम मजदूरी मिलनी चाहिए थी लेकिन वास्तविकता में उन्हें इसकी आधी मजदूरी ही मिलती थी क्योंकि उन के हितों की रक्षा के लिए कोई संगठन या यूनियन नहीं थी। महिलाएं घंटों तक तंबाकू की पत्तियों को पीटने, उन्हें मशीन में डालने और फिर निर्मित तंबाकू को थैलियों में भरने के कामों में लगी रहती थीं। ये सारे काम वे तंबाकू की धूल से भरी गुबार में सांस लेते हुए करती थीं, जिसमें उन्हें तंबाकू के भारी-भारी बोझ भी उठाने पड़ते थे। इन कठोर परिस्थितियों में काम करने से महिलाएं शारीरिक थकान और कमर दर्द जैसी बीमारियों के अलावा सांस संबंधी रोगों से भी पीड़ित रहती थीं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

असंगठित अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों में महिलाओं की ही बहुलता देखन में आती है। इसके बावजूद भी अधिकांश ट्रेड यूनियनें महिलाओं के प्रति उदासीन रवैया अपनाती हैं। मगर 'सेवा' समष्टिवादी नजरिए से महिलाओं की समस्याओं को देखती है। वह महिलाओं को सिर्फ एक व्यक्तिगत प्राणी ही नहीं बल्कि संयुक्त पारिवारिक समूह का सदस्य भी मान कर चलती है। खेड़ा में चल रही ऐसी गतिविधियों में शिशुसदनों (क्रेश), बचत समूहों का संचालन, बीमा, स्वास्थ्य, ग्रामीण क्षेत्रीय महिला एवं बाल विकास समूहों का संचालन इत्यादि शामिल हैं।

कोई भी यूनियन सबसे पहले एक नए इलाके में प्रवेश करने के प्रयास में मांग-पत्र तैयार करती है, कुछ सदस्यों का पंजीकरण करवाती है और नियोक्ता के सामने मांग रखती है। इस तरह की रणनीति सिर्फ आर्थिक लाभ अर्जित करने के लिए बनाई जाने वाली यूनियन के लिए उचित रहती है। मगर सेवा अपनी गतिविधि की शुरुआत लक्षित क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण से करती है। इस सर्वेक्षण का उद्देश्य संगठनकर्ताओं को महिलाओं की समस्याओं से अवगत कराना होता है। इसके बाद उसका अगला कदम उन्हें इन समस्याओं और संभावित समाधानों के बारे में जागरूक बनाना होता है। संगठनकर्ता मजदूरों के लिए शिक्षण कार्यक्रम चलाते है जिनसे महिलाओं को अपने कानूनी अधिकारों की जानकारी मिलती है। इन शिक्षण कार्यक्रमों का उद्देश्य महिलाओं को जागरूक बनाना और उन्हें प्रेरित करना है ताकि वे समुचित काररवाई के लिए खुद निर्णय लें और पहल करें। हालांकि यह साधारणतया अधिकांश ट्रेड यूनियनों द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया से ज्यादा लंबी है लेकिन इसमें मजदूरों के बाहरी समर्थन पर निर्भर रहने के बजाए खुद उन्हीं की ओर से काररवाई शुरू करने का प्रयास रहता है।

शुरू में जब खेड़ा के चिकोडेरा गांव की इंदिराबेन ने मजदूरों की शिक्षा के लिए कक्षाएं आरंभ की तो उन्हें कोई विशेष समर्थन नहीं मिला। महिलाओं को डर था कि अगर उन्होंने इन कक्षाओं में भाग लिया तो उनका नियोक्ता इस बारे में जान जाएगा और उन्हें सताएगा। कई औरतें तो इस तरह के प्रयासों की आलोचना करती थीं। उन्हें लगता था कि अगर वे अपने कानूनी अधिकारों के बारे में जागरूक हो भी जाएंगी तो वे मालिक के सामने अपनी मांगें कभी नहीं रख पाएंगी क्योंकि वह काम से उनकी छुट्टी ही कर देगा। महिलाओं में भूस्वामियों और कारखाने के मालिकों का सामना करने का साहस या आत्मविश्वास भी नहीं था। इस तरह कम मजदूरी, निम्न सामाजिक स्थिति और तिस पर उनका स्त्री होना, इन सबके चलते वे असहाय और असंगठित थीं।

अभी तक ट्रेड यूनियनों ने तंबाकू श्रमिकों को संगठित करने के जो भी प्रयास किए थे उनका लक्ष्य सिर्फ पुरुष श्रमिक ही थे। इसलिए ट्रेड यूनियनों की ओर से महिलाओं को आकर्षित करना अत्यंत कठिन था। फिर जो गिनी-चुनी महिलाएं ट्रेड यूनियन की सदस्य बनीं, जब उन्होंने श्रम विभाग से यह शिकायत की कि उनके कारखाने में काम करने वाले मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती तो कारखाने के मालिकों ने ऐसी 17 महिला मजदूरों को नौकरी से निकाल दिया हालांकि वे उनमें वर्षों से काम कर रही थीं। इस घटना से भी महिलाओं के मन में डर बैठ गया था।

'सेवा' ने अपनी ट्रेड यूनियन गतिविधियों की शुरुआत 1986 में शिक्षण कक्षाएं खोलकर की। महिलाओं में धीरे-धीरे अपने कानूनी अधिकारों के प्रति जागरुकता बढ़ी, जैसे न्यूनतम मजदूरी, कार्यसमय इत्यादि। इन शिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से वे अब अपनी समस्यओं पर विचार विमर्श करने लगीं और उन्हें सामूहिक शक्ति के महत्व का पता चल गया।

ग्रामीण क्षेत्रीय महिला एवं बाल विकास योजना के तहत महिलाओं ने अपने मंडल बनाए और वे कुछ धनापार्जन गतिविधियां करने लगी। 'सेवा' ने उन्हें बचत समूह बनाने के लिए प्रोत्सहित किया ताकि उन्हें कर्ज के लिए अपने मालिकों पर आश्रित नहीं रहना पड़े। सेवा ने अपनी स्वास्थ्य योजना के स्वास्थ्य स्वयंसेवियों की एक अनूठी सहकारिता बनाई जिसने गरीब रोगियों को सस्ती दवाइयां उपलब्ध कराने के साथ-साथ स्वास्थ्य और साफ-सफाई के बारे में लोगों में जागरुकता फैलाई। एक ट्रेड यूनियन के रूप में 'सेवा' की शक्ति उसकी इस क्षमता में निहित है जिसके चलते इसने कई सहायक प्रणालियों का विकास करके उन्हें अपनी ट्रेड यूनियन गतिविधियों का हिस्सा बनाया है। सेवा ने महिलाओं को कर्ज और अनुदान जुटाने में भी सहायता की है। इसने कामकाजी महिलाओं के छोटे बच्चों की देखभाल के लिए 21 दिसंबर 1994 को श्री शैशव महिला बाल सेवा सहकारी मंडल की स्थापना की। कारखाने के मालिक भी अपने कारखानों में शिशुसदन चलाने के लिए इसे जगह देने को राजी हो गए। इसने जीआईसी (जनरल इंश्योरेंस कॉरपोरेशन) के सहयोग से निर्धनों की सहायता के लिए एक बीमा योजना भी चलाई है। 'सेवा' आगे की पीढ़ी यानी किशोरियों के लिए अवसरों को बढ़ाने के प्रयास में लगी हुई है। यहां गौर करने की मुख्य बात यह है कि महिलाएं अपनी सामूहिक कारवाई से शक्ति प्राप्त कर रही हैं। उनमें अब इतना आत्मविश्वास तो आ ही गया है कि वे फर्श पर बैठने के बजाए कुर्सी पर बैठ सकती हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) प्रशिखा ऐसा क्यों मानती है कि महिलाओं का धनोपार्जन करना महिला सशक्तीकरण की दिशा में पहला कदम है? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

2) खेड़ा में महिलाओं को ट्रेड यूनियनों की ओर आकर्षित कर पाना कठिन क्यों था? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

16.6 सारांश

इस इकाई में हमने सशक्तीकरण को परिभाषित करके यह बताया है कि महिला सशक्तीकरण का क्या अर्थ है। हमने महिलाओं की सत्ताधिकारहीनता के विभिन्न कारणों और महिलाओं की पराधीनता या उत्पीड़न को दूर करने के उपायों पर भी रोशनी डाली। आखिर में हमने प्रशिखा और सेवा जैसे महिला संगठनों के व्यक्तिपरक अध्ययन (केस स्टडीज) पर चर्चा है जिन्होंने महिलाओं के सशक्तीकरण में बड़ी प्रभावशाली भूमिका निभाई है।

16.7 शब्दावली

सशक्तीकरण : शक्ति या सत्ताधिकार देना

पितृसत्तात्मक समाज : वह समाज जिसमें परिवारिक सत्ता पूरी तरह से पति या पिता या फिर परिवार के अन्य पुरुष सदस्य के हाथ में रहती है।

सामाजिक गतिशीलता : व्यक्ति या समूह का एक सामाजिक वर्ग या सामाजिक स्तर से अन्य में गमन।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मैरीनियान कार, मार्था चेन, रेनाना झबराला (संपा) 1996 *स्पीकिंग आउट: इकॉनामिक एम्पावरमेंट ऑव वीमेन ने साउथ एशिया*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) a) गलत

b) सही

c) सही

2) a) लेजली कॉलमैन

b) पितृसत्ता, जननात्मक

c) सेवा

बोध प्रश्न 2

1) प्रशिखा की दृष्टि में महिलाओं का धनोपार्जन करना महिला सशक्तीकरण की दिशा में पहला कदम है क्योंकि परिवार की आमदनी में योगदान करके महिलाओं को अपने परिवार में निर्णय करने का अधिकार मिलने लगता है। इससे उसे अपने जीवनयापन और आत्म-निर्भरता के लिए आवश्यक साधन मिल जाते हैं। घर से बाहर उत्पादक क्रिया कलापों में भाग लेने से श्रम का लिंग सोच जन्य विभाजन बदल जाता है। इससे महिलाओं के लिए नई प्रवीणताएं अर्जित करने और नई उच्च प्रौद्योगिकी का उपयोग करने के दरवाजे खुल जाते हैं।

2) महिलाओं को ट्रेड यूनियनों की ओर आकर्षित करना इसलिए बेहद कठिन था कि तंबाकू श्रमिकों को यूनियनों के रूप में संगठित करने के अभी तक जो भी प्रयास हुए थे उन्हें पुरुष श्रमिकों तक सीमित रखा गया था। जिन महिला श्रमिकों ने श्रम विभाग को शिकायत करने का साहस किया कि उन्हें न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल रही है, उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया था और वे तब से बेरोजगार थीं। इस घटना ने भी उनमें डर पैदा कर दिया था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 17 जाति क्रम-परंपरा का आधार: पवित्रता और अपवित्रता

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.1.1 वर्ण-व्यवस्था की विशेषताएँ

17.1.2 जातियाँ

17.2 जाति क्रम-परंपरा का आधार

17.2.1 जाति और नस्ल

17.2.2 जाति और व्यवसाय

17.3 पवित्रता और दूषण

17.3.1 आधुनिक और पारंपरिक समाज

17.4 क्रम-परंपरा में निहित विचार

17.4.1 प्रस्थिति और सत्ताधिकार

17.4.2 द्युमोंत के सिद्धान्त का निचोड़

17.5 द्युमोंत के सिद्धान्त की आलोचना

17.6 सारांश

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे;
- जाति क्रम-परंपरा के आधार पर चर्चा कर सकेंगे;
- सुचिता या पवित्रता और दूषण की धारणाओं पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- जाति के बारे में द्युमोंत के सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

लंबे समय से जाति को भारतीय समाज की एक अनूठी विशेषता समझा गया है। यह सिर्फ वह संस्था नहीं है, जो भारत में सामाजिक स्तरीकरण के चरित्र को दृशाती है। बल्कि जाति को भारत की आत्मा के रूप में देखा गया है। इसे एक संस्था ही नहीं बल्कि एक विचारधारा के रूप में भी लिया जाता है। संस्था के रूप में जाति ने विभिन्न सामाजिक समूहों को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उनकी प्रस्थिति और स्थान के अनुसार क्रम बद्ध करने के लिए एक ढ़ांचा प्रदान किया। सामाजिक क्रम-परंपरा के ढ़ांचे में इसने

व्यक्तियों को उनके जन्म के आधार पर नियत किया। उधर एक विचारधारा के रूप में जाति मूल्यों और विचारों की एक ऐसी व्यवस्था रही है, जिसने समाज के मौजूदा असमतापूर्ण ढ़ांचे को विधिसम्मत बनाने के साथ-साथ उसे शक्तिशाली बनाने का काम किया है। इसने एक ऐसा विश्वदर्शन भी दिया है जिसके इर्द-गिर्द एक ठेठ हिन्दू अपने जीवन का ताना-बाना बुनता है।

भारत को अन्य समाजों से अलग करने वाली एक संस्था होने के अलावा, जाति पारंपरिक समाज की एक 'बंद व्यवस्था' का सार रही है, जिसमें व्यक्तियों ने अपनी आजीविका के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही किस्म का व्यवसाय अपनाया और कमोबेश एक ही किस्म की जीवन-शैली का निर्वाह किया। इसके विपरीत, पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक समाज सामाजिक स्तरीकरण की 'खुली व्यवस्थाएं' रहीं हैं, यानी जो असल में वर्ग पर आधारित समाज हैं, जिनमें व्यक्ति अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार अपना पेशा चुन सकते हैं। इनमें व्यक्ति सामाजिक क्रम-परंपरा में ऊँची श्रेणी हासिल कर सकता है और अपने वर्ग को बदल सकता है। वर्ण-व्यवस्था में व्यक्तिगत स्तर पर इस तरह की गतिशीलता असंभव है। इसलिए जाति को सामाजिक स्तरीकरण का चरम स्वरूप कहा गया है।

17.1.1 वर्ण व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ

प्रख्यात समाजशास्त्री जी.एस. घुरये के अनुसार हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की छः प्रमुख विशेषताएं हैं। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) *समाज का सखंड विभाजन:* जातियाँ ऐसे समूह थीं, जिनकी अपनी एक सुविकसित जीवन शैली थी। इन समूहों की सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती थी, जिसमें चुनाव या रुचि की कोई गुंजाइश नहीं थी। किसी भी व्यक्ति की हैसियत इससे तय नहीं होती थी कि उसके पास कितनी धन-दौलत है, बल्कि इससे होती थी कि हिन्दू समाज में उसकी जाति को कौन सा दर्जा प्राप्त है।

MAADHYAM IAS

ii) *क्रम-परंपरा:* विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक श्रेष्ठता या महत्ता की एक सुनिश्चित योजना काम करती थी। जाति क्रम-परंपरा के इस ढ़ांचे में हर जाति समूह को एक विशेष दर्जा दिया गया था।

iii) *खान-पान और सामाजिक संपर्क पर अंकुश:* व्यक्ति किस तरह का भोजन या पेय और किस जाति से स्वीकार करे या नहीं, इस बारे में बड़े ही सूक्ष्म नियम प्रचलित थे।

iv) *नागरिक और धार्मिक अशक्तता और विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकार:* गांव में अलग-अलग जातियों या जाति समूहों का पृथक्करण नागरिक विशेषाधिकार और अशक्तता का सबसे बड़ा चिन्ह था। कुछ संस्कारों को सिर्फ ब्राह्मण के अलावा अन्य जाति का व्यक्ति नहीं कर सकता था। इसी तरह शूद्रों और अन्य निम्न जातियों को पवित्र ग्रंथों को पढ़ने या उनका ज्ञान हासिल करने की अनुमति नहीं थी।

v) *पेशा चुनने की स्वतंत्रता नहीं होना:* आम तौर पर प्रत्येक जाति एक खास तरह के पेशे को ही अपना विधिसम्मत आजीविका मानती थी। पैतृक पेशे को छोड़कर कोई दूसरा पेशा अपनाना, वह अगर लाभप्रद भी हो, तो भी उचित नहीं समझा जाता था।

vi) *विवाह पर अंकुश:* जाति समूह सिर्फ सगोत्र विवाह करते थे। इसका यह अर्थ है कि एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते थे। पर इसके कुछ अपवाद भी थे। उदाहरण के लिए भारत के कुछ भागों में ऊँची जाति का व्यक्ति छोटी जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। इस प्रकार के वैवाहिक संबंध को अनुलोम विवाह कहा गया है।

बोध प्रश्न 1

1) वर्ण-व्यवस्था की क्या विशेषताएं थी? छः पंक्तियों में बताइए।

2) जाति से आप क्या समझते हैं? छः पंक्तियों में बताइए।

MAADHYAM IAS

एक अनुसूचित जाति ग्राम की आधार शिला

आभार: किरणमई बुसी

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जाति शब्द, जिसका अंग्रेजी प्रयाय 'कास्ट' है, वह भारतीय मूल का नहीं है। बल्कि इसकी उत्पत्ति को पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कास्ट' से माना जाता है जिसका अर्थ 'नस्ल' या 'शुद्ध' वंश से है। भारत के सामाजिक गठन को अर्थ देने के लिए इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग करने वाले पश्चिम से आए बाहरी लोग ही थे। अभी इस का प्रयोग एक सामान्य शब्द के रूप में सामाजिक संबंधों की दो भिन्न व्यवस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है। ये व्यवस्थाएँ हैं–वर्ण और जाति। वर्ण-व्यवस्था कमोबेश एक व्यापक ढ़ाँचा है जो समग्र देश पर लागू होता है। वर्ण चार प्रकार के माने

जाते हैं: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके अलावा अछूतों की पांचवी श्रेणी भी है, जिन्हें वर्ण-व्यवस्था से बाहर माना जाता है और सामाजिक क्रम-परंपरा में उन्हें सबसे निचला दर्जा दिया गया है।

अभ्यास 1

आपके विचार से वर्ण-व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएँ क्या हैं। उन्हें अपनी नोट बुक में लिखिए और दूसरे लोगों तथा अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ उन पर चर्चा कीजिए।

17.1.2 जातियाँ

यह एक ठोस सामाजिक जन समूह है, जो हमें देश के अलग-अलग भागों में अलग-अलग स्वरूपों में दिखाई देता है। एक अनुमान के अनुसार भारत के प्रत्येक भाषायी अंचल में लगभग दो सौ से तीन सौ जातियाँ पाई जाती हैं। जातियां अपेक्षतया छोटे अंतर्विवाही समूह हैं, जिनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन शैली और एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है। हर जाति का अपना एक नाम होता है और वह अपनी हैसियत को वर्ण क्रम-परंपरा की रोशनी में देखती है। एक अंचल में पाई जाने वाली विभिन्न जातियाँ एक ऊर्ध्व क्रम में व्यवस्थित रहती हैं। कई जातियाँ अपनी हैसियत को अन्य जातियों ने उन्हें जिस श्रेणी में रखा है, उससे अधिक जताती हैं। बेटाइली (1977) के अनुसार इस तरह की अस्पष्टता हमें खासकर मध्यक्रम के जाति समूहों में देखने को मिलती है।

वर्ण-व्यवस्था में हमें ऊर्ध्व गतिशीलता के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। छोटी जाति ऊँची जाति की जीवन शैली को अपनाकर जाति क्रम-परंपरा में अपनी स्थिति को बदल सकती थी और ऊँचा उठ सकती थी। भारत के प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को संस्कृतीकरण की संज्ञा दी है। पर जैसा कि आंद्रे बेटाइली ने भी बताया है, सिर्फ ऊंची जाति के कर्मकांडों और जीवन शैली को अपनाकर ही कोई निम्न जाति वर्ण-व्यवस्था में ऊँचा नहीं उठ सकती थी। बल्कि इसके साथ यह भी जरूरी था कि उस जाति समूह की भौतिक स्थिति में कुछ गुणात्मक सुधार हो। मगर जिन जातियों ने अपनी जीवन शैली का संस्कृतीकरण किया, उन्होंने जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था या इसकी विचारधारा को कभी कोई चुनौती नहीं दी। बल्कि वे तो सिर्फ इस व्यवस्था में अपनी स्थिति को बदलना चाहती थी। यूं तो अलग-अलग जातियाँ ऊपर उठीं या नीचे गिरी लेकिन वर्ण-व्यवस्था के ढांचे में कोई बदलाव नहीं आया।

MAADHYAM IAS

17.2 जाति क्रम-परंपरा का आधार

जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था पर समाजशास्त्रियों और समाजनृविज्ञानियों ने अनेक अध्ययन किए हैं। इस व्यवस्था को परिभाषित करने और इसकी विशेषताओं को जानने के अलावा उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या के लिए सिद्धान्त भी प्रस्तुत किए हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर भी ढूंढने का प्रयास किया है कि जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था आखिर भारत में ही क्यों पनपी और युगों से वह कैसे जीवित रह पाई है? या जाति क्रम-परंपरा का आधार क्या है? अलग-अलग विद्वानों ने जाति को अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया है। कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में नस्ली युद्धों को देखते हैं, तो कुछ इसकी उत्पत्ति अर्थ-व्यवस्था में ढूँढते हैं। कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जो इसे हिन्दू/भारतीय समाज के विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्यों की रोशनी में देखते हैं।

17.2.1 जाति और नस्ल

भारत पर टीका करने वाले कुछ पुराने विदेशी विद्वानों ने जाति और नस्ल के बीच संबंध मानकर इसे भारत पर आर्यों के तथा-कथित आक्रमण से जोड़ा। उनका मानना था कि सवर्ण हिन्दू 'विदेशी' या आर्य मूल के थे और निम्न जातियां 'मूल' या 'आदि' नस्लें थी। विजेता होने के नाते आर्यों ने अपने आपको सवर्ण जाति का दर्जा दिया और यहां के मूल

पराजित वासियों को अपने अधीन कर उन्हें निम्न जाति का दर्जा दिया। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रमाण के रूप में उन्होंने इस बात को रखा कि सवर्ण जातियों के लोंगों का रंग छोटी जातियों से गोरा होता है। मगर इस सिद्धान्त को कोरी कल्पना मानकर खारिज कर दिया गया क्योंकि इस तरह के तर्क की पुष्टि के लिए ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यह तर्क भी दिया गया है कि निम्न जातियों का रंग काला इसलिए नहीं होता कि वे मूलत: अलग नस्ल की हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें खुली धूप में खेतों-खलिहानों में शारिरिक श्रम करना पड़ता है। यह अगर सत्य भी है कि आर्य बाहर से आए थे तो भी इससे जाति भेदों और क्रम-परंपरा की जटिल वास्तविकता स्पष्ट नहीं हो पाती है। इस प्रकार की विस्तृत क्रम-परंपरा आखिर क्यों विकसित हुई? इस स्थिति ने वर्ग जैसी असमानता को जन्म क्यों नहीं दिया?

17.2.2 जाति और व्यवसाय

जो विद्वान जाति को अर्थ-व्यवस्था की रोशनी में देखते हैं वे ऐसा जाति और व्यवसाय के बीच पाए जाने वाले संबंध के मद्देनजर करते हैं। उनके अनुसार जाति एक किस्म का श्रम-विभाजन था, जिसके अंतर्गत विभिन्न जाति समूह अलग-अलग पेशों में महारत रखते थे। कुछ विद्वान इसे पूर्व-पूंजीवाद/सामंतवाद का एक विशिष्ट रूप मानते हैं, जो उनके अनुसार कुछ खास मामलों (जैसे जाति अंतर्विवाह, सहभोजिता और शारीरिक संपर्क पर अंकुश) में एक दूसरे पृथक तो थी, मगर वहीं दूसरे मामले (श्रम के पारंपरिक विभाजन) में परस्पर-निर्भर भी थीं। प्रसिद्ध समाज शास्त्री बौगल (1991) के अनुसार जाति शब्द का अर्थ सिर्फ पैतृक पेशों में महारत होना ही नहीं था, बल्कि उसमें विभेदी अधिकार भी निहित थे। विभिन्न व्यवसायों को क्रम-परंपरा में क्रम बद्ध रखा गया था, जिससे उन्हें अपनाने वाले व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से असमान बन गए। यही असमानता वर्ण-व्यवस्था की मूल विशेषता है। बौगल ने इस असमानता के अलावा दूषण की धारणा को भी वर्ण-व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता कहा है। एक जातिवादी समाज में विभिन्न जन-समूह एक दूसरे को आकर्षित करने के बजाए तिरस्कार करते हैं, वे अपने ही दायरे में सिमटे रहते हैं और वे अपने सदस्यों को करीबी समूहों से वैवाहिक संबंध बनाने से रोकने का भरसक प्रयत्न करते हैं। बौगल ने इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की तीन मुख्य विशेषताएँ रेखांकित की हैं: पैतृक व्यवसाय, क्रम-परंपरा और पारस्परिक तिरस्कार। इसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्री एस.वी. केत्कर ने 1909 में प्रकाशित पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया* में कहा है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार शुचिता और दूषण की धारणा है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.3 पवित्रता और दूषण

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, जाति क्रम-परंपरा के सिद्धांत का आधार शुचिता और दूषण की धारणा है। इसका संबंध फ्रेंच समाजशास्त्री लुई द्युमोंत के विचारों से है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *होमो हायर्किकस: द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्लिकेशंस* में इस **सिद्धांत** का गहन विवेचन किया है। द्युमोंत ने असल में पारंपरिक हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के बारे में एक सामान्य सिद्धांत को रखा है, जिसे हम 'आदर्श पुरुष' कह सकते हैं। अपने तर्कों को आधार प्रदान करने के लिए द्युमोंत ने हालांकि नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री का प्रयोग किया है, जिसमें उन्होंने वर्ण-व्यवस्था किस तरह व्यवहार में लाई जाती है, इस पर जमीनी-शोधकार्य (फील्ड वर्क) पर आधारित वृतांत भी प्रस्तुत किए हैं। मगर उनके मुख्य स्रोत प्राचीन हिन्दू ग्रंथ ही रहे हैं। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को उन्होंने एक संरचनावादी नजरिए से देखा है, जिसका मुख्य विषय एक निश्चित प्रणाली के मूल में निहित विचारों का ढांचा है। ये 'मूल सिद्धांत' ही उस प्रणाली के तर्क का आधार बनते हैं जो हमें रोजमर्रा के व्यवहार में स्पष्ट नजर नहीं आते। द्युमोंत का उद्देश्य एक शुद्ध मॉडल विकसित करना था, जो वर्ण-व्यवस्था की एक सामान्य व्याख्या दे सके।

बॉक्स 17.01

दयुमोंत उन विद्वानों के आलोचक रहे हैं, जिन्होंने जाति की व्याख्या राजनीतिक-आर्थिक कारकों की रोशनी में देने का प्रयत्न किया है, जिसमें जाति को प्रभुत्व और शोषण की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए वे एफ.जी. बैली की आलोचना करते हैं जिन्होंने *कास्ट एंड द इकॉनमिक फ्रंटियर* नामक पुस्तक में तर्क दिया है कि जातियों की राजनीतिक-आर्थिक श्रेणी और आनुष्ठानिक श्रेणी में बड़ा भारी संयोग होता है। (उन्होंने यह पुस्तक उड़ीसा में अपने जमीनी शोधकार्य को आधार बनाकर लिखी थी।) यह इस सामान्य नियम का द्योतक है कि जो लोग धन और राजनीतिक शक्ति हासिल कर लेते हैं वे आनुष्ठानिक श्रेणीकरण में ऊँचा उठ जाते हैं। इसका यहां यह तात्पर्य है कि गांव में जाति समूहों के श्रेणीकरण की व्यवस्था को उत्पादन के संसाधनों पर उनके नियंत्रण से मान्यता मिलती है।

बैली और राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांत की लीक पर चलने वाले उन जैसे अन्य समाजशास्त्रियों से असहमति रखते हुए दयुमोंत कहते हैं कि वे भारतीय समाज की विचित्रता को नहीं समझ पाए हैं। दयुमोंत तर्क देते हैं कि ये विद्वान भारत में पश्चिम के समाजों की वर्गीय सामाजिक गठन जैसी समानताएं ढूंढ़ते दिखाई देते हैं। वह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि भारत और उस जैसे पारंपरिक समाज पश्चिमी समाज से मूलत: भिन्न हैं। उनकी सामाजिक रचना की व्याख्या के लिए बिल्कुल भिन्न धारणाओं की जरूरत है। दयुमोंत यह भी सिद्ध कर दिखाते हैं कि बैली यह स्पष्ट नहीं कर पाए कि जाति क्रम-परंपरा में ब्राह्मण को शीर्ष स्थान पर आखिर क्यों रखा गया था। बैली ने यह जान लिया था कि सत्ताधिकार और आनुष्ठानिक प्रस्थिति के बीच पाए जाने वाला सहसंबंध जाति-क्रम के दो चरम छोरों-यानी जाति क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विराजमान ब्राह्मणों और उसके रसातल पर पाए जाने वाले अछूतों के मामले में काम नहीं करता। दयुमोंत का मानना है कि यह कोई विसंगति नहीं, बल्कि वर्ण-व्यवस्था की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है।

वह कहते हैं कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को एक ऐसी पद्धति के रूप में देखने की जरूरत है जो पश्चिम के बिल्कुल उलट है। पश्चिम एक आधुनिक समाज है जिसका आधार व्यक्तिवाद है, मगर भारत एक पारंपरिक समाज है। पारंपरिक समाजों का सामाजिक ढ़ाँचा बिल्कुल भिन्न सिद्धांतों पर चलता है, जिसे हम 'समग्रता' में ही समझ सकते हैं। यह 'समग्रता' या 'साकल्यवाद' ही वह बुनियाद है, जिस पर जाति को परिभाषित करने के लिए एक अभीष्ट सिद्धांत खड़ा किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

17.3.1 आधुनिक और पारंपरिक समाज

पश्चिम के आधुनिक समाज के विपरीत भारतीय समाज या किसी भी पारंपरिक समाज ने व्यक्तियों के बीच हैसियत या प्रस्थिति की समानता को बनाए रखने की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। बल्कि उनका ध्यान सामाजिक भेदों और विषमताओं को बनाए रखने पर ज्यादा था। पारंपरिक समाज में 'व्यक्ति' से ज्यादा साकल्यवाद के आदर्श को महत्व दिया जाता था। दयुमोंत तर्क देते हैं कि पश्चिमी और भारतीय समाज के बीच इस बुनियादी अंतर को ध्यान में रखकर हम जाति की समुचित व्याख्या दे सकते हैं। दयुमोंत का कहना है कि जाति सबसे पहले एक विचारधारा, यानी विचारों, विश्वासों और मूल्यों की एक व्यवस्था थी। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था के इसी विचारधारात्मक पहलू की रोशनी में ही हिन्दू समाज के मूल ढ़ांचे को देखा जाना चाहिए। इस विचारधारा से ही हम जाति का सार समझ सकते हैं और वर्ण-व्यवस्था के मूल में काम करने वाले सिद्धांत को सही-सही पहचान सकते हैं। उनकी दृष्टि में विचारधारा एक अवशिष्ट कारक या बाहरी ढ़ाँचे का एक अंश नहीं है, जैसा कि मार्क्सवाद में समझा गया है। उनके अनुसार विचारधारा एक स्वतंत्र क्षेत्र है और उसे अन्य कारक की तरह नहीं माना जा सकता है। न ही उसे राजनीतिक-आर्थिक कारक से गौण माना जा सकता है।

17.4 क्रम-परंपरा का विचार

वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा क्रम-परंपरा है। इसलिए द्युमोंत कहते हैं: "जाति हमें क्रम-परंपरा का बुनियादी सामाजिक सिद्धांत सिखाती है।" क्रम-परंपरा ही जाति का निचोड़ है। यह असमानता का दूसरा नाम या सामाजिक स्तरीकरण का चरम स्वरूप नहीं है, बल्कि क्रम-परंपरा सामाजिक संगठन का एक एकदम भिन्न सिद्धांत है। क्रम-परंपरा पर उनकी धारणा बौगल के लगभग समान है, जिन्होंने जाति की व्याख्या क्रम-परंपरा, व्यावसायिक विशेषज्ञता और पारस्परिक-प्रतिकर्षण, इन तीन सिद्धांतों की रोशनी में की थी। मगर द्युमोंत तर्क देते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की यथेष्ट सैद्धांतिक व्याख्या के लिए एक उभयधर्मी तत्त्व का पता लगना जरूरी है। इस अकेले वास्तविक सिद्धांत में वर्ण-व्यवस्था की उन तीनों विशेषताओं को मिलाया जा सकता है जिनका उल्लेख बौगल ने किया है। तभी हम वर्ण-व्यवस्था के ढ़ाँचे को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। उनके अनुसार यह सिद्धांत 'पवित्र और अपवित्र का विरोध' था।

बाक्स 17.02

क्रम-परंपरा को अपवित्र पर पवित्र की श्रेष्ठता के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो द्युमोंत के वर्ण-व्यवस्था के मॉडल का मुख्य आधार था (मदान, 1991)। जैसा कि द्युमोंत खुद लिखते हैं:

"यह विरोध ही क्रम-परंपरा का आधार है, जो कि पवित्र की अपवित्र पर श्रेष्ठता है। यह पार्थक्य का आधार है क्योंकि पवित्र और अपवित्र को एक दूसरे से अलग रखा जाना चाहिए।" यही श्रम के विभाजन का आधार है क्योंकि पवित्र और अपवित्र व्यवसायों को भी इसी तरह पृथक रखा जाना चाहिए। समग्र ढ़ाँचा इन दो विपरीत ध्रुवों के अनिवार्य मगर क्रम-परंपराबद्ध सह-अस्तित्त्व पर टिका है। (मदन, 1991)।

द्युमोंत की दृष्टि में जातियां सिर्फ क्रम-परंपरा के अनुसार ऊर्ध्व-क्रम में ही श्रेणीबद्ध नहीं थी, बल्कि वे विरोधों की एक व्यवस्था, एक ढ़ाँचे के जरिए परस्पर जुड़ी रहती थीं। वर्ण-व्यवस्था के इसी ढ़ांचे को उन्होंने प्राचीन हिन्दू ग्रंथों के अध्ययन के जरिए समझने और स्पष्ट करने का प्रयास किया था।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

क्रम-परंपरा की अवधारणा की परिभाषा दीजिए और अध्ययन केन्द्र में अपने सहपाठियों से इस पर चर्चा कीजिए। इससे आपको जो बातें पता चलती हैं उन्हें नोट कर लीजिए।

17.4.1 प्रस्थिति और सत्ताधिकार

द्युमोंत के सिद्धांत के अनुसार हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि प्रस्थिति और सत्ताधिकार के बीच में विशिष्ट संबंध है। आधुनिक पश्चिमी समाजों में सत्ताधिकार और प्रस्थिति सामान्यत: साथ-साथ चलते हैं। मगर वर्ण-व्यवस्था में दोनों के बीच अपसारिता का गुण देखने को मिलता है। एक ठेठ वर्ण-व्यवस्था में जो लोग राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं, जरूरी नहीं कि समाज में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो। इसी तरह जिन लोगों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहता है, जैसे ब्राह्मण को, वे आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो सकते हैं और हो सकता है कि राजनीतिक रूप से वे प्रभावशाली भी न हों। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज की सबसे बड़ी विशिष्टता यह रही है कि सामाजिक संगठन के सिद्धांत के रूप में प्रस्थिति सत्ताधिकार से हमेशा श्रेष्ठ रही है। यानी प्रस्थिति या हैसियत सत्ताधिकार को समाविष्ट किए रहती है। वर्गों में बंदे समाज के विपरीत, वर्ण व्यवस्था में सत्ताधिकार ने प्रस्थिति क्रम-परंपरा के दायरे में काम किया है।

17.4.2 द्युमोंत के सिद्धांत का निचोड़

द्युमोंत के सिद्धांत का निचोड़ हम उनकी इन मुख्य बातों के रूप मे निकाल सकते हैं, जो उन्होंने अपनी व्याख्या में की हैं:

- हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या हम राजनीतिक और आर्थिक कारकों की रोशनी में नहीं कर सकते। जाति वर्ग का एक और रूप या सामाजिक स्तरीकरण का एक चरम स्वरूप नहीं है।
- इसकी व्याख्या इसके विचारों और मूल्यों के मूल में निहित ढ़ांचे यानी विचारधारा की रोशनी में की जानी चाहिए।
- पारंपरिक समाज में मूल्य व्यवस्था (विचारधारा) और सामाजिक संगठन का ढ़ांचा पश्चिम के आधुनिक समाज से बिल्कुल भिन्न था।
- क्रम-परंपरा हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा है। उन्होंने क्रम-परंपरा के ढ़ांचे की व्याख्या 'पवित्र' और 'अपवित्र' के बीच द्वंद्वात्मक संबंध (एकत्व और विरोध) की रोशनी में की है।
- वर्ण-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह प्रस्थिति और सत्ताधिकार को अलग करके चलती है। क्रम-परंपरा की विचारधारा ने ही समाज में विभिन्न जाति-समूहों की प्रस्थिति को तय किया। यह वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति की भौतिक स्थिति से अधिक महत्वपूर्ण थी। जैसे पुरोहित का स्थान कम से कम सिद्धांततः राजा से श्रेष्ठ था।

17.5 द्युमोंत के सिद्धांत की आलोचना

हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अध्ययन में द्युमोंत की पुस्तक *होमो हायर्किकस* को सबसे महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। 'शुचिता' और 'दूषण' के रूप में जाति की उन्होंने जो व्याख्या दी है वह सहजबौद्धिक समाजशास्त्र का एक अभिन्न अंग बन गई है। मगर उनका सिद्धांत सबसे अधिक विवादास्पद भी रहा है। अलग-अलग आधार पर उनके सिद्धांत पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने और जाति पर उनकी व्याख्या को चुनौती देने वाले प्रसिद्ध विद्वानों में जेराल्ड मेंचर जैसे समाजशास्त्री रहे हैं। ये सभी ख्यातनाम विद्वान भारतीय समाज के अध्येता हैं और इन्होंने द्युमोंत के तर्कों में जगह-जगह पर अनुभवजन्य, तार्किक और वैचारिक विसंगतियां देखी हैं। द्युमोंत के सिद्धांत की जिन विद्वानों ने जो अलग-अलग आलोचना की है उसकी कुछ सामान्य बातें इस प्रकार हैं:

i) *यह जाति की अनुभवजन्य वास्तविकता के समरूप नहीं है:* द्युमोंत के आलोचक विद्वानों का मानना है कि उनका सिद्धांत कुछ चुनिंदा प्राचीन हिन्दू ग्रंथों के अध्ययन की उपज है। उन्होंने भारी मात्रा में अनुभवजन्य साहित्य को अनदेखा किया, जिसे पेशेवर समाजनृविज्ञानियों ने गांवों के अध्ययनों और मोनोग्राफों के रूप में रचा है। ये मोनोग्राफ विस्तार से यह जानकारी देते हैं कि वर्ण-व्यवस्था सूक्ष्म-स्तर पर किस तरह से काम करती है। इन अध्ययनों में उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का जो विवेचन किया है वह द्युमोंत के सिद्धांत की पुष्टि नहीं करता। जैसा कि गुप्ता बताते हैं द्युमोंत इन वास्तविकताओं को जानते थे। मगर रोचक बात है कि उन्होंने इन्हें इस तरीके से रचा कि उनके सिद्धांत में उनका प्रभाव नगण्य हो गया। इसमें संदेह नहीं कि द्युमोंत बेलाग कहते हैं कि उनका प्रयत्न वर्ण-व्यवस्था के मूल में मौजूद ढ़ाँचे को समझना था न कि वर्ण-व्यवस्था दैनिक जीवन में किस तरह से काम करती है यह जानना। मगर इस प्रक्रिया में वे सामान्यीकरण कर बैठते हैं जिसका अनुभवजन्य महत्व होता है। वह

MAADHYAM IAS

हमें यह विश्वास कराना चाहते हैं कि उनका सिद्धांत ही जाति के सार को सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करता है।

जैसा कि बेरेमैन ने सही कहा है, लोगों के जीवन में जाति का अस्तित्व उनके अनुभव के स्तर पर ही मिलता है क्योंकि वे एक-दूसरे के साथ अन्योन्यक्रिया करते हैं, जिसे बोलचाल की भाषा में हम संपर्क या व्यवहार कह सकते हैं। जो लोग जाति को जीते हैं उनके लिए उसका मानवीय तात्पर्य सत्ताधिकार और अशक्तता, विशेषाधिकार और दमन, सम्मान और तिरस्कार, प्रचुरता और अभाव, पारितोषिक और वंचना, सुरक्षा और व्याकुलता है। एक नृवैज्ञानिक दस्तावेज के रूप में जो भी वृतांत इस अभिप्राय का संप्रेषण नहीं करता उसे आज की दुनिया में विडंबना ही समझा जाएगा।

इसके अलावा द्युमोंत ने जाति का एक ऐसा सिद्धांत गढ़ने का प्रयत्न किया जो पूरे भारतीय उप-महाद्वीप पर लागू हो सके। मगर अनुभव के स्तर पर वर्ण क्रम-परंपरा व्यवस्था में हमें आंचलिक भिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं। भारत के कुछ अंचल ऐसे हैं जहां ब्राह्मणों को सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, मगर ऐसे अंचल भी कई हैं जहां उन्हें उतना अधिक आदर नहीं मिलता। इसका उदाहरण भारत का पश्चिमोत्तर अंचल है।

ii) *प्रस्थिति और सत्ताधिकार एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते:* द्युमोंत का सिद्धांत इस अवधारणा पर टिका है कि भारतीय समाज में आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा सत्ताधिकार और संपदा के आधार से स्वतंत्र होकर काम करती है। उनके आलोचकों में यही अवधारणा सबसे विवादास्पद विषय है। उदाहरण के लिए बेरेमैन का तर्क है कि सत्ताधिकार-प्रस्थिति का विरोध जाति के संदर्भ में एक गलत द्विभाजन है। वह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि दोनों सभी जगह साथ-साथ चलते हैं और भारत का मामला इसका अपवाद नहीं है। सत्ताधिकार और प्रस्थिति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अपने तर्क में वे वर्ण-व्यवस्था में गोंड जनजाति के आ मिलने का उदाहरण देते हैं। गोंड लोगों को वर्ण-व्यवस्था में प्रायः अछूतों के रूप में मिलाया गया था। मगर जिस जगह उनके पास भूमि के रूप में शक्ति या सत्ताधिकार था वहां उनके साथ भिन्न तरह का व्यवहार हुआ। इस स्थिति में स्थानीय वर्ण क्रम-परंपरा में उन्हें काफी ऊँचा दर्जा दिया गया और राज गोंड कहकर उन्हें संबोधित किया गया। इसी तरह से समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता भी कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का नियम तभी माना जाता था जब उसके साथ सत्ताधिकार का नियम भी काम कर रहा हो।

iii) *द्युमोंत का सिद्धांत ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य है:* वर्ण-व्यवस्था का आंशिक और पूर्वाग्रही दृष्टिकोण रखने के लिए द्युमोंत की खूब आलोचना हुई है। उनका सिद्धांत काफी हद तक प्राचीन हिन्दू ग्रंथों पर आधारित है जिनकी रचना सवर्ण ब्राह्मणों ने की थी। इस कारण उनका सिद्धांत सवर्णों के पूर्वाग्रहों का प्रतिबिंब है। यहां पर बेरेमैन की यह टिप्पणी गौर करने लायक है:

"द्युमोंत इसके लिए कुछ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों पर तो भरपूर निर्भर रहते हैं मगर वहीं वे दूसरे स्रोतों को अनदेखा कर देते है। इस तरह के स्रोतों पर निर्भर रहने पर इस तरह की तकनीक अपरिहार्य हो जाती हैं, क्योंकि इससे आप जो चाहें 'सिद्ध' कर सकते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि वह हमारे सामने जाति का जो दर्शन रखते हैं, वह कृत्रिम, अनम्य, रूढ़िबद्ध और आदर्शीकृत है। यह एक ऐसा दर्शन है जो हिन्दू भारत के इस सवर्ण आदर्श का बड़ी निकटता से पुष्टि करता है जैसा कि उसे सकारात्मक महत्व देने वाले लोगों के अनुसार होना चाहिए।"

एक अन्य विद्वान, जोआन मेंचर ने तमिलनाडू की छोटी जातियों के बीच जमीनी अध्ययन कार्य (फील्ड वर्क) किया था। उन्होंने भी पाया कि वर्ण-व्यवस्था के सबसे

MAADHYAM IAS

निचले क्रम में रखे गए लोगों के विचार में जाति ने आर्थिक शोषण की एक बड़े ही प्रभावशाली व्यवस्था के रूप में काम किया है और कर रही है।

iv) *दयुमोंत पारंपरिक और आधुनिक समाज के बीच एक गलत द्विभाजन लेकर चलते हैं:* भारतीय समाज को बुनियादी रूप से पश्चिम से भिन्न बताने के लिए दयुमोंत की आलोचना की जाती है। वह पश्चिम के आधुनिक समाजों और तीसरी दुनिया के पारंपरिक समाजों के बीच विद्यमान द्विभाजन की धारणा को लेकर चलते हैं। उनका सिद्धांत मूलतः यह मानकर चलता है कि पश्चिम के आधुनिक समाज व्यक्तिवादी और समतावादी विचार रखते हैं। मगर पारंपरिक समाजों की विशेषता यह है कि वे मनुष्य की सामूहिक प्रकृति की अवधारणा को लेकर चलते हैं, उनमें व्यक्तिगत के बजाए सामाजिक लक्ष्यों को प्रधानता दी जाती है और इसलिए वे क्रम-परंपरा में बंधे रहते हैं। इसमें यह अर्थ छिपा है कि भारत जैसे पारंपरिक समाज समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों के बारे में कुछ नहीं जानते। इस प्रकार उन्होंने भारत जैसे पारंपरिक समाज को बंद और अपरिवर्तनशील समाज के रूप में तो पश्चिम को प्रगतिशील और खुले समाज के रूप में दर्शाया।

v) *दयुमोंत का सिद्धांत व्यक्ति को कोई महत्व नहीं देता:* पारंपरिक समाज की दयुमोंत ने जो अवधारणा सामने रखी है वह व्यक्तिगत रुचि को कोई महत्व या मान नहीं देती है। बेरेमैन के अनुसार उन्होंने इस वर्ण-व्यवस्था के लोगों को भावनाशून्य, संगठित, यंत्रवत् चलने वाले प्राणियों के रूप में चित्रित किया है जो कठोर सामाजिक शक्तियों द्वारा शासित हैं,जो सार्वभौमिक मूल्यों का पालन बिना किंसी संदेह और त्रुटि के करते हैं। पारंपरिक भारतीय समाज की इस अवधारणा को हम उन अनुभवजन्य अध्ययनों के आधार पर गलत सिद्ध कर सकते हैं जो पेशे से सामाजिक नृवैज्ञानिकों ने किए हैं। ये अध्ययन प्रमाणित करते हैं भारतीय लोग उतने ही दुराग्रही, गुटबाज और निजी तौर पर परिवर्तनीय हैं जितने कि दुनिया के अन्य लोग।

MAADHYAM IAS

vi) *वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा के विरोध में होने वाले सामाजिक आंदोलनों का दयुमोंत के सिद्धांत में कोई स्थान नहीं:* दयुमोंत के आलोचकों का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था के दमनात्मक पहलू और इसके विरोध में होने वाले तरह-तरह के आंदोलन जाति के उपोत्पाद नहीं हैं जैसा कि दयुमोंत समझते हैं। आधुनिक और पूर्वाधुनिक भारत में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के विरोध में अनेक आंदोलन हुए हैं। बौद्ध-धर्म से लेकर भक्ति आदोलन, सिख धर्म से लेकर नव-बौद्ध धर्म तक ऐसे बड़े ही शक्तिशाली आंदोलन चले हैं जो कुछ हद तक वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा का विरोध करने में सफल रहे हैं। मगर दयुमोंत ने भारतीय समाज का जो चित्रण किया और वर्ण-व्यवस्था का जो सिद्धांत हमारे सामने रखा है, उसमें इन सब वास्तविकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

बोध प्रश्न 2

1) पवित्रता और दूषण पर पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2) द्युमोंत की आलोचना पाँच पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

....

17.6 सारांश

पारंपरिक भारतीय समाज और हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप पर लुई द्युमोंत ने 'शुचिता' और 'अपवित्रता' का जो सिद्धांत रखा उससे अधिक प्रभावशाली शायद कोई अन्य नहीं है। तमाम तरह की आलोचनाओं के बावजूद उनकी पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य रूप से पठनीय मानी जाती है। आलोचकों ने हालांकि उनके सिद्धांत को लेकर मान्य मुद्दे उठाए हैं, मगर वे द्युमोंत जैसा कोई वैकल्पिक सिद्धांत भी नहीं सुझा पाए हैं। अपनी धारणाओं और विधियों के चलते वे अपने सिद्धांत के आलोचकों का प्रत्युत्तर देने में सफल रहे हैं। बहरहाल उनका सिद्धांत भले कितना ही शक्तिशाली क्यों न रहा हो, वर्ण-व्यवस्था के समकालीन परिप्रेक्ष्य को समझने में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वर्ण-व्यवस्था एकदम भिन्न धरातल पर काम कर रही है। लोकतांत्रिक संस्थाओं और वयस्क मताधिकार की स्थापना ने जिस नई राजनीतिक प्रक्रिया के युग का सूत्रपात किया उसने वर्ण-व्यवस्था के व्याकरण को पूरी तरह से बदल डाला है।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चटर्जी, एस.एम. और यू. शर्मा संपा. (1994) *कंटेक्स्चुएलाइजिंग कास्ट*, ऑक्सफर्ड, ब्लैकवेल पब्लिशर्स

द्युमोंत, लुई (1970) *होमो हायर्किकस: द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लिकेशंस*, दिल्ली, विकास

MAADHYAM IAS

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ण व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

   i) समाज का सखंड विभाजन

   ii) क्रम-परंपरा

   iii) खान-पान और सामाजिक संपर्क पर अंकुश

   iv) धार्मिक अशक्तताएँ और विशेषाधिकार

   v) पेशा चुनने की छूट न होना

   vi) विवाह संबंधी वर्जनाएँ

2) जातियां लोगों का समूह हैं। उनमें आंचलिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। हर भाषायी अंचल में दो सौ से तीन सौ जातियाँ रहती हैं। जातियां छोटे अंतर्विवाही समूह हैं जिनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन शैली होती है। जातियां अपनी हैसियत या स्थिति को वर्ण व्यवस्था की रोशनी में देखती हैं। वर्ण-व्यवस्था में जो योजना दी गई है वह स्पष्ट है, मगर वर्ण क्रम-परंपरा में जातियों का स्थान स्पष्ट नहीं है।

बोध प्रश्न 2

1) द्युमोंत ने वर्ण-व्यवस्था पर जो सिद्धांत दिया है, वह पूरी तरह से शुचिता और अपवित्रता की अवधारणा पर टिका है। द्युमोंत ने एक 'आदर्श पुरुष' सिद्धांत की रचना की और उसे संरचनावादी दृष्टिकोण से देखा। वह कहते हैं कि क्रम-परंपरा में जाति का स्थान उसकी शुचिता और अपवित्रता की विचारधारा निर्धारित करती है।

2) द्युमोंत के सिद्धांत की आलोचना में कही जाने वाली बातें इस प्रकार हैं:

i) यह वह वास्तविकता नहीं है जिसे व्यक्ति दैनिक जीवन में जीता है।

ii) प्रस्थिति और सत्ताधिकार एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते।

iii) यह ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है।

iv) इस सिद्धांत में व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 18 जाति के आयाम: अनुष्ठान और सत्ताधिकार

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 जाति के भिन्न अर्थ

18.3 ऐतिहासिक संदर्भ

  18.3.1 जाति का सामाजिक यथार्थ

18.4 दो सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

  18.4.1 अन्योन्य-क्रियात्मक संबंधी सिद्धांत

  18.4.2 विशेषताबोधक संबंधी सिद्धांत

  18.4.3 धार्मिक क्रम-परंपरा

  18.4.4 द्युमोंत का सिद्धांत

18.5 सारांश

18.6 शब्दावली

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- जाति के भिन्न अर्थों के बारे में जान सकेंगे;
- जाति के ऐतिहासिक संदर्भ पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- वर्ण-व्यवस्था पर प्रचलित दोनों सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों के बारे में बता सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

आंद्रे बेटाइली लिखते हैं: "जाति पारंपरिक भारत की बुनियादी संस्था है।" निश्चय ही जाति हिन्दू समाज के लिए इतनी बुनियादी है कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास यह कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं: "हिन्दुस्तान को वर्ण व्यवस्था से विलग करना असंभव है।" मगर भारत में गैर-हिन्दू संप्रदायों में भी जाति उतनी ही व्याप्त है। ईसाई, इस्लाम और सिख जैसे धर्म हालांकि इस तरह की 'संस्थागत असमानता' के आदर्श के विरुद्ध थे, मगर वे सामाजिक संगठन का ऐसा कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं, जो भारतीय ताने-बाने में टिक सके। इसलिए ये सभी संप्रदाय भी वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप ढल गए। इस संस्था की पूर्ण अभिव्यक्ति जाहिर है हिन्दू समाज में ही होगी, मगर भारतीय उपमहाद्वीय के अन्य सम्प्रदायों में भी इसकी प्रछन्न अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

एक संस्था के रूप जाति की अपनी एक संरचना और अपने मूल्य हैं। यह सामाजिक संगठन का सिद्धांत और एक सामाजिक विचारधारा, दोनों है। भारतीय समाज में जाति की केन्द्रिकता और आधुनिकता से इसके विरोधात्मक संबंध के चलते हमें यह तत्काल नजर आ

जाता है कि इस संस्था में किसी तरह का बदलाव ऐसे समाज में आधुनिकीकरण पर निर्णायक प्रभाव डाल सकता है। असल में इस मामले में हम किसी भी परिवर्तन के लिए एक 'गुणक प्रभाव डालने की अपेक्षा कर सकते हैं। मगर हम जब उपलब्ध अनुभवजन्य प्रमाण पर आते हैं, तो इसके संकेत हमें उतने प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते जितनी कि हमें अपेक्षा होती है। यर्थाथ में कोई भी सामाजिक संस्था, खासकर गहरी जड़ें जमाए जाति जैसी संस्था, कभी लुप्त नहीं होती। इसलिए यहां एक यथार्थवादी प्रश्न उठता है कि बदलती स्थिति में आखिर जाति कौन से नए रूप धारण कर रही है और ये रूप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को किस तरह से प्रभावित कर रहे हैं?

इस प्रश्न को एक वृहत्तर दायरे में रखने पर हमारे लिए यह प्रासंगिक हो जाता है कि हम जाति के अर्थ और उसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझें। कोई भी बदलाव चाहे प्रचंड ही क्यों न हो, वह हमेशा अतीत के साथ सांतत्य बनाए रखता है। वर्तमान को अच्छी तरह से समझने और भविष्य का अनुमान लगाने के लिये यह नितांत आवश्यक है। मगर सबसे पहले जरूरी है कि गहराई से यह जान लें कि जाति का अर्थ क्या है।

18.2 जाति के भिन्न अर्थ

जाति को दो भिन्न अर्थों में लिया जाता है। इसलिए ये जाति की उत्पत्ति और अर्थ की दो अलग-अलग व्याख्याओं को जन्म देते हैं। लीच के अनुसार "एक *नृजातिवर्णन संबंधी* श्रेणी के रूप में जाति सामाजिक संगठन की ऐसी व्यवस्था को कहते हैं जो हिन्दू भारत की विशिष्टता है। मगर एक समाजशास्त्रीय श्रेणी के रूप में यह किसी भी किस्म के वर्गीय ढांचे को दर्शाती है, जो अद्वितीय रूप से कठोर है।" पहला अर्थ जाति को सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे में रखता है और भारतीय समाज में प्रचलित इसके विचित्र आनुष्ठानिक पहलुओं पर विशेष जोर देता है। दूसरा अर्थ जाति का विश्लेषण समाज की राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में व्याप्त सत्ताधिकार के संबंधों की रोशनी में करता है। पहला नजरिया जाति के सहज गुण संबंधी या सांस्कृतिक आयाम पर बल देता है जिससे वह भारतीय संदर्भ तक ही सीमित रह जाता है। जबकि दूसरा नजरिया अन्योन्य-क्रिया या संरचनात्मक आयाम पर केन्द्रित है, जिसका हम भारत से बाहर के समाजों के लिए सामान्यीकरण कर सकते हैं।

नृविज्ञान जाति के पहले अर्थ को लेकर चलता है। इसमें जाति की परिभाषा में सांस्कृतिक विशेषताओं की सूची दी गई है, जो इसके संलक्षण की रचना करते हैं। हटन ने ऐसी सात विशेषताएं बताई हैं: अंतर्विवाह, सहभोजिता पर पाबंदी, जातियों का क्रम-परंपरा के अनुसार श्रेणीकरण, खान-पान, यौन-संसर्ग और अनुष्ठानों से जुड़ी दूषण की धारणा, पारंपरिक व्यवसायों से जुड़ाव, जाति प्रस्थिति का आनुवंशिक आरोपण, ब्राह्मण की प्रतिष्ठा। मगर जाति को परिभाषित करने की इस विधि की आलोचना की जाती है जो सही भी है, क्योंकि द्युमोंत के अनुसार इस तरह की सूची हमें "विशिष्ट लक्षणों का मिश्रण प्रदान करती है, जो स्पष्टतया एक ऐतिहासिक घटना की उपज है।" इसीलिए यह हमें जाति की शुद्धत: ऐतिहासिक व्याख्या के दायरे से बाहर नहीं ले जा पाती है। अत: इसके दायरे से बाहर निकलकर कुछ नृविज्ञानियों ने संरचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है जिससे उस गूढ़ संरचनात्मक सिद्धांत को समझा जा सके जिससे ये सभी लक्षण उपजे हैं।

जाति के संबंध में क्रम-परंपरा के सिद्धांत का प्रतिपादन सबसे पहले होकार्ट ने किया था। उनके विचार से यह मूलत: एक धार्मिक क्रम-परंपरा थी जो सीधे धार्मिक संस्कारों से उपजी थी। इसे बदल कर और इसे और विस्तार देकर द्युमोंत ने निष्कर्ष निकाला कि पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध होता है, जो इस आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा और स्थानीय स्तर पर जातियों के पार्थक्य को जन्म देता है।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 1

जाति के भिन्न अर्थों पर चिंतन कीजिए। इनके बारे में अपने संप्रदाय के लोगों से चर्चा कीजिए। क्या उनमें कोई सहमति उभरती है? अपनी नोटबुक में यह जानकारी लिख लीजिए।

दूसरी ओर समाजशास्त्र ने जाति की संकल्पना गढ़ने के लिए एक सामान्य और तुलनात्मक योजना की तलाश में जाति की व्याख्या सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल से की है। स्तरीकरण की पद्धतियों को एक *सांतत्यक* का हिस्सा माना जाता है जो बंद से खुले समाज की ओर जाता है। लीच का मानना है कि एक वास्तविक वर्गीय प्रणाली और वर्ण-व्यवस्था के बीच अंतर इस बात पर निर्भर करता है कि इस सांतत्यक को हम कौन से छोर से देखते हैं, "जिस सांतत्यक में परस्पर अनन्य से लेकर परस्पर-व्यापी प्रस्थिति समूह मिलते हैं।"

वेबर का वर्ग, प्रस्थिति और सत्ताधिकार का क्लासिक मॉडल हमें अपेक्षतया अधिक उचित योजना प्रदान करता है, जिससे हम जाति को समाजशास्त्रीय ढंग से समझ सकते हैं और उसकी व्याख्या कर सकते हैं। इस मॉडल को अक्सर इसके प्रयोग के लिए किया भी जाता है। इस मॉडल में जाति को एक विशेष किस्म का स्थिति समूह माना गया है जो "कुल आकर्षण" के सिद्धांत पर आधारित होता है। कुल के प्रति यह आकर्षण हमें विरासत में मिलता है। जातियों की संख्या में वृद्धि 'जाति दरार' के परिणाम स्वरूप होती है। पलायन, नए पंथ का बनना, व्यावसायिक विभेदन जैसे अनेक कारकों के चलते जातियों में इस तरह की दरार उत्पन्न होती है, जो उन्हें और टुकड़ों में बांटती है। यह मॉडल विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्योन्य-क्रिया की बात करता है। इसके अनुसार जाति विभेदन मूलत: धार्मिक होता है, मगर राजनीतिक सत्ता इसे विधि सम्मत बनाने और आर्थिक हित इसे कायम रखने में सहायक होते हैं। जाति से जुड़ी परिघटनाएं एक आयाम तक सीमित नहीं है। इसलिए यहीं से हमें बहुचर विश्लेषण का प्रस्थान बिन्दु मिलता है, जिसे सामाजिक स्तरीकरण संबंधी अध्ययनों में खूब प्रयोग किया गया है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.3 ऐतिहासिक संदर्भ

इन दो नजरियों में मौजूद अंतर प्रमाण के उन स्रोतों तक जाता है जिन पर ये निर्भर करते हैं। इन स्रोतों को हम दो मुख्य प्रकार में बाँट सकते हैं: साहित्यिक और ऐतिहासिक। पहले प्रकार के स्रोत धर्म विधि के पवित्र ग्रंथ स्मृति और धर्मशास्त्र से आते हैं। दूसरा स्रोत ऐतिहासिक सामग्री और जमीनी शोध (फील्ड रिसर्च) है।

भारत के आरंभिक अध्येता इतिहासकार या समाजशास्त्री नहीं थे। बल्कि उनकी रुचि मुख्यत: भारतीय भाषाओं और साहित्य में थी। इसलिए हम समझ सकते हैं कि भारत पर किए गए आरंभिक अध्ययनों में प्रमाण के साहित्यिक स्रोत मुख्यत: क्यों प्रयोग किए गए थे। इससे हम यह भी समझ सकते हैं जाति के प्रति विचारधारात्मक नजरिया किस तरह से अपनाया गया था। मगर यह नजरिया मूलत: ब्राह्मणवादी था जिसने अपरिहार्य रूप से जाति की वैचारिक और आनुष्ठानिक व्याख्या पर जोर दिया। मगर आज दूसरे प्रकार के स्रोतों को अधिकाधिक महत्व दिया जा रहा है। इसके फलस्वरूप जाति की ऐतिहासिक तस्वीर बदल गई है जिसमें अंत:समूह संबंधों की सामाजिक वास्तविकता और इसमें निहित सत्ताधिकार समीकरणों पर अधिक बल दिया जाता है। निस्संदेह जाति की इन दोनों तस्वीरों में हमें मतभेद नजर आता है, मगर जाति को गहराई से समझने के लिए हमें इन दोनों को साथ लेकर चलना होगा क्योंकि सामाजिक विचारधारा और सामाजिक बनावट में हमेशा पारस्परिकता विद्यमान रहती है।

जाति की आधिकारिक हिन्दू विचारधारा वर्ण-व्यवस्था में अभिव्यक्त होती है जिसमें सभी जातियों को रखा गया है। श्रीनिवास हमें इसके लक्षण इस प्रकार बताते हैं: i) इसकी एक अकेली अखिल भारतीय क्रम-परंपरा है, जिसमें कोई आंचलिक भिन्नता देखने को नहीं मिलती है, ii) इसमें सिर्फ चार वर्ण आते हैं और अगर हरिजनों को जो कि शब्दश: वर्ण-व्यवस्था के दायरे से बाहर हैं, उन्हें भी गिना जाए तो इनकी संख्या पांच हो जाती है। iii) क्रम-परंपरा एकदम स्पष्ट है। iv) यह अपरिवर्तनीय है। मगर वहीं वे इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह एक तरफा है: "वर्ण पर इस एकाग्रता का अर्थ पारस्परिक जाति श्रेणीकरण में सहजगुण या आनुष्ठानिक कारकों को अधिक महत्व देकर आर्थिक और राजनीतिक कारकों की उपेक्षा करना था।" एक और जगह वे निष्कर्ष निकालते हैं: "जाति के कुछ पहलुओं को समझने के लिए यह सोच आज भी प्रासंगिक है। मगर यह उन गलत धारणाओं और विकृतियों को कायम रखने में सहायक रही है जो इसमें अंतर्निहित हैं।"

18.3.1 जाति का सामाजिक यथार्थ

श्रीनिवास आग्रह पूर्वक कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक यथार्थ वर्ण नहीं है जो कि एक वैचारिक श्रेणी है। बल्कि इसका सामाजिक यथार्थ जाति है जो वास्तविकता में परस्पर व्यवहार या अन्योन्यक्रिया करने वाला समूह है। यहीं पर आकर वे वर्ण-व्यवस्था के वैचारिक निहितार्थों को चुनौती देने और उन्हें बदलने का प्रमाण पाते हैं। पर जैसे ही हम एक वैज्ञानिक संकल्पना के रूप में वर्ण-व्यवस्था के अवमूल्यन की अपेक्षा करते हैं तभी हमें गतिशीलता के आंदोलनों की सामाजिक विचारधारा के रूप में इसमें प्रसार होता दिखाई देने लगता है। वास्तव में वर्ण अगर एक व्यवहार संबंधी संकल्पना नहीं है तो यह जाति का मूल आधार तो है ही और संभावनाओं को जन्म देने में इसकी वास्तविकता को हम नकार नहीं सकते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जाति की सामाजिक वास्तविकता वर्ग नहीं जाति है।

साभार: किरणमई बुसी

बोध प्रश्न 1

1) जाति के ऐतिहासिक संदर्भ पर पांच पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

2) जाति के सामाजिक यथार्थ से श्रीनिवास का क्या तात्पर्य है? पांच पक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' की संकल्पना प्रस्तुत कर जाति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसमें उन्होंने वैचारिक क्रम-परंपरा को अन्योन्यक्रिया संबंधी गतिशीलता से जोड़ा और जाति की इस पुरानी धारणा को तोड़ा कि एक संस्था के रूप में इसमें किसी भी तरह के बदलाव या गतिशीलता के लिए कोई स्थान नहीं है।

वे इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझाते हैं: "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके जरिए एक निम्न हिन्दू जाति, जनजाति या अन्य जनसमूह अपने रीतिरिवाजों, अनुष्ठानों, विचारधारा और जीवन शैली को ऊंची और बारंबार 'द्विज' जाति की दिशा में बदलता है।" इसमें उन्होंने अन्य मॉडलों के सबसे महत्वपूर्ण संदर्भ समूह को भी लिया है। असल में सांस्कृतिक पैटर्न में बद्ध क्षत्रियों की अभिव्यक्तिशीलता अधिक सुगम रही है और उसे सांस्कृतिक पैटर्नबद्ध ब्राह्मणों की तपश्चर्या से ज्यादा बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है।

इस प्रक्रिया की पुष्टि में जो ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं, उन पर अब कोई मतभेद नहीं हैं। श्रीनिवास कहते हैं: "भारत के इतिहास में संस्कृतीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रमुख प्रक्रिया रही है और यह भारतीय उपमहाद्वीप के हर हिस्से में हुई है। कुछ कालों में यह प्रक्रिया तेज रही तो कुछ में कम, सो भारत के कुछ भाग अधिक संस्कृत हैं तो अन्य कम।" मगर इसमें संदेह नहीं कि यह प्रक्रिया सभी जगह चली है। उदाहरण के लिए के. एम. पाणीकर का कहना है कि नंद सही अर्थों में सबसे आखिरी क्षत्रिय थे, जो पांचवी शताब्दी में लुप्त हो गए। तब से शूद्रों ने भारी संख्या में राज घरानों को जन्म दिया है। असल में राजा या शासक ही वह लौकिक शक्ति थी, जिसने धार्मिक सत्ता माने जाने वाले ब्राह्मण के कहने पर जातियों के क्रम-परंपरा का निर्धारण किया।

इस प्रकार संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से समूहों के आर्थिक हितों और सत्ताधिकार में होने वाले परिवर्तनों में तालमेल बिठाया जा सका क्योंकि इससे अन्योन्य-क्रिया के वास्तविक परिणामों को जाति की विचारधारा के धरातल पर प्रतीकात्मक औचित्य मिला। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिन परिवर्तनों की बात हम कर रहे हैं उनका संबंध क्रम-परंपरा में जातियों के स्थान से है न कि ढांचे से और जिस गतिशीलता की बात हम यहां कर रहे हैं, उसका संबंध अपने जीवन काल में व्यक्ति की निजी गतिशीलता से नहीं

है। न ही इसका संबंध एक या दो पीढ़ी में होने वाली पारिवारिक गतिशीलता से है। बल्कि इसका संबंध सामुदायिक गतिशीलता है, जो अनेक पीढ़ियों में होती है। इस तरह की सामाजिक गतिशीलता को हम पश्चिम जैसे व्यक्तिवादी समाज में बने प्रतिमानों की कसौटी पर नहीं कस सकते। बल्कि हो सकता है कि ये प्रतिमान इस गतिशीलता को पकड़ ही न पाएं। इसलिए संस्कृतीकरण के जरिए वास्तविक गतिशीलता का प्रतीकात्मक रूप से औचित्य ठहराने की जरूरत भारत में आधुनिकीकरण और बदलाव की किसी भी प्रक्रिया में विचारधारा की निर्णायक भूमिका को दर्शाती है।

एक बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया संस्कृतीकरण की विपरीत दिशा में चलती है। मगर जहां संस्कृतीकरण ने भारतीय समाज को युगों से प्रभावित किया है, वहीं पाश्चात्यीकरण अपेक्षाकृत नवीन और अपूर्ण परिघटना है, जो शहरों तक सीमित है। पर दोनों में एक बुनियादी समानता यह है कि दोनों संस्कृति के स्तर पर खड़ी हैं। श्रीनिवास के अनुसार: "आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन संस्कृतीकरण और पाश्चात्यीकरण के रूप में करने का अर्थ संरचनात्मक के बजाए मुख्यत: सांस्कृतिक शब्दावली में वर्णन करना है। इसके अलावा ये दोनों प्रक्रियाएं 'उधार के मनोविज्ञान' पर आधारित हैं।

18.4 दो सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

एक संस्था के रूप में जाति को समझने के लिए हमने अभी तक दो मूल सिद्धांत पहचाने हैं। इनमें एक वैचारिक सिद्धान्त है, जिसमें संस्कृति और क्रम-परंपरा के मॉडल पर बल दिया गया है। दूसरे सिद्धान्त का संबंध अन्योन्य-क्रिया यानी परस्पर-प्रभाव से है, जिसमें संरचना और सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल पर जोर दिया जाता है। पहले सिद्धांत का मुख्य केन्द्र जाति की आनुष्ठानिक प्रतीकात्मकता है, तो दूसरे का संबंध सत्ताधिकार या शक्ति से है। दोनों सिद्धांतों का सरोकार जाति की आज बदलती हुई सामाजिक वास्तविकता है। मगर इसमें आश्चर्य नहीं कि दोनों सिद्धांत आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से जाति के संबंध के सिलसिले में बिल्कुल भिन्न व्याख्याएँ और निष्कर्ष निकालते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.4.1 अन्योन्य-क्रियात्मक का सिद्धांत

यह सिद्धांत आजकल अधिक प्रचलित है। मगर इसमें भी एक आयामी मॉडल, खासकर आर्थिक समानयनवाद पर चलने वाले रूढ़िवादी मार्क्सवादी मॉडल को अपर्याप्त माना जाता है क्योंकि जब जाति के धार्मिक और राजनीतिक स्वरों को समाज की अधिरचना या बाहरी ढांचे की अनुघटना में परिणत कर दिया जाता है तो यह आर्थिक समानयवाद विश्वसनीय नहीं लगता।

वेबर के क्लासिक बहुआयामी मॉडल में हमें जाति को बेहतर ढंग से समझने की संभावना अधिक नजर आती है। वेबर ने स्वयं इस मॉडल को सबसे पहले जाति पर प्रयोग किया था। तब से जाति के अध्ययन में यही मॉडल अधिक से अधिक प्रयोग किया जा रहा है। इसी क्रम में बेटाइली ने भी दक्षिण भारत के एक गाँव के अपने व्यष्टिपरक अध्ययन (केस स्टडी) में वेबर के मॉडल का ही प्रयोग किया था। कोई 50 वर्ष पूर्व जाति के ढ़ांचे में अमूमन आर्थिक और राजनीतिक श्रेणीकरण शामिल रहते थे। मगर आज जाति विहीन व्यवसायों और भूमि के अलावा सत्ताधिकार के अन्य संसाधनों का आविर्भाव होने के कारण जाति, वर्ग और सत्ताधिकार के बीच प्रस्थिति संगति कम हो गई है। बल्कि ये सभी एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व बना कर रहने लगी हैं।

पराधीन भारत में संस्कृतीकरण की जो प्रक्रिया गतिशीलता का प्रमुख माध्यम थी, उसे हम इस सिद्धांत की रोशनी में आसानी से समझ सकते हैं। मगर स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो सामाजिक-आर्थिक बदलाव आए हैं और विशेष रूप से निम्न जाति समूहों को देश का

'नागरिक' और 'मतदाता' का जो नया दर्जा मिला है उसने राजनीतिक सहभागिता को संस्कृतीकरण की जगह सामाजिक गतिशीलता का एक बुनियादी विकल्प बना दिया है। असल में नव-बौद्धों में चल रहे बौद्ध धर्म आंदोलन को अगर संस्कृतीकरण के तिरस्कार के रूप में लिया जा रहा है तो उचित ही है। लिंच (1969) तो जोरदार ढ़ँग से कहते हैं "कि राजनीतिक भागीदारी ही वह रास्ता है जिसे भारत में चल रहे गतिशीलता के आंदोलन अधिकाधिक अपनाएंगे।"

बॉक्स 18.01

एक अनुकूली संस्था के रूप में जाति पर इस प्रकार की भागीदारी का दोहरा प्रभाव पड़ा है: एक प्रभाव रूढ़िवादी है, जो जाति के आंतरिक सामाजिक संगठन पर पड़ा है। यह प्रभाव जाति की एकता, अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखेगा ताकि वह और अधिक प्रभावशाली ढंग से लामबंद हो सके। दूसरा रचनात्मक प्रभाव अन्य जातियों के साथ उसके बाहरी संबंधों पर पड़ता है, जो सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और संपदा अर्जन की दिशा में दुर्लभ संसाधनों में अपने हिस्से को बढ़ाने के प्रयास में जुटी रहती हैं और जैसा कि लिंच कहते हैं, वे "आदिकालीन समझौते की नागरिक राजनीति" को जन्म देती हैं। बाजार अर्थ-व्यवस्था और जनतांत्रिक राजनीति से जिस स्वतंत्रता का आविर्भाव हुआ है, वह समूहों को अन्य समूहों के उद्देश्यों की बराबरी में ही अपने उद्देश्यों पर अमल करने का सत्ताधिकार प्रदान करती है। पहला प्रभाव जातिगत निष्ठाओं को संरक्षित करने का काम करेगा और दूसरा प्रभाव व्यापक निष्ठाओं का सृजन करेगा। लिंच अपने निष्कर्ष में कहते हैं: "एक नव उदित राज्य को राष्ट्र बनने के लिए जो संघर्ष करना पड़ता है, उसमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया खुद-ब-खुद नागरिकता और जाति प्रस्थितियों के बीच परस्पर स्पर्धी निष्ठाओं को जन्म देती है और उन्हें तीव्रता प्रदान करती है।"

18.4.2 विशेषताबोधक सिद्धांत

यह सिद्धांत हमारा ध्यान जाति के सांस्कृतिक पहलू के बजाए संरचनात्मक पहलू की ओर आकर्षित करता है। पर जाति जैसी संस्था के लिए इसका आधार बनने वाली विचारधारा जाति और आज प्रचलित जातिगत पहचान को सही ढंग से समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत के संदर्भ में फ्रेंच समाजशास्त्री लुई दुमोंत ने *होमो हायर्किकस* नामक पुस्तक में जाति के अध्ययन के लिए प्रयोग किए जाने वाले स्तरीकरण मॉडल के प्रतिवाद में बड़ी गहरी टिप्पणी करके वैचारिक नजरिए की ओर फिर से ध्यान मोड़ा।

क्रम-परंपरा के सिद्धांत की प्रासंगिकता का आग्रह करते हुए दुमोंत बताते हैं कि यह आधुनिक मानसिकता से कितनी दूर है। आधुनिक व्यक्ति की विचारधारा निश्चय ही समतावादी और व्यक्तिवादी है, जो कि क्रम-परंपरावादी और सामूहिकतावादी विचारधारा के एकदम उलट है। मगर समता सामाजिक रूप से चरित्रार्थ किया जाने वाला आदर्श है, तो क्रम-परंपरा सामाजिक यथार्थ क्योंकि प्रकार्य की दृष्टि से समाज अगर विभेदित है तो उसके जीवनक्षम होने के लिए जरूरी है कि वह मूल्य समेकित हो। यानी उसकी अपनी मूल्य व्यवस्था हो। दुमोंत कहते हैं: "आदमी सोचता ही नहीं बल्कि वह करता भी है। उसके अपने विचार ही नहीं होते बल्कि मूल्य भी होते हैं। किसी मूल्य को अंगीकार करने का अर्थ क्रम-परंपरा को शुरू करना है।"

सो क्रम-परंपरा समाज को उसके मूल्यों के संदर्भ से जोड़ती है। दुमोंत की परिभाषा में क्रम-परंपरा, "वह सिद्धांत है जिसका द्वारा *समष्टि* के तत्व उस समष्टि के तुल्य श्रेणीबद्ध रहते हैं।" पर यह श्रेणीकरण सत्ताधिकार के पैमाने पर न होकर प्रस्थितियों के क्रम-स्थापन के रूप में होता है। क्रम-परंपरा समाज की ऐसी भौतिक एकता की अभिव्यक्ति नहीं करती, जो एकता सत्ताधिकार या धन, या प्रतिष्ठा जैसे किसी सामान्यीकृत माध्यम से आयी हो (स्तरीकरण का मॉडल इसी धारणा पर चलता है)। बल्कि यह मूलत: उसकी संकल्पनात्मक या प्रतीकात्मक एकत्व को व्यक्त करती है। इस एकत्व में वह ब्रह्मांड एकता भी शामिल है, जो हमें सामाजिक व्यवस्था में दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में सामाजिक

व्यवस्था को इस सिद्धांत में ब्राह्मंड एकत्व की आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति के रूप में लिया गया है।

18.4.3 धार्मिक क्रम-परंपरा

इस प्रतीकात्मक एकत्व की व्याख्या क्रम-परंपरा के संबंध में की गई है, जो द्युमोंत की परिभाषा में "वृहत्तर और लघुतर या और स्पष्ट कहें तो *समावेशी* और *स्माविष्ट* के बीच विद्यमान संबंध है।" द्युमोंत का कहना है कि प्रत्येक समाज में सामाजिक जीवन के एक पहलू विशेष को प्राथमिक मूल्य के रूप में महत्व मिलता है, जो अन्य सभी बातों का इसके साथ ही अपने में समावेश कर लेता है और उन्हें यथासंभव व्यक्त भी करता है। वर्ण-व्यवस्था जो कि एक धार्मिक क्रम-परंपरा है, इसके संदर्भ में इसका अभिप्राय यही है कि जिन कृत्यों में धार्मिक पहलू न्यूनतम हो उन्हें व्यवस्था के भीतर *समाविष्ट* कर लिया जाता है, जिसका निर्माण निश्चय ही धार्मिक कृत्य करते हैं। इस धार्मिक क्रम-परंपरा की आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति 'पवित्र- और 'अपवित्र' के बीच विरोध में होती है। जाति के बीच पृथकता और विशिष्टता के मूल में यही द्विभाजन स्थित है, जो सभी को एक क्रम-परंपराबद्ध समष्टि में सम्मिलित कर लेता है।

जाति को द्युमोंत 'शुद्ध क्रम-परंपरा' का उदाहरण मानते हैं। जाति पर उन्होंने क्रम-परंपरा के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, वह निश्चित ही चुनौतीपूर्ण है। मगर उसके आलोचक भी कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए *मैककिम* मैरियॉट को जाति क्रम-परंपरागत श्रेणीकरण के बारे में उल्लेखनीय आम सहमति देखने को मिलती है। मगर वे इसे मुख्यत: सामुदायिक संरचना के चार आयामों से जोड़ते हैं, किसी विचारधारा से नहीं। वे अपने निष्कर्ष में कहते हैं: "आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा अपने आप में आर्थिक, राजनीतिक और अन्योन्य-क्रिया के अन्य गैर-आनुष्ठानिक क्रम-परंपराओं से ही अंशत: विकसित होती है, उन्हें ही व्यक्त करती है, उनसे ही सकारात्मक रूप से सहसंबद्ध रहती है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है। क्रम-परंपरा में अधिकांश जातियां अंततोगत्वा ऐसे स्थान हासिल करती हैं, जो उनकी सापेक्षिक समृद्धि और सत्ताधिकार के अनुरूप होते हैं।"

MAADHYAM IAS

द्युमोंत इस तरह की 'प्रस्थिति संगति' के बारे में जानते तो हैं, मगर श्रेणीकरण अनुक्रम में वे अन्योन्य-क्रिया के बजाए सहजगुण को ही प्रमुख कारक मानते हैं।

वे अछूतों के बारे में लिखते हैं: "इन जातियों की अत्यधिक धार्मिक हीन-स्थिति असल में प्रबल जातियों पर उनकी सांसारिक निर्भरता को व्यक्त करती है और उसे *समाविष्ट* करती है।" संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अंतर्निहित प्रतीकात्मक औचित्य के माध्यम से हालांकि सामाजिक गतिशीलता होती तो है, मगर इसे स्थितीय परिवर्तन माना जाता है, संरचनात्मक परिवर्तन नहीं। असल में यह क्रम-परंपरा के सिद्धांत की पुनर्स्वीकारोक्ति है।

18.4.4 द्युमोंत का सिद्धांत

द्युमोंत ने अपने सिद्धांत में विचारधारा पर जो बल दिया है वह स्थायी सामाजिक स्थिति का **विश्लेषण करने में** काफी सफल रहा है, जिसमें सरंचना और संस्कृति के बीच हमें एक **सुसंगत पारस्परिक**ता देखने को मिलती है। मगर सामाजिक बदलाव की स्थिति में इन तत्वों में **विसंगतियां और** तनाव पैदा हो जाते हैं क्योंकि इस प्रक्रिया में सांस्कृतिक कमियां उत्पन्न हो जाती हैं जिसमें **दोनों तत्वों में** कोई एक इस परिवर्तन को लाने वाले प्रमुख कारक का **काम कर सकता है।** परिवर्तन की विशद व्याख्या में, विशेषकर आधुनिकीकरण के संदर्भ में, इन **दोनों** तत्वों को भी शामिल किया जाना चाहिए जिसका अर्थ दूरगामी परिणामों वाले संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से है। द्युमोंत का विश्लेषण पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था की गहराई से व्याख्या करता है, मगर इसे आज जाति की बदलती स्थिति से जोड़ना जरूरी है।

बोध प्रश्न 2

1) जाति संस्था के बारे में प्रचलित दो सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए। अपना उत्तर पांच से दस पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सही या गलत बताइए

i) श्रीनिवास ने *होमो हायर्किकस* लिखी थी:

सही ☐ गलत ☐

ii) धार्मिक क्रम-परंपरा की अभिव्यक्ति आनुष्ठानिक रूप से पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध में होती है:

सही ☐ गलत ☐

MAADHYAM IAS

द्युमोंत जांनते हैं कि जो सामाजिक गतिशीलता आज भारत में दिखाई दे रही है वह अब जाति क्रम-परंपरा से नियंत्रित नहीं होती। वे लिखते हैं कि जो कुछ हम देख रहे हैं वह "एक अस्थिर, संरचनात्मक ब्रह्मांड, जिसमें परस्पर-निर्भरता को महत्व दिया जा रहा हो और जिसमें कोई विशेषाधिकार भोगी स्तर नहीं हो, कोई ठोस इकाई न हो, उससे एक ऐसे अभेद्य खंडों के ब्रह्मांड में संक्रमण है, जो आत्म-निर्भर, मूलत: समरूप और एक-दूसरे के स्पर्धी हैं। यह एक ऐसा ब्रह्मांड है, जिसमें जाति एक सामूहिक इकाई, एक ठोस तत्व के रूप में नजर आती है।"

यही जाति का तत्वीकरण है, जिसमें प्रत्येक जाति समूह एक अलग नैतिक सत्ता का स्वरूप धारण कर लेता है, जो इस तरह के अन्य समूहों के सामने खड़ी हो जाती है। व्यवहार के धरातल पर इसका अर्थ यह है कि इसमें स्पर्धा की जगह सहकार या सहयोग की भावना ले लेती है। विचारधारा के दृष्टिकोण से इसका अर्थ संरचना का तत्व में रूपांतरण है, उर्ध्व समेकित समूहों का समस्तरीय पृथक समूहों में रूपांतरण है।

बॉक्स 18.02

दुर्लभ संसाधनों को हथियाने की इस होड़ में जातियां लामबंद होती हैं और उनमें संघर्ष भी होता है। क्रम-परंपरा की विचारधारा परस्पर-निर्भर जातियों के बीच प्राचीन न्योन्य-क्रिया को स्थिर रखने का काम करती थी। मगर इस सामूहिक स्पर्धा और संघर्ष को कौन सी वैचारिक सहमति नियंत्रण में रखेगी? आधुनिक लोकतंत्र में चुनावी ढांचा और एक समतावादी विचारधारा इस काम को अंजाम देते हैं। मगर आज जिस तरह के तेज बदलाव और संकट हम देख रहे हैं, उसमें ये भी निष्प्रभावी हो जाते हैं।

द्युमोंत एक समावेशी सांस्कृतिक विचारधारा की जरूरत पर जोर देते हैं, क्योंकि यह अन्योन्य-क्रिया की उस प्रक्रिया से स्वत: विकसित नहीं होगी, जो जाति क्रम-परंपरा को तोड़

रही है। पर उनकी यह आशा निर्मूल दिखाई देती है कि आधुनिकीकरण जाति के स्वरूप में बिखराव और लचीलापन लाएगा, क्योंकि वे भारतीय समाज में जाति क्रम-परंपरा की महत्ता को ध्यान में रखकर नहीं चलते। भारतीय समाज समूहोन्मुखी है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि जाति की अभिव्यक्ति हमें नाना प्रकार की साम्प्रदायिकता में होती नजर आती है। श्रीनिवास का मानना है कि "भारत में एकता की धारणा मूलत: धार्मिक एकता है।" जाति क्रम-परंपरा के अस्वीकरण में अंतर्निहित पंथ-निरपेक्षता के लिए आवश्यक है कि हम भारत की एक नूतन संकल्पना को अपनाएं जो राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक एकीकृत सत्ता हो। सांप्रदायिकता पर अंकुश लगाने में राष्ट्रवाद तभी सफल रहेगा।

अभ्यास 2

द्युमोंत को क्यों लगता है कि जाति एक धार्मिक क्रम-परंपरा है, इस पर मनन करें और अपने सहपाठियों व समुदाय के लोगों से इस पर बातचीत करें। इस चर्चा से आपको जो भी बातें मालूम हों उन्हें नोटबुक में लिख लें।

18.5 सारांश

जाति के दो पहलू हैं: आनुष्ठानिक प्रतीकात्मकता और सत्ताधिकार संबंध। इस संदर्भ में अन्योन्य-क्रिया और सहजगुण दोनों सिद्धांतों को ध्यान में रखना जरूरी है। आज के भारतीय समाज में ढांचा और संस्कृति दोनों बदल रहे हैं। हमें दोनों आयामों में होने वाले परिवर्तनों पर नजर रखनी चाहिए और एक को दूसरे से कम या ज्यादा करके आंकना नहीं चाहिए। अन्योन्य-क्रियावादी राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में सत्ताधिकार या शक्ति समीकरणों और लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था तथा नियोजित या बाजार अर्थ-व्यवस्था की प्रासंगिकता के मद्देनजर उनके औचित्य पर जोर देते हैं। सांस्कृतिक स्तर पर इसका अर्थ लोकतांत्रिक समतावादी विचारधारा का वैयक्तिकीकरण है। दूसरी ओर विशेषताबोधक सिद्धांत, विशेषकर द्युमोंत का सिद्धांत जाति क्रम-परंपरा के सामने इस लोकतांत्रिक चुनौती को सांप्रदायिकता के उदय के रूप में देखता है, जिसमें जाति समूहों की सांस्कृतिक पहचान क्रम-परंपरा के अनुरूप न होकर एक दूसरे के विरोध में खड़ी होती है। संरचना के स्तर पर यह जाति का 'तत्वीकरण' है। पहले का प्रतीक जाति की आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा, तो दूसरे का प्रतीक सत्ताधिकार का ढांचा है। इन दोनों सिद्धांतों में हमें एक निश्चित मतांतर नजर आता है जो इनके मूल प्रस्थान बिन्दुओं से उत्पन्न होता है।

वॉन डी बर्ग के अनुसार "बहुलतावादी समाजों को अक्सर राजनीतिक बाध्यता और आर्थिक अंत:निर्भरता का मिश्रण जोड़ कर रखता है।" राजनीतिक शक्ति या सत्ताधिकार का प्रयोग अगर असम सामाजिक संबंधों को जन्म देने और उन्हें कायम रखने के लिए किया जा सकता है, तो इसका प्रयोग इस तरह के अन्याय को समाप्त करने के लिए भी किया जा सकता है। सामाजिक संघर्ष के अपने प्रयोजन और प्रकार्य हैं। पर अंत:निर्भरता की स्थिति में सत्ताधिकार के प्रयोग के लिए मूल्य-सहमति होना जरूरी है, भले ही वह साधारण सी हो। अन्यथा समाज पूर्ण रूप से संघर्ष की स्थिति में फंस जाएगा। इसीलिए इस अंत:निर्भरता को आधार देने, इस संघर्ष को नियंत्रण में रखने और एक न्यायप्रिय और समतापूर्ण समाज के लिए मूल्य सहमति प्रदान करने के लिए ही विचारधारा पर विशेष बल दिया जाता है।

18.6 शब्दावली

जाति : जातियां सैकड़ों की संख्या में हैं। ये वर्ण-व्यवस्था के मॉडल में वर्णित वर्णों से अलग है, जिनकी संख्या सिर्फ चार है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

नृजातिवृत्तीय : एक मानव संस्कृति विशेष के बारे में उपलब्ध डाटा या सिद्धांत और प्रेक्षण से संबंधित।

सत्ताधिकार : अपने या अपने समुदाय के लाभ के लिए अपने पद और प्रस्थिति के कारण स्थिति को प्रभावित करने की क्षमता।

अनुष्ठान : किसी भी उद्देश्य, जो कि धार्मिक या जादुई हो सकता है, की प्राप्ति के लिए क्रमबद्ध कृत्यों की श्रृंखला।

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

द्युमोंत लुई, (1972) *होमो हायर्किक्स: द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लीकेशंस* लंदन, ग्रैनैडा

श्रीनिवास, एम. एन. (1996), *सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया*, मुंबई, ओरिएंट लांगमैन

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एक संस्था के रूप में जाति के अध्ययन के लिए मुख्यत: दो स्रोत काम में लाए जाते हैं: साहित्यिक और ऐतिहासिक। पहले के लिए विद्वानों ने स्मृति और धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप जाति का ब्राह्मणवादी नजरिया उत्पन्न हुआ। मगर आज ऐतिहासिक स्रोत पर अधिक बल दिया जा रहा है, जिसमें अंतर्सामूहिक संबंधों और शक्ति समीकरणों पर ध्यान दिया जाता है।

2) जाति के सामाजिक यथार्थ से श्रीनिवास का यही तात्पर्य है कि वर्ण-व्यवस्था वर्ण नहीं बल्कि जाति है। इसका यह मतलब है कि इसकी उपजाति ही अन्योन्य-क्रिया करने वाला समूह है। पर वर्ण के मूल में जाति ही है और यह सामाजिक यथार्थ को संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के जरिए नया रूप देने में सक्षम है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) जाति की व्याख्या के लिए प्रतिपादित दो मूल सिद्धांत अन्योन्य-क्रिया और विशेषताबोधक सिद्धांत हैं। विशेषताबोधक सिद्धांत वैचारिक नजरिया लेकर चलता है जिसमें संस्कृति और क्रम-परंपरा पर बल दिया जाता है। अन्योन्य-क्रिया का सिद्धांत संरचना और स्तरीकरण मॉडल पर जोर देता है।

2) i) गलत

ii) सही

इकाई 19 जातिगत पहचान: विशेषताबोधक और अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 जाति की आरंभिक व्याख्याएं

- 19.2.1 धार्मिक व्याख्या
- 19.2.2 जाति की समाजशास्त्रीय व्याख्या

19.3 जाति का विशेषताबोधक सिद्धांत

- 19.3.1 जी.एस. घुरये
- 19.3.2 जे.एच. हटन
- 19.3.3 एम.एन. श्रीनिवास

19.4 जाति का अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांत

- 19.4.1 एफ.जी. बैली
- 19.4.2 ए. मेयर
- 19.4.3 एम. मैरियॉत
- 19.4.4 एल. दुयुमोंत

19.5 विशेषताबोधक और अन्योन्य-क्रिया सिद्धांतों का मूल्यांकन

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- जाति की आरंभिक व्याख्याओं के बारे में बता सकेंगे;
- जाति के अध्ययन में अपनाए जाने वाले विशेषताबोधक सिद्धांत के बारे में बता पाएंगे;
- जाति की अन्योन्य-क्रियात्मक व्याख्या पर रोशनी डाल सकेंगे; तथा
- विशेषताबोधक और अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांतों की कुछ सीमाओं के बारे में जान सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

जाति पहचान का भारत के किसी भी गांव, कस्बे या शहर के सामाजिक ताने-बाने से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस इकाई में हम आपको श्रेणीकरण-क्रम की व्याख्या की दिशा में किए गए प्रमुख प्रयत्नों के बारे में बताएंगे और उनका विश्लेषण करेंगे, जो हमें जाति-संरचना

में सर्वव्यापी नजर आता है। इन नजरियों से आपको परिचित कराने के लिए हम आपको जाति की आरंभिक धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के बारे में बताएंगे। इससे *विशेषताबोधक* नजरिए के लिए आधार तैयार होगा, जो जाति क्रम-परंपरा का विश्लेषण उसके विभिन्न अपवर्तनीय विशेषताओं की रोशनी में करता है। इसके बाद हम जाति क्रम-परंपरा के अन्योन्य-क्रियात्मक नजरिए पर दृष्टिपात करेंगे। इकाई के अंत में इन दोनों नजरियों की सीमाओं पर प्रकाश डालेंगे।

19.2 जाति की आरंभिक व्याख्याएं

जाति की उत्पत्ति को लेकर अनेक प्रकार की व्याख्याएं दी गई हैं। उसकी आरंभिक व्याख्या अक्सर जाति के 'नैसर्गिक' गुणों या 'अदेय' लक्षणों की अवधारणा के इर्द-गिर्द घूमती हैं। इनमें से कुछ व्याख्याओं का हम यहां विश्लेषण करने जा रहे हैं, इसलिए उससे पहले इन वेशेषताओं के बारे में जान लेना उचित रहेगा। जाति की ये विशेषताएं हमें धार्मिक सिद्धांतों और पंथ निरपेक्ष समाजशास्त्रीय व्याख्याओं से मिली हैं। आइए सबसे पहले धार्मिक सिद्धांत जाति के बारे में क्या कहते हैं, यह जानें।

19.2.1 धार्मिक व्याख्याएं

हिंदू धर्म में जाति की उत्पत्ति को लेकर जो व्याख्या दी गई है वह दैवी उत्पत्ति सिद्धांत है। इस सिद्धांत की धारणा ऋग वेद से लेकर समकालीन भगवद्गीता में उद्धृत श्लोकों से विकसित हुई है। मगर यहां यह कहना जरूरी है कि यह ब्राह्मणवादी व्याख्या है जिसे कई समुदाय नहीं मानते।

बॉक्स 19.01

कहा जाता है कि परम पुरुष ने अपनी नररूपी काया से विभिन्न वर्णों की 'सृष्टि' की। इसके उसके अनुसार मस्तक से ब्राह्मण, वक्ष स्थल से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। 'श्रेणी क्रम' का आभास या क्रम-परंपरा के अनुसार उनका क्रम निर्धारण उस कार्य से जुड़ा था, जो प्रत्येक वर्ण को पूरा करना होता था। ब्राह्मणों को सर्वोच्च दायित्व या कार्य सौंपे गए। उनका काम ज्ञान को संजोना और पुरोहित संबंधी कार्यों को पूरा करना था। क्षत्रिय का कर्तव्य बाहरी आक्रमणों से समाज की रक्षा, प्रशासन में स्थायित्व लाना और आम प्रजा की रक्षा करना था। वैश्य का कार्य व्यापार और वाणिज्य का सच्चाई और निष्ठा से संचालन करना था। इस क्रम-परंपरा में सबसे निचले पायदान पर माने जाने वाले शूद्र सेवा-चाकरी वर्ण थे, जिनसे अपने से सभी ऊंचे वर्णों की जरूरतों की पूर्ति करने की अपेक्षा की जाती थी।

यह एक चतुर्वर्ण-व्यवस्था है। दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार ये वर्ण आगे चलकर जातियों या जाति समूहों में बंट गए जिनके अपने विशिष्ट नैसर्गिक गुण थे। पहले तीन जाति-समूहों को 'द्विज' श्रेणी में रखा गया और उन्हें यज्ञोपवीत संस्कार, जिसे हम बोलचाल की भाषा में जनेऊ धारण कहते हैं, उस के द्वारा अपनी-अपनी जाति में प्रवेश मिलता था। प्रत्येक समूह एक खास किस्म का पेशा अपना कर उसमें महारत हासिल करने लगा। वह अन्य जाति के काम को नहीं कर सकता था। इस क्रम-परंपरा की अभिव्यक्ति नैसर्गिक-गुणों और परस्पर-व्यवहार दोनों तरह से होती थी।

जाति की दूसरी धार्मिक व्याख्या गुण सिद्धांत पर आधारित है, जो हमें भगवद्गीता सहित कई धार्मिक ग्रंथों से जानने को मिलता है। यह सिद्धांत मनुष्य में पाए जाने वाले विशिष्ट *नैसर्गिक गुणों* की बात करता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के ये तीन गुण हैं:

i) 'सत्व' यानी सत्य, ज्ञान, सहृदयता, सद्गुण और स्फूर्ति का गुण

ii) 'राजस' यानी कर्मठता, साहस, शौर्य, बाहुबल, सत्ताधिकार और उमंग का गुण

iii) 'तामस' यानी उदासी, नीरसता, मूर्खता और अकर्मण्यता का गुण।

क्रम परंपरा में ब्राह्मणों को सात्विक, तो क्षत्रियों को ब्राह्मणों से नीचे 'राजसिक' श्रेणी में रखा गया था। इसके सबसे निचले पायदान पर 'तामसिक' शूद्रों को रखा गया था।

19.2.2 समाजशास्त्रीय व्याख्या

धार्मिक व्याख्याओं के विपरीत आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्याएं सामाजिक रूप से मान्य वास्तविकता पर आधारित हैं। आइए संक्षेप में हम इसे कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और सेलेस्टिन बौगल के अध्ययन की रोशनी में समझें।

कार्ल मार्क्स के अनुसार सामाजिक समूहों के भूमि से संबंध और स्वामित्व से ही समाज में उनका स्थान तय होता था। उनके अनुसार भारतीय गांवों में दो प्रकार के समूह थे:

क) भूमि जोतने वाली जातियां

ख) कारीगर और चाकर जातियां

भूमि जोतने वाली जातियों ने बेशी उत्पादन किया। मार्क्स के अनुसार इस बेशी उपज को उन्होंने कारीगर जातियों को दिया। बदले में इन जातियों ने अपना पारंपरिक दस्तकारी का कुछ भाग उन्हें दिया। इस प्रकार दोनों जातियों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और आदान-प्रदान के लिए उत्पादन किया। इससे समाज में समरसता बनी रही। मगर इस 'ग्राम गणतंत्र' मॉडल को अयथार्थवादी करार देकर खारिज कर दिया गया है।

MAADHYAM IAS

जातियों के शुद्धता स्तर के अनुसार पदानुक्रम में रखा जाता है।
साभार: किरणमई बुशी

बोध प्रश्न 1

1) कार्ल मार्क्स ने जाति की जो आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्या पेश की थी, उसके बारे में पांच पंक्तियां लिखिए:

....

....

....

....

....

मैक्स वेबर की दृष्टि में जाति एक 'प्रस्थिति-समूह' है जिसके सदस्यों की पहचान उनके सामाजिक और आर्थिक स्थान से होती थी। इसमें उनके लिए एक खास जीवन-शैली अपरिहार्य थी। इस पर एक तरह का बंधन था क्योंकि परस्पर व्यवहार पर कुछ खास अंकुश लगे हुए थे, जिसकी परिधि में उनके काम-धंधे भी आते थे, जिन्हें करने की अनुमति उन्हें थी। जातियों के बीच संबंध 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' की स्थितियों के बीच विद्यमान आनुष्ठानिक वैमनष्य से भी तय होता था। इसे व्यक्तियों या वस्तुओं से जोड़ कर देखा जाता था। यानी कौन व्यक्ति जाति के अनुसार छूत है या अछूत है। इस प्रकार, वर्ण क्रम-परंपरा में जातियों को उनकी पवित्रता यानी स्पृश्यता के पैमाने के अनुसार स्थान मिलता था। इसलिए ब्राह्मणों की स्पृश्यता या पवित्रता का स्तर सर्वोच्च समझा था क्योंकि वे पुरोहिताई जैसे 'साफ-सुथरे' कार्य करते थे। यह भी उतना ही महत्वपूर्ण था कि इस 'पवित्रता' को उन लोगों के स्पर्श से दूर रहकर कायम रखा जाए, जो अछूत थे। इसी कारण से वेबर ने तर्क दिया है कि जाति सामाजिक स्तरीकरण का एक चरम रूप है।

बौगल के अनुसार जाति की पहचान क्रम-परंपरा में उसके स्थान और उसके सदस्यों के पेशे से होती थी। अन्य किस्म की सामाजिक वर्जनाओं के थोपे जाने के कारण जतियां मर्यादा में बंधी रहती थीं। इस प्रकार समूहों के बीच क्रम-परंपरा और पार्थक्य भारतीय समाज की वे विशेषताएं थीं, जिन्होंने वर्ण क्रम-परंपरा में जाति की नियत प्रस्थिति को कायम रखा और उनके बीच पारस्परिक-व्यवहार का स्वरूप तय किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.3 जाति का विशेषताबोधक सिद्धांत

आइए अब उन विद्वानों के नजरिए पर आते हैं जिन्होंने मार्क्स, वेबर और बौगल के आरंभिक विश्लेषण का प्रयोग कर एक ऐसे नजरिए को विकसित किया, जिसे हम *विशेषताबोधक सिद्धांत* कहते हैं। यह सिद्धांत मुख्यत: वर्ण-व्यवस्था के महत्वपूर्ण गुणों का विवेचन करता है और इसे सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों से अलग दर्शाता है।

ये विशेषताएं वर्ण-व्यवस्था से जुड़े नैसर्गिक अहस्तांतरणीय गुण हैं। इसके अनुसार प्रत्येक जाति में इनमें से कुछ विशेषताएं अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।

19.3.1 जी.एस. घुरये

सन् 1930 में जी.एस. घुरये ने जाति की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने हर जाति को क्रम-परंपरा की श्रेणी में एक-दूसरे से पृथक माना। यह श्रेणीकरण जाति के अपने सहजगुणों से उपजा। उनके अनुसार जाति के ये गुण इस प्रकार थे:

i) *सखंड विभाजन*: जाति समूह की सदस्यता जन्म से अर्जित होती है और इसी के साथ अन्य जातियों के तुल्य श्रेणी-क्रम में स्थान भी मिलता है।

ii) *क्रम-परंपरा* : इसके अनुसार समाज श्रेणी-क्रम या श्रेष्ठता या हीनता के संबंधों में व्यवस्थित था। इस प्रकार ब्राह्मणों को क्रम-परंपरा में सर्वोच्च और अछूतों को सबसे नीचे माना जाता था।

iii) *जाति वर्जनाएं*: ये वर्जनाएं हर जाति पर थोपी जाती थीं, जो अपने सदस्यों को कुछ खास समूहों से ही परस्पर-व्यवहार की अनुमति देती थी। इन वर्जनाओं में वेषभूषा, बोल-चाल, रीति-रिवाज, कर्मकांडों के अलावा खान-पान के नियम भी शामिल थे कि वे किस-किस के हाथ से भोजन स्वीकार कर सकते हैं। यह व्यवस्था समूह के सदस्यों की पवित्रता और इस तरह स्वयं जाति समूह की पवित्रता को बरकरार रखने के लिए बनाई गई थी।

iv) *जाति दूषण*: इस धारणा के तहत जाति का पूरा प्रयास दूषित करने वाली वस्तुओं से अपवित्र होने से बचना था। इस श्रेणी में गंदे काम-धंधा करने वाले व्यक्ति या कह लें सबसे निम्न जाति के लोग माने जाते थे। दूषण से बचने की इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति जाति समूहों के आवासीय पार्थक्य में होती है।

v) *पारंपरिक पेशा*: घुरये के अनुसार हर जाति का एक पारंपरिक पेशा था। पवित्र जातियां साफ-सुथरा पेशा करती थीं। जबकि मलिन और अछूत जातियां गंदा करने वाला पेशा करती थीं।

vi) *सगोत्र विवाह*: जातियों का यह अति विशिष्ट लक्षण था। यह उसे एक समूह के रूप में संगठित रखने के लिए जरूरी था जिससे कि उसकी अपनी विशिष्टता बनी रहे। इस का मूल उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि कोई भी सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर पाए।

इन छः सहज विशेषताओं के जरिए घुरये ने उस प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था, जिसके माध्यम से एक जाति समूह अपनी पहचान को बनाए रखता था। सखंड विभाजन, क्रम-परंपरा, जाति वर्जनाओं, जाति दूषण, पारंपरिक व्यवसाय और एक खास जाति समूह के अंदर विवाह के इन विशिष्ट लक्षणों को बरकरार रख कर जाति समूहों ने अपनी एक अलग पर एक-दूसरे से जुड़ी पहचान बनाए रखी, जिसे उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी रखा।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अभ्यास 1

जी.एस. घुरये ने जाति की जो विशेषताएं बताई हैं उन पर अपने सहपाठियों से चर्चा कीजिए और इस से आप को जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

19.3.2 जे.एच. हटन

अपनी पुस्तक *कास्ट इन इंडिया* (भारत में जाति) में जे.एच. हटन ने जाति के ढांचे के बारे में बताया है। हटन के अनुसार सगोत्र-विवाह या अंतर्विवाह वर्ण-व्यवस्था की सबसे मुख्य विशेषता थी। इसी के इर्द-गिर्द नाना प्रकार की वर्जनाओं और प्रतिबंधों का ताना-बाना बुना गया था। विभिन्न जातियों पर जो वर्जनाएं थोपी गई हैं, उनका परस्पर व्यवहार में उल्लंघन कदापि नहीं होना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था की एक और बड़ी विशेषता यह थी कि अपनी जाति से बाहर के व्यक्ति के हाथ से बना खाना खाने पर प्रतिबंध था। इन वर्जनाओं से इस तरह के प्रश्न उठते हैं:

i) भोजन कौन बनाता है?

ii) किस तरह के बर्तन में भोजन बनाया गया है?

iii) क्या भोजन 'कच्चा' (पानी में पका) यानी कच्ची रसोई का है या 'पक्का' (तेल में पका) यानी चोखी रसोई का है। चोखी रसोई का भोजन अन्य जातियों के हाथ से भी स्वीकार्य होता है।

iv) भोजन के मामले में भी एक क्रम-परंपरा बनी हुई है, जिसमें शाकाहार को मांसाहार से ऊंचा दर्जा दिया गया है। ब्राह्मण आम तौर पर शाकाहारी होते हैं, मगर सभी जगह नहीं। जैसे कश्मीर और बंगाल में ब्राह्मण मांसाहारी भी होते हैं।

ये सभी वर्जनाएं जातिगत पहचान की रचना की प्रक्रिया को दर्शाता हैं। ये जाति समूहों के बीच मौजूद पार्थक्य और क्रम-परंपरा को प्रतिबिंबित करती हैं। इसलिए भोजन को अन्य जाति के व्यक्ति से स्वीकार नहीं करना सामाजिक श्रेणी की श्रेष्ठता को दिखाता है। इस शुचिता को बनाए रखने और 'अपवित्रता' से दूर रहने की धारणा लोगों के आपसी व्यवहार में भी देखने को मिलती है।

उदाहरण के लिए दक्षिण भारत वे कुछ भागों में अपवित्र होने का भय शारीरिक दूरी में परिलक्षित होता है, जिसे श्रेष्ठ और निम्न जातियों के बीच कायम रखा जाता है। श्रेणी क्रम में निम्न समझी जाने वाली जातियों को गांव के मंदिर और कुओं से दूर रहना होता है और ऊंची जाति के लोगों से बातचीत करते समय उन्हें शारीरिक दूरी बनाए रखना होता है। हटन जातिगत पारस्परिक-व्यवहार को अंतर्विवाह, शुचिता और अपवित्रता की धारणा और सहभोजिता संबंधी वर्जनाओं के रूप में नजर आने वाली विशेषताओं रोशनी में व्याख्या करते हैं। यहां पर आप ने देखा होगा कि घुरये और हटन के सिद्धांतों में कुछ बातें समान हैं।

19.3.3 एम.एन. श्रीनिवास

इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि जो विद्वान गुण प्रधान नजरिए को लेकर चलते हैं, वे जाति के गुणों पर विशेष जोर देते हैं। मगर इस प्रक्रिया में हर विद्वान इस या उस गुण को अधिक महत्व देता है और बताता है कि ये गुण किस तरह लोगों के आपसी व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मगर प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने 1950 के दशक में वर्ण-व्यवस्था का गहन विश्लेषण करके इन गुणों के आधार पर जातियों के बीच बनने वाले संबंधों के ढांचे का अध्ययन किया। उन्होंने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से जातिगत पहचान के गतिशील पहलू को हमारे सामने रखा है।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

स्थितिक गतिशीलता पर श्रीनिवास के अध्ययन में हमें यह पहलू स्पष्ट हो जाता है, जिसे हम संस्कृतीकरण कहते हैं। संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें एक जाति वर्ण क्रम-परंपरा में अपनी श्रेणी को उन्नत बनाने का प्रयत्न करती है जिसके लिए वह श्रेणी क्रम में अपने से ऊंची जाति या जातियों के गुणों को अपना लेती है। इसका यह मतलब है कि वह निम्न या हेय समझे जाने वाले गुणों को धीरे-धीरे त्याग देती है और ऊंची जातियों के गुणों की नकल करती है। इस नकल में शाकाहार, साफ-सुथरे काम-धंधे अपनाना शामिल है।

इससे प्रबल जाति की अवधारणा का गहरा रिश्ता है। किसी भी गांव में जो भी जाति प्रबल होती है वह हमें इन बातों में सबसे अलग नजर आ जाती है:

i) भारी संख्यात्मक उपस्थिति

ii) भूमि का स्वामित्व

iii) राजनीतिक सत्ताधिकार

इस प्रकार प्रबल जाति संख्या की दृष्टि से ही नहीं बल्कि आर्थिक और राजनीतिक सत्ताधिकार के मामले में भी महत्वपूर्ण ओहदा रखती है। यहां एक और रोचक बात है कि यह जरूरी नहीं कि प्रबल जाति गांव की जाति क्रम-परंपरा में सबसे ऊंचा स्थान रखती हो। यही नहीं, प्रबल जाति गांव में बची अन्य सभी जातियों से सेवा-चाकरी कराने का अधिकार भी रखती है।

बोध प्रश्न 2

1) एम.एन. श्रीनिवास ने जाति का जो विशेषताबोधक सिद्धांत रखा है, उसका सार दस पंक्तियों में लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

19.4 जाति का अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांत

यह सिद्धांत इस बात को लेकर चलता है कि स्थानीय अनुभव के स्तर पर जातियां एक दूसरे के सापेक्ष असल में किस-किस श्रेणी में होती हैं।

हमने अभी तक यह तो जान ही लिया है कि जाति के अध्ययन में हम किस प्रकार जाति के गुणों का प्रयोग कर सकते हैं। इससे आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि गुणों का एक समुच्चय परस्पर-व्यवहार से जुड़ी प्रक्रियाओं का द्योतक होता है। इसलिए हम यह कदापि नहीं कह सकते कि गुणों का परस्पर व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बल्कि हमें यह देखने को मिलता है कि परस्पर-व्यवहार के भी अपने गुणात्मक पहलू हैं। सो अब प्रश्न उठता है कि इन पहलुओं में से किसको अन्य से ज्यादा महत्व मिले और जाति की गतिकी और पहचान के सृजन के विश्लेषण में प्रमुखता दी जाए। जाति के अध्ययन में अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांत की लीक पर जो भी प्रवर्तक अध्ययन कार्य अब तक हुए हैं, आइए उनमें से कुछ के बारे में जानें।

MAADHYAM IAS

19.4.1 एफ. जी. बैली

बैली के अनुसार जाति की गतिकी और पहचान को पार्थक्य और क्रम-परंपरा के दो सिद्धांत जोड़ कर रखते हैं। उनका मानना है कि "जातियां आनुष्ठानिक और सांसारिक क्रम-परंपरा में अपनी-अपनी जगह लिए होती हैं, जिसकी अभिव्यक्ति परस्पर-व्यवहार के नियमों में होती है।" आनुष्ठानिक व्यवस्था राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर हावी रहती है।

बॉक्स 19.02

जातियों के बीच संबंध में सिर्फ अनुष्ठान ही नहीं होते। बल्कि उससे सत्ताधिकार का आयाम भी जुड़ा रहता है क्योंकि समाज में एक प्रबल जाति भी मौजूद होती है जिसके चलते अन्य जातियां उसकी अधीनस्थ होती हैं। जाति श्रेणी और जाति पहचान की अभिव्यक्ति तब होती है जब एक निम्न जाति अपने से ऊंची जाति की नकल करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार आपसी व्यवहार का स्वरूप श्रेणी क्रम-परंपरा में *आनुष्ठानिक प्रस्थिति* का द्योतक बन जाता है। आपसी-व्यवहार के स्वरूप में वे सभी मनोवृत्तियां और प्रथाएं शामिल रहती हैं जिन्हें व्यक्ति भोजन, सेवा, जल, साथ-साथ धूम्रपान, भोजों पर बैठने की व्यवस्था और उपहारों का आदान-प्रदान इन सबको स्वीकार और अस्वीकार करने से जुड़े प्रश्न के मामले में अपनाते हैं।

बैली ने अपने विचार उड़ीसा के बीसीपाड़ा नामक गांव के संदर्भ में रखे हैं। उन्होंने यह बताया कि स्वतंत्रता के बाद क्षत्रियों के हाथों से अधिकांश जमीन निकल जाने से बीसीपाड़ा में जाति स्थिति किस तरह बदल गई। भूमि पर स्वामित्व खत्म हो जाने से आनुष्ठानिक श्रेणीकरण में भी उनका स्थान गिर गया। इससे आपसी-व्यवहार के उपरोक्त पहलुओं यानी अन्य जातियों से भोजन स्वीकार करना और न करना इस में भी स्पष्ट रूप से परिवर्तन आ गया।

19.4.2 ए. मेयर

मेयर ने मध्य प्रदेश के रामखेड़ी नामक गांव का अध्ययन किया। वर्ण क्रम-परंपरा के प्रभावों को समझने के लिए मेयर ने जातियों के बीच होने वाले आपसी-व्यवहार को इन बातों की रोशनी में देखा:

i) भोजन, पानी पीना और धूम्रपान में सहभोजिता–यानी भोजन, पानी और धूम्रपान साथ करना

ii) आदान-प्रदान में स्वीकार किए जाने वाला भोजन किस किस्म का है–वह 'कच्चा' है या 'पक्का'

iii) भोजन करने का अवसर–कोई अनुष्ठान या सामान्य अवसर

iv) भोजन के अवसर पर बैठने की व्यवस्था

v) भोजन कौन परोसता है और भोजन किसने बनाया है

vi) पानी का पात्र कैसा है–धातु का या मिट्टी का।

सहभोज क्रम-परंपरा इस विश्वास पर आधारित है कि उपरोक्त सभी कारको या इनमें से कोई भी एक कारक किसी भी जाति के लिए कम या ज्यादा दूषण का कारण बन सकता है, जिससे क्रम-परंपरा व्यवस्था में उसकी पहचान और श्रेणी प्रभावित होती है। अब इस क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विद्यमान जाति यह सुनिश्चित करेगी कि उसे सिर्फ एक ही जाति के हाथों से भोजन या फिर इस किस्म का भोजन और जलपात्र मिले, जिससे वह अपवित्र न हो पाए। उदाहरण के लिए 'पक्का' भोजन निम्न जाति के हाथों से स्वीकार तो किया जाएगा मगर कच्चा भोजन सिर्फ अपनी जाति या उपजाति में ही स्वीकार्य होगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.4.3 एम. मैरियोट

मैरियोट वर्ण क्रम-परंपरा का विश्लेषण स्थानीय संदर्भ की रोशनी में करते हैं। उन्होंने आनुष्ठानिक-व्यवहार में जाति श्रेणीकरण की व्यवस्था का अध्ययन किया। इस अध्ययन से मैरियोट भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा का आर्थिक और राजनीतिक क्रम-परंपराओं से चोली-दामन का साथ है। आम तौर पर आर्थिक और राजनीतिक श्रेणियां सम्पाती होती हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो आनुष्ठानिक और गैर-आनुष्ठानिक क्रम-परंपराएं दोनों ही जाति-गण में श्रेणीकरण को प्रभावित करती हैं, हालांकि इसमें आनुष्ठानिक क्रम-परंपराएं बड़ी भूमिका अदा करती हैं। इस तरीके से जाति श्रेणीकरण को लेकर विभिन्न जातियों में एक तरह की आम सहमति सी बन जाती है जिसे सामूहिक रूप से उचित मान लिया जाता है और कायम रखा जाता है। यहां एक बात बताना जरूरी है कि यह प्रक्रिया उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि पहली बार देखने में नजर आती है। इसकी वजह यह है कि समाजशास्त्री तब अध्ययन-क्षेत्र में उतरता है जब यह प्रक्रिया अपने पूर्ण रूप में विकसित हो चुकी होती है। इसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ती और उसे अपने अध्ययन से जो भी जानकारी, आंकड़े इत्यादि मिलते हैं उन्हीं के आधार पर वह इसके निष्कर्ष निकालता है।

मैरियोट ने 1952 में उत्तर-प्रदेश के अलीगढ़ जिले के किशनगढ़ी और राम नागला नामक दो गांवों का अध्ययन किया। मैरियोट के अध्ययन से पता चलता है कि इन गांवों में जाति

श्रेणीकरण को लेकर आम-सहमति थी। यह निष्कर्ष उन्होंने गांव में *अनुष्ठान या आनुष्ठानिक-व्यवहार* को देखकर निकाला।

मैरियोट ने जिन दो गांवों का अध्ययन किया था, उनमें हम श्रेणी के निम्न महत्वपूर्ण सूचक पाते हैं:

i) भोजन दिया जाना और स्वीकार किया जाना

ii) सम्मानसूचक संकेतों (नमस्कार इत्यादि) का आदान-प्रदान और प्रथाएं

iii) ब्राह्मणों को सबसे ऊंचा स्थान हासिल है, क्योंकि वे बड़े महत्वपूर्ण या विशिष्ट कर्मकांडों को अंजाम देने का काम करते हैं। इसके साथ वे अन्य जातियों से सभी तरह की सेवाएं भी लेते हैं। ब्राह्मण लोग अन्य ऊंची जातियों से सिर्फ 'पक्का' भोजन ही स्वीकार करते हैं। इस तरह किसी जाति को तब ऊंचा माना जाता है जब ब्राह्मण उससे 'पक्का' भोजन स्वीकार करे। अगर ब्राह्मण उससे 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं करे तो वह जाति निम्न समझी जाती है। किशन गढ़ी में इस तरह की दस और राम नागला में चार ऐसी ऊंची जातियां पाई गईं। सबसे छोटी जाति को किसी अन्य जाति से कोई सेवा नहीं मिलती। बल्कि वह सभी जातियों को अपनी सेवाएं देती है और उनसे 'कच्चा' भोजन भी स्वीकार करती है।

अभ्यास 2

मेयर और मैरियोट ने जाति श्रेणी के जो महत्वपूर्ण सूचक बताएं हैं, उन पर अपने मित्रों और सहपाठियों से चर्चा करें। उससे आपको जो भी जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिखें।

इस प्रकार भोजन और सेवाएं कैसे दी जाती हैं और स्वीकार की जाती हैं, ये सब जाति श्रेणीकरण के महत्वपूर्ण सूचक हैं। मगर मैरियोट ने इनके अलावा भी निम्न मामलों में भी ऐसे नियम देखें:

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) साथ-साथ बीड़ी-सिगरेट या हुक्का पीना,

ii) घरों का विन्यास और दिशा

iii) नियुक्तियां और शारीरिक संपर्क

iv) सहभोज और भोजन परोसे जाने का क्रम

किशन गढ़ी में राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा के बराबर ही था। आइए अब देखें कि आनुष्ठानिक प्रस्थिति और आर्थिक शक्ति (भूमि स्वामित्व) किस तरह से अतिव्यापान करते हैं:

किशनगढ़ी में जाति श्रेणी और भू-स्वामित्व

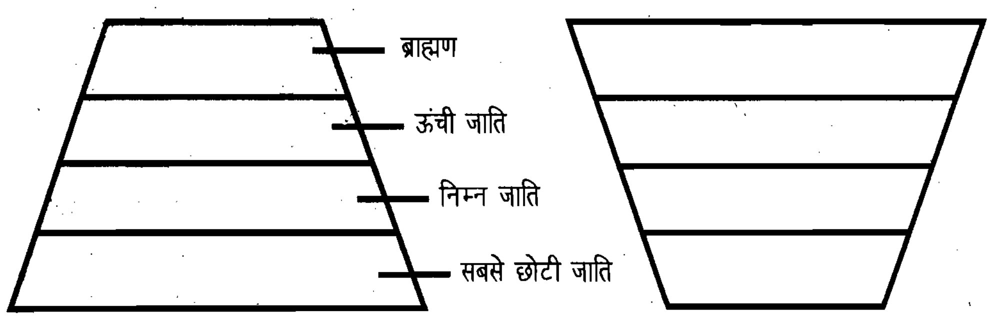

जातियों में अमूमन अपनी राजनीतिक और आर्थिक *प्रस्थिति* को अनुष्ठानिक *प्रस्थिति* में बदलने की प्रवृत्ति हावी रहती है। मगर वहीं जाति क्रम-परंपरा के ढांचे में कुछ असंगतियां

भी रहती हैं, जिससे सामाजिक गतिशीलता की संभावना बनती है। हालांकि यह बात सही है कि आपसी-व्यवहार स्थानीय जाति श्रेणी का निर्धारण करने के लिए महत्वपूर्ण है लेकिन इसमें दूसरे गांवों का संदर्भ भी सहायक हो सकता है। आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा मोटे तौर पर राजनीतिक और आर्थिक श्रेणी के संगत नजर आती है। परस्पर-व्यवहार एक प्रदत्त श्रेणी-गण को कायम रखता है, जिसे हम ऊपर बताए गए विभिन्न तथ्यों में देख सकते हैं।

19.4.4 एल. द्युमोंत

अन्योन्य-क्रिया धर्मी परिप्रेक्ष्य में जाति के अध्ययन में द्यूमोंत ने एक नया आयाम जोड़ा। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का जो अध्ययन किया है वह जातियों के सहजगुणों के बजाए उनके बीच विद्यमान संबंधों को केन्द्र बनाकर चलता है। गुणों को हम विभिन्न जातियों के बीच मौजूद संबंध के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। द्युमोंत के अनुसार स्थानीय संदर्भ की जाति श्रेणीकरण और पहचान में भूमिका जरूर है। लेकिन यह भूमिका समूची वर्ण-व्यवस्था को अपने प्रभाव में समेटने वाली जाति क्रम-परंपरा की विचारधारा के प्रत्युत्तर में आती है। द्युमोंत जाति को आर्थिक, राजनीतिक और नातेदारी की व्यवस्थाओं के संबंधों का समुच्चय मानते हैं, जिन्हें मुख्यत: धार्मिक मूल्य बनाए रखते हैं। द्युमोंत के अनुसार जाति एक विशेष किस्म की असमानता है और क्रम-परंपरा ही वह अनिवार्य मूल्य है जो वर्ण-व्यवस्था के मूल में निहित है। यही मूल्य हिन्दू समाज को जोड़ कर रखते हैं।

द्युमोंत कहते हैं कि जाति के विभिन्न पहलू पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध के सिद्धांत पर आधारित हैं। पवित्र अपवित्र से श्रेष्ठ है और इसलिए उसे पृथक रखा जाना चाहिए। *पवित्र और अपवित्र में विरोध के कारण ही वर्ण-व्यवस्था लोगों को तर्कसंगत दिखाई देती है।*

द्युमोंत का यह भी मानना है कि वर्ण-व्यवस्था में क्रम-परंपरा आनुष्ठानिक प्रस्थिति का द्योतक है जो धन-दौलत या सत्ताधिकार के प्रभावों से स्वतंत्र रहती है। अत: क्रम-परंपरा वह सिद्धांत है, जिसके माध्यम से वर्ण-व्यवस्था के तत्व श्रेणीबद्ध रहते हैं। श्रेणीकरण का स्वरूप मूलत: धार्मिक होता है। भारतीय समाज में प्रस्थिति (ब्राह्मण) को हमेशा सत्ता (राजा) से पृथक करके रखा गया हैं। दूसरे शब्दों में सत्ताधिकार को प्रस्थिति या प्रतिष्ठा से गौण माना जाता है। इसीलिए राजा पुरोहित का अधीनस्थ होता है। मगर दोनों एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार क्रम-परंपरा स्वभाव से आनुष्ठानिक है और धर्म उसे आधार देता है। जब सत्ता को प्रस्थिति का अधीनस्थ बना दिया ज़ाता है, तभी इस प्रकार की शुद्ध क्रम-परंपरा विकसित हो सकती है। इसलिए पवित्रता का द्योतक ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है और वह समूची वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष पर विराजमान रहता है। मगर ब्राह्मण राजा के साथ मिलकर वर्ण व्यवस्था की सभी अन्य जाति श्रेणियों का विरोध करता है।

द्युमोंत आर्थिक व्यवहार की जजमानी प्रथा को आर्थिक प्रबंध की बजाए एक आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार जजमानी प्रथा परस्पर-निर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है, और यह परस्पर-निर्भरता भी अपने-आप में धर्म से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सहभोजिता के नियम पार्थक्य के बजाए क्रम-परंपरा को ही प्रतिष्ठित करते हैं। मगर सुचिता का प्रश्न सहभोजिता के सभी अवसरों पर नहीं उठता। इसीलिए धोबी 'परिमार्जक' होता है और वह घरों में स्वतंत्रता से आ-जा सकता है। परंतु वहीं वह उन जातियों के विवाह समारोह में भाग नहीं ले सकता, जिनसे उसका इस तरह का संबंध होता है। आइए अब विशेषताबोधक और अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांतों की तुलना करें।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) द्युमोंत के अन्योन्य-क्रियात्मक जाति श्रेणीकरण सिद्धांत के बारे में 10 पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

19.5 विशेषताबोधक और अन्योन्य-क्रियात्मक सिद्धांतों का मूल्यांकन

MAADHYAM IAS

अब हम इस स्थिति में हैं कि हम दोनों सिद्धांतों में पाई जाने वाली विसंगतियों के बारे में बता सकें। इस सिलसिले में आइए सबसे पहले विशेषताबोधक सिद्धांत पर आते हैं।

i) एम. मैरियोट बताते हैं कि किशन गढ़ी में जिन-जिन जातियों का अध्ययन उन्होंने किया था उनमें से कुछ जातियों को सामाजिक क्रम-परंपरा में उनके गुणों के कारण स्थान नहीं मिला था। उन्होंने पाया कि खान-पान और व्यवसाय संबंधी वर्जनाएं कुछ मामलों में जाति श्रेणी या पहचान का निषेध नहीं करती थीं।

ii) इसके अलावा किशन गढ़ी में जातियों को जो स्थान हासिल था वह उनके पेशे की श्रेष्ठता और हीनता से नहीं आया था। इसलिए वास्तविकताएं सिद्धांत के अनुरूप नहीं पाई गईं।

iii) असल में किसी भी जाति के गुणधर्म और समाज में उसे प्राप्त श्रेणी में काफी विसंगतियां पाई जाती हैं। इसलिए श्रीनिवास ने मैसूर के जिस गांव का अध्ययन किया था इसमें बनिया जाति शाकाहारी थी और उसका पेशा भी किसानों की तुलना में अधिक साफ-सुथरा था। पर इसके बावजूद किसानों की श्रेणी बनियों से ऊंची थी।

iv) इसके अलावा इस सिद्धांत में एक समस्या यह भी उठती है कि जातियों को श्रेणियों में बांटने में किस गुणधर्म का महत्व अधिक है और किसका कम।

विशेषताबोधक सिद्धांत की इन विसंगतियों को देखते हुए ही उसके विकल्प में अन्नोन्य-क्रिया का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। मगर इस सिद्धांत की भी अपनी कमजोरियां हैं, जो इस प्रकार हैं:

i) अन्योन्य-क्रिया का सिद्धांत सहजगुणों के महत्व को अपने में समेट लेता है। इसीलिए सहजगुणों की बात कहे बिना हम सिर्फ अन्योन्य-क्रिया के आधार पर श्रेणी का निर्धारण नहीं कर सकते।

ii) द्युमोंत के अलावा, अन्योन्य-क्रिया का सिद्धांत क्रम-परंपरा को स्थानीयता के दायरे में सीमित कर देता है और कहता है कि जाति श्रेणीकरण अन्योन्य-क्रिया का परिणाम

है। इसलिए इसमें क्रम-परंपरा के बजाए पार्थक्य को विशेष बल मिलता है। द्युमोंत का मानना है कि पवित्रता और अपवित्रता की विचारधारा समूचे हिन्दू समाज से जुड़ी है न कि उसके किसी एक हिस्से से।

iii) द्युमोंत का अध्ययन कार्य काफी हद तक ऐतिहासिक है और वह यह मानकर चलते हैं कि वर्ण-व्यवस्था सदियों से स्थिर रही है, जो कि सत्य नहीं है।

iv) द्युमोंत हालांकि 'सत्ताधिकार' और 'प्रस्थिति' को स्पष्टतया अलग करके देखते है, पर वहीं यह तर्क भी मिलता है कि सत्ताधिकार को इतिहास की दृष्टि से प्रस्थिति में परिवर्तित कर दिया गया है।

v) अंततोगत्वा जाति के बारे में कहना कि यह मूल्यों (विचारधारा) की सर्वत्र स्वीकृत क्रमबद्ध व्यवस्था है, वह उन विरोध आंदोलनों के साथ न्याय नहीं करता जो जाति विभाजन पर सवालिया निशान लगाते हैं। वर्ण-व्यवस्था में निहित द्वंद्व तो इस सिद्धांत में लुप्त है, लेकिन वहीं इसमें जाति के समाकलनात्मक प्रकार्य यानी समाज को एकता के सूत्र में बांधने में जाति जो भूमिका अदा करती है, उसे अधिक महत्व दिया गया है।

19.6 सारांश

इस इकाई में हमने जाति श्रेणी और जातिगत पहचान के विभिन्न पहलुओं के बारे में जाना। इसके शुरू में हमने जाति की धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं समेत उसकी आरंभिक व्याख्याओं पर रोशनी डाली। इसके पश्चात हमने घुरये, हटन और श्रीनिवास जैसे समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित विशेषताबोधक सिद्धांत के बारे में आपको अवगत कराया। फिर हमने जाति श्रेणीकरण और पहचान की व्याख्या के लिए अन्योन्यक्रिया के वैकल्पिक सिद्धांत के बारे में बताया जिसमें बैली, मेयर, मैरियोट और द्युमोंत के अध्ययन कार्य शामिल किए गए। इसके बाद हमने दोनों सिद्धांतों का मूल्यांकन किया और देखा कि दोनों में कुछ न कुछ समस्याएं हैं। मगर इससे इतना स्पष्ट तो हो ही जाता है कि हमने जिन अध्ययन कार्यों की चर्चा इस इकाई में की है वे जाति क्रम परंपरा और श्रेणीकरण की आरंभिक धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं से बेहद उन्नत हैं।

MAADHYAM IAS

19.7 शब्दावली

सहजगुण	:	गुण और रूपाकार
सहभोजिता	:	साथ बैठकर भोजन करना
प्रबल जाति	:	वह जाति जो किसी गांव में अपनी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के कारण प्रभावशाली है।
सगोत्र विवाह	:	एक जाति समूह विशेष के भीतर विवाह रचाना
विचारधारा	:	विचारों की एक सुसंगत धारा
जजमानी प्रथा	:	प्रबल जातियों पर आश्रित जातियों द्वारा उन्हें आनुष्ठानबद्ध, निजी, विशिष्ट सेवाएं प्रदान करने का रिवाज
कच्चा भोजन	:	ऐसा खाना जो कच्चा या पानी में पका हो
पक्का भोजन	:	ऐसा खाना जो घी या तेल में बना हो
दूषण	:	गंदी वस्तुओं या जातियों के संपर्क में आने से उत्पन्न होने वाली स्थिति

पवित्रता : आनुष्ठानिक स्वच्छता या सभी दूषित करने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों से मुक्त रहने की दशा

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

द्युमोंत, एल. 1970, *होमो हायर्किकस,* शिकागो, यूनि. ऑव शिकागो प्रेस

मदान, टी.एन. (संपा.) 1971 "ऑन द नेचर ऑव कास्ट इन इंडिया" *कांस्टीट्यूशनल्स टू इंडियन सोशियोलाजी*

मैंडलबौम, डी.जी. 1987, *सोशियोलजी इन इंडिया,* बंबई पॉपुलर प्रकाशन

मैरियॉट, एम. "इंटरेक्शनल एंड एट्रीब्यूशनल थ्योरीज ऑव कास्ट रैंकिंग", *मैन इन इंडिया* (खंड 34, अंक 2)

श्रीनिवास, एम.एन. 1966, *सोशल चेंज इन इंडिया,* बर्कले, यूनि. ऑव कैलिफोर्निया प्रेस

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जाति की आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्याएं इसलिए उल्लेखनीय हैं कि वे ठेठ धार्मिक व्याख्याओं से अलग हटकर चलती हैं। इसलिए कार्ल मार्क्स के अध्ययन से हमें पता चलता है कि भूमि स्वामित्व का संबंध समाज में किसी भी जाति-समूह की स्थिति को निर्धारित करता है।

बोध प्रश्न 2

2) श्रीनिवास जाति को एक सखंड व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार सभी जातियां उप-जातियों में बंटी हैं जो i) सगोत्र विवाह करती हैं, ii) एक पेशा करती हैं, iii) एक सामाजिक और आनुष्ठानिक जीवन की इकाई होती हैं, v) एक ही संस्कृति को मानती हैं और vi) ग्राम सभा या पंचायत द्वारा शासित रहती हैं। श्रीनिवास ने क्रम-परंपरा, जातिगत व्यवसाय, सहभोजिता और वर्जनाओं के कारकों, दूषण के सिद्धांत और जाति पंचायतों को भी अपने अध्ययन में लिया है। श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की जो धारणा प्रस्तुत की है, उसके अनुसार छोटी जाति श्रेणीकरण की प्रणाली में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए ऊंची जाति के गुणों को अपनाती हैं।

बोध प्रश्न 3

1) द्युमोंत के अनुसार पवित्रता और दूषण की विचारधारा एक सामान्य विचारधारा है जो किसी एक स्थान के संदर्भ तक सीमित नहीं है। उनके अनुसार जाति आर्थिक, राजनीतिक और नातेदारी व्यवस्थाओं के बीच विद्यमान संबंधों का समुच्चय है। क्रम-परंपरा वर्ण-व्यवस्था के मूल में निहित मूल्य है और यही मूल्य हिन्दू समाज को एक करते हैं। पवित्र अपवित्र से श्रेष्ठ है और उसे पृथक रखा जाना जरूरी है। द्युमोंत के अनुसार सत्ताधिकार प्रस्थिति का अधीनस्थ है और इसीलिए राजा पुरोहित से नीचे होता है। इस प्रकार क्रम-परंपरा आनुष्ठानिक होती है और उसे धर्म आधार प्रदान करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 20 जाति की आर्थिक और राजनीतिक गतिकी

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताएं

20.3 संस्कृतीकरण और भेद की अवधारणाएं

20.4 वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन और गतिशीलता: आर्थिक और राजनीतिक कारक

20.5 सारांश

20.6 शब्दावली

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- वर्ण-व्यवस्था का क्या अर्थ है और उसकी ठेठ आदर्श विशेषताएं क्या-क्या हैं, यह समझ जाएंगे;
- संस्कृतीकरण और भेद के जरिए आप उपरोक्त संकल्पना-निर्धारण में आने वाली समस्याओं को जान पाएंगे;
- वर्ण-व्यवस्था में गतिशीलता और परिवर्तन के राजनीतिक और आर्थिक कारकों के बारे में जान पाएंगे; और
- पूर्व-आधुनिककाल और आधुनिक काल दोनों के दौरान वर्ण-व्यवस्था में जो-जो दबलाव आए हैं, उनके बारे में जान पाएंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.1 प्रस्तावना

यह इकाई आपको मुख्यत: उन परिवर्तनों के बारे में बताएगी जो वर्ण-व्यवस्था में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के कारण आए हैं। इसके लिए हमने विभिन्न संकल्पनाओं का अर्थ समझाने के साथ-साथ मुख्य समाजशास्त्रीय और नृवैज्ञानिक अध्ययनों का उल्लेख भी किया है। इसे बेहतर ढ़ँग से समझाने के लिए हमने इकाई को तीन मुख्य भागों में बांटा है।

पहला भाग वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताओं के बारे में बताता है। दूसरा भाग संस्कृतीकरण और भेद का अर्थ बताता है। इन संकल्पनाओं से हमें वर्ण-व्यवस्था की परिवर्तनशील प्रकृति के बारे में पता चलता है। तीसरा भाग पूर्व आधुनिक-काल और आधुनिक काल में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के कारण वर्ण-व्यवस्था में जो-जो परिवर्तन आए हैं और उसमें गतिशीलता किस तरह से होती है, इस सबके बारे में बताता है।

20.2 वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताएं

जाति की गतिकी को समझने से पहले वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताओं को जानना

जरूरी है। इससे हम वर्ण-व्यवस्था में आए तरह-तरह के बदलावों को समझ सकेंगे। भारतीय समाज-शास्त्र या सामाजिक-नृजातिविज्ञान में यह महसूस किया जाता है कि अपने अंतर-संबंधों के जरिए विभिन्न जातियों ने जिस वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया है उसके स्वरूप को समझने का सबसे बढ़िया तरीका यही है कि हम उसकी विभिन्न विशेषताओं को जानें। जी.एस. घुरये ने वर्ण-व्यवस्था की जो विशेषताएं बताई हैं, उन्हें कुछ आपत्तियों के साथ लगभग सभी समाजशास्त्रियों ने स्वीकारा है। घुरये के चित्रण से वर्ण-व्यवस्था की जो तस्वीर उभरती है, उसे हम उसकी ठेठ आदर्श विशेषता मान सकते हैं, जो इस प्रकार हैं:

i) समाज का सखंड विभाजन

वर्ण-व्यवस्था समाज को विभिन्न जाति समूहों में बांटती है, जिसमें प्रत्येक जाति-समूह की अपनी सुविकसित जीवन शैली होती है। जाति समूह की सदस्यता जन्म से तय होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति या हैसियत जिस जाति में वह जन्मा है उसकी पारंपरिक महत्ता से तय होती है। जाति वंशागत है।

ii) क्रम-परंपरा

वर्ण-व्यवस्था की यह एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। किसी भी जाति का इस क्रम-परंपरा में स्थान विभिन्न कारक तय करते हैं, जैसे: (क) भोजन सामग्री, (ख) अन्य जातियों से भोजन और जल ग्रहण या अस्वीकार करना, (ग) उसके अनुष्ठान, (घ) उसके रीति-रिवाज, (ड.) उसके पारंपरिक विशेषाधिकार और अशक्तताएँ और (च) उसकी उत्पत्ति का मिथक। जो जातियाँ क्रम-परंपरा में ऊपर हैं, उन्हें उन जातियों से ज्यादा पवित्र माना जाता है जो क्रम-परंपरा में नीचे हैं।

दयुमोंत के अनुसार जाति क्रम-परंपरा जिस अकेले विशुद्ध सिद्धांत पर आधारित है, वह पवित्र और अपवित्र में विरोध है। उनका कहना है: "यह विरोध क्रम-परंपरा का आधार है, जो अपवित्र पर पवित्र की श्रेष्ठता का द्योतक है, यही पार्थक्य का आधार है क्योंकि पवित्र और अपवित्र को एक दूसरे से पृथक रखा जाना चाहिए और यही श्रम के विभाजन का आधार है क्योंकि इसी तरह पवित्र और अपवित्र व्यवसायों को भी अलग रखा जाना चाहिए।" दयुमोंत क्रम-परंपरा को वर्ण-व्यवस्था की एक निश्चायक विशेषता मानते हैं क्योंकि यह "ऐसा सिद्धांत है जिसके द्वारा किसी समष्टि के तत्व उस समष्टि के सापेक्ष श्रेणीबद्ध रहते हैं।" उनके अनुसार यह "परिवेशी और परिविष्ट के बीच" संबंध है। "जातियों के 'क' से लेकर 'ज्ञ' तक के रेखीय क्रम" के लिए यही उत्तरदायी है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

iii) खान-पान और सामाजिक संसर्ग पर अंकुश

पवितत्रता की रक्षा के लिए खान-पान और सामाजिक संसर्ग पर विभिन्न किस्म की वर्जनाएं थोपी गई हैं। किस तरह का भोजन और पेय किस जाति से स्वीकार किया जाना चाहिए और किससे नहीं, इस बारे में बड़े ही स्पष्ट और सूक्ष्म नियम बनाए गए हैं।

अभ्यास 1

अपनी नोटबुक में बताइए कि जाति की ठेठ आदर्श विशेषताएं नगर में पाई जा सकती हैं या गांव में। अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से इस पर चर्चा कीजिए।

iv) विभिन्न वर्गों की नागरिक और धार्मिक अशक्तताएं और विशेषाधिकार

वर्ण-व्यवस्था जातियों पर देशिक पार्थक्य थोपती है, जो कि नागरिक विशेषाधिकारों और अशक्त्ताओं का सबसे स्पष्ट चिन्ह है। अछूतों यानी सबसे अपवित्र मानी जाने वाली जातियों को आमतौर पर गाँव के बाहरी छोर पर बसने के लिए विवश किया जाता है।

v) व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता न होना

व्यक्ति कौन सा पेशा चुनेगा इसका निर्धारण भी वर्ण-व्यवस्था ही करती है। इसका यही

मतलब है कि किसी जाति या संबद्ध जातियों के समूह के सदस्यों से एक खास किस्म का व्यवसाय अपनाने की अपेक्षा की जाती है।

vi) **विवाह संबंधी वर्जनाएं**

वर्ण-व्यवस्था जाति से बाहर विवाह करने पर कठोर वर्जनाएं थोपती है। दूसरे शब्दों में एक जाति अपने सदस्यों को जाति से बाहर विवाह करने के लिए मना करती है। इस प्रकार जाति अंतर्विवाही होती है। अंतर्विवाह या सगोत्रविवाह का यह सिद्धांत वर्ण-व्यवस्था की ऐसी प्रबल विशिष्टता है कि अंतर्विवाह को 'वर्ण व्यवस्था का सार' भी कहा जाता है।

20.3 संस्कृतीकरण और भेद की अवधारणाएं

क्रम-परंपरा के सर्व-समावेशी सिद्धांत पर आधारित एक बंद व्यवस्था के रूप में वर्ण-व्यवस्था अपने सदस्यों को गतिशीलता की अनुमति नहीं देती। उस की इस व्याख्या को सभी समाजशास्त्री स्वीकार नहीं करते। कुछ समाजशास्त्रियों और नृजातिविज्ञानियों ने इसको लेकर आपत्तियां की हैं और इस तरह के संकल्पना-निर्धारण की महत्वपूर्ण आलोचना भी की है। इस सिलसिले में एम.एन. श्रीनिवास और दीपांकर गुप्ता ने संस्कृतीकरण और भेद के सिद्धांतों का प्रतिपादन करके जो आलोचना प्रस्तुत की है वह ध्यान देने योग्य है।

i) **संस्कृतीकरण**

प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की संकल्पना का प्रतिपादन वर्ण-व्यवस्था की परिवर्तनशील प्रकृति का विवेचन करने के लिए किया था। श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण वह "प्रक्रिया है जिसके द्वारा 'निम्न' हिन्दू जाति या जनजाति या अन्य समूह अपने रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों, विचारधारा और जीवन शैली को ऊंची, द्विज जाति की दिशा में बदलती है। आमतौर पर इस तरह के परिवर्तनों के बाद जाति-क्रम परंपरा में उससे ऊंचे स्थान का दावा किया जाता है जो पारंपरिक रूप से दावेदार जाति को स्थानीय सम्प्रदाय ने दिया होता है।" संस्कृतीकरण की यह काफी व्यापक परिभाषा है। यह सिर्फ ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, न ही यह सिर्फ अनुष्ठानों और धार्मिक प्रथाओं तक सीमित है। इसका अर्थ विचारधाराओं का अनुकरण भी है।

MAADHYAM IAS

यह वर्ण-व्यवस्था में गतिशीलता या परिवर्तन में भिन्नताओं या विविधताओं की ओर संकेत करता है। अपने कथन को और अधिक प्रभावशाली और अनुभव की दृष्टि से प्रमाणित करने के लिए वे के. एम. पणिकर के ऐतिहासिक अध्ययन का उल्लेख करते हैं। पणिकर का मानना है कि सभी क्षत्रियों का उद्गम निम्न जातियों द्वारा सत्ता हथियाने से हुआ है जिसके फलस्वरूप समाज में उन्हें क्षत्रिय की भूमिका और दर्जा मिला।

श्रीनिवास यह भी कहते हैं कि हालांकि सभी अ-प्रबल, खासकर छोटी या अद्विज जातियों के लोग अपना संस्कृतीकरण करना चाहते हैं। मगर इसमें वही सफल हो पाते हैं, जिनकी आर्थिक और राजनीतिक दशा में सुधार हुआ हो।

ii) **भेद**

दीपांकर गुप्ता ने भेद की संकल्पना देकर वर्ण-व्यवस्था की उससे एकदम अलग तस्वीर प्रस्तुत की है जो हमें द्युमोंत की *होमो हायर्किकस* समेत कई ग्रंथों में देखने को मिलती है। गुप्ता दावा करते हैं कि आनुभाविक और तर्क की दृष्टि से यह कहना गलत होगा कि पवित्रता और अपवित्रता के सिद्धांत पर आधारित सिर्फ एक सर्व-समावेशी क्रम-परंपरा ही वर्ण-व्यवस्था को परिभाषित करने वाली विशेषता है। उनके अनुसार: "क्रम-परंपरा की कोई भी अवधारणा यादृच्छिक और कुछ खास जातियों के परिप्रेक्ष्य से मान्य होती है। यह कहना भ्रामक है कि शुद्ध क्रम-परंपरा या तो वह है जिसमें सभी लोग विश्वास करते हैं या वह है जो वर्ण-व्यवस्था में हिस्सा लेने वाले लोगों की स्थिति को वैधता का जामा पहनाती

है। जातियों के बीच पार्थक्य सिर्फ उन्हीं मामलों को लेकर नहीं होता जिन्हें हम पवित्रता और अपवित्रता के बीच विरोध की संज्ञा देते हैं। बल्कि ऐसे भेदों और प्रभेदों का भी उतना ही कठोरता से पालन होता है, पवित्रता और अपवित्रता का जिनसे दूर तक संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए अमोत नामक खेतिहर जाति में गोड़ैया त्योहार का शुभारंभ सूअर की बलि से किया जाता है। इसके बावजूद ब्राह्मण उनके हाथ से पानी पी लेते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्रता और अपवित्रता से जुड़े भेदभाव जाति की प्रस्थिति को प्रभावित नहीं करती।

बॉक्स 20.01

गुप्ता तर्क देते हैं कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति कथाएं, जिन्हें हम जाति पुराण के नाम से भी जानते हैं, विभिन्न क्रम-परंपराओं को उचित ठहराती हैं, जिनमें ब्राह्मण को हमेशा शीर्ष स्थान नहीं मिलता। ऊर्ध्व गतिशीलता के लिए संस्कृतीकरण के तरह-तरह के मॉडल देखे जा सकते हैं, जो बहुल जाति क्रम-परंपराओं की उपस्थिति का ठोस संकेत देते हैं। गुप्ता के अनुसार हर उत्पत्ति कथा या जाति कथा "जातियों के बीच विद्यमान 'भेद' का सार बताती है और इसीलिए तर्क की दृष्टि से प्रस्थिति में सभी समान हैं। इस 'भेद' को जन्म देने वाले घटक उदग्र या क्रम-परंपरा के अनुसार क्रमबद्ध न होकर समस्तरीय या पृथक होते हैं। इसलिए 'भेद' की इस व्यवस्था में हमारा सामना एक संतत पैमाने से होने के बजाए प्रच्छन्न श्रेणियों से होता है। कोई भी जाति यह नहीं मानती कि वह किसी अनूठे तत्व की बनी है, या जो तत्व उसमें है वह किसी से कम पवित्र हैं। हर जाति की अपनी परंपरा, रीति-रिवाज और विचारधारा होती है और इसीलिए वह अन्य जातियों से भेद बरतती है।

गुप्ता का मानना है कि "भेद" और "बहुल समाजिक प्रथाओं का अनुष्ठानीकरण" वर्ण-व्यवस्था का निचोड़ हैं। उनके अनुसार: "वर्ण-व्यवस्था को हम विभेदन के ही एक स्वरूप के बतौर परिभाषित करेंगे, जिसमें व्यवस्था की घटक इकाइयां अंतर्विवाह को ऐसे कथित जैविक भेदों के आधार पर उचित ठहराती है, जो बहुल सामाजिक प्रथाओं के अनुष्ठानीकरण के द्वारा संकेतबद्ध रहते हैं।" बहुल सामाजिक प्रथाओं के अनुष्ठानीकरण से उनका क्या अभिप्राय है इसे स्पष्ट करते हुए गुप्ता कहते हैं: "अनुष्ठानों से हमारा तात्पर्य उन सभी सामाजिक प्रथाओं से है, जिनका पालन इसलिए किया जाता है कि उन्हें सहज रूप से उत्तम माना जाता है।"

MAADHYAM IAS

20.4 वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन और गतिशीलता: आर्थिक और राजनीतिक कारक

संस्कृतीकरण और भेद की संकलपनाएं वर्ण-व्यवस्था की परिवर्तनशील प्रकृति को हमारे सामने रखती हैं। असल में भारतीय समाजशास्त्र या सामाजिक नृजातिविज्ञान में वर्ण-व्यवस्था में विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के कारण आए परिवर्तन और गतिशीलता ही अध्ययन का मुख्य विषय रहे हैं। इन अध्ययनों से पता चलता है कि वर्ण-व्यवस्था ने हमेशा ही समाज की राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के साथ परस्पर-क्रिया और प्रतिक्रिया की है। इन अध्ययनों की मुख्य खोजों को व्यवस्थित और स्पष्ट तरीके से रखने के लिए हमने जाति गतिकी के इतिहास को दो भागों में बांटा है: पूर्व आधुनिककाल और आधुनिककाल।

i) पूर्व आधुनिक-काल

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना होने से पहले के काल में समाज में ऐसे दो सबसे महत्वपूर्ण कारक मौजूद थे, जिनके चलते वर्ण-व्यवस्था में भारी गतिशीलता आई: (1) राजनीतिक प्रणाली में अनिश्चितता और (2) स्थिर जनसांख्यिकीय स्थिति के चलते सीमांत भूमि की सुलभता। श्रीनिवास के अनुसार राजा के किसी भी अधिकारी या किसी इलाके में

दबंग जाति के किसी भी प्रभावशाली परिवार के लिए राजनीतिक रूप से शक्तिशाली बनना और फिर सरदार या राजा का ताज पहनकर क्षत्रिय का दर्जा पाना संभव था। इस तर्क की पुष्टि कई ऐतिहासिक उदाहरणों से हो जाती है। ऐसा ही एक सु-परिचित उदाहरण शिवाजी का है जो एक जागीरदार के पुत्र थे। मुगल शासन अपने उत्कर्ष पर था, जिसमें शिवाजी ने एक अलग मराठा राज्य की स्थापना की थी।

दक्षिण भारत में मराठा, रेड्डी, वेल्लाल, नायर और कूर्ग, बंगाल में पलाश और गुजरात में पट्टीद्वार जैसी दबंग, प्रभावशाली जातियों को आम तौर पर राजसत्ता हथिया कर क्षत्रिय का दर्जा हासिल करने के अवसर उपलब्ध थे। राजसत्ता पर कब्जा करके जब कभी किसी दबंग जाति के सरदार ने क्षत्रिय का दर्जा पाया, तो बदले में वह भी अन्य लोगों के लिए गतिशीलता का कारक या प्रेरणा स्रोत बना।

बोध प्रश्न 1

1) उस समाजशास्त्री का नाम बताइए जो कहते हैं कि क्रम-परंपरा वर्ण-व्यवस्था को परिभाषित करने वाली विशेषता है।

....

....

....

2) अंतर्विवाह या सगोत्र विवाह क्या वर्ण-व्यवस्था को परिभाषित करने वाली विशेषता है?

....

....

....

3) क्या पवित्रता और अपवित्रता के नियम वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को तय करते हैं?

....

....

....

4) क्या किसी व्यक्ति की आर्थिक-स्थिति क्रम-परंपरा में उसकी स्थिति को तय करती है?

....

....

....

5) वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताएं क्या हैं।

....

....

....

....

....

राजनीतिक व्यवस्था में व्याप्त अनिश्चितता के कारण राजा को किसी महत्वपूर्ण संस्कार को अंजाम देने के लिए ब्राह्मणों की कमी महसूस होने पर वह निम्न श्रेणी की जाति को

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ब्राह्मणों का दर्जा दे सकता था। इसके अलावा वह पुरस्कार या दंड के रूप में जातियों का दर्जा घटा या बढ़ा भी सकता था।

पूर्व-आधुनिक काल में वर्ण-व्यवस्था में गतिशीलता का दूसरा स्रोत सीमांत भूमि की सुलभता थी, जिसे जोता जा सकता था। इस तरह की भूमि सभी जगह हमेशा उपलब्ध थी। बर्टन स्टीन के अनुसार इस कारक के चलते नई बस्तियों के साथ-साथ नए आंचलिक समाजों की स्थापना संभव हुई, जिसने कई परिवारों को अपनी जाति प्रस्थिति को बदलने में सहायता की। इसके अलावा तमिल वेल्लाल जैसी अनेक कृषक जातियों में इस देशिक गतिशीलता से उत्पन्न हुए तरह-तरह के उप-विभाजन भी देखने को मिलते हैं।

ii) आधुनिक काल

ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। इस काल में वर्ण-व्यवस्था में गतिशीलता के वे सभी स्रोत लुप्त हो गए जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है। उनकी जगह नए स्रोतों ने ले ली। ब्रिटिश शासन ने कुछ खास नई आर्थिक और राजनीतिक नीतियां चलाकर आधुनिकीकरण और पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया शुरू की। इस प्रक्रिया ने सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव डाला और कुछ हद तक इसमें ढांचागत बदलाव आए। इसके फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था में भी कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आए, जिसमें इसने नए ढांचे और प्रकार्य जोड़े। अंग्रेजों ने जो सबसे उल्लेखनीय और सार्थक आर्थिक और राजनीतिक नीतियां चलाई थीं, श्रीनिवास के अनुसार वे इस प्रकार हैं: (1) समूचे उप-महाद्वीप में एक अकेली राजनीतिक भूमिका की स्थापना, (2) औपचारिक नौकरशाही और सैन्य संगठनों का आरंभ, (3) भूमि सर्वेक्षण और बंदोबस्ती कार्य, (4) पट्टेदारी व्यवस्था में सुधार, (5) भूमि का निजी स्वामित्व, जिससे भूमि को खरीदना-बेचना सहज हुआ, (6) कस्बों और नगरों में नए आर्थिक अवसर उपलब्ध करना, (7) कानून के सामने सभी नागरिकों को समानता के सिद्धांत को लागू करना, (8) सभी को उचित न्यायिक प्रक्रिया के बिना दिए जाने वाले कारावास से बचने का अधिकार, (9) अपने धर्म और संस्कृति को मानने और उसके प्रचार की स्वतंत्रता, (10) सती प्रथा, नर बलि और दासता का अवैध बनाना।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 20.02

स्वतंत्र भारत ने भी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सांस्कृतिक ढांचे को लोकतांत्रिक और आधुनिक बनाने के लिए तरह-तरह की नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियां शुरू कीं। इन नीतियों का लक्ष्य समाज का सर्वांगीण विकास करना था। जैसे औद्योगिक और नगर विकास, कृषि विकास, भूमि सुधार, मानव संसाधन विकास, सामुदायिक विकास के साथ अस्पृश्यता, सती, नर और पशु बलि, बुतपरस्ती, कर्मकांडवाद, बहुदेववाद, बहु-पत्नीत्व आदि कुप्रथाओं का उन्मूलन, बाल विवाह पर प्रतिबंध और विधवा-विवाह को प्रोत्साहन इन नीतियों ने अंग्रेजों के काल में शुरू हुई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तेज किया और उसमें नए आयाम जोड़े। फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन और गतिशीलता को भी तेजी मिली।

iii) जाति और व्यवस्था में असंबद्धता

वर्ण-व्यवस्था में आने वाला सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन जाति और व्यवसाय में संबंध का टूटना है। यह परिवर्तन गांवों से ज्यादा कस्बों और कस्बों से ज्यादा शहरों में आया है। औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के फलस्वरूप कई प्रकार के नए व्यवसाय पैदा हुए हैं, जिन्हें जाति-मुक्त कहा जा सकता है। आज ऊंची जाति के लोग ऐसे काम-धंधों में लगे देखे जा सकते हैं जो पारंपरिक रूप से उनके लिए निषिद्ध थे। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों को हम जूते के कारखानों में काम करता देख सकते हैं। इसी प्रकार हरिजन भी प्रशासनिक और शिक्षण का कार्य कर रहे हैं। जाति और व्यवसाय के बीच यह असंबद्धता इस सीमा तक बढ़ गई है कि जाति को हम व्यवसाय विशेष के साथ उसके संबंध के आधार पर परिभाषित नहीं कर सकते।

iv) जजमानी प्रथा का बिखराव

वर्ण-व्यवस्था में आए इसी परिवर्तन से जजमानी प्रथा का विखंडन भी जुड़ा है। यह परिघटना वर्ण-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन को दर्शाती है क्योंकि जैसाकि कोलेंडा कहते हैं कि पवित्रता और दूषण व क्रम-परंपरा ये सभी जजमानी प्रथा का ही हिस्सा हैं। जजमानी प्रथा तीन श्रेणी के लोगों को लेकर बनी है जो अलग-अलग जातियों के होते हैं। ये श्रेणियां क्रमश: जजमान, कमीन और पुरोहित हैं। कमीन और पुरोहित जजमान को सेवा प्रदान करते हैं, मगर जो सेवाएं वे जजमान को देते हैं वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होती हैं। पुरोहित जजमान के लिए कर्मकांड और देवताओं की पूजा-अर्चना का काम करता है। कमीन जजमान के लिए हाथ से किए जाने वाले काम करता है जैसे उसके कपड़े धोना, दाड़ी-बाल बनाना इत्यादि। इस सेवा के बदले में पुरोहित को तो जजमान नकद और उपहार के रूप में पारिश्रमिक देता है मगर कमीन को वह सिर्फ वस्तुओं के रूप में सालाना पारिश्रमिक देता है जिसे वही तय करता है। जजमान सभी जातियों के हो सकते हैं, लेकिन कमीन कुछ खास जातियों के ही होते हैं। पुरोहित ब्राह्मण ही होते हैं।

जजमानी प्रथा को कई कारणों से टूटते देखा जा रहा है। सबसे पहला कारण यह है कि कमीन और पुरोहित जातियों के परिवार अपने पारंपरिक जातिगत व्यवसाय को कम-प्रतिष्ठित या प्रतिष्ठाहीन और आर्थिक दृष्टि से अलाभकर मानते हैं इसलिए वे इसे अवसर पाते ही छोड़ देते हैं। फिर सभी ब्राह्मण परिवार पुरोहित नहीं होते, न ही सभी कमीन परिवार कमीन होते हैं। ऐसे जजमान परिवारों की भी कमी नहीं है जो अब कमीनों की सेवा नहीं लेते। इसके अलावा कमीनों की सेवा लेने के मामलो में भी बड़ी भारी भिन्नता नजर आती है। दूसरा कारण यह है कि श्रम का विभाजन अब जाति के आधार पर नहीं होता। निम्न कमीन जातियों के लोग अब ऐसे व्यवसाय अपनाने लगे हैं जिन्हें परंपरागत रूप से ऊची द्विज जातियां ही करती थीं। इसी तरह ऊंची जाति के लोग छोटी जातियों के पेशों को अपना रहे हैं। ऐसे अ-ब्राह्मण परिवार भी देखने में आते हैं जो अब पुरोहित का काम करते हैं। यह परिघटना उन अंचलों में अधिक स्पष्ट नजर जाती है जहां ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन हुए हैं।

MAADHYAM IAS

इन सब परिवर्तनों के कारण जजमानी प्रथा जातियों के बीच उस खास किस्म के संबंध को नहीं दर्शाती है। इनमें से कुछ परिवार श्रम खरीदते हैं तो कुछ श्रम बेचते हैं। सो उनके बीच अब शुद्धत: आर्थिक संबंध रह गया है। इस प्रकार अगर हम यह कहें कि जजमानी प्रथा किसी न किसी रूप में आज भी जिंदा है, तो इतनी बात तो निश्चित है कि जजमानी प्रथा में जाति अब मुख्य घटक नहीं रही।

v) पवित्रता और दूषण के नियमों का कमजोर पड़ना

जाति और व्यवसाय के बीच बढ़ता विलगाव और उसके साथ चल रही जजमानी प्रथा के बिखराव की प्रक्रिया के साथ पवित्रता और दूषण के नियम भी कमजोर पड़ते चले गए हैं। यह देखने में आता है कि विभिन्न जातियों के लोग अपना व्यवसाय चुनते समय और अपने सहकर्मियों के साथ व्यवहार करते समय शुचिता और दूषण के नियमों का पालन नहीं करते। इस मामले में उनकी सबसे मुख्य प्राथमिकता व्यवसाय से होने वाला लाभ होता है। जाति के लिए अब यह संभव नहीं रहा कि वह किसी व्यक्ति को शालीन जीवन जीने के लिए आवश्यक बुनियादी जरूरतों (जैसे घर का आकार, बनावट व उसकी दशा, वेशभूषा, जीवनशैली इत्यादि) से इस आधार पर वंचित करे कि उसका जन्म अमुक जाति में हुआ है। सार्वजनिक लोकाचार से छुआछूत का मिटना भी शुचिता और दूषण के नियमों के निरंतर कमजोर पड़ते शिकंजे की ओर संकेत करता है।

vi) पारंपरिक अंतरजातीय सत्ताधिकार संबंधों में बिखराव

वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखने में सबसे महत्वपूर्ण कारक एक जाति का दूसरी जाति पर

वर्चस्व है। परंपरागत रूप से आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व आनुष्ठानिक प्रभुत्व के साथ-साथ चलता था। प्रबल जातियों के उत्पीड़न के शिकार लोगों को अन्य प्रबल जातियों के परिवार शरण दिया करते थे। मगर वर्ण-व्यवस्था का यह संरचनात्मक विन्यास इस कदर बदल गया है कि यह अब उसे परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं रही। ब्रिटिश शासन की स्थापना से यह प्रक्रिया आरंभ हुई। योगेन्द्र सिंह लिखते हैं: "ऊंची-प्रबल जातियों के खिलाफ निम्न-दबी जातियों के विद्रोह के कई उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, पूर्वी उत्तर प्रदेश के चानूखेड़ा गांव की छोटी (चमार और कहार) जातियों ने क्षत्रियों के खिलाफ बेहतर मजदूरी और कांग्रेस द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के लिए आंदोलन किया थां। शुरुआती विरोध के बाद क्षत्रियों को अंततोगत्वा उनकी मांग माननी पड़ी।" इसी प्रकार बर्नाड एस. कोहन माधोपुर गांव की निम्न जाति (कमार) द्वारा क्षत्रियों के वर्चस्व को चुनौती देने का उदाहरण देते हैं।

उड़ीसा के खोंडामल स्थित बीसीपाड़ा नामक गांव के अध्ययन में एफ.जी. बेली विभिन्न जातियों के शक्ति संबंधों में ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप आए संरचनात्मक बदलाव का एक उत्कृष्ट उदाहरण रखते हैं। वह बताते हैं कि चमड़े और शराब का व्यापार करके अछूत बोआड जाति के लोगों ने ऊंचे और दबंग क्षत्रियों के बराबर भूमि खरीद ली। इसी प्रकार गंजम सुरा-निर्माताओं ने सिर्फ शराब बेचकर गांव में अन्य सभी जातियों से अधिक जमीन खरीद ली। इस आर्थिक बदलाव से गांव के राजनीतिक ढांचे में ऐसे बदलाव आए, जिन्होंने अंतरजातीय शक्ति संबंध के संतुलन को ही पलट दिया।

अभ्यास 2

जाति की राजनैतिक और आर्थिक गतिकी के बारे में विभिन्न लोगों के साथ चर्चा कीजिए। अपनी नोटबुक में चर्चा की मुख्य बातें नोट कर लीजिए।

स्वतंत्रता के पश्चात जातियों के शक्ति प्रारूप में हो रहे परिवर्तन में तेजी आई। सेनापुर गांव के अध्ययन में विलियम एल. रो ने कहा है: "पूर्व में क्षत्रिय जमींदारों का आर्थिक और राजनीतिक रूप से सर्व-शक्तिमान एक छोटा सा समूह पूरे समाज को चलाता था। पर अब जमींदार और काश्तकार के बीच सामाजिक बंधन टूट जाने से नोनिया (एक छोटी जाति) जैसी बहुसंख्य मगर आर्थिक रूप से सबल जाति समुदाय बेरोकटोक अपने हित साधन के लिए स्वतंत्र महसूस करता है।" किशन गढ़ी गांव के बारे में भी मैकंकिम मैरियोट परिवर्तन की ऐसी ही प्रक्रिया की बात करते हैं।

अंतरजातीय सत्ताधिकार संबंधों के टूटने से निम्न-पराधीन जातियों में संस्कृतीकरण की जो आकांक्षा या लालसा थी, उसकी जगह अब अपनी ही जाति में आत्म-पहचान की एक नई सम्मानजनक भावना या अधिक समस्तरीय जातिगत बंधुत्व की भावना ने ले ली है। संदर्भ समूह के रूप में ऊंची जाति के स्थान को वर्ण-व्यवस्था के राजनीतिक-आर्थिक पहलुओं को अनुष्ठान या संस्कार से विभेदित करके चुनौती दी गई है। द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) या आर्य समाज आंदोलन जैसी चरम स्थितियों में विभेदन की यह प्रक्रिया जाति की विचारधारा को सचेतन और पूरी तरह से ठुकरा कर असीम स्वरूप धारण कर लेती है। जातिगत संगठन, जो अनेक नए कार्यों को अंजाम देते हैं, उनका गठन इस परिघटना का एक स्पष्ट द्योतक है।

vii) जातिगत संगठनों का उदय

जातिगत संगठनों का स्वरूप जाति से कई मायनों में अलग होता है। कायस्थ समाज, क्षत्रिय सभा, तेली संघ, वैश्य महासभा, जाट सभा, कुर्मी सहासभा, कोइरी महासभा व भूमिहार-ब्राह्मण महासभा, ये सब जातिगत संगठनों के उदाहरण हैं। राजनीतिक दलों के रूप में विभिन्न जातियों का उदय भी जातिगत संगठन का उदाहरण है, जैसे महाराष्ट्र में

मराठा और महार जाति, आंध्र प्रदेश में कुम्मा और रेड्डी और कर्नाटक में लिंगायत और वोक्कालिगा।

बोध प्रश्न 2

1) संस्कृतीकरण के सिद्धांत के जनक कौन थे?

....

....

....

2) संस्कृतीकरण के सिद्धांत क्या वर्ण-व्यवस्था की परिवर्तनात्मक प्रकृति को दर्शाता है?

....

....

....

3) यह किसने बताया है कि वर्ण-व्यवस्था को विभेदन के एक स्वरूप के रूप में परिभाषित किया जा सकता है?

....

....

....

4) 'भेद' की व्यवस्था के घटकों को क्या लम्बवत रखा जा सकता है?

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जाति संगठनों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करना होता है, जिसके लिए वे हॉस्टल, अस्पताल, कॉलेज, स्कूल, सहकारिता आवास, बैंकों की स्थापना करते हैं और पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करते हैं और छात्रवृत्तियां देते हैं। अपनी कार्रवाइयों में राजनीतिक-धार्मिक क्षेत्र में पिछड़े होने का वे दावा करते हैं। मगर वहीं वे सांस्कृतिक या आनुष्ठानिक क्षेत्र में ऊंचा दर्जा दिए जाने की मांग भी करते हैं। स्वतंत्रता के बाद जातिगत संगठनों ने राजनीतिक पैरोकार समूहों का रूप धारण किया। उन्होंने अपने सदस्यों के लिए विभिन्न राजनैतिक दलों से चुनाव लड़ने के लिए टिकट मांगे तो निर्वाचित सदस्यों के लिए मंत्रिमंडल में पद। इसके अलावा इन संगठनों ने विभिन्न आर्थिक गतिविधियों के लिए अनुमति, शिक्षा के क्षेत्र में छूट और विशेषाधिकार, सरकारी नौकरियों में नियुक्ति और इस तरह के अनेक लाभ मांगे।

पैरोकार समूहों के रूप में जातियों का उदय और जातिगत संगठनों की स्थापना ये सभी राजनीति के क्षेत्र में जातियों की बढ़ती सक्रियता के द्योतक हैं। जाति या जातिगत संगठन आज राजनीतिक प्रक्रिया में विशेषकर चुनावों में और सरकारी संस्थाओं में पदों के वितरण में बड़ी अहम और व्यापक भूमिका निभा रहे हैं।

viii) लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया

लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया उन समूहों को राजनीतिक सत्ताधिकार और सक्रियता प्रदान करती है जिनकी संख्या अधिक हो बशर्ते उनकी इस शक्ति को राजनीतिक रूप से संगठित या लामबंद किया जा सके। मगर यह तभी संभव है जब लक्षित समूह की जीवन स्थिति

समरूप हो। इस तरह की स्थिति निम्न या छोटी जातियों में अधिक देखने को मिलती है। बहुजन समाज पार्टी (बसपा), *इंडियन पीपुल्स फ्रंट (आईपीएफ),* समाजवादी पार्टी (सपा), द्रविड़मुनेत्र कड़गम (डीएमके) जैसे राजनीतिक दल इसके अच्छे उदाहरण हैं, जिनका जनाधारा निम्न जातियों में है। इसके अलावा राजनीतिक प्रक्रिया में अधिक हिस्सेदारी के लिए संख्या में अधिक शक्तिशाली निम्न जातियों के द्वारा ब्राह्मण विरोधी जैसे आंदोलन चलाना जाति के बढ़ते राजनीतिकरण की ओर इशारा करता है।

लोगों में अपनी जाति के प्रत्याक्षी को ही वोट देने की जबर्दस्त प्रवृत्ति भी देखने में आती है। राजनीतिक दल भी इस सचाई को अनदेखा नहीं करते। अगर अन्य परिस्थितयां समान हों तो वे निर्वाचन क्षेत्र में जो जाति संख्या में सबसे बड़ी हो उसी से प्रत्याशी को चुनाव में मैदान में उतारने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इसीलिए चुनावों में राजनीतिक दल किसी भी प्रत्याशी के मुकाबले में उसी की जाति के अन्य प्रत्यशी को ही खड़ा करने की नीति अपनाते हैं।

इसके अलावा अन्य जातिगत कारण भी राजनैतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र कांग्रेस के एक बड़े धड़े को जब यह लगा कि उसमें ब्राह्मणों का वर्चस्व हो गया है तो उन्होंने उसे तोड़ने के लिए पीजैंट्स एंड वर्कर्स पार्टी में नाम से एक स्वतंत्र राजनीतिक दल खड़ा कर लिया। इसी प्रकार कम्मा जाति के लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी पर अपना नियंत्रण बनाया। इसीलिए साम्यवादियों ने अपने हिंसक आंदोलन के दौरान कम्मा जमींदारों को कोई क्षति नहीं पहुंचने दी।

जाति का राजनीतिकरण इतना हो चुका है कि राजनीतिक रूप से प्रभावशाली बनने के लिए विभिन्न जाति समूह संगठित होकर सामूहिक कार्रवाई करते हैं। वे कभी-कभी संगठित होकर राजनीतिक दल, गुट या पैरोकार समूह का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे बसपा, सपा, राष्ट्रीय जनता दल और डीएमके। उधर गुजरात में क्षत्रिय सभा के राजपूतों ने राज्य के सत्ताधिकार ढांचे में अधिक अधिकार अर्जित करने के उद्देश्य से निम्न जाति के कोली लोगों को क्षत्रियों का दर्जा दिया।

MAADHYAM IAS

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर्ण-व्यवस्था समाज की आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के साथ हमेशा अन्योन्य-क्रिया और प्रतिक्रिया करती रही है। आधुनिक काल में आर्थिक और राजनीतिक ढांचे और प्रकार्यों में हुए बदलावों ने वर्ण-व्यवस्था की कई चारित्रिक विशेषताओं को खत्म कर दिया है और उनकी जगह नई विशेषताओं और प्रकार्यों ने ले ली है। इस विश्लेषण से जाति या वर्ण-व्यवस्था की जो तस्वीर उभरती है वह दीपांकर गुप्ता की इस अवधारणा के अनुरूप है कि जाति एक प्रच्छन्न श्रेणी है और वर्ण व्यवस्था *'विभेद'* के सिद्धांत पर आधारित प्रणाली है।

20.5 सारांश

इकाई के पहले भाग में हमने बताया कि जाति-गतिकी को समझने के लिए जरूरी है कि पहले हम वर्ण-व्यवस्था की ठेठ आदर्श विशेषताओं को जान लें। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं: (1) समाज का सखंड विभाजन, (2) क्रम-परंपरा, (3) खानपान और सामाजिक संसर्ग पर रोकटोक, (4) नागरिक और धार्मिक अशक्तताएं और विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकार, (5) पेशा चुनने की छूट न होना और (6) विवाह संबंधी वर्जनाएं।

दूसरे भाग में हमने बताया कि वर्ण-व्यवस्था की इस अवधारणा को कई विद्वानों ने गलत ठहराया है। इस सिलसिले में एम.एन. श्रीनिवास और दीपांकर गुप्ता की आलोचना सबसे महत्वपूर्ण है। श्रीनिवास के संस्कृतीकरण का सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि वर्ण-व्यवस्था अपरिवर्तनशील नहीं है। स्थिति संबंधी परिवर्तन या गतिशीलता वर्ण-व्यवस्था में हमेशा से रहे हैं। 'विभेद' की संकल्पना के जरिए दीपांकर गुप्ता कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था

क्रम-परंपरा के सिद्धांत पर आधारित न होकर विभेद के सिद्धांत पर आधारित है। जातियां *प्रछन्न* श्रेणियां हैं जिन्हें संतत पैमाने में नहीं रखा जा सकता।

तीसरे भाग में हमने बताया कि वर्ण-व्यवस्था समाज की आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के साथ अन्योन्य-क्रिया करती रही है। पूर्व-आधुनिक काल में यानी ब्रिटिश शासन से पहले वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाली दो महत्वपूर्ण शक्तियां रही: (1) राजनीतिक व्यवस्था में अनिश्चितता और (2) सीमांत भूमि की सुलभता। आधुनिक काल में अंग्रेजों की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों ने आधुनिकीकरण की जिस प्रक्रिया का सूत्रपात किया, वह वर्ण-व्यवस्था में महत्वपूर्ण बदलाव लेकर आई। जैसे (1) जाति और व्यवस्था में असंबद्धता, (2) जजमानी प्रथा में बिखराव, (3) पवित्रता और अपवित्रता के सिद्धांत में ह्रास (4) अंतर-जाति शक्ति संबंध में विखंडन, (5) जाति संगठनों का उदय और (6) राजनीतिक क्षेत्र में जाति की बढ़ती सक्रियता या जाति का राजनीतिकरण।

20.6 शब्दावली

विभेद : यह एक संरचना का द्योतक है जिसमें किसी समष्टि के घटक प्रछन्न श्रेणियों की तरह समस्तर में पृथक लगे रहते हैं।

अंतर्विवाह : यह विवाह के नियमों को दर्शाता है, जो व्यक्ति को सिर्फ अपनी (सगोत्रविवाह) जाति या किसी एक जाति समूह विशेष में ही विवाह करने की अनुमति या निर्देश देता है।

क्रम-परंपरा : यह सामाजिक संरचना का द्योतक है जिसमें समष्टि के घटक एक संतत पैमाने पर समष्टि के सापेक्ष लम्ब-रेखीय क्रम में श्रेणीबद्ध रहते हैं।

आदर्श प्रारूप : यह एक सामान्य और शुद्ध या अभूत अभिप्राय है, जिसकी रचना आचरण और संस्थाओं के आनुभाविक स्तर पर प्रेक्षपीय पहलुओं पर बल देने से होती है।

आधुनिकीकरण : यह एक भूमंडलीय प्रक्रिया है जिसके माध्यम से पारंपरिक समाजों ने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में (स्वतंत्रता, बंधुत्व और समृद्धि) आधुनिकता अर्जित की थी या करते हैं।

संस्कृतीकरण : यह वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन का सूचक है जो उसमें निम्न जातियों द्वारा ऊंची जातियों के रीति-रिवाजों, तौर-तरीकों, संस्कारों, जीवनशैली, विचारधारा इत्यादि का अनुकरण करने से आता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिंह, योगेन्द्र (1977), *मॉडर्नाइजेशन इन इंडियन ट्रैडीशन*, फरीदाबाद, थॉमसन प्रेस

श्रीनिवास एम. एन. (1982), *इंडिया: सोशल स्ट्रक्चर*, दिल्ली, हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कॉरपोरेशन

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) लुई द्युमोंत

2) हां

3) हां

4) नहीं

5) i) समाज का सखंड विभाजन

   ii) क्रम-परंपरा

   iii) खान-पान और सामाजिक संसर्ग पर अंकुश

   iv) धार्मिक अशक्तताएं और विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकार

   v) पेशा चुकने की छूट का न होना

   vi) जीवन साथी चुनने पर रोकटोक

बोध प्रश्न 2

1) एम.एन. श्रीनिवास

2) हां

3) दीपांकर गुप्ता

4) नहीं

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 21 दलितों की स्थिति

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 जाति क्रम-परंपरा में दलितों की स्थिति
21.3 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन
21.4 संवैधानिक प्रावधान
21.5 सामाजिक गतिशीलता पर आरक्षण का प्रभाव
21.6 सारांश
21.7 शब्दावली
21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- दलितों के बारे में बता सकेंगे;
- उनकी कुल जनसंख्या और प्रतिशत बता सकेंगे;
- परंपरागत जाति क्रम-परंपरा में उनकी प्रस्थिति या हैसियत को समझ सकेंगे;
- उनके उत्थान के लिए हुए विभिन्न सामाजिक आंदोलनों के बारे में जान सकेंगे; और
- संविधान में उनके हितों के लिए किए गए प्रावधानों के बारे में बता सकेंगे और उनकी स्थिति जान सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य यह समझना है कि दलित कौन हैं और समकालीन भारतीय समाज में उनकी स्थिति क्या है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेक जातियों, उपजातियों, धार्मिक और जातीय संप्रदायों से बना भारतीय समाज अत्यधिक स्तरित रहा है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था, दलित जिसके अमूमन हिस्सा रहे हैं, वह जाति क्रम-परंपरा के आधार पर स्तरित है। इस व्यवस्था ने ऊंची जातियों और निम्न जातियों, पवित्र और अपवित्र जातियों में भेद खड़ा किया। बोलचाल की भाषा में जो लोग कभी अछूत, अस्पृश्य थे उन्हें ही आज हम दलित कहते हैं। भारतीय संविधान ने इन जातियों को अनुसूचित जाति की संज्ञा दी थी। मगर सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इन जातियों के लोगों को दलित कहना शुरू किया और आज लेखक और विद्वान सभी इसी शब्द को खूब प्रयोग करते हैं।

वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में 16.73 प्रतिशत अनुसूचित जातियां हैं। अनुसूचित जातियों की संख्या इन पांच राज्यों में अधिक है: उत्तर प्रदेश (21.44 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (11.77 प्रतिशत), बिहार (9.21 प्रतिशत), तमिलनाडू (7.84 प्रतिशत) और आंध्र प्रदेश (7.76 प्रतिशत) अखिल भारतीय स्तर पर चमार और भंगी मुख्य दलित जातियां हैं। कुछ अनुसूचित जातियां अपने-अपने राज्यों में संख्या में अधिक हैं, जैसे महाराष्ट्र में महार और मंग, आंध्र में माला और मडीगा, पश्चिम बंगाल में नमोशूद्र, केरल में पुलायन।

21.2 परंपरागत जाति-क्रम परंपरा में दलितों की स्थिति

परंपरागत जाति-क्रम-परंपरा में दलितों का स्थान सबसे नीचे था। उन पर अनेक सामाजिक वर्जनाएं थोपी गई थीं। मंदिर में उनका प्रवेश वर्जित था। उन्हें गांव के बाहरी छोर पर रहना पड़ता था। सामाजिक वर्जनाएं अंचलों के अनुसार अलग-अलग थीं, मगर दक्षिणी राज्यों में वे अधिक कठोर थीं।

स्वतंत्रता के बाद संविधान ने दलितों को कई सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक अधिकार दिए। संविधान के अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता या छुआछूत को अवैध करार दिया गया है। रूढ़िवादी जाति क्रम-परंपरा में दलितों को सबसे निम्न जाति का दर्जा दिया गया, सवर्ण हिन्दू ने उनका सामाजिक शोषण किया।

अभ्यास 1

जनगणना के प्रासंगिक आंकड़ों की सहायता से अपने गृह प्रदेश में दलितों की जनसंख्या का पता लगाने का प्रयास कीजिए। अपनी जानकारी को नोटबुक पर लिख लें।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न में सही या गलत बताइए।

   i) दलितों को निम्न जाति का कहा जाता है।

   ii) दलितों का सिर्फ आर्थिक शोषण होता है।

   iii) अनुसूचित जातियों को दलित कहा जाता है।

2) निम्न कथनों को पूरा कीजिए।

   i) दलित समाज के .... पर हैं।

   ii) दलितों की स्थिति .... है।

MAADHYAM IAS

डा. बी. आर. अम्बेडकर ने दलितों के स्तर उत्थान के लिए कार्य किए।

साभारः किरणमई बुशी

भारतीय समाज जाति के आधार पर खंडों में बंटा हुआ है। उसमें व्यक्ति की हैसियत इस पर निर्भर करती है कि वह किस जाति में जन्मा है। वर्ण-व्यवस्था में सबसे छोटी जातियों को सामाजिक सोपान में सबसे नीचे रखा गया था। उन्हें अनेक जातिगत अशक्तताओं को सहना पड़ता था। उदाहरण के लिए आम रास्तों पर चलना उनके लिए वर्जित था, वे कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, वे घाट का प्रयोग भी नहीं कर सकते थे। मंदिरों में उनका प्रवेश वर्जित था, वे शिक्षा अर्जन नहीं कर सकते थे। दासता उनकी नियति थी और उन्हें पवित्र जाति के लोगों से दूर रहना होता था।

दलितों को अपना जातिगत पेशा बदलने की अनुमति नहीं थी। ये अशक्तताएं या वर्जनाएं इस हद तक थी कि उन्हें गांवों और कस्बे के बाहरी छोरों पर ही बसने के लिए बाध्य किया जाता था। दस्तावेजों में इसका प्रमाण मिलता है कि महाराष्ट्र में मराठा और पेशवाओं के शासनकाल में महार और मंग जातियों के लिए सुबह 9 बजे से लेकर शाम के 3 बजे के बीच पूना शहर में प्रवेश निषिद्ध था क्योंकि उनकी छाया को अपकारी, अपवित्र माना जाता था।

बोध प्रश्न 2

1) संक्षेप में दलितों की अशक्तताओं के बारे में बताएं। तीन या चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2) समाज सुधारकों के नाम बताइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

21.3 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन

छूआछूत और नाना प्रकार के अन्यायों के खिलाफ समाज सुधारकों ने पराधीन भारत में सामाजिक आंदोलन छेड़े। महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले (1827-1890) का सत्यशोधक आंदोलन, *छत्रपति* शाहू महाराज (1871-1922) का गैर-ब्राह्मणों का आंदोलन, महर्षि विट्ठल रामजी शिंदे (1873-1944) का पददलित वर्ग मिशन आंदोलन और बाबासाहेब अम्बेडकर (1891-1956) का छूआछूत-विरोधी आंदोलन, केरल में श्री नारायण धर्म परिपालन आंदोलन, तमिलनाडू में 'पेरियार' रामास्वामी नाइकर का ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन ये सभी सामाजिक आंदोलनों के उदाहरण हैं।

दलितों ने सभी प्रकार के शोषण के खिलाफ कई तरह से संघर्ष किया। वर्ण-व्यवस्था को दो कारकों ने गहराई से प्रभावित किया, उन्हीं से सामाजिक उथल-पुथल और दलितों में चेतना आई। इसमें पहला कारण था पश्चिमी विचारों और चिंतन की स्वतंत्रता, निजी स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों का प्रभाव। इसके फलस्वरूप हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का पारंपरिक

ताना-बना, जाति और अन्य संस्थाएं प्रभावित हुई। दूसरा, ब्रिटिश प्रशासन ने कानून के सामने सभी को समान दर्जा दिया और आधुनिक प्रौद्योगिकी का सूत्रपात किया। इससे समाज सुधार के आंदोलनों के लिए आवश्यक बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण बना।

बॉक्स 21.01

ब्रिटिश शासन व्यवस्था ने सभी जातियों के लिए समान विधि संहिता बनाई, आधुनिक संचार साधनों और शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिससे वर्ण-व्यवस्था कमजोर हुई। राजाराम मोहन राय ने बंगाल में सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान आंदोलन छेड़ कर पुनर्जागरण का सूत्रपात किया। उन्होंने इसके लिए ब्रह्म समाज की स्थापना की। उधर पंजाब में आर्य समाज आंदोलन चला। इसी प्रकार महाराष्ट्र में जांबेकर और लोखितवाड़ी, न्यायमूर्ति एम.जी. रनाडे, भीमराव अम्बेडकर, आगरकर और भंडारकर ने समाज सुधार आंदोलन चलाए।

ज्योतिबा फुले ने 1873 में सत्यशोधक मंडल की स्थापना की, जिसका उद्देश्य अ-ब्राह्मण जातियों को ब्राह्मणवाद के चंगुल से निकालना था। कोल्हापुर के शाहू महाराज ने भी 1912 में सत्य शोधक मंडल की स्थापना कर महात्मा फुले के आंदोलन को आगे बढ़ाया। स्वतंत्रता से पूर्व दलितों के आंदोलनों में महाराष्ट्र में ब्राह्मणवाद के खिलाफ अ-ब्राह्मणों के आंदोलन, तमिलनाडू में आदि द्रविड़ आंदोलन, श्री नारायण धर्म परिपालन आंदोलन, तटीय आंध्र प्रदेश में आदि आंध्र आंदोलन, मुख्य थे। महात्मा फुले ने एक नया नास्तिकतावादी धर्म स्थापित करने की कोशिश की। पेरियार ने नास्तिकावाद की पैरवी की। कुछ आंदोलनों में सुधारवादी रुझान भी थे। बारहवीं सदी में महात्मा बसेश्वर ने कर्नाटक में जातिवाद के खिलाफ धर्म युद्ध चलाया था। उन्नीसवीं सदी के धार्मिक सुधारक भारत में आए ईसाई मिशनरियों से प्रभावित थे। ब्रह्म समाज (1828), प्रार्थना समाज (1867), रामकृष्ण मिशन और आर्य समाज (1875) ये सभी उन संस्थाओं के उदाहरण हैं जिनकी स्थापना सवर्ण हिन्दुओं में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों से लड़ने के लिए की गई थी। अम्बेडकर ने बौद्ध-धर्म अपनाया। तमिलनाडू में अ-ब्राह्मण आंदोलन ने शैव धर्म को एक स्वतंत्र पहचान देने की कोशिश की, हालांकि अयप्पन ने मानवजाति के लिए किसी धर्म, किसी जाति और किसी भी ईश्वर की सत्ता को नहीं माना। इन सभी आंदोलनों ने दलितों की सामाजिक स्थिति को कुछ हद तक सुधारा।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न कथनों को पूरा कीजिए।

   i) .... ने समान विधि संहिता लागू की।

   ii) सत्य शोधक आंदोलन .... ने आरंभ किया था।

   iii) .... ने मानवजाति के लिए किसी धर्म, जाति और ईश्वर की सत्ता को नहीं माना।

2) बताइए कौन सही या गलत है।

   क) अंग्रेजों ने भारत में धार्मिक आंदोलन शुरू किए।

   ख) डा. बाबासाहेब अम्बेडकर ने अखिल भारतीय स्तर पर समाज सुधार आंदोलन का नेतृत्व किया था।

   ग) ब्रह्म समाज की स्थापना महाराष्ट्र में हुई थी।

21.4 संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान ने अनुसूचित जातियों के उत्थान में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संविधान के खंड IV में नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए हैं। इसका अनुच्छेद 15(2) कहता है कि किसी भी नागरिक के साथ उसके धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्मस्थान

के आधार पर किसी तरह का भेदभाव (क) दुकानों, रेस्तराओं, होटल और सार्वजनिक मनोरंजन स्थलों में प्रवेश (ख) कुओं, टंकी, स्नान घाटों, सड़कों और सार्वजनिक विश्राम स्थलों के प्रयोग को लेकर नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 15(4) के अनुसार राज्य सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नागरिकों या अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उत्थान के लिए विशेष प्रावधान कर सकता है।

बाक्स 21.02

संविधान के अनुच्छेद 16(1) के अनुसार सार्वजनिक रोजगार के मामलों में सभी नागरिकों को समान अवसर दिए जाएंगे। अनुच्छेद 330 और 332 में अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए लोकसभा और विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में सीटें आरक्षित करने का प्रावधान है।

शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जातियों/जनजातियों के छात्रों को स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में दाखिला पाने के लिए आरक्षण की सुविधा दी गई है। उनके लिए छात्रवृत्ति का प्रावधान भी किया गया है। इन सभी संवैधानिक प्रावधानों ने विभिन्न अनुसूचित जाति समूहों के लोगों को जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति करने में बड़ी सहायता की है। स्वतंत्रता के बाद से भारतीय समाज के लोकाचार में भी भारी परिवर्तन आया है। ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता में शिक्षा दलितों के लिए बड़ी उपयोगी साबित हुई है, वे भी अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए सचेतन प्रयास कर रहे हैं। शैक्षिक संस्थाएं दलित समुदायों के व्यक्तियों को गतिशीलता का अचूक अवसर प्रदान करती हैं। शिक्षा के बिना सरकारी नौकरियों में आरक्षण समेत सभी संवैधानिक प्रावधान निरर्थक हैं। इसी प्रकार सरकारी आरक्षण नीति ने भी दलितों के उत्थान में बड़ी महती भूमिका अदा की है। इस नीति के तहत दलितों को उनकी आबादी के अनुपात में सरकारी सेवाओं और उन सभी सस्थाओं में उपयुक्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है, जो संस्थाएं सरकारी अनुदान से चल रही हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अभ्यास 2

आप जिस इलाके में रहते हैं वहां के लोगों का आरक्षण पर जमीनी नजरिया क्या है? इस बारे में लोगों के विचार जानें और अपनी नोटबुक में लिख लें।

21.5 सामाजिक गतिशीलता पर आरक्षण का प्रभाव

आरक्षण नीति शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, उद्यमशीलता इत्यादि क्षेत्रों में दलितों के उत्थान की युक्ति है। मगर शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में यह नीति प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं हुई है। जिन दलितों को शिक्षा और रोजगार में आरक्षण का लाभ मिला है, वे अपेक्षतया बेहतर स्थिति में हैं और वे एक नए मध्यम वर्ग के रूप में उभरे हैं। तमाम संवैधानिक उपायों के बावजूद जातिगत अत्याचार दलितों के जीवन का अभिन्न अंग हैं। जबसे दलितों ने अपने अधिकार के लिए लड़ना-बोलना शुरू किया है, तभी से ये अत्याचार उन पर ढाए जा रहे हैं। भारतीय समाज की वास्तविकता यही है कि जीवन के हर पहलू पर जाति हावी है और वर्ण-व्यवस्था का दलित ही सबसे बड़ा शिकार हैं, हालांकि उन्हें भी अन्य लोगों की तरह इसी के साथ जीना है।

बोध प्रश्न 4

1) संविधान के अनुच्छेद 330 के बारे में तीन-चार पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

2) आरक्षण नीति के लाभ संक्षेप में बताइए।

....

....

....

....

21.6 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि दलित कौन हैं और परंपरागत जाति-क्रम-परंपरा में उनका जीवन कैसा रहा है। हमने इसमें भारत के विभिन्न अंचलों में हुए सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों के बारे में भी बताया। इसके बाद हमने दलितों के लिए बनाए गए संवैधानिक प्रावधानों के बारे में बताया। आरक्षण नीति दलितों के जीवन स्तर को सुधारने में आंशिक रूप से सहायक रही है, जिसके फलस्वरूप दलितों में एक नया मध्यम वर्ग उभरा है। इन तमाम प्रावधानों के बावजूद सवर्ण जातियां दलितों पर नित्यप्रति अत्याचार कर रही हैं।

21.7 शब्दावली

दलित : अनुसूचित जातियों के लिए आमतौर पर प्रयुक्त होने वाला शब्द।

सामाजिक-धार्मिक आंदोलन : ये दलितों के सामाजिक और धार्मिक उत्थान और समाज में समानता लाने के लिए चलाए गए थे

संविधान : स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने वाला दस्तावेज।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ओमवेट गेल, 1994, *दलित्स एंड डेमोक्रैटिक रिवोलुशन*, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली

आमवेट गेल, 1976, *कल्चरल रिवॉल्ट इन ए कोलोनियल सोसाइटी*, साइंटिफिक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट, बंबई

भारत का संविधान

भारत की जनगणना 1991

21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) सही ii) गलत iii) सही

2) i) सबसे नीचे ii) निम्न

बोध प्रश्न 2

1) दलितों की अशक्तताएं इस तरह की थीं कि वे सार्वजनिक सड़कों, कुओं का प्रयोग नहीं कर सकते थे, वे मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे, वे स्कूल नहीं पढ़ सकते थे। इन वर्जनाओं का उल्लंघन करने पर उन्हें कठोर दंड दिया जाता था।

2) राजाराम मोहन राय, महात्मा ज्योतिबा फुले, डा. बाबासाहेब अम्बेडकर, एम.जी. रनाडे, जी.एच. देशमुख, महात्मा गांधी, शाहू महाराज

बोध प्रश्न 3

1) i) ब्रिटिश ii) महात्मा ज्योतिबा फुले iii) अयप्पन iv) पेरियार

बोध प्रश्न 4

1) संविधान का अनुच्छेद 330 लोकसभा में अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान करता है।

2) आरक्षण नीति का लाभ, दलितों को शिक्षा, रोजगार और राजनीति के क्षेत्र में मिल रहा है। शिक्षा संस्थानों में दलित छात्रों के लिए सीटें आरक्षित रखी जाती हैं और उन्हें छात्रवृत्ति दी जाती है उन्हें निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। इस नीति के तहत रोजगार में उन्हें आरक्षण दिया जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22 अन्य पिछड़ी जातियां

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 अन्य पिछड़ी जातियों में आंतरिक भेद

22.3 राज्यवार वितरण

22.4 संस्कृतीकरण और सामाजिक गतिशीलता

22.5 पिछड़े वर्गों के आंदोलन और उनका राजनीतिक-आर्थिक उदय

- 22.5.1 आत्म-सम्मान आंदोलन
- 22.5.2 कर्नाटक प्रजामित्र मंडल
- 22.5.3 आंध्र और केरल के आंदोलन
- 22.5.4 उत्तर प्रदेश में अन्य पिछड़ी जातियां
- 22.5.5 बिहार में अन्य पिछड़ी जातियां
- 22.5.6 शिक्षा और मूल्य

22.6 जाति, वर्ग और सत्ताधिकार

24.7 सारांश

24.8 शब्दावली

24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- अन्य पिछड़ी जातियां या वर्ग कौन हैं यह बता पाएंगे;
- अन्य पिछड़ी जातियों में आंतरिक विभेदन को स्पष्ट कर सकेंगे;
- अन्य पिछड़ी जातियों की मौजूदा रचना और उनका राज्यवार वितरण समझ पाएंगे,
- पिछड़ी जातियों के बारे में बता सकेंगे; और
- पिछड़े वर्ग के आंदोलनों और उनके राजनीतिक-आर्थिक उदय के बारे में बता सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

अन्य पिछड़ा वर्ग या जातियां एक संवैधानिक श्रेणी है जिसमें मुख्यत: सामाजिक रूप से पिछड़ी शूद्र जातियां आती हैं। पारंपरिक स्तरीकरण व्यवस्था के मध्यक्रम में स्थित जातियां इसकी घटक हैं। इस प्रकार यह द्विज और अछूत जातियों के बीच की मध्यवर्ती सामाजिक परत है। दूसरे शब्दों में यह गैर-अछूत हिन्दू जातियों का एक स्तर है, जो पारंपरिक सामाजिक स्तरीकरण में निम्न क्रम में स्थित हैं। यह एक विषम श्रेणी है जिसमें ऐसी अनेक प्रभावी जातियां शामिल हैं, जो सामाजिक और आर्थिक रूप से अनुसूचित जातियों/जनजातियों के समान वंचित हैं।

भारतीय समाज के ये तबके शिक्षा और व्यवसाय के क्षेत्र में पारंपरिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त जातियों या अगड़ों से पीछे हैं। हालांकि इन जातियों को अछूतों की तरह छुआछूत और सामाजिक पार्थक्य जैसी समस्याओं से कभी नहीं जूझना पड़ा है, लेकिन सवर्णों के सामने उनकी हीनता को परंपरागत रूप से विधिसम्मत माना जाता रहा है। प्रस्थिति जन्य अशक्तताएं इन्हें जन्म से मिलती थी, जो उनकी उन्नति और समृद्धि में बाधक बनी रहीं। गिने-चुने मामलों में कुछ अ-हिन्दू समुदाय भी इस श्रेणी में शामिल कर लिए गए हैं। मार्क गैलेंटर के अनुसार इस श्रेणी का स्वरूप हर राज्य में अलग-अलग है।

22.2 अन्य पिछड़ी जातियों में आंतरिक भेद

यह स्पष्ट है कि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' की परिभाषा में जिन तबकों को शामिल किया गया है, वे समरूप नहीं है। उनमें स्पष्ट भेद कर पाना कठिन है। सवर्णों और अनुसूचित जातियों के बीच का होने के कारण समाज के इन तबकों में विविध सामाजिक-आर्थिक समुदाय शामिल हैं। इस विविधता के कारण इस तरह की सामाजिक संरचना बड़ी ढीली-ढाली होती है। इस श्रेणी की जातियां स्तरीकरण व्यवस्था में अलग-अलग स्थित रहती हैं और आर्थिक दृष्टि से भी वे विषम पाई जाती हैं। इनमें से कुछ चुनिंदा जातियां ही भूस्वामी हैं। इन तबकों में भूमि वितरण चुनिंदा जातियों के पक्ष में अधिक है, जिसके चलते इनमें अधिकांश जातियों के लोग गरीब और वंचित हैं। उनमें भी हाशिए के लोगों की वंचना उन्हें अन्य लोगों के लिए बटाईदारी करने, खेतिहर मजदूर बनने और पारंपरिक प्रकार्यात्मक सेवाएं प्रदान करने के लिए बाध्य करती है। डी.एल. सेठ के अनुसार इस श्रेणी में ऐसे वंचित समूह भी शामिल हैं जिनकी दशा कभी-कभी अनुसूचित जातियों से भी बदतर दिखाई देती है। इसमें उपरी स्तर भूधर कृषकों का है। उनके नीचे भूमिहीन, बटाईदार किसान, कारीगर और सेवादार जातियां आती हैं जो भूधर जातियों के आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण में रहती हैं। इन अन्य पिछड़ी जातियों में हाशिए की ये जातियां अतीत में उन लोगों के लिए बेगार, बंधुआ मजदूरी, घरेलू नौकर और कहार का काम करती रही हैं, जिन पर वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए आश्रित थीं। तीज-त्योहारों पर जमींदार उनसे नजराने के रूप में नकदी इत्यादि वसूला करते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.3 राज्यवार वितरण

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए गठित किए गए पहले आयोग के अनुसार अन्य पिछड़ी जातियों की जनसंख्या 3.8 प्रतिशत थी। पर दूसरे आयोग जिसे हम मंडल आयोग के नाम से जानते हैं, उसके अनुसार उनकी कुल जनसंख्या 52 प्रतिशत है। देश के विभिन्न राज्यों में पिछड़ी जातियों की संख्या इस प्रकार है:

क्र. सं.	राज्य	संख्या
1.	आंध्र प्रदेश	292
2.	आसाम	135
3.	बिहार	168
4.	गुजरात	105
5.	हरियाणा	76
6.	हिमाचल प्रदेश	57
7.	जम्मू और कश्मीर	63
8.	कर्नाटक	333

9.	केरल	208
10.	मध्य प्रदेश	279
11.	महाराष्ट्र	272
12.	मणिपुर	49
13.	मेघालय	37
14.	नागालैंड	0
15.	उड़ीसा	224
16.	पंजाब	83
17.	राजस्थान	140
18.	सिक्किम	10
19.	तमिलनाडू	288
20.	त्रिपुरा	136
21.	उत्तर प्रदेश	116
22.	पश्चिम बंगाल	117
23.	अंदमान और निकोबार द्वीपसमूह	17
24.	अरुणाचल प्रदेश	10
25.	चंडीगढ़	93
26.	दादरा नगर हवेली	10
27.	दिल्ली	82
28.	गोआ दमण और दिऊ	18
29.	लक्षद्वीप	0
30.	मिजोरम	5
31.	पांडेचेरी	260

स्रोत: **पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट (दूसरा भाग), 1980**

इन समूहों को वर्ग के रूप में लेना उचित नहीं होगा। असल में ये संवृत प्रस्थिति समूहों का समुच्चय हैं। प्रस्थिति या हैसियत इनमें विरासत में मिलती है, न कि उसे अर्जित किया जाता है। इस श्रेणी में एक ओर समृद्ध और दबंग जातियां तो दूसरी ओर गरीब और वंचित तबके भी शामिल हैं, क्योंकि पारंपरिक स्तरीकरण व्यवस्था में ये जातियां एक दूसरे के निकट हैं।

बोध प्रश्न 1

1) अन्य पिछड़ा वर्ग किसे कहते हैं, पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) सही या गलत बताइए:

अन्य पिछड़ी जातियों में शामिल समूह समरूप हैं:

सही ☐ गलत ☐

3) ओबीसी की श्रेणी में सबसे ज्यादा जातियां किस राज्य में शामिल हैं?

☐ कर्नाटक ☐ हरियाणा ☐ केरल

22.4 संस्कृतीकरण और सामाजिक गतिशीलता

स्तरीकरण व्यवस्था के मध्यक्रम में स्थित जातियां ऊंची जातियों के आचरण, उनकी विचारधारा और कर्मकांड़ों को अपनाकर गतिशीलता अर्जित करने में प्रयासरत रही हैं। मौजूदा स्तरीकरण व्यवस्था में अपना स्थान या दर्जा ऊंचा करने के लिए इन जातियों को अपनी हीनता के पारंपरिक चिन्हों, विशेषकर ऐसे चलनों को त्यागना पड़ता था, जिन्हें दूषक या गंदा माना जाता था। इस प्रकार की सांस्कृतिक गतिशीलता 'महान परंपरा' के ढांचे को पुष्ट करती थी। जाति क्रम-परंपरा में निम्न श्रेणी की जाति ऊर्ध्व गतिशीलता के प्रयास में ऊंची जातियों की जीवन-शैली और उनके आचरण की नकल करती है। पारंपरिक रूप से विधिसम्मत आरोपित या प्रदत्त सामाजिक क्रम में सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता की यह रणनीति संस्कृतीकरण कहलाती है। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें एक छोटी जाति पारंपरिक जाति क्रम-परंपरा में ऊंचा दर्जा प्राप्त करने के लिए ऊंची जाति की जीवनशैली का अनुकरण करती है। यह जाति क्रम-परंपरा के भीतर एक दर्जा हासिल करने के लिए दावा भर है। उसके ढांचे को बदलने या उसे तोड़ने की चुनौती नहीं।

यह प्रक्रिया समूहों के ऊंचा दर्जा या हैसियत हासिल करने की आकांक्षा और व्यवहार की दृष्टि से उसके लिए तैयार रहने के उनके प्रयास को दर्शाता है। इस तरह के दावे को पुष्ट करने के लिए ऐसी आविष्कृत गाथाओं, किंवदंतियों का सहारा लिया जाता है, जो यह दर्शा सकें कि अतीत में इन तबकों को समाज में ऊंचा दर्जा हासिल था। अध्ययनों से पता चलता है कि प्रस्थिति उन्नयन के लिए एक रणनीति के रूप में संस्कृतीकरण का चलन देश के विभिन्न भागों में पाई जाने वाली तमाम मध्यवर्ती जातियों में खूब हुआ। महाराष्ट्र की मराठा और *ढांगर*, बिहार की कुर्मी और यादव, गुजरात की कोली, पश्चिम बंगाल की कईबर्ता, कर्नाटक में लिंगायत और उड़ीसा में तेली जैसी जातियों ने प्रस्थिति उन्नयन या समाज में ऊंचा दर्जा पाने के लिए संस्कृतीकरण का मार्ग अपनाया।

MAADHYAM IAS

सामाजिक बदलाव का यह देशज और संस्कृति विशिष्ट तरीका मध्यवर्ती जातियों में भी आर्थिक रूप से समृद्ध और राजनैतिक रूप से जागरूक तबकों ने खूब अपनाया। आर्थिक दशा में सुधार आने और राजनीतिक प्रभाव बढ़ने से छोटी जातियों ने जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी आनुपातिक उन्नयन की दिशा में प्रयास करने की प्रेरणा ली। श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण के मार्ग पर चलने से पहले उस जाति समूह की आर्थिक दशा और राजनीतिक शक्ति में सुधार होना जरूरी है जो अपनी प्रस्थिति को ऊंचा उठाने की दावेदार हो। इस तरह की आकांक्षा हिन्दुत्व की महान परंपरा से घनिष्ठता की उपज है। क्रम-परंपरा में अपने आपको ऊंचा उठाने के लिए निम्न जाति के लोगों के लिए जरूरी था कि वे आर्थिक रूप से संपन्न, राजनीतिक रूप से दबंग और दृढ़ हों। यहां यह बात ध्यान रखी जानी चाहिए कि संस्कृतीकरण वर्ण-व्यवस्था में स्थान संबंधी परिवर्तन को सुगम बनाता है। यह उसमें ढांचागत बदलाव ओर नहीं ले जाता। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि "प्रतिष्ठा के पारंपरिक प्रतीकों" को हथियाने का प्रयास जब उन लोगों ने किया जो इसके अधिकारी नहीं थे, तो उसका विरोध उन लोगों ने किया अनुकरण के लिए जो इन जातियों के संदर्भ आदर्श थे। पर संस्कृतीकरण जब सापेक्षिक वंचना को कम नहीं कर पाया

तो इसकी चमक फीकी पड़ गई। द्विजों की प्रस्थिति का अनुकरण करने और उनका दर्जा पाने की आकांक्षा रखने वाली जातियों के बीच असमानता को कम करने के लिए यह युक्ति अप्रासंगिक हो गई। जो लोग अवसर के मौजूदा ढांचे में महत्वपूर्ण स्थान हासिल करना चाहते थे उनके लिए तुष्टि के प्रतीकों का कोई अर्थ नहीं रह गया। उनकी शांतिप्रद और मैत्री-पूर्ण काररवाइयों ने ऊंची जातियों के वर्चस्व को कोई चुनौती नहीं दी।

22.5 पिछड़े वर्ग के आंदोलन और उनका राजनैतिक-आर्थिक उदय

सामाजिक अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले समाज सुधारकों के नेतृत्व में अ-ब्राह्मण जातियों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना थी। ये समाज सुधारक मुख्यत: मध्यवर्ती जातियों के थे। यह एक ऐसी असमानता के चलन के खिलाफ दृढ़-निश्चयी प्रतिरोध का द्योतक था, जिसे न्यायोचित ठहराने की परंपरा बनी हुई है। सबसे पहले ज्योतिराव गोविंदराव फुले ने महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए बहुजन समाज की स्थापना की, जहां चंद ब्राह्मण राज्य के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर हावी थे। फुले स्वयं शूद्र थे। उन्होंने औपनिवेशिक शासन में ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती दी। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उनके आंदोलन ने सत्य, विवेक और समानता पर आधारित एक नई सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने अ-ब्राह्मण लोगों के धार्मिक संस्कारों में ब्राह्मणों की सेवाओं के बहिष्कार का अभियान छेड़ा। वे ब्राह्मणों को जन साधारण और ईश्वर के बीच अवांछित बिचौलिया मानते थे।

फुले द्वारा स्थापित सत्य शोधक समाज ने ब्राह्मण विरोधी आंदोलन को अपने कार्यक्रमों के माध्यम से संस्थागत रूप दिया। वे ब्राह्मणवाद को धूर्त और स्वार्थी मानते थे, जिसकी भर्त्सना उन्होंने एक ऐसे असहाय अधिरोपण के रूप में की जिससे जाति क्रम-परंपरा में ऊंची जातियों का वर्चस्व बना रहे। इस आंदोलन की रीढ़ मुख्यत: दबंग किसान जातियां थीं जो कांग्रेस की समर्थक थीं। मगर निम्न जातियों के शोषण की जो व्याख्या महात्मा फुले ने दी, उसमें उन्होंने उसके आर्थिक और राजनैतिक पहलू को छोड़ दिया। इस शोषण की व्याख्या उन्होंने मुख्यत: संस्कृति और जातीयता के धरातल पर की। इसीलिए उन्होंने ब्राह्मणवाद से पहले प्रचलित धार्मिक परंपरा को फिर से अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने भारतीय किसानों और दिहाड़ी मजदूरों के शोषण का विरोध किया। उनके अनुसार संगठन और शिक्षा इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जरूरी थे। इस तरह के विद्रोही स्वर देश के अन्य भागों में भी उठे।

MAADHYAM IAS

22.5.1 आत्मसम्मान आंदोलन

ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए दक्षिण भारत में अन्य पिछड़ी जातियों और अछूतों ने आत्म-सम्मान आंदोलन छेड़ा। अपने शैशवावस्था में इस आंदोलन में समाज सुधार की प्रवृत्ति थी, जो ब्राह्मणों के आनुष्ठानिक वर्चस्व और सांस्कृतिक महत्ता को चुनौती दे रही थी। परंतु शीघ्र ही यह आंदोलन जातिगत राजनीति के दलदल में फंस गया, जिसका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजों के प्रति अपनी निष्ठा के बदले में उनसे तरह-तरह की रियायतें और लाभ बटोरना बन गया। इस तरह के सरोकार के चलते यह आंदोलन स्वतंत्रता संग्राम का विरोधी हो गया, जिसे यह ब्राह्मणों का सरोकार मानता था। इस आंदोलन की शक्तियों ने तमिलनाडु के उन 'चुनिंदा' ब्राह्मणों को अपने हमलों का निशाना बनाया, जो राजनीति, नौकरशाही और उच्च व्यवसायों पर काबिज थे। ब्राह्मणों से हावी सामाजिक व्यवस्था में अपने लिए कोई सम्मानजनक स्थान हासिल नहीं कर पाने के कारण समाज के गैर-ब्राह्मण तबकों ने ब्रिटिश शासकों की सहायता और प्रोत्साहन से निम्न जातियों को बहुत बड़े पैमाने पर संगठित करके 1920 में सत्ता पर कब्जा कर लिया। सत्ता हासिल करते ही आंदोलन के नेताओं ने वर्चस्व के अन्य क्षेत्रों में भी अपनी उपस्थिति को बढ़ाने के लिए कारगर कदम

उठाए। इस आंदोलन का फैलाव सभी तमिल जनपदों तक था। इस के कार्यकर्ताओं में जाति क्रम-परंपरा में निम्न जातियों के लोग भी शामिल थे। इस आंदोलन में अछूतों ने भी बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया, जो इसके प्रति खासा आकर्षित थे। जीवन के आनुष्ठानिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर ब्राह्मणों की जकड़ से मुक्ति पाने के लिए समाज सुधार आंदोलन के रूप में शुरू हुए इस आंदोलन ने अपनी शक्ति को औपनिवेशिक शासकों और रियासतों से पिछड़े वर्गों के लिए रियायतें और आरक्षण जुटाने में लगाई, जिसके बदले में वह स्वतंत्रता संग्राम के विरोध में खड़ा हो गया। राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में सफल होने के बाद आंदोलन ने पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग उठाई।

परंतु आंदोलन के नेतृत्व ने कालांतर में अपना ध्यान मध्यवर्ती और छोटी जातियों के हितों की साधना पर केन्द्रित कर अछूतों को उनके हाल पर छोड़ दिया। छोटी जातियों की इस तरह की आकांक्षाओं को बाद में कांग्रेस से भी समर्थन मिलने लगा जो अपने दल में गैर-ब्राह्मण जातियों को शामिल करके अपने जनाधार को बढ़ाना चाहती थी। बहरहाल दक्षिण भारत में चले गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन में देश के अन्य भागों में हुए आंदोलनों की अपेक्षा तालमेल अधिक था।

22.5.2 कर्नाटक का प्रजामित्र मंडल

कर्नाटक में दबंग भूधर जातियों के संगठनों ने ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए प्रजामित्र मंडल का गठन किया। इस पहल से जो शक्तियां उभरीं उनके दबाव के फलस्वरूप लोक सेवाओं में गैर-ब्राह्मण लोगों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए कदम उठाए गए। प्रजामित्र मंडल के टूट जाने के बाद उसकी जगह प्रजापक्ष ने ले ली, जिससे मध्यवर्ती जातियों और खासकर वोक्कालिगाओं और लिंगायतों की स्थिति और मजबूत हुई। स्वतंत्रता के पश्चात ये दोनों जातियां राज्य की राजनीति में प्रमुख शक्ति के रूप में उभरी। मगर सत्ता के ढांचे में सबसे प्रभावशाली स्थिति लिंगायतों ने बनाई। सो देश की आजादी के बाद पिछड़े वर्गों के इर्द-गिर्द जो सत्ता उभरी उसने भूधर किसानों के हितों के लिए गंभीर कदम उठाए। जमीन को जमींदार ब्राह्मण जातियों से उन लोगों को हस्तांरित करने के लिए कानून पारित किए गए, जो वास्तव में जमीन कमाते थे। जमीन कमाने वाले लोग मुख्यतः मध्यवर्ती जातियों के थे। कर्नाटक के ब्राह्मणों को अपने गांवों से पलायन कर सफेदपोश नौकरियां ढूंढनी पड़ीं। पर इसके फलस्वरूप जो सत्ताधिकार या शक्ति संतुलन बना वह भी छोटी पिछड़ी जातियों के उदय से छिन्न-भिन्न हो गया, जो शक्तिशाली मझोली या मध्यवर्ती जातियों के वर्चस्व के विरोध में उठ खड़ी हुई। असल में ओबीसी में जो जातियां सत्ता में इस वर्चस्व का हिस्सा नहीं बन पाईं, वे भी संगठित होकर सत्ता की दावेदार बन गईं।

MAADHYAM IAS

22.5.3 आंध्र और केरल के आंदोलन

आंध्र-प्रदेश में भी ब्राह्मणों का विरोध हुआ। पारंपरिक और उभरते सामाजिक स्तरीकरण में अभिजात वर्ग के रूप में ब्राह्मणों को जो स्थान मिल रहा था, उसके कारण कई जातियों के लोग अवसर के ढांचे से दूर हाशिए पर चले गए। सो जो जातियां कृषि में आई व्यावसायिक क्रांति से लाभान्वित हुई थीं वे ब्राह्मणों के खिलाफ उठ खड़ी हुई, जिन्होंने पहले पुरानी व्यवस्था को बनाए रखा था और फिर अब नई व्यवस्था में भी सत्ता हथिया ली थी। छोटी जातियां ब्राह्मण अभिजातवर्ग की श्रेष्ठता या वर्चस्व को चुनौती देने लगी। इन जातियों को पारंपरिक स्तरीकरण व्यवस्था में अन्य छोटी जातियों का समर्थन मिला। इन लोगों ने भी कांग्रेस के स्वराज (होमरूल) का विरोध किया क्योंकि वे इसे एक ऐसे आंदोलन के रूप में देखती थीं जो पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए किया जा रहा था। ब्राह्मणों के वर्चस्व को लेकर आशंकित होने के कारण इन गैर-ब्राह्मण वर्गों ने विशाल आंध्र आंदोलन का विरोध किया जो मद्रास प्रेसीडेंसी के तेलुगु भाषी लोगों के लिए एक पृथक

राज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से उठाया गया था। मगर यहां भी मुट्ठीभर अ-ब्राह्मण समृद्ध किसान जातियां हावी हो गईं जो अपने से छोटी जातियों के हितों को लेकर चलने की इच्छुक नहीं थी। सो अन्य छोटी जातियां भी अलग से अपने हितों की पैरवी में जुट गईं। स्वतंत्रता से पहले हुए मुन्नुरु दापा और पदमासली आंदोलन इस तरह के दावों का उदाहरण हैं। स्वतंत्रता के बाद आरक्षण पाने के लिए पिछड़ी जातियों ने अपने संगठनों का विलय कर लिया। वंचितों की इस प्रायोजित गतिशीलता के बावजूद नौकरशाही में ब्राह्मणों का वर्चस्व अभी खत्म नहीं हो पाया है और दबंग कृषक जातियों ने आर्थिक शक्ति और राजनैतिक पैंतरेबाजी के बूते अपने व्यापक प्रभाव को बनाए रखा है।

उधर केरल में बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही इझावा जाति के लोगों ने सवर्णों के वर्चस्व के विरुद्ध मझोली जातियों के आंदोलन का नेतृत्व किया। एक ओर अंग्रेज शासकों की विस्तारवादी नीति के तहत सवर्णों खासकर नायर जाति के लोगों ने संसाधनों को हथियाआ, तो दूसरी ओर ईसाई मिशन ने शिक्षा और सहायता देकर अनुसूचित जातियों का सशक्तीकरण किया। इससे राज्य में सबसे ज्यादा जनसंख्या वाली इझावा जाति के लोगों को लगा कि वे वंचित रह गए हैं। इसलिए डा. पल्पू के नेतृत्व में उन्होंने भी नौकरशाही और नौकरियों में अपना वाजिब प्रतिनिधित्व हासिल करने के लिए आंदोलन किया।

22.5.4 उत्तर-प्रदेश में अन्य पिछड़ी जातियां

उत्तरी भारत में मध्यवर्ती जातियां या ओबीसी उतने दबंग तरीके से नहीं उभर पाईं। भारत की सांस्कृतिक कर्मभूमि समझा जाने वाले उत्तर प्रदेश में ब्राह्मणवाद ने अपनी सत्ता को परंपरा के सहारे बनाए रखा। इस काल में जो भी जातिगत संगठन अंतरजातीय सौहार्द और एकता बनाने के लिए खड़े किए गए वे कभी-कभार सवर्णों की ज्यादातियों के खिलाफ भी बोलते थे। उदाहरण के लिए यादव महासभा के वार्षिक अधिवेशन में ऊंची जातियों के विरोध में बोला जाता था, जिन्हें वे शोषक और अपनी उन्नति में बाधक मानते थे। मध्यवर्ती जातियों में जो लोग समृद्ध और प्रभावशाली थे। उन्होंने समाज में अपना दर्जा ऊंचा करने के लिए संस्कृतीकरण का मार्ग चुना। इस स्तर की जातियों में स्तरीकरण व्यवस्था में ऊंचा स्थान प्राप्त करने के लिए मची आपसी होड़ उस एकता की राह में रोड़ा बन गई जो एक असरदार आंदोलन के लिए जरूरी थी। बहरहाल स्थितियां ओबीसी के उत्थान के प्रतिकूल बनी रहीं। कारगर ढंग से संगठित नहीं होने के कारण वे कोई सार्थक उपलब्धि हासिल नहीं कर पाईं। फलस्वरूप मध्यवर्ती जातियां स्वतंत्रता के शुरुआती वर्षों में उन समीकरणों से बंधी रहीं जिनमें सवर्ण जातियां हावी थीं। पर कालांतर में हरित क्रांति और उसके बाद चौधरी चरणसिंह जैसे नेताओं के नेतृत्व में अन्य पिछड़ी जातियों के राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरने के बाद यथास्थिति को बनाए रखने वाला यह शक्ति संतुलन टूटा। पिछड़ी जातियों में जो भी एकता और बंधुता उभरी उसका आधार ऊंची जातियों के साथ समानता हासिल करने की दिशा में किए जाने वाली पहल है। पर सामंजस्य और संगठन के अभाव में ऐसी आकांक्षाएं पूरी नहीं हो पाई हैं।

22.5.5 बिहार में अन्य पिछड़ी जातियां

उधर बिहार में अन्य पिछड़ी जातियों में अभिजात वर्ग ने संस्कृतीकरण का मार्ग अपनाकर अपनी पारंपरिक सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठाया। कुर्मियों और यादवों में खासकर जो तबके समृद्ध और जागरूक थे उन्होंने अपने समाज को सुधारने और अपनी दशा में सुधार लाने के लिए दबाव डालने के लिए जाति संगठन बनाए। त्रिवेणी संघ के तत्वावधान में शक्तिशाली मध्यवर्ती जातियों को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास भी किया गया। यह संगठन यादवों, कुर्मियों और कोइरियों का महासंघ था। पर इस तरह की पहल का कोई सार्थक प्रभाव नहीं रहा क्योंकि उन्हें ऊंची जातियों के नेताओं से कोई समर्थन नहीं मिला, जो सत्ता की धुरी में थे। स्वतंत्रता संग्राम में जिन नेताओं ने जन-जन को लामबंद किया

MAADHYAM IAS

था उन्होंने अपने जातिगत हितों को ध्यान में रखते हुए इन्हें अनदेखा करना श्रेयष्कर समझा, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर समाज के इन तबकों को जो भी राहत या रियायतें दी जातीं वे निश्चित ही उनके जातिगत हितों के विरुद्ध जाती।

बिहार की किसान सभाओं ने भी बटाईदारं किसानों को मध्यवर्ती किसान जातियों के शोषण से मुक्त कराने का घोषित इरादा छोड़ दिया, क्योंकि उनका सवर्ण नेतृत्व इसके विरोध में था। इस तरह के संगठनों के संकीर्ण नजरिए ने इस मुद्दे से आंखें फेर लीं। बहरहाल स्वतंत्रता और भूमिसुधार की दिशा में किए गए कुछ उपायों ने मध्यवर्ती जातियों के उदय के लिए उर्वरक भूमि तैयार की। उधर जमींदारी के उन्मूलन के बाद ऊंची जाति के जमींदारों का वर्चस्व खत्म हो गया। मझोली संपन्न जातियों ने नौकरशाही और अन्य व्यवसायों में अधिक प्रतिनिधित्व पाने के लिए प्रयास किए। सामाजिक-आर्थिक विकास ने उनके सामाजिक उत्थान, आर्थिक समृद्धि और राजनैतिक विकास में सहायता की। संस्कृतीकरण को गतिशीलता के माध्यम के रूप में प्रयोग करना उनमें रुक गया। मगर पारंपरिक स्तरीकरण व्यवस्था में श्रेणी श्रेष्ठता के आग्रह को एक प्रभावशाली सरोकार के रूप में अभिव्यक्ति नहीं दी गई। सो अन्य पिछड़े वर्ग के आंदोलन की विचारधारा में मुख्य थीम सापेक्षिक वंचना का विरोध रहा।

22.5.6 शिक्षा और मूल्य

पिछड़े वर्गों में समतावादी मूल्यों के प्रसार और शिक्षा का स्तर ऊंचा उठने से वे न्यायोचित अपेक्षा और यर्थाथ के बीच मौजूद नकारात्मक विसंगति के बारे में जागरूक बनी। अपनी प्रबल राजनैतिक हैसियत का एहसास होने पर इन जातियों ने समदृष्टि से संसाधनों के वितरण के लिए संघर्ष छेड़ा। नौकरशाही तिकड़मों के जरिए संपन्न सवर्ण जातियों के हित में संसाधनों के हस्तांतरण का इन्होंने कड़ा विरोध किया। इसके फलस्वरूप मझोली जातियों का जो उदय हुआ, उसने उन समीकरणों को ध्वस्त कर दिया जो पारंपरिक रूप से ऊंची जातियों के वर्चस्व के पक्ष में जाते थे। इन शक्तियों का उदय मध्यवर्ती जातियों के हित में संसाधनों, अवसर और प्रतिष्ठा के वितरण की रणनीति की स्वीकारोक्ति है। मगर मझोली जातियों में इन तबकों की स्थिति संसाधनों पर अधिकार के मामले में अच्छी नहीं है। बहरहाल पारंपरिक स्तरीकरण व्यवस्था के मध्यक्रम में जो दबंग भूधर किसान जातियां सवर्ण-बहुल राजनैतिक दलों की पिछलग्गू थीं वे आज सत्ता की धुरी बन गई हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) ज्योति राव फुले और बहुजन समाज पर पांच पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

2) कर्नाटक में जातिगत संगठनों के प्रभाव के बारे में पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

3) उत्तर प्रदेश में ओबीसी की दशा के बारे में बताइए। वे दृढ़ क्यों नहीं हैं? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

22.6 जाति, वर्ग और सत्ताधिकार

इस प्रकार अ-ब्राह्मण जातियों के आंदोलनों ने एक ऐसी प्रक्रिया का सूत्रपात किया जिसने आगे चलकर वंचितों और अपवर्जितों को एक सामूहिक पहचान दी। बढ़ते आर्थिक विभेदन ने निम्न जातियों के लोगों को एक समूह के रूप में उभरने में सहायता की जिससे कि वे अवसर के ढांचे में अपने हिस्से के लिए दावा जता सकें। प्रस्थिति के ढांचे में ऊंची जातियों जैसा दर्जा पाने की आकांक्षा ने संख्या में अधिक और अभिव्यक्ति में सक्षम मझोली जातियों को शुरू-शुरू में संस्कृतीकरण का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। पर अपनी निर्धारित स्थिति को ऊंचा उठाने में असमर्थ रहने और अवसर के उभरते ढांचे में अपने प्रतिनिधित्व को बढ़ाने की आकांक्षा के फलस्वरूप अन्य पिछड़े वर्ग या ओबीसी में ऐसे नेतृत्व का जन्म हुआ जो सुशिक्षित, संपन्न था और संस्कृतीकरण के जबर्दस्त विरोधी था। इसके फलस्वरूप निम्न जाति के हिन्दू एक स्वतंत्र राजनैतिक श्रेणी के रूप में उभरे। वर्चस्व के पारंपरिक केन्द्रों का विरोध शक्तिशाली ग्रामीण जातियों ने किया जो खुद दबंग थीं। इन जातियों ने और अन्य राज्यों की ऐसी ही मझोली प्रबल जातियों ने जब सत्ताधिकार के ढांचे में ऊंचा दर्जा हासिल कर लिया तो उन्होंने अपनी जैसी उन जातियों को छोड़ दिया जो हाशिए में थी। सत्ता में उनके आरोहण से हाशिए के इन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंचा। इसलिए ओबीसी में दबंग जातियों को अलग करने के लिए उन्होंने उनसे संबंध तोड़कर उपेक्षित और हाशिए की मझोली जातियों को विशेष रियायतें और सुविधाएं प्रदान किए जाने की मांग की। बहरहाल सत्ता के मौजूदा ढांचे में निर्बल और हाशिए के वर्गों के लिए कोई स्थान नहीं है।

MAADHYAM IAS

22.7 सारांश

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अंतर्गत राज्य से अन्य पिछड़ी जातियों समेत तमाम सभी निर्बल वर्गों की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा की जाती है। सरकार को यह जिम्मेदारी दी गई है कि इन वर्गों की रक्षा के लिए प्रावधान करे ताकि वे उन लोगों से स्पर्धा कर सकें जिनकी स्थिति मजबूत रही है और जिनकी गतिशीलता जन्म से मिली वंचना के कारण पंगु नहीं रहती। उनके उत्थान के लिए अनुसूचित जातियों, जनजातियों और ओबीसी के लिए सरकारी नौकरियों में दिया गया आरक्षण ऐसा ही प्रावधान है। इसके अलावा स्कूलों, कॉलेजों और उच्च शैक्षणिक व्यावसायिक संस्थानों में भी उनके बच्चों के लिए सीटें आरक्षित रखी गई हैं। सकारात्मक भेदभाव के ये उपाय वंचितों को अधिक अवसर उपलब्ध कराने के लिए किए गए हैं, ताकि साधन संपन्न लोग अपनी स्थिति का अनुचित लाभ नहीं उठा सकें।

22.8 शब्दावली

वर्चस्व : यह संख्यात्मक, आर्थिक और राजनैतिक महत्ता है।

ओबीसी : पारंपरिक क्रम-परंपरा में निम्न क्रम में स्थिति जातियां (अन्य पिछड़ा वर्ग)

संस्कृतीकरण : यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें निम्न जाति ऊर्ध्व गतिशीलता प्राप्त करने की दृष्टि से ऊंची जाति के गुणों और जीवनशैली की नकल करती है।

22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सत्यमूर्ति, टी.वी. (संपा) 1996, *रीजन, रिलीजन, जेंडर एंड कल्चर इन कंटेम्परेरी इंडिया,* दिल्ली ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

पनंदिकर पई, वी.ए. (संपा) 1997, *द पॉलिटिक्स ऑव बैकवार्डनेस,* नई दिल्ली कोर्णाक पब्लिशर्स

जेलियट, ई. 1992, *फ्रॉम अनटचेबल टू दलित,* नई दिल्ली मनोहर

22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अन्य पिछड़ी जातियां (ओबीसी) एक संवैधानिक श्रेणी हैं, जिनमें सामाजिक रूप से वंचित शूद्र जातियां शामिल हैं। वे असल में द्विज और अछूतों के बीच की मध्यवर्ती सामाजिक परत हैं।

2) गलत

3) कर्नाटक

बोध प्रश्न 2

1) ज्योति राव फुले ने सबसे पहले महाराष्ट्र बहुजन समाज का गठन करके अल्पसंख्यक ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती देने का प्रयास किया था। फुले ने अ-ब्राह्मण लोगों के अनुष्ठानों से ब्राह्मणों को अलग रखने के लिए आंदोलन छेड़ा।

2) कर्नाटक में शक्तिशाली पिछड़ी जातियों के संगठनों ने प्रजामित्र मंडल के परचम तले ब्राह्मणों के विरुद्ध आंदोलन किया। उनके सफल आंदोलन के फलस्वरूप नौकरशाही और राजनीति पर ब्राह्मणों की पकड़ कमजोर हुई।

3) उत्तर प्रदेश में मध्यवर्ती जातियां या ओबीसी मजबूती से नहीं उभरी। मझोली जातियों ने ऊर्ध्व गतिशीलता के लिए संस्कृतीकरण का मार्ग अपनाया। स्थितियां मध्यवर्ती जातियों और उनके आंदोलन के लिए प्रतिकूल रहीं। यह स्थिति स्वतंत्रता तक बनी रही, जिसके बाद कुछ राजनेताओं ने स्थिति को बदलने का प्रयास किया।

MAADHYAM IAS

इकाई 23 अनुसूचित जनजातियां

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 जनजातियों की आबादी

- 23.2.1 क्षेत्रीय घनत्व
- 23.2.2 वृद्धि दर

23.3 आंतरिक सामाजिक भेद

- 23.3.1 सरंचनात्मक भेद
- 23.3.2 भूमि स्वामित्व

23.4 आदिवासियों के सामाजिक आंदोलन

- 23.4.1 स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासी आंदोलन
- 23.4.2 आदिवासी संघर्ष के मूल कारण

23.5 संवैधानिक प्रावधान

- 23.5.1 जनजातीय कल्याण के उपाय
- 23.5.2 जनजातियों के लिए नीति

23.6 सामाजिक-आर्थिक सुधार

- 23.6.1 व्यष्टि-स्तरीय सर्वेक्षण

23.7 आदिवासियों में अभिजात वर्ग की भूमिका

23.8 आदिवासी और उभरता सामाजिक स्तरीकरण

- 23.8.1 हालिया अध्ययन
- 23.8.2 मार्क्सवादी अवधारणा
- 23.8.3 कृषक समाज के रूप में जनजातियां

23.9 सारांश

23.10 शब्दावली

23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- अनुसूचित जनजातियों या आदिवासियों का वर्णन कर सकेंगे,
- अनुसूचित जनजातियों में आंतरिक भेद का चित्रण कर सकेंगे,
- आदिवासियों के कल्याण के लिए किए गए संवैधानिक प्रावधानों और उपायों पर रोशनी डाल सकेंगे,

- आदिवासियों के महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों के बारे में बता सकेंगे,
- आदिवासियों में अभिजात वर्ग की भूमिका पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- उभरते सामाजिक स्तरीकरण में जनजातियों की स्थिति के बारे में बता सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

समाज-विज्ञान संबंधी साहित्य में जनजाति या आदिवासी शब्द का प्रचलन खूब होने के बावजूद उसे वैज्ञानिक कठोरता और स्पष्टता से परिभाषित नहीं किया गया है। इसका प्रयोग आज भी सामाजिक गठन के नाना प्रकार के स्वरूपों और प्रौद्योगिक-आर्थिक विकास के स्तरों वाली प्राक्साक्षर संस्कृतियों की कुछ खास श्रेणियों के वर्णन के लिए किया जा रहा है। इसे समाजों के विकास वृत्त में एक चरण के साथ-साथ एक राज्यहीन समाज के रूप में लिया जाता है, जिसके गठन का आधार नातेदारी का विस्तृत ताना-बाना है, जो इसे बहुप्रकार्यात्मक समूह बनाता है।

इसकी कुछ सतही और आनुभाविक विशेषताएं बताई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं:
i) समांगता, ii) पार्थक्य और अस्वांगीकरण, iii) क्षेत्रीय अखंडता, iv) अनूठी पहचान के प्रति चेतना, v) सर्व-व्यापी जीवात्मवादी धर्म (हालांकि यह अब निष्क्रिय हो गया है), vi) शोषक वर्गों और संगठित राज्य तंत्र की अनुपस्थिति, vii) नातेदारी संबंधों की बहुप्रकार्यात्मकता, viii) सामाजिक-आर्थिक इकाई का सखंड स्वरूप और ix) सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बारंबार सहयोग। इन विशेषताओं के अलावा उसमें ऐसे अनेक अस्पष्ट आनुभाविक बाह्य गुण भी पाए जाते हैं, जिनमें पिछली एक सदी से कोई बदलाव नहीं आया है, हालांकि गैर-आदिवासी समाजों में इस काल में भारी परिवर्तन हुआ है। इससे हम अपवाद और नियम की दुविधा में फंसे रह जाते हैं। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि अनेक गंभीर आलोचक यह बता चुके हैं कि जनजाति शब्द सैद्धांतिक बंद गली में आकर रुक गया है, और वैचारिक रूप से उसमें हेर-फेर किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बहरहाल, जनजातियों में समांगता और समानता की धारणा यूं भी महत्व खोती जा रही है क्योंकि हर जगह महिलाओं, दासों और अजनबियों को इस समानता के दायरे से बाहर रखा जाता है। वंशक्रम पर आधारित समाजों में भी हमें विवाह, विशिष्ट वस्तुओं के आदान-प्रदान और पुर्नवितरण की प्रक्रिया पर नियंत्रण के रूप में आर्थिक और राजनीतिक असमानताएं नजर आती हैं। भारत के संदर्भ में, जहां कि औनिवेशिक शासन से पहले जनजाति का पर्याय विद्यमान नहीं था, वहां भी अनेक अध्ययनों में आदिवासियों में भूमि पर भेदकारी नियंत्रण, श्रम के योगदान, बेशी उत्पादन, व्यावयायिक विविधता, इत्यादि विशेषताएं देखी गई हैं। इसी प्रकार भौगोलिक-पार्थक्य भी एक कोरा मिथक है। उदाहरण के लिए गोंड जनजाति के लोग आठ राज्यों में, भील सात राज्यों में, कांधा और साओरा छ: राज्यों में और ओरांव पांच राज्यों में और अन्य 20 जनजातियों के लोग चार राज्यों में पाए जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से आदिवासियों और वृहत्तर समाज के बीच अन्योन्य-क्रिया खासकर इन उपरोक्त राज्यों में निरंतर चलती रही है, हालांकि इसका धरातल असमान रहा है। जहां तक राज्य के गठन की बात है, मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्र और पूर्वोत्तर भारत में मध्योत्तर काल में कई गैर आदिवासी आरंभिक राज्य विद्यमान थे। इसलिए यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है कि आदिवासी समाज ऐतिहासिक और अपरिवर्तनशील, सांस्कृतिक पिछड़ेपन में रह रहा है।

भारतीय शोधकर्ताओं के लिए इस शब्द की व्याख्या करना मानो निषिद्ध है। मगर हम चाहें जो भी प्रतिमान अपनाएं, इस व्याख्या में अनेक अनुसूचित जनजातियां आदिवासी के संबोधन से बाहर निकल जाएंगी। इसलिए आदिवासी सीधे-सीधे उन लोगों को कहा जाता है

जो अनुसूचित जातियों की सूची में दर्ज हैं। यूं तो इस कानूनी शब्दावली और श्रेणीकरण को भारतीय समाजशास्त्रीय अनुसंधान में बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गई है। इसका अनुच्छेद 342(1) सिर्फ यही व्यवस्था देता है कि राज्य के गवर्नर से परामर्श करने के बाद भारत का राष्ट्रपति आदिवासियों और आदिवासी सम्प्रदायों या उनके समूहों के किसी धड़े को अनुसूचित जनजाति का दर्जा दे सकता है।

संविधान की इसी व्यवस्था के अनुसार 1950 में भारत के राष्ट्रपति ने अनुसूचित जनजातियों की एक सूची जारी की, जिसे 1935 की पिछड़ी जनजातियों की सूची में संशोधन करके तैयार किया गया था। अनुसूचित जनजातियों की पहचान के लिए कोई समरूप कसौटी या मानदंड कभी स्थापित नहीं किए गए हैं। फलस्वरूप इस सूची में 1956 और 1976 में जो संशोधन हुए उनमें भी कुछ आदिवासी समूह छूट गए, हालांकि उनमें जनजातियों की मान्य विशेषताएं मौजूद थीं। असल में धेबर आयोग (1961) ने जनजातियों के निर्धारण की समस्या की ओर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं समझी। वैधानिक और शिक्षा दोनों स्तर पर यह स्थायी बना रह गया है।

बहरहाल, अधिकांश संकल्पनाएं अक्सर अस्पष्ट और परिवर्तनशील होती हैं, उनका साधनात्मक और क्रियात्मक महत्व होता है, इसलिए जनजाति की संकल्पना इससे अलग नहीं हो सकती। हमारे उद्देश्य के लिए एक कार्यशील परिभाषा पर्याप्त रहेगी। आदिवासी लोग आम तौर पर ऐतिहासिक रूप से विकसित समाज हैं। जैविक दृष्टि से वे स्वस्थायीकारी होते हैं और उनकी कुछ खास सामूहिक सांस्कृतिक विशेषताएं हैं। प्रबल वृहत्तर समाज और उसकी संस्थाओं के कई तरह से अधीन होने के कारण वे चिरकाल से अपनी अनूठी विशेषता और आंचलिक जीवनाधार संसाधनों के संरक्षण के लिए संघर्षशील रहे हैं।

23.2 जनजातियों की आबादी

MAADHYAM IAS

वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 6.80 करोड़ आदिवासी लोग रहते हैं जो कि देश की कुल जनसंख्या का 8 प्रतिशत है। यह संख्या विश्व के कई देशों की जनसंख्या से बड़ी है। वर्ष 1951 की जनगणना से पहले कुछ जनजातियों को पिछड़े वर्ग की श्रेणी में अस्थायी रूप से रखा गया था, इसलिए उसमें इनकी जनसंख्या 1.90 करोड़ आंकी गई थी, जो 212 जनजातीय समुदायों में बंटी थी। इनकी जनसंख्या 1971 और 1981 में बढ़कर क्रमश: 3.8 करोड़ और 5.2 करोड़ हो गई, जो कि कुल जनसंख्या का 7.0 और 7.8 प्रतिशत था। आज उनके 258 से लेकर 540 संप्रदाय है। यह संख्या इस पर निर्भर है कि इसके पर्यायों या उप जनजातियों को अलग से गिना गया है या नहीं। इसलिए इस संख्या को प्रामाणिक के बजाए सांकेतिक माना जाना चाहिए।

इसके अलावा जनजातियों की जनसंख्या में बड़ा अंतर देखने में आता है। जैसे, 1981 की जनगणना में *जावा* आदिवासियों की जनसंख्या सिर्फ 31 पाई गई, तो गोंड जनजाति की आबादी 7 लाख थी। इसी प्रकार अंडमानी, ओंगे, शोम्पेन, टोडा जैसे छोटी जनजातियों की आबादी एक हजार से भी कम है। लेकिन, भील, संथाल, ओरांव, मुंडा, मीणा, खोंड, साओरा इन सभी की अलग-अलग जनसंख्या 10 लाख से अधिक है।

23.2.1 आंचलिक घनत्व

इसी प्रकार उनके आंचलिक जनसंख्या घनत्व में भी भारी अंतर देखने को मिलता है। लगभग 55 प्रतिशत आदिवासी लोग मध्य भारत में, 28 प्रतिशत पश्चिमी भारत में, 12 प्रतिशत पूर्वोत्तर में और 4 प्रतिशत दक्षिण भारत में, तो शेष 1 प्रतिशत जनजातियां देश के अन्य भागों में रहती हैं। पर इस सिलसिले में हमें एक बड़ी रोचक बात नजर आती है। कुछ छोटे अपवादों को छोड़कर हमें महाराष्ट्र के ठाणे जिले से लेकर मणिपुर के

तेंगनाउपाल जिले तक जनजातीय वास-स्थान की एक संतत पट्टी दिखाई देती है। यहां हमें एक और बात नजर आती है। आदिवासी लोग अधिकतर प्रभावी भाषायी राज्यों के मिलन बिन्दुओं पर बसे मिलते हैं। 1960 के दशक में एक तिहाई आदिवासी लोग उन जिलों में रहते थे जिनमें वे कभी बहुसंख्यक थे। असल में 60 प्रतिशत उन जिलों में बसे थे जहां उनकी जनसंख्या कुल जनसंख्या का 30 प्रतिशत थी। आज भी इसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

23.2.2 वृद्धि दर

आदिवासियों की जनसंख्या सामान्य जनसंख्या से अधिक दर पर बढ़ रही है। 1981-1991 के दशक में सामान्य जनसंख्या की वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत थी मगर आदिवासी जनसंख्या की वृद्धि दर 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। मगर यह वृद्धि दर पूर्वोत्तर में काफी अधिक है, जहां यह 4.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष है जबकि मध्य भारत में यह दर 2.5 प्रतिशत और दक्षिण भारत के आदिवासी अंचल में सिर्फ 1.5 प्रतिशत है। पर पूर्वोत्तर की जनसंख्या में इस वृद्धि दर में देश के बाहर से आई जनसंख्या को भी शामिल करना होगा। इसके अलावा मध्य और पश्चिमी भारत की जनजातीय पट्टी में खासकर नए या गैर-आदिवासी समुदायों को भी राजनीतिक दबाव के चलते अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल किया गया है। इसलिए जनजातियों की जनसंख्या वृद्धि दर की बात करते समय हमें ऐसे कारकों को भी ध्यान में रखना होगा।

वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार आदिवासियों में स्त्री-पुंजाति अनुपात (972 महिला प्रति 1000 पुरुष) अधिक था। पर पिछले कई दशकों में यह अनुपात घटता रहा है। बल्कि कई बार यह सामान्य जनसंख्या से भी कम देखने में आया है। साक्षरता की जहां तक बात है, तो सिर्फ 23 प्रतिशत आदिवासी ही साक्षर हैं, जबकि सामान्य जनसंख्या में साक्षरता 43 प्रतिशत है। इसी प्रकार आदिवासी महिलाओं में सिर्फ 15 प्रतिशत महिलाएं ही साक्षर हैं, जबकि सामान्य जनसंख्या में महिला साक्षरता 32 प्रतिशत है। स्वतंत्रता के 50 वर्ष बाद शायद साक्षरता की अवधारणा और आदिवासियों की शिक्षा की रणनीति की समीक्षा की जरूरत है। इसी प्रकार आदिवासियों की सिर्फ 7 प्रतिशत जनसंख्या ही शहरों में रहती है, जबकि सामान्य जनसंख्या में 26 प्रतिशत शहरों में रहती है।

MAADHYAM IAS

बहरहाल ये आंकड़े औसत जनजातीय परिवेश में विद्यमान भेदों को पूरी तरह से स्पष्ट नहीं करते। आदिवासियों में हमें सिर्फ उनकी जनसंख्या, जनसांख्यिक वृद्धि दर, आंचलिक घनत्व, स्त्री-पुंजाति अनुपात, साक्षरता, नगरीकरण इत्यादि में ही नहीं, बल्कि व्यवसाय, पारिस्थितिकी, भाषायी संबंध, नस्लीय रचना, नातेदारी प्रथा, आंदोलनों का इतिहास और अन्य कई परिवर्तियों में भी भारी विषमता दिखाई देती है।

23.3 आंतरिक सामाजिक भेद

ऐसे समाज की कल्पना कठिन है जो पूर्णत: समतावादी हो। दुनिया में चाहे कोई भी समाज हो वह हैसियत या प्रस्थिति संबंधी भेद धारण किए रहता है, जो आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कारिक क्रिया-कलापों में अलग-अलग विशेषाधिकार लिए रहता है। भारत में अधिकांश बड़े आदिवासी समुदायों में अभिजात और योद्धा कुलीन वर्ग होता था। मुंडा शेदुकपेन, कोर्कू, भील, गोंड इत्यादि जनजातियों में जमींदार और कृषिदास/काश्तकार होते थे। छोटी जनजातियां अक्सर शक्तिशाली जनजातियों में दबंग वर्गों की सेवा-चाकरी करती थीं। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि हिन्दू राजाओं और मुगल शासकों ने भील, गोंड, कोली, मीणा इत्यादि आदिवासी समुदायों को मान्यता दी थी। गोंड़, चीरो, त्रिपुरी भूयन, कचारी, खासी, बिंझल, कोली और अन्य जनजातियों ने अपने-अपने आदिवासी समाज के गर्भ से स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की थी। अंग्रेज शासकों ने भी जमींदारी और

मालगुजारी प्रथा का चलन आरंभ करके आदिवासी समाज के सामंती स्तर को शक्तिशाली बनाया। मगर उन्होंने अन्य लोगों की जमीन छीनी और किसानों को अपने प्लांटेशनों और खदानों में काम करने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप इस व्यवस्था के खिलाफ असंख्य विद्रोह हुए।

23.3.1 संरचनात्मक भेद

स्वतंत्रता के पश्चात अधिकांश आदिवासी समाजों में संरचनात्मक भेद निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है। भूमि पर नियंत्रण, व्यावयायिक वितरण, आमदनी, श्रम के नियोजन, शिक्षा के प्रसार और नगरीकरण, बाहरी दुनिया से सम्पर्क की गहराई, उत्पादन के संसाधनों तक पहुंच, जीवन शैली, इत्यादि मामलों में विषमता देश की सभी जनजातियों में उल्लेखनीय ढंग से देखने में आती है।

देश की 80 प्रतिशत जनजातियों के लिए भूमि का सवाल बड़ा अहम है। कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था, जहां कि कृषि भूमि दुर्लभ है, उसमें भूमि का असमान वितरण निश्चय की कृषि संबंधों को प्रभावित करेगा। भूस्वामी जितना बड़ा होगा, जमीन को कमाने के लिए बाहर के श्रम को लगाने की जरूरत उसे उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत काश्तकार जितना छोटा होगा, जीवित रहने के लिए अपना श्रम बेचने की प्रवृत्ति उसमें उतनी ही ज्यादा होगी। भूमिहीन के लिए अपना श्रम बेचने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रहता। देश के सभी आदिवासी बहुल अंचलों में विद्यमान इस अर्थ-व्यवस्था में शोषण स्वाभाविक है। आइए अब हम भूमि के अहम सवाल को लेते हैं।

23.3.2 भूमि स्वामित्व

भूमि स्वामित्व संबंधी आंकड़ों को देखने पर हमें आदिवासियों में भारी भेद नजर आते हैं। उदाहरण के लिए एक अध्ययन में 43 प्रतिशत आदिवासियों के पास एक हेक्टेअर से भी कम जमीन पाई गई तो वहीं उनमें 9 प्रतिशत लोग चार हेक्टेअर से अधिक भूमि के स्वामी थे। इस प्रकार का अति विषम भूमि स्वामित्व उनमें विद्यमान सिर्फ आंतरिक आर्थिक भेदों को नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक विभेदन को भी दर्शाता है। गुजरात, उड़ीसा, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल और अन्य राज्यों में इस सिलसिले में हुए अनेक आंचलिक अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं। उदाहरण के लिए, 37 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के पास इतनी जमीन नहीं है कि वे उससे अपना जीवन निर्वाह कर सकें। मगर वहीं 7 प्रतिशत आदिवासी परिवारों में प्रत्येक के पास लगभग 20 एकड़ जमीन है। जमीन अधिक होने का मतलब है कि उनके पास पशुधन अधिक, विक्रेय बेशी, दिहाड़ी पर मजदूर रखने की क्षमता, *उपभोक्ता वस्तुओं को खरीदने की क्षमता,* अच्छा घर होने के साथ-साथ शिक्षा और संस्थागत ऋण प्राप्त करने की क्षमता भी अधिक होगी। यह भूमि विषमता अपेक्षतया उन्नत आदिवासियों में अधिक है। छोटी जनजातियों में बड़ी जनजातियों की तुलना में कम भेद पाया जाता है।

देश की जनजातियों में विद्यमान आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक मामलों में गंभीर भेदों के बारे में बताने के बाद यह कहना जरूरी है कि सभी आदिवासी यही महसूस करते हैं कि उनसे जीवन के पारंपरिक संसाधन छीन लिए गए हैं, उनके इतिहास, संस्कृति और संस्थागत संरचनाओं को आघात पहुंचाया जा रहा है। निर्णय के क्षेत्र में भी वे अपने आप को उपेक्षित महसूस करते हैं। इसीलिए आदिवासी अब शोषित और उपेक्षित वर्ग की एक संगठित सामाजिक श्रेणी के रूप में उभर रहे हैं।

23.4 आदिवासियों के सामाजिक आंदोलन

अठारहवीं सदी से पहले आदिवासी लोग अपनी केन्द्रीकृत सत्ता और हिन्दू व मुस्लिम शासकों के प्रति उदासीन से थे। इसका एकमात्र अपवाद मराठा शासन के तहत आने वाले कुछ

खास अंचल और जनजातियां थी। असल में आदिवासी शासक उतना ही उगाही करते थे, जितना कि उनकी शासन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जरूरी था। एक तरह से उनकी सत्ता की वैधता विकेन्द्रित थी।

औपनिवेशिक शासन काल में ही वे सभी एक केन्द्रीकृत दमनकारी राज्य के शिकंजे में आए। इसके फलस्वरूप अभी तक बिखरे और असंगठित रहे आदिवासियों और उनके धड़ों ने एकताबद्ध होकर स्थानीय स्तर पर विद्रोह किए। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान संथाल, ओरांव, कोल, कोया, भील, साओरा जैसी संख्या की दृष्टि से शक्तिशाली आदिवासी समुदायों ने उपनिवेशवाद और सामंतवाद को अपने स्थानीय प्रसंग में जिस रूप में देखा और जाना उसके खिलाफ उन्होंने लड़ाई लड़ी। कुछेक सुधारवादी मसीहाई या अनुकरणात्मक आंदोलनों को छोड़कर उनके अधिकांश विद्रोह और आंदोलन भूमि हस्तांतरण, वन आरक्षण, जबरिया और करारबद्ध मजदूरी, दमनात्मक कर, संस्कृति और धर्म की क्षति और पारंपरिक सत्ता की बदलाई के खिलाफ हुए। मगर इन आंदोलनों में औपनिवेशिक शासन विरोधी परिप्रेक्ष्य अच्छी तरह से नहीं उभर पाया क्योंकि अंग्रेजों के हित स्थानीय और आंचलिक सत्ताओं के माध्यम से साधे जा रहे थे। आंतर-जनजातीय अंतर्विरोधों पर गैर-जनजातीय आक्रमण हावी हो गए, तो जातीय बंधनों और समान विरासत के चलते उनके अपने समुदायों के शोषक हमलों से बच गए। बीसवीं सदी के आरंभ में राष्ट्रीय आंदोलन ने जब जोर पकड़ा, तभी जाकर औपनिवेशिक-विरोधी नजरिया कांधा, कोया, ओरांव, मुंडा, साओरा, वर्ली, गोंड और अन्य आदिवासी आंदोलनों को मिला।

भारत के आदिवासी भील/ईंधन चुनती हुई महिलाएँ
साभार: किरणमई बुशी

23.4.1 स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासी आंदोलन

मगर स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासियों के आंदोलनों में विविधता आ गई। अपनी तमाम विषमांगता के बावजूद आदिवासियों ने अपने सामूहिक कष्टों, वंचनाओं अवमानना और अकांक्षाओं को दबे-कुचले गैर-जनजातीय लोगों से जोड़कर एक सामूहिक मंच बनाया। इस प्रकार अंचलेतर निष्ठा और चेतना का सूत्रपात हुआ। पर इसके बावजूद अभी तक जितने भी आदिवासी आंदोलन भारत में हुए हैं वे स्वाभाविक रूप से जातीयता या राष्ट्रीयता के प्रश्न से जुड़े रहे हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं कि मौजूदा समय में द्विजों की संस्कृति की दिशा में सांस्कृतिक-सामाजिक गतिशीलता के लिए जो जनजातीय आंदोलन चल रहे हैं, उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। बल्कि रुझान उसकी विपरीत दिशा में अधिक मुखर होते जा रहे हैं।

बहरहाल आदिवासियों के अभी तक जो भी संगठित आंदोलन हुए, वे ज्यादातर ऐसे समुदायों ने किए हैं, जिनकी जनसंख्या अपेक्षतया अधिक और जिनमें राष्ट्रीय जनतांत्रिक प्रक्रिया और आंतरिक सामाजिक-आर्थिक विभेदन को लेकर जागरुकता रही है। अनुभव यही कहता है कि जो आदिवासी समाज अधिक विभेदित हैं, वही पराधीनता का कड़ा विरोध करते हैं, जिसमें समाज का अभिजात वर्ग उनके आंदोलन में लामबंदी का केन्द्रबिन्दु बनता है। उनके संघर्ष या आंदोलन वृहत्तर आदिवासी समाज की सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सार है।

23.4.2 आदिवासी संघर्ष के मूल कारण

जनजातीय आंदोलनों के मूल में तीन अंतरसंबद्ध कारण हैं: आत्मबोध, विचारधारा और पूंजीवादी विकास मॉडल। इसलिए ये आंदोलन संसाधनों पर सामूहिक हक-हकूकों, सांस्कृतिक भाषायी क्षेत्रों में आंतरिक स्व-निर्णय का अधिकार और धारणीय विकास की एक कारगर रणनीति के लिए हुए हैं। मगर दुर्भाग्यवश पूर्वोत्तर में राजनैतिक स्वायत्तता के लिए हो रहे जनजातियों के सशस्त्र राष्ट्रवादी आंदोलनों और मध्य भारत के आदिवासी अंचलों में चल रहे आमूल परिवर्तनवादी किसान आंदोलनों को कानून और व्यवस्था की समस्या समझ कर उनका सैनिक समाधान ढूंढा जाता है। राजनैतिक स्वायत्तता और संविधान की छठी अनुसूची में जनजातीय अंचलों को शामिल किए जाने की मांग पूरी तरह से न्यायोचित और संवैधानिक हैं, जिनका समाधान लोकतांत्रिक तरीके से किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) अनुसूचित जनजाति की कार्यशील परिभाषा पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

2) भारत में जनजातीय सामाजिक आंदोलनों पर पांच पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

23.5 संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्रों का विकास सुनिश्चित करने के लिए 20 अनुच्छेद और दो विशेष अनुसूचियां दी गई हैं। यह पूरे विश्व में सबसे अनूठी बात है। समानता के मौलिक अधिकार संबंधी अनुच्छेदों (14,15,16,17) के अलावा, शोषण के खिलाफ अधिकार (23,24), जनजातियों के विशेष अधिकार (15,16,19) के साथ-साथ राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत में अनेक अनुच्छेद (38, 39, 41, 43, 46, 47, 48) अनुसूचित जनजातियों से जुड़े हैं। ये बात अलग है कि नीति निर्देशक सिद्धांत में किए गए प्रावधानों को कानूनन लागू नहीं किया जा सकता। इसके लिए राज्य ही पहल कर

सकता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद 46 माना जाता है, जो कहता है कि राज्य "कमजोर तबकों और खासकर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों पर विशेष ध्यान देगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" यह आदर्श निश्चय ही वांछनीय है, पर यह ऐसी कोई युक्ति या मार्ग नहीं देता कि समाज के कमजोर तबके शोषण भरे माहौल में अपने जीवन को शोषण से मुक्त बना पाएं।

23.5.1 जनजातीय कल्याण के उपाय

भारत के कुछ राज्यों में आदिवासियों के कल्याण के लिए एक मंत्री (164), भूमि हस्तांतरण और महाजनी के संदर्भ में अनुसूचित और जनजातीय अंचलों के प्रशासन (244), राज्यों के विकास के लिए अनुदान (275), अनुसूचित जनजातियों की पहचान (366) और विधायिका (विधानसभा, संसद), शिक्षा और रोजगार में जनजातियों के लिए आरक्षण (330, 332, 334, 335, 338, 339) के प्रावधान संविधान में किए गए हैं। आरक्षण को हालांकि सबसे सार्थक उपाय माना जाता है, मगर इसका जनजातीय समुदायों को प्रत्यक्ष लाभ न मिलकर उनके सदस्यों को व्यक्तिगत तौर पर लाभ मिल रहा है।

संविधान का अनुच्छेद 371 कुछ राज्यों में आदिवासियों में प्रचलित पारंपरिक कानूनों, न्याय प्रणाली और सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं को वैध ठहराता है। पांचवीं अनुसूची (244) में हमें जनजातियों की ओर संरक्षक ओर पितृवत भाव नजर आता है। वैसे यह भूमि और उस पर आधारित संसाधनों पर सामूहिक अधिकार को नहीं मानता, न ही यह उनकी पारंपरिक राजनैतिक संस्थाओं को मान्यता देता है। बहरहाल इस तरह के संरक्षणात्मक प्रावधान व्यवहार में प्रायः या तो प्रभावहीन रहे हैं या फिर वे लागू ही नहीं किए गए हैं। पांचवीं अनुसूची स्वायत्त जिला/क्षेत्रीय परिषदों के जरिए स्व-प्रबंध, जातीय विकास और आंतरिक-आत्म-निर्णय की बात करती है। इन परिषदों को कार्यपालिका, विधायिका और न्यायिक अधिकार दिए गए हैं। मगर इसके दायरे को तरह-तरह के संशोधनों के द्वारा काफी कम कर दिया गया है। बहरहाल पांचवी अनूसूची कुछ खास अंचलों में संसाधनों पर जनजातियों के पारंपरिक सामूहिक अधिकारों, उनकी सांस्कृतिक विविधता, धारणीय स्व-विकास, स्वप्रबंध और आत्म-निर्भरता को स्वीकार करता है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

23.5.2 जनजातियों के लिए नीति

आदिवासियों के लिए अपनायी गई नीति जटिल है। एक ओर इसका ध्येय उनकी दशा में संतुलित सुधार लाना है, तो दूसरी ओर यह उनकी विशिष्टता और स्वायत्तता के संरक्षण के साथ-साथ मुख्य धारा में उनके स्वीकरण का ध्येय लेकर चलती है। प्रयुक्त नीति का व्यापक ढांचा स्पष्ट तरीके से जवाहरलाल नेहरू ने 1958 में रखा था। इसमें अन्य बातों के अलावा यह कहा गया था कि उन्हें अपनी मेधा के अनुसार विकास करना होगा। जमीन और जंगल पर उनके अधिकार का आदर किया जाना चाहिए। पर व्यवहार में इसके विपरीत हुआ और राज्य ही असल में संसाधनों के हस्तांतरण का मुख्य स्रोत बन गया है और आदिवासियों के संज्ञानात्मक सिद्धांतों तथा प्रचलनों को अमान्य भी उसी ने बनाया है।

कुछ ही समय पहले एक रोचक परिवर्तन हुआ है। पंचायती राज (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम, 1996 जो कि अब भी पूर्वोत्तर के आदिवासी क्षेत्रों और गैर-अनुसूचित क्षेत्रों और नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों को शामिल नहीं करता, उसमें विकास परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण से पहले ग्राम सभा से परामर्श करने का प्रावधान किया गया है। यह अधिनियम जनजातीय समुदाय को विकास की बुनियाद मानता है, जिसकी अपनी ठोस परंपराएं और रीति-रिवाज हैं जो उसके स्व-शासन प्रणाली की धुरी हैं।

ग्राम सभा को सामुदायिक संसाधनों का प्रबंध, स्थानीय झगड़ों, विवादों को सुलझाने, विकास योजनाओं और कार्यक्रमों का अनुमोदन करने, लघु वन उत्पादों और खनिजों के स्वामित्व,

गैरकानूनी ढंग से हस्तांरित जमीन को बहाल करने, साहूकारी और विपणन पर नियंत्रण रखने और अपने रीति-रिवाजों के अनुसार स्व-प्रबंध जैसे कई अधिकार दिए गए हैं। हालांकि यह कानून पांचवी अनुसूची में स्थापित मानकों की कसौटी पर पूरी तरह से खरा नहीं उतरता, मगर उस दिशा में एक सार्थक पहल अवश्य है। इसलिए पांचवी अनुसूची क्षेत्र के आदिवासी भी इसे अपने यहां लागू कराने की मांग कर रहे हैं।

23.6 सामाजिक-आर्थिक सुधार

आदिवासियों के कल्याण के लिए तमाम संवैधानिक प्रतिबद्धताओं और नियोजन के पांच दशकों के बाद भी, उनका जीवनस्तर राष्ट्रीय औसत के काफी कम है। गरीबी, कुपोषण, मृत्युदर और रुग्णता उनमें सबसे ज्यादा है। लगभग 85 प्रतिशत जनजातीय परिवार गरीबी की रेखा के नीचे हैं, जबकि राष्ट्रीय औसत 38 प्रतिशत है। उनमें से 60 प्रतिशत लोग कुपोषण के शिकार हैं। वनों को आरक्षित किए जाने, सैन्य और राष्ट्रीय सुरक्षा के कारणों से कई क्षेत्रों को निषिद्ध बनाने, आदिवासी लोगों का बड़े पैमाने पर पलायन वन-खन-जल, और पर्यावरण संपदा के दोहन के फलस्वरूप वे अपनी भूमि और भूमि आधारित अधिकारों से वंचित हो रहे हैं। उनके सामने विसंस्कृतीकरण का खतरा मंडरा रहा है। इसी तरह उत्तर-औपनिवेशिक काल में शक्ति असंतुलन और भी गहरा गया है।

आदिवासियों के कल्याण पर किए जाने वाला खर्च भी खूब चर्चा का विषय रहा है। मगर चौथी पंच वर्षीय योजना के अंत तक इस मद में कुल योजना परिव्यय का मात्र एक प्रतिशत खर्च किया जाता था। इसके पश्चात इसमें कुछ वृद्धि हुई। मगर यह वृद्धि मूलत: इस व्यय में ढांचागत और प्रशासनिक खर्च जोड़ देने से हुई। पहले आदिवासी कल्याण मंत्रालय और विभागों के खर्च को ही इस मद में शामिल किया जाता था मगर अब औद्योगिक और जलविद्युत परियोजनाओं समेत कोई भी खर्च इस मद में जोड़ दिया जाता है। इसलिए प्रतिशत में दिखाई देने वाला फर्क भ्रामक है। बहरहाल यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जनजातियों के विकास या कल्याण के लिए भारत सरकार जो खर्च कर रही है वह उनकी जनसंख्या के अनुपात में कतई नहीं है। अगर मुद्रा-स्फीति को ध्यान में रखें तो आदिवासी लोगों पर 1951 के मूल्य स्तर के हिसाब से 1970 दशक के मध्य तक प्रतिव्यक्ति मात्र 50 पैसे खर्च किए जाते थे। इसके पश्चात यह बढ़कर लगभग पांच रुपया हो गया, मगर इसमें तरह-तरह के व्ययों के अलावा इन योजनाओं की प्रशासनिक लागत भी शामिल कर ली गई। जैसे 194 समेकित जनजातीय विकास परियोजना, मॉडिफाइड एरिया डेवलपमेंट एप्रोचेज के अंतर्गत खंड स्तर के नीचे के 268 आदिवासी इलाकों और आदिम समूहों के 90 छिटपुट क्षेत्रों में चलाई गई योजना, जिसमें लगभग 69 प्रतिशत जनसंख्या शामिल की गई थी। आदिवासी कल्याण पर होने वाला खर्च नगण्य ही नहीं है बल्कि जो कुछ भी इस पर खर्च किया जा रहा है, वह आर्थिक विकास के बजाए उनकी शिक्षा पर अधिक हो रहा है।

MAADHYAM IAS

23.6.1 व्यष्टि-स्तरीय सर्वेक्षण

अनेक व्यष्टि-स्तरीय सर्वेक्षणों में पाया गया है कि सर्वेक्षण में शामिल किए गए 50-60 प्रतिशत परिवारों को किसी भी कल्याण या विकास कार्यक्रम की कोई जानकारी नहीं रहती। ऐसे में किसी योजना या परियोजना से उनके लाभान्वित का प्रश्न ही कहां उठता है। बल्कि ईन परिवारों के अनुसार विकास की प्रचलित अवधारणा और उनके बीच में असमान बाजार-शक्तियों के आगमन के चलते कुछेक दशकों से उनकी दुर्दशा हो गई है। निस्संदेह 10 प्रतिशत आदिवासियों को कल्याणकारी कार्यक्रमों और विकास योजनाओं का लाभ मिला है। मगर इनमें ज्यादातर दबंग समुदायों और विकसित अंचलों के बड़े जोतदार, पारंपरिक सरदार और शिक्षित अभिजात वर्ग के लोग शामिल हैं। इसका अपवाद 74

'आदिम' समूह हैं जिन्हें इन योजनाओं और कार्यक्रमों का कुछ लाभ जरूर मिला है। इसका कारण यह है इस प्रक्रिया में आम आदिवासी लोगों को भी अनजाने कुछ आकस्मिक लाभ मिल जाते हैं।

आदिवासी कल्याण की व्यवस्था मूलत: आदिवासियों के संघर्षों की उपज है। दरअसल यह उनमें राजनैतिक शांति बनाए रखने के लिए की गई है। पर यह मध्यस्थता के ढांचे को मजबूत बनाने का काम कर रही है, जिसका दायरा कुछ नेताओं से लेकर आम आदिवासियों तक जाता है। यह उनके आंतरिक अंतर्विरोधों, आंदोलन या विद्रोह की आसन्न संभावना, श्रम और वस्तु बाजार में योगदान, चुनावी समीकरणों और राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता पर निर्भर करता है। इसलिए जाहिर है कि कल्याणकारी उपायों का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ताधिकार का पुनर्वितरण करना नहीं है। सो एक स्तरित समाज में लाभों के इस तरह के अव्यवस्थित वितरण का तार्किक अर्थ निकलता है कि व्यक्ति का वर्ग और उसकी हैसियत जितनी ऊंची होगी इन लाभों में उसे उतना ही बड़ा हिस्सा मिल पाएगा। ऐसी स्थिति में मुख्य प्रयास यही रहता है कि कुछ व्यक्तियों को चुन लिया जाए ताकि वे टकराव को रोकने वाले रोधक का काम कर सके, जिससे मौजूदा असम व्यवस्था की अभिव्यक्ति सहज और रख-रखाव सुनिश्चित हो जाए। पर आदिवासियों में इस तरह के विशेषाधिकार प्राप्त तबकों और भारतीय शासक वर्ग के बीच गठजोड़ अभी कमजोर है। बहरहाल देश के नागरिकों के रूप में जनजातीय लोगों को बहुत कम हासिल हुआ है जो उनकी आशाओं, अपेक्षाओं के अनुरूप कतई नहीं हैं।

23.7 आदिवासियों में अभिजात वर्ग की भूमिका

औपनिवेशिक काल में न्याय के लिए जितने भी संघर्ष आदिवासियों ने किए उनका नेतृत्व उनके अपदस्थ अभिजात वर्ग ने किया। स्वतंत्रता के बाद भारत ने इस बात को गंभीरता से लिया और उनकी जीवन स्थिति को बेहतर बनाने के लिए कई उपाय किए। मगर संसाधनों के सीमित होने या उनका वितरण असमान ढंग से होने के कारण इनका लाभ व्यापक स्तर पर नहीं पहुंचा। सो विशेष सुविधा देने की जो व्यवस्था भारत ने खड़ी की है उसने आदिवासियों के बीच एक आधुनिक अभिजात वर्ग को जन्म दिया है जो शिक्षा, राजनीति और आर्थिक दृष्टि से उन्नत है। इसके विपरीत साधारण आदिवासी लोगों की दशा स्वतंत्रता से पहले की दशा से अच्छी भी नहीं कही जा सकती।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कुछ विद्वान तर्क देते हैं कि आदिवासी संभ्रांत वर्ग सिर्फ अपने हितों की ही अभिव्यक्ति करता है, आम आदिवासी के हित की नहीं। इसलिए विकास योजना का लक्ष्य कमजोर आदिवासी तबके होने चाहिए। मगर उनका यह तर्क इस बात को नजरअंदाज कर देता है कि जब समूचा भारतीय समाज वर्गों में (और जाति और धर्म के आधार पर भी) बंटा हो और जब जीवन के हर क्षेत्र में सामाजिक संबंध का स्वरूप शोषण से चिन्हित होता हो, तो उस समाज में आदिवासी अभिजात वर्ग भला किस तरह से भिन्न हो सकता है? फिर अपने मूल समुदाय के साथ-साथ राष्ट्रीय समाज का सदस्य होने के कारण आदिवासी अभिजात वर्ग अपने समाज को वृहत्तर व्यवस्था से जोड़ने के लिए एक संपर्क व्यवस्था का सृजन भी करता है। अभिजात वर्ग के निर्माण की यह प्रक्रिया अगर गति पकड़े, तो इससे एक राष्ट्रीय अभिजात वर्ग के निर्माण की संभावना हो सकती है। इससे अंतरजातीय दूरी मिटेगी। इसके अलावा यह आदिवासी समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन का केन्द्र भी है। हो सकता है कि कभी-कभी वह इस दायित्व को नहीं निभाए, लेकिन शेष राष्ट्र का अभिजात वर्ग भी ऐसा ही करता है।

आदिवासी अभिजात वर्ग का प्रवेश देरी से होने के कारण वह गैर-आदिवासी अभिजात वर्ग के साथ स्पर्धा नहीं कर पाता। यह कमजोरी *उसकी सामुदायिक व्यवस्था का अभिन्न अंग* है। इसलिए आदिवासी अभिजात वर्ग अपने लोगों से पूरी तरह से अलग नहीं हो सकता। यूं

तो साधारण आदिवासी लोग अपने पारंपरिक राजनैतिक अभिजात वर्ग, साहूकार, धनी किसानों, आधुनिक राजनेताओं और सरकारी नौकरों, मजदूरों के ठेकेदारों के एजेंट इत्यादि को शंका की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें भीतरी भीकू भी कहते हैं, पर इसे हमें इस रोशनी में देखना होगा कि बाजार शक्तियों और उनके एजेंटों के साथ उनके अंतर्विरोध इतने गहरे होते हैं कि वे अपना संघर्ष अक्सर जातीयता के आधार पर चलाते हैं, जिसमें उन्हें अपने भीतरी अभिजात वर्ग से ही प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन मिलता है।

23.8 आदिवासी और उभरता सामाजिक स्तरीकरण

अट्ठारहवीं सदी में भारत पर जो भी लेखन हुआ उसमें जाति शब्द को अक्सर जनजाति के लिए प्रयोग किया गया। कालांतर में उसे जातियों और जनजातियों के लिए समस्रोत के रूप में प्रयोग किया गया। भारतीय संविधान (अनुच्छेद 341(1)) ने भी कहा है कि जनजाति या कबीले को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में रखा जा सकता है। फिर 1951 की जनगणना ने भी लगभग 10 लाख आदिवासियों को अस्थायी रूप से अन्य पिछड़े वर्गों की श्रेणी में रखा था।

बहरहाल समाजशास्त्रीय अनुसंधान में जो थोड़ा बहुत ध्यान जनजातियों के संक्रमण पर दिया गया है उसे अमूमन जनजाति से जाति में परिवर्तन के रूप में देखा जाता है। निश्चय ही कुछ समाज-शास्त्रियों ने आदिवासियों को पिछड़ा हिन्दू बताया है, असल में प्रमुख आदिवासी समुदाय हिन्दू-मुस्लिम और अन्य मतावलंबियों के संपर्क में रहे हैं। इस प्रक्रिया में आदिवासियों में ही नहीं, बल्कि जातियों और अन्य समूहों में सांस्कृतिक और ढांचागत परिवर्तन हुए हैं। मगर ऐतिहासिक और संदर्भात्मक प्रमाण जनजातियों के जातियों में कायांतरण की प्रवृत्ति के इस सिद्धांत की पुष्टि नहीं करते। कुछ दशकों तक आदिवासियों पर प्रभावी संस्कृति के अनुकरण का भूत सवार रहा, जिसे हम संस्कृतीकरण कहते हैं। लेकिन इस तरह के प्रयत्नों से उनकी भौतिक स्थिति या हैसियत में कोई सुधार नहीं हुआ, इसलिए अधिकांश लोगों ने अपनी अनूठी जातीय पहचान को फिर से पा लिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे कई हो सकती हैं, लेकिन समकालीन दौर में वे सभी अपने को एक मान रही हैं।

MAADHYAM IAS

23.8.1 हालिया अध्ययन

हालिया अध्ययनों में संख्या में बड़ी कुछ जनजातियों में कृषक समुदाय के लक्षण पाए गए हैं। मगर जनजातीय कृषक समाज का चरित्र चित्रण अलग-अलग तरह से किया गया है। वे कहीं कृषकों के कमोबेश अविभेदित समुदाय के रूप में दिखाई देते हैं तो कहीं स्तरित समूह और कहीं वर्गीय समाज के रूप में। परिवर्तन की बाहरी और आंतरिक प्रेरक शक्तियों पर जनजातीय अनुसंधान में अभी तक कोई गौर नहीं किया गया है। जिन विद्वानों ने आदिवासी कृषक समाज को एकल हित समूह के रूप में स्वीकार नहीं किया है, उनमें से अधिकांश ने उनमें विद्यमान विभेदन का विश्लेषण स्तरीकरण के रूप में किया है। यानी उन्होंने उसे धन, आमदनी और प्रस्थिति की श्रेणियों में बांटा है जिसके जरिए परिवार ऊपर उठते हैं या नीचे गिरते हैं। पर आय वितरण, परिसंपत्तियों पर स्वामित्व, व्यावसायिक ढांचा, इत्यादि सामाजिक स्तर का वर्णन तो प्रदान करते हैं मगर वे सामाजिक संबंधों और व्यवस्था किस तरह से काम करती है, यह नहीं बताते। इसके अलावा वे परिवर्तन की प्रेरक शक्तियों की पहचान नहीं कर पाते हैं। एक बात और है कि दो शोधकर्ता अगर एक ही सिद्धांत को लेकर चल रहे हैं, तो भी एक ही आबादी का वर्गीकरण भिन्न तरीके से करते हैं। इन स्तरों को अक्सर वर्ग कहा जाता है–उच्च, मध्यम और निम्न, धनी और निर्धन इत्यादि। पर ये वर्णनात्मक विभाजन ज्यादा से ज्यादा नजदीकी अनुमान दे सकते हैं जिनमें हमे सामाजिक वर्ग के पहलू आंशिक रूप से ही दिख पाते हैं।

23.8.2 मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्सवादी अवधारणा विश्लेषाणात्मक है जो सामाजिक स्तरीकरण पर रचे गए साहित्य में प्रचलित कृत्रिम श्रेणीकरण के एकदम उलट है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि भौतिकतावादी नजरिए से कृषक समाज उन स्थितियों में बंधा रहता है, जिसके तहत बेशी उत्पादन को हस्तगत और उपभोग किया जाता है, या उसे पुनर्निवेश कर दिया जाता है। मगर पिछड़े आर्थिक ढांचे में इस तरह की सीमा अस्पष्ट सी होती हैं, इसलिए उनमें वर्ग की अवधारणा को लेकर चलना कई समस्याएं खड़ी करता है। उत्पादन के साधनों का स्वामितव और श्रम की प्रक्रिया में भागीदारी करना वर्ग पहचान और ढांचे को पूरी तरह से नहीं दर्शाता क्योंकि अधिकांश आदिवासी दुनिया का अनुभव मूलत: अपनी भाषा-बोली में करते हैं।

यहां यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि आदिवासियों में भूमि स्वामित्व, जैसा कि हमने पीछे बताया है, बड़ा ही असमान है। मगर वर्तमान में 55 प्रतिशत लोगों के पास पांच-पांच एकड़ और 11 प्रतिशत लोगों में प्रत्येक के पास 15 एकड़ जमीन है। गुजरात में हुए एक अध्ययन के अनुसार 25 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के पास कुल 3.6 प्रतिशत जमीन है, लेकिन एक-दशक परिवारों के पास एक-तिहाई जमीन है। भूमि स्वामित्व की यह असमानता हमें अलग-अलग गांव और हर जनजाति में प्रमुखता से नजर आती है। संक्षेप में आदिवासी समाज वृहत्तर पूंजीवादी क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। दोनों के शासक वर्गों के अंतर्विरोध हैं तो गठजोड़ भी हैं और दोनों आर्थिक उन्नति या ठहराव के लिए जिम्मेदार हैं।

23.8.3 कृषक समाज के रूप में जनजातियां

पीछे हमने जनजाति और कृषकों के बीच अंतर बताया है। लेकिन अस्तित्व के स्तर पर सभी जनजातियां असल में कृषक समाज हैं जो राज्य की वृहत्तर राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के अंदर ही विद्यमान रहते हैं। उनकी उपस्थिति और गतिशीलता को हम इन समाजों के वर्गीय विश्लेषण और उनके ढांचे के भीतर विभिन्न उत्पादन विधियों की अभिव्यक्ति के स्तर पर अच्छी तरह से समझ सकते हैं। जातीय चेतना और प्रथाएं तो संतत चलती हैं, मगर वर्गीय प्रथाएं राजनैतिक स्तर पर मुखर नहीं हो पाई हैं।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) पांच पंक्तियों में जनजातियों के कल्याण के लिए किए गए कुछ महत्वपूर्ण प्रावधानों और उपायों के बारे में बताइए।

....

....

....

....

....

2) सामाजिक ढांचे में आदिवासियों की मौजूदा स्थिति पर पांच पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीयकरण की प्रक्रिया ने वर्गीय और आंचलिक विभाजनों को और गहरा कर दिया है। आदिवासी हालांकि ऐसे अंचलों में रहते हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर हैं। मगर वे ही सबसे अधिक उपेक्षित हैं और उनका जीवन-स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। आज भी उन्हें अपनी संपदा से वंचित किया जा रहा है, वे सस्ता श्रम प्रदान करते हैं, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध विस्थापित किया जा रहा है और उन्हें भुखमरी जैसे अनेक दुर्गम कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यह आदिवासियों के सीमांतीकरण या उन्हें हाशिए में धकेलने की प्रक्रिया है। पर बाहरी लोगों के हित तो स्थानीय बिचौलियों के माध्यम से ही साधे जा सकते हैं। इसीलिए आदिवासी लोगों का जो छोटा सा तबका संपन्न, शिक्षित और शक्ति संपन्न है, बहुराष्ट्रीय कंपनियां और अंतरराष्ट्रीय संस्थान उसी का इस्तेमाल अपने लाभ संचयन के लिए करते हैं। इस प्रक्रिया में यह तबका भी समृद्धि हासिल कर तो लेता है, मगर मुट्ठीभर लोगों की यह समृद्धि स्थायी नहीं होती।

20.5 सारांश

विसंस्कृतीकरण, संस्कृति-संक्रमण, सहयोजन, नकारात्मक पहचान इत्यादि कठिनाइयों से जूझने के बावजूद आदिवासियों ने अपनी निज-पहचान, नातेदारी के मूल्यों, संस्थागत पारस्परिकता, साझे इतिहास और क्षेत्रीय *भोगाधिकार* के बोध को जीवित रखा है। वे अब अपने दार्शनिक और सांस्कृतिक अनूठेपन और क्षमताओं को जानने लगे हैं। उनमें अंतर-जनजातीय एकता और चेतना भी बढ़ रही है, जिससे आंतरिक और जातीय सहयोजन की प्रक्रिया कमजोर होने लगी है। अपने परंपरागत संसाधनों पर नियंत्रण, पारंपरिक संस्थाओं और समतावादी मूल्यों का पुनरुत्थान, ये सभी बाहरी बुराइयों के प्रति उनके लिए सुरक्षा कवच का काम कर सकते हैं।

20.6 शब्दावली

MAADHYAM IAS

कृषक समाज : अपने पारिवारिक श्रम और अपरिष्कृत प्रौद्योगिकी के साथ खेती-बाड़ी करने वाले समाज, जिनमें आंतरिक भेद नगण्य होता है।

नीति : प्रस्तावों और धनराशि की सहायता से ऐसे उपाय जिनका लक्ष्य एक जनसमूह जैसे आदिवासी या स्थिति को बनाया जाता है।

सामाजिक भेद : यह सामाजिक समूह में पृथक पहचान का स्पष्ट पहलू है, जिसमें समांगता या एकरूपता नहीं होती।

सामाजिक आंदोलन : जन साधारण के आर्थिक और सामाजिक समर्थन से एक सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आंदोलन।

आदिवासी : ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित लोग, जिनकी विशिष्ट जैविक और सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं, जो प्रायः वृहत्तर प्रबल समाज के अधीन होते हैं।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एन.सी. बसु, 1987, *फॉरेस्ट्स एंड ट्राइबल्स*, कलकत्ता, मनीषा ग्रंथालय

एन.के. बोस, 1980, *ट्राइबल लाइफ इन इंडिया*, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट

जी.एस. घुरये 1963, *द शेड्यूल्ड ट्राइब्ज*, बंबई पॉपुलर प्रकाशन

बी.डी. शर्मा, 1984, *प्लानिंग फॉर ट्राइबल डेवलपमेंट*, नई दिल्ली, प्राची प्रकाशन

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जनजाति के रूप में जो भी जनजाति सूचीबद्ध है, वही अनुसूचित जनजाति कहलाती है। आदिवासी ऐतिहासिक रूप से विकसित समाज हैं जो जैविक रूप से स्व-स्थायीकारी हैं और जिनकी कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं होती है। प्रबल समाज के प्रभाव में आने के कारण उन्हें अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

2) अठ्ठारहवीं शताब्दी से पहले आदिवासी लोग उदासीन और निष्क्रिय थे और उनकी शासन प्रणाली विकेन्द्रित थी। औपनिवेशक शासन ने कुछ आदिवासियों को संगठित होकर दमन और उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने के लिए बाध्य कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान बड़े विशाल भू-भागों में रहने वाली कई जनजातियों ने औपनिवेशिक शासन और सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी, जैसे संथाल, ओरांव, कोल, कोया, इत्यादि। स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासी आंदोलन तो कम हुए हैं लेकिन उनका सरोकार मुख्यत: वंचना और अपमान रहे हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्रों के विकास के लिए लगभग 20 अनुच्छेद और दो विशेष अनुसूचियां हैं। इन सभी का प्रयास आदिवासियों को सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय और शोषण से बचाना है।

2) पिछले कुछ दशकों में संस्कृतीकरण के जरिए प्रभावी संस्कृति का अनुकरण विभिन्न जनजातियों में देखा गया। मगर इससे उनकी भौतिक दशा में कोई सुधार नहीं आया। हालिया अध्ययन हमें आदिवासियों में कृषक समाज के लक्षण बताते हैं। मगर इस दृष्टिकोण को तर्कसंगत नहीं माना जाता है कि जनजातियां एकल हित समूह हैं। मार्क्सवादी चिंतकों के अनुसार जनजातियों में भूमि स्वामित्व बड़ा विषय है। उनमें एक शिक्षित संपन्न अभिजात वर्ग भी मौजूद है जो वृहत्तर पूंजीवादी क्षेत्र से जुड़ा है। दोनों के शासक वर्ग के अंतर्विरोध हैं तो उनका गठजोड़ भी हैं। यही उनका भविष्य तय करेगा।

MAADHYAM IAS

इकाई 24 हाशिए के लोग और उनकी बदलती स्थिति

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 अनुसूचित जातियां

24.2.1 अनुसूचित जातियों में सामाजिक गतिशीलता

24.2.2 समानता और सामाजिक न्याय

24.3 अनुसूचित जनजातियां

24.3.1 हाशिए में आदिवासी

24.3.2 आदिवासी और जंगल

24.3.3 स्वतंत्र भारत में जनजातीय विकास

24.3.4 जनजातियों की दशा का उदाहरण

24.4 भारत में महिला

24.4.1 हाशिए में महिलाएं

24.4.2 महिलाओं के उत्थान के प्रयास

24.4.3 महिला कल्याण नीतियां

24.4.4 परिस्थितिकीय ह्रास

24.5 बच्चों की स्थिति

24.5.1 बाल मजदूरी

24.6 भारत में वृद्धजनों की स्थिति

24.6.1 वृद्धों की स्थिति के उदाहरण

24.7 सारांश

24.8 शब्दावली

24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- यह समझ पाएंगे कि हाशिए के समुदाय कौन हैं और वे इस स्थिति में कैसे पहुंचे हैं,
- यह जान पाएंगे कि एक समूह के रूप में महिलाएं भी समाज में हाशिए पर हैं,
- समाज के विभिन्न उपेक्षित, हाशिए के समुदायों के बारे में बता सकेंगे जैसे अनुसूचित जाति/जनजाति, महिलाएं और अन्य समूह, और
- हाशिए के समूहों के हितों की रक्षा के लिए मौजूद संवैधानिक प्रावधानों और उनके उत्थान के लिए राज्य द्वारा किए गए उपायों के बारे में बता सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

किसी व्यक्ति को हाशिए का दर्जा आरोपण या अर्जन से मिलता है। कोई व्यक्ति हाशिए का तभी कहलाता है जब अपने समूह के लिए तो वह अनैष्ठिक मगर बाहर के लिए नैष्ठिक या अनुवर्ती बन जाता है। इसके कारण हाशिए का व्यक्ति एक सामाजिक या सांस्कृतिक परिवेश विशेष में दोहरा जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है। कोई जनसमूह सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से समाज के बाहरी छोर पर रह रहा हो तो इसका अर्थ है कि वह उन सब विशेषाधिकारों या लाभों से वंचित है जो समाज की मुख्यधारा में स्थित समूहों को प्राप्त है। इसलिए एक उपेक्षित या हाशिए का समूह कई तरह की वंचनाओं का शिकार बनता है। इन वंचनाओं के अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक पहलू हो सकते हैं। उपेक्षित या हाशिए के समूह को समाज के विभिन्न संसाधन उसकी मुख्य धारा में स्थित अन्य समूहों की तुलना में काफी कम सुलभ हो पाते हैं।

24.2 अनुसूचित जातियां

भारतीय समाज अनेक जातियों या उपजातियों में बंटा है जिनकी संख्या हजारों में है। मगर मोटे तौर पर हम जातियों की तीन श्रेणियां ही जानते हैं: 1) द्विज या सवर्ण, 2) मध्यवर्ती जातियां, जिन्हें साधारणतया हम पिछड़ी जातियों की संज्ञा देते हैं, और 3) छोटी जातियां, जिन्हें पहले अछूत कहा जाता था।

जातियों को एक आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा में श्रेणीबद्ध किया गया है। इस क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विराजमान ऊंची जातियां मुख्य या प्रबल जातियां थीं। यहां पर हम हाशिए की जातियों की उत्पत्ति पर चर्चा नहीं करेंगे। बल्कि यहां हम अपनी चर्चा को इस बात तक सीमित रखेंगे कि भारतीय समाज के इतिहास के किसी दौर में अछूत जातियां ऐसे काम-धंधों में लगी थीं जो समाज की दृष्टि में हेय और पतित कार्य माने जाते थे जैसे मृत पशुओं को ढोना, चमड़ा कमाना, साफ-सफाई का काम करना और श्मशान घाटों में चांडाल का काम करना। ये जातियां शारीरिक श्रम करने वाले कमेरों, मजदूरों, सेवकों, दासों, चौकीदारी इत्यादि का काम करती थीं। इनकी बस्ती गांव से एकदम अलग होती थी। ये जातियां हालांकि सभी तरह के हाथ-के काम किया करती थीं, लेकिन चाहे वह गांव हो या नगर, समाज के लिए वे अपरिहार्य थीं, उसका अनिवार्य अंग थीं। अछूत जातियों को हाशिए की जातियों की संज्ञा उनके पेशों से जुड़े निम्न पारितोषिक और प्रतिष्ठा और फलस्वरूप उनकी वंचना को देखते हुए दी गई है। आम तौर पर आमदनी, स्वास्थ्य, शिक्षा और सांस्कृतिक संसाधनों के मामले में भी वे सबसे नीचे होती हैं। मगर निम्न जातियों को कहीं अछूत माना जाता है, तो कहीं नहीं। जैसे धोबी या तेली को भारत में एक भाग में अछूत समझा जाता है तो दूसरे में नहीं।

अनुसूचित जातियों को उपेक्षित, हाशिए के समूह के रूप में देखा जाना हमारा ध्यान उन पर थोपी गई अनेक किस्म की अशक्तताओं की ओर खींचता है। मगर यहां यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि अछूत जातियों पर अशक्तताओं की जो सूची लागू होती है, वह किसी एक जगह के चलन को नहीं दर्शाती। समूचे भारत में हाशिए की जातियों पर जो-जो अशक्तताएं थोपी गई हैं इससे हमें उनकी पूरी जानकारी ही नहीं मिलती, बल्कि यह एक सूची-पत्र है जो इस या उस जगह में प्रचलित अस्पृश्यता से जुड़ा है। ये अशक्तताएं इस प्रकार हैं:

i) सार्वजनिक सुविधाओं जैसे कुओं, स्कूलों, रास्तों, डाकघर और अदालतों में जाने की मनाही।

ii) मंदिरों और उनसे जुड़ी धर्मशालाओं या पीठों में जाने की मनाही क्योंकि उनकी

MAADHYAM IAS

उपस्थिति से देवी-देवता और उनके सवर्ण उपासक अपवित्र हो जाएंगे। अछूतों या शूद्रों को संन्यासी बनने और वेदों का ज्ञान हासिल करने की अनुमति नहीं थी।

iii) उन्हें किसी भी तरह के प्रतिष्ठित और लाभप्रद रोजगार से बाहर रखा जाता था और वे मलिन या हाथ से किए जाने वाले काम ही कर सकते थे।

iv) आवसीय पार्थक्य अन्य समूहों के मुकाबले उनके मामले में अधिक कठोर था। वे गांव के बाहरी छोर पर ही घर बना सकते थे। उन्हें धोबी और नाई की सेवाएं भी नहीं दी जाती थीं। चाय और खाने-पीने की दुकानों में वे नहीं जा सकती थीं। या फिर उनके लिए बर्तन अलग रखे जाते थे।

v) उनकी जीवन शैली पर भी वर्जनाएं थोपीं गईं थीं। विशेषकर वे अच्छी चीजों का वस्त्रों का उपयोग नहीं कर सकती थीं। कई इलाकों में घुड़सवारी करना, साइकिल चलाना, छाता, जूता-चप्पल का प्रयोग, सोने-चांदी के आभूषण पहनना, दूल्हे को डोली-पालकी में ले जाना भी उनके लिए मना था।

vi) ऊंची जातियों के सामने बोलते, उन्हें संबोधित करते, बैठते और खड़े होते समय उन्हें आदर देना अनिवार्य था।

vii) चलने-फिरने पर पाबंदी। अछूतों को ऊंची जातियों के घरों या व्यक्तियों से एक निश्चित दूरी बनाकर ही रास्तों पर चलने दिया जाता था।

viii) ऊंची जातियों के लिए बेगार करना और उनकी सेवा-चाकरी के काम करना।

24.2.1 अनुसूचित जातियों में सामाजिक गतिशीलता

अनुसूचित जातियां कितनी गतिशील हैं, इसे हम कुछ आनुभवजन्य आंकड़ों की रोशनी में समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए, अनुसूचित जातियों साक्षरता 1961 में 10 प्रतिशत थी जो 1991 में बढ़कर तक 37 प्रतिशत हो गई। स्कूलों में उन लोगों के नामांकन में भी 1981 और 1991 के बीच दोगुना वृद्धि हुई है। सरकारी कार्यालयों और प्रशासन में अनुसूचित जाति के कर्मचारियों की संख्या 1956 में 2,12,000 थी, जो 1992 में 6,00,000 पाई गई। सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में नियुक्त अनुसूचित जाति के लोगों की संख्या 1970 में 40,000 से बढ़कर 1992 में 3,69,000 पाई गई है। ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों में गरीबों की संख्या 1983-84 में 58 प्रतिशत थी, जो 1987-88 में 50 प्रतिशत हो गई।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अनुसूचित जातियों में सामाजिक बदलाव और गतिशीलता का एक और संकेत हमें देहाती और शहरी समाज में जातिगत तनावों और संघर्षों से मिलता है। अनुसूचित जाति के लोगों के खिलाफ होने वाली हिंसा के मूल में उनका पेशा है। भेदभावपूर्ण जातिगत रीति-रिवाजों के अनुसार उन्हें घृणित काम करने होते थे, जैसे उन्हें मरे पशुओं को निबटाना होता था, उनसे दाई और बेगार जैसे काम लिए जाते थे। मगर वे अब इन कामों को छोड़ने लगे हैं। बल्कि वे खुलकर सवर्णों की अवज्ञा करने लगे हैं और सार्वजनिक स्थलों जैसे कुओं, मार्गों, मंदिरों के प्रयोग या प्रवेश को लेकर उन पर जो भी वर्जनाएं थोपी गई थी, वे उन्हें तोड़ रहे हैं। वयस्क मताधिकार मिलने के कारण उनमें राजनीतिक जागरूकता का संचार हुआ है और आत्म-सम्मान की भावना जागी है। अनुसूचित जाति के व्यक्ति से बंधुआ मजदूरी या बेगार नहीं कराया जा सकता। इसी प्रकार अब उन्हें उनके घरों और जमीन से बेदखल नहीं किया जा सकता। इन्हीं सब कारणों से जातिगत तनावों और संघर्षों की स्थिति बन गई है।

दबंग जातियां इन जातियों से अपने परंपरागत शोषणात्मक संबंधों पर आश्रित रही हैं और जब कभी अनुसूचित जातियां मौजूदा संबंधों को चुनौती देती हैं, तो वे भड़ककर हिंसा पर आमादा हो जाती हैं। इन जातियों के लोगों की संपत्ति जबरिया हथियाना, इनकी औरतों के

साथ बलात्कार करना और उन्हें बेचना, उन्हें जलाना और उनकी हत्या करना, ये सभी घटनाएं उनके खिलाफ होने वाली हिंसा के उदाहरण हैं।

जातिगत हिंसा अनुसूचित जातियों की सामाजिक गतिशीलता की अभिव्यक्ति है, जो हमें देहातों में अधिक देखने को मिलती है। मगर शहरों में हमें ऐसा कम देखने को मिलता है, जिसका कारण यह है कि वहां शिक्षा, पंथ-निरपेक्ष रोजगार, आर्थिक और प्रौद्योगिकीय बदलावों के जरिए आधुनिकीकरण और सामाजिक विकास ज्यादा हुआ है।

अनुसूचित जातियों की सीमांत या हाशिए की स्थिति में सुधार की बात महात्मा ज्योतिबा फुले, डा. भीमराव अम्बेडकर जैसे अनेक समाज सुधारक नेताओं के योगदान का उल्लेख किए बिना अधूरी रहेगी। अम्बेडकर की विचारधारा मुख्यत: सामाजिक समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की विचारधारा थी। उनका मानना था कि वर्ण-व्यवस्था में व्याप्त सामाजिक असमानता को दूर करके ही हम ये लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। हाशिए की जातियों को पतित और उन्हें अमानवीय बनाने वाले समाज को आमूल बदल डालने के लिए इन्होंने विरोध आंदोलन छेड़ा। उनका मानना था कि अछूत जातियों को भी सामाजिक समानता का अधिकार मिलना चाहिए। अम्बेडकर के विचार से निम्न जातियों की समानता को सामाजिक-राजनैतिक, धार्मिक और अवसरों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए, जहां यह अत्यधिक असमानता के विरोध में खड़ी होती है। दूसरे शब्दों में अम्बेडकर की दृष्टि में असमानता सापेक्षिक होती है।

24.2.2 समानता और सामाजिक न्याय

इसी प्रकार अम्बेडकर की नजर में न्याय का अर्थ किसी भी व्यक्ति के साथ न्यायोचित ढंग से व्यवहार किया जाना है, जिसका समाज में वह अधिकारी है। उनके अनुसार अनुसूचित जातियों को समानता और न्याय मिले, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ विशेष रणनीतियां अपनाई जानी चाहिए: (i) राज्य का हस्तक्षेप और (2) दलित-शोषित जातियों के विरोध आंदोलन। राज्य के हस्तक्षेप की दिशा में उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने छुआछूत के खिलाफ आंदोलन छेड़ा और दलितों की एक पंथनिरपेक्ष पार्टी बनाई। वे महिलाओं की स्थिति में भी सुधार लाने के पक्षधर थे। दरअसल वे स्त्री और पुरुष दोनों को समान मानते थे। उनकी यह विचारधारा भारतीय संविधान के उन तमाम प्रावधानों में झलकती है जो महिलाओं के समान अधिकारों के लिए किए गए हैं। उन्होंने 1942 में दलित महिलाओं का आह्वान किया था कि अपने जीवन स्तर को सुधारने के लिए संगठित हों। महिलाओं के वैवाहिक, तलाक और संपत्ति के उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने 1951 में संसद के पटल पर हिन्दू संहिता विधेयक रखा। उनके छुआछूत विरोधी आंदोलन और देश में चल रहे दलित आंदोलनों को उनके समर्थन के फलस्वरूप संसद ने अस्पृश्यता (अपराध) निरोधक अधिनियम, 1955 पारित किया। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण, उनकी रक्षा और विकास के लिए सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने में भी अम्बेडकर ने महत्वपूर्ण योगदान किया।

24.3 अनुसूचित जनजातियां

भारत में अनुसूचित जनजातियां या आदिवासी सदियों से समाज की मुख्य धारा से अलग-थलग रही हैं। हालांकि नृवैज्ञानिक अध्ययन बताते हैं कि आदिवासी हाशिए के लोग तो जरूर रहे हैं, मगर वे उपेक्षित या हाशिए में नहीं रहे हैं। आदिवासी लोग तरह-तरह की आर्थिक क्रिया-कलापों में लगे थे, जैसे भोजन संग्रहण, पशु चारण, झूम खेती, हस्तशिल्प इत्यादि। आदिवासियों के हाशिए पर जाने की समस्या तब से आरंभ हुई जब उन्हें अपने जीवन आधार जंगल, चरागाहों और कृषि भूमि से हटाया जाने लगा। आदिवासी लोग

MAADHYAM IAS

परंपरागत रूप से वनों और वन-उत्पादों का दोहन किया करते थे। मगर आदिवासी क्षेत्रों में सरकारी सत्ता के उत्तरोत्तर हस्तक्षेप और वन और वन उत्पादों के दोहन पर वन विभाग के अधिकारियों के बढ़ते नियंत्रण के कारण आदिवासियों के लिए घोर कठिनाइयां उत्पन्न होने लगीं। सबसे बड़ी समस्या व्याववायिक उपयोग के लिए वनों के अंधाधुध कटान से पैदा हुई। सरकार ने जहां-कहीं की वनीकरण के लिए हस्तक्षेप किया, वह इस तरीके से किया कि जिससे वन उत्पाद सिर्फ बाहरी उद्योगों या शहरी इलाकों की जरूरतों की पूर्ति करें। तिस पर सरकार द्वारा प्रायोजित वनीकरण कार्यक्रम में जिन किस्म के वृक्ष लगाए गए उनकी आदिवासियों के लिए कोई उपादेयता नहीं थी।

24.3.1 हाशिए में आदिवासी

आदिवासियों को समाज के हाशिए में धकेलने की प्रक्रिया को बाहरी सूदखोरों ने और तेज किया। उनके कर्ज में डूबने के कारण ही आदिवासियों को जबरिया बंधुआ मजदूरी के लिए विवश होना पड़ा या अपनी जमीन खोनी पड़ी। अनुसूचित जनजातियों को हाशिए में धकेलने की इस प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझने के लिए हमें स्वतंत्रता से पहले के काल पर दृष्टिपात करना होगा। अंग्रेज शासकों ने पृथक्करण की नीति अपनाकर आदिवासियों की भारतीय समाज से अलग-थलग रखने की चेष्ठा की। इस पृथक्करण के फलस्वरूप सूदखोर महाजनों और ठेकेदार जैसे गैर-आदिवासी तबकों को आदिवासियों का शोषण करने का मौका मिला। यह पृथक्करण ब्रिटिश शासकों के लिए आदिवासी क्षेत्रों की विपुल प्राकृतिक संपदा का दोहन करने में बड़ी सहायक सिद्ध हुआ। सो ब्रिटिश शासकों ने इन क्षेत्रों को पृथक रखने के लिए समय-समय पर कानून भी बनाए। वेरियर एल्विन जैसे नृविज्ञानी ने भी पृथक्करण की इस नीति को सही ठहराते हुए कहा कि आदिवासियों और गैर-आदिवासियों में न्यूनतम संपर्क हो। इस नीति ने एक ओर गैर-आदिवासियों द्वारा, तो दूसरी ओर राज्य द्वारा आदिवासियों को शोषण का बढ़ावा दिया। इस पृथक्करण ने आदिवासी समूहों में शेष भारत के प्रति अलगाव की भावना पैदा की।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.3.2 आदिवासी और जंगल

आदिवासी लोगों का अनादिकाल से वनों से घनिष्ठ संबंध रहा है, जो वन उत्पादों के दोहन और वन्य प्राणियों के आखेट पर निर्भर रहे हैं। मगर 19वीं सदी के मध्य से बाहरी लोगों की वनों में घुसपैठ शुरू हो गई और धीरे-धीरे सारी स्थिति ही बदल गई। फिर 1894 में ब्रिटिश सरकार ने वनों के संचालन के लिए नीति लागू की, जिसके तहत आदिवासी लोगों पर वनों और वन उत्पादों के उपभोग पर कुछ प्रतिबंध लगा दिए गए। स्वतंत्रता के बाद 1952 में भारत सरकार ने 1894 की वन नीति की समीक्षा कर, और कठोर प्रतिबंध थोप दिए। इससे आदिवासियों के जीवन और उनकी अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। इस नीति से खासकर वे आदिवासी अधिक प्रभावित हुए जो मूलतः कृषि पर आश्रित तो नहीं थे, मगर रहते वे जंगलों के समीप थे। फिर खेती-बाड़ी के लिए वनभूमि के बढ़ते प्रयोग से भी आदिवासियों की समस्याएं बढ़ीं। इस नीति के चलते कई आदिवासी समुदायों और वन अधिकारियों के बीच तनाव पैदा हुआ।

पिछले कुछ वर्षों में आदिवासियों से जंगल और जमीन दोनों बड़ी तेजी से छिने गए हैं, जिन पर परंपरागत रूप से उन्हीं का स्वामित्व रहा है। जीवन के निर्वाह के लिए जंगल और जमीन के उपयोग का उनका परंपरागत हक भी उनसे छीना जा रहा है। इसलिए निर्धनता, भुखमरी, कर्जदारी और बढ़ती भूमिहीनता उनमें काफी ज्यादा देखने को मिल रही है। यह समस्या पूर्वोत्तर में कम मगर मध्य भारत के आदिवासियों में अधिक है। हालात ऐसे बन गए हैं कि आदिवासी लोग या तो उसी जमीन के पट्टेदार किसान हो गए हैं या उसी जमीन में खेतिहार मजदूर बन काम कर रहे हैं जिस जमीन के कभी वे स्वामी थे। देश के कुछ खास अंचलों में आदिवासियों के बीच सामाजिक और राजनैतिक विद्रोह की

जो घटनाएं हो रही हैं उनके मूल में भूमि से इनका बेदखल होना और उसके फलस्वरूप होने वाली वंचना है।

आदिवासियों में खासकर उन समुदायों को वनों के विनाश के लिए दोषी ठहराया जाता है जो वृक्षों को काटकर झूम खेती करते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वन क्षेत्र का घटता दायरा भारत में आम बात हो गई है। वनों के विनाश को आदिवासियों के मत्थे मढ़ना सरासर गलत होगा। बल्कि वास्तविकता यह है कि आदिवासियों के नियंत्रण में वन आज से पहले कहीं ज्यादा सुरक्षित थे। जब से गैर-आदिवासियों ने वनों का व्यावसायिक दोहन शुरू किया तभी से आदिवासी लोग अपने जीवन आधार से वंचित होते गए हैं।

अनुसूचित जनजातियों को हाशिए की स्थिति में लाकर खड़ा करने के लिए एक और समस्या जिम्मेदार है। गुजारा अर्थव्यवस्था होने के कारण आदिवासी लोगों को जब भी कोई आर्थिक संकट आ पड़ता है तो उन्हें उसके लिए गैर-आदिवासी महाजनों पर आश्रित रहना पड़ता है। ऐसे में जब कोई व्यक्ति सूदखोर महाजन या जमींदार से कर्ज लेता है तो उसे कर्ज की शर्तों के अनुसार साहूकार के यहां बंधुआ मजदूरी या बेगार करना पड़ता है। कोई आदिवासी अगर समय पर कर्ज नहीं चुका पाता है तो वह कर्ज उसके बेटे या फिर आगे की पीढ़ियों को चुकाना पड़ता है।

पीपुल ऑव इंडिया (भारत के लोग) नामक परियोजना के अंतर्गत संकलित आंकड़ों के अनुसार वन और वन्य प्राणियों के विनाश के साथ-साथ आखेट और भोजन संग्रहण करने वाले आदिवासियों की संख्या लगभग 44 प्रतिशत कम हो गई है। जो लोग पक्षियों और पशुओं को फंसाने वाले बहेलियों का काम करते थे उनकी संख्या में 47 प्रतिशत कमी आ गई है। इसी प्रकार पशुचारण का काम करने वाले गोपालों, गडरियों की संख्या 32 प्रतिशत, तो झूम खेती करने वाले आदिवासियों की संख्या 33 प्रतिशत कम हो गई है। शोधकार्यों से पता चलता है कि आदिवासी लोग अपने पारंपरिक पेशों को छोड़कर बागवानी, पशुपालन इत्यादि अपना रहे हैं। इसके अलावा वे कृषि और उद्योग में दिहाड़ी मजदूरी कर रहे हैं। कपड़े की कताई जैसे उनके कई पारंपरिक हस्तशिल्प सिर्फ पूर्वोत्तर भारत को छोड़कर सभी जगह लुप्त हो गए हैं। आदिवासी लोग हालांकि आज भी मूलत: खेती-बाड़ी करने वाले समुदाय हैं, लेकिन इनमें भूमिहीन और खेतिहर मजदूरों की तादाद बढ़ती जा रही है। आदिवासी और गैर-आदिवासी अंचलों की तुलना अगर संस्थागत और ढांचागत सुविधाओं की कसौटी पर करें तो आदिवासी अंचलों में हमें विकास नजर नहीं आता। सापेक्ष दृष्टि से भी देखें तो गैर-आदिवासी क्षेत्रों की तुलना में आदिवासी क्षेत्रों में प्राइमरी स्कूल, प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र और पेयजल के साधन काफी कम सुलभ हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.3.3 भारत में जनजातीय विकास

सन् 1947 में स्वतंत्रतता मिलने पर नए संविधान की रचना हुई जिसके बाद पार्थक्य की सरकारी नीति को बदल दिया गया। यह स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान आदिवासियों से किए गए वादे के अनुरूप था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने आदिवासियों को अलग रखने की ब्रिटिश शासकों की नीति को आड़े हाथों लिया था। स्वतंत्र भारत में अपनाई गई नई जनजातीय नीति का मुख्य लक्ष्य आदिवासियों को भारतीय समाज की मुख्यधारा में शामिल करना था। अनुसूचित जनजातियों के लिए भारतीय संविधान में किए गए प्रावधानों का उद्देश्य कानूनी व प्रशासनिक उपायों के जरिए आदिवासियों के हितों की रक्षा करना और उनके जीवन स्तर को सुधारने के लिए उनकी आर्थिक स्थिति को उन्नत बनाना था।

भारत सरकार ने जनजातीय विकास की दिशा में तीन कार्यों की प्राथमिकता को जाना:
(क) आदिवासी और गैर-आदिवासी समुदायों के बीच संवादहीनता को कम करना ताकि राष्ट्रीय एकता को मजबूती मिले, (ख) आदिवासियों के जीवन-आधार तंत्र की रक्षा करना

जिससे वे सामूहिक रूप से विकास और राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना कर सकें और (ग) आदिवासियों की तात्कालिक जरूरतों को पूरा करना ताकि विकास की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान में तीन रणनीतियां अपनाई गई: (i) पांचवीं अनुसूची ने आदिवासी अंचलों के प्रशासन के लिए आवश्यक उपायों की रूपरेखा दी, (ii) आदिवासी बहुल प्रदेशों के प्रशासन के लिए छठी अनुसूची रखी गई। इस अनुसूची में स्वायत्त जिला परिषदों की स्थापना का प्रावधान रखा गया जो भूमि और वनों के प्रबंध, झूम खेती, मुखियों की नियुक्ति संपत्ति के उत्तराधिकार, विवाह और तलाक, सामाजिक रीति रिवाज और गांव के प्रशासन जुड़े किसी भी विषय पर नियम-कानून बना सकती है। (iii) संविधान का अनुच्छेद 275 अनुसूचित जनजातियों के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्र के विकास के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों का प्रबंध करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 46 में आदिवासी लोगों के शैक्षिक और आर्थिक विकास और उन्हें सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय और शोषण से बचाने का प्रावधान किया गया है।

आर्थिक विकास ने जो धारा पकड़ी वह हमें आदिवासियों की उपेक्षा के साथ-साथ उनकी सामाजिक गतिशीलता की एक मिली-जुली तस्वीर दिखाती है। असल में औद्योगिक खनन क्षेत्र में जो-जो विकास परियोजनाएं चलाई गई हैं, उन्होंने अभी तक अनुसूचित जनजातियों पर प्रतिकूल प्रभाव ही डाला है। इन बड़ी विकास परियोजनाओं के चलते आदिवासियों को अपनी जमीन से जबरिया बेदखल होना पड़ा है। विकास का जो बाहरी नजरिया है वह आदिवासियों की भूमि के अधिग्रहण को राष्ट्रीय हित के लिए जरूरी मानता है। इसलिए आदिवासियों के विस्थापन की कीमत को तुच्छ माना जाता है, जिसके लिए उन्हें मुआवजा देना ही पर्याप्त समझ लिया जाता हैं।

आदिवासियों को वंचना, उपेक्षा और हाशिए की स्थिति से उबारने में सहायक अगर कोई उल्लेखनीय विकास हुआ है, तो सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में। आदिवासियों में साक्षरता का स्तर 1971-81 के दशक में 32 प्रतिशत तक बढ़ता देखा गया। प्राथमिक पाठशालाओं में आदिवासी बच्चों का नामांकन भी बढ़ा है हालांकि उनमें स्कूल छोड़ने की दर भी उतनी ही ज्यादा देखी गई है। शिक्षा के फलस्वरूप उनमें एक ऐसा छोटा सा समूह उभरा है, जो सरकार की प्रशासनिक प्रणाली का हिस्सा बन गया हैं। शिक्षा के माध्यम से आदिवासी लोग बाहरी दुनिया के संपर्क में आए है, जो अपनी मांगों को प्रकट करने और जनमत को अपने पक्ष में करने में उनके लिए सहायक साबित हो रहा है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

24.3.4 जनजातियों की दशा का एक उदाहरण

झारखंड में उपेक्षित और हाशिए के आदिवासी लोगों का वृतांत कुछ इस प्रकार है:

यह एक दूर-दराज का एक आदिवासी बहुल गांव है। इसे बाहरी दुनिया से जोड़ने के लिए न तो कोई रेलवे लाइन है और न ही कोई मोटर सड़क। बस से उतरने के बाद आपको उस गांव तक पहुंचने के लिए मीलों पैदल चलना पड़ता है।

इसी प्रकार सभ्य दुनिया तक पहुंचने के लिए उन्हें भी मीलों पैदल चलना पड़ता है जहां पहुंचकर वे अपने वन उत्पादों को बेचते हैं। इन आदिवासियों को हाशिए की स्थिति से उबारने के लिए राज्य सरकार ने गांव को सड़क से जोड़ने का फैसला किया। पर जैसे ही सरकारी सर्वेक्षण दल गांव पहुंचा तो गांव वालों ने उन्हें वहां से भगा दिया। कुछ समय बाद सर्वेक्षण दल पुलिस को लेकर गांव दुबारा पहुंचा। इस बार गांव वालों का विरोध पहले से कम उग्र था, लेकिन सर्वेक्षण दल को तब भी उलटे पैर लौटना पड़ा। इस दल में एक संवेदनशील और जिज्ञासु इंजीनियर भी था। उसने आदिवासियों के गुस्से और विरोध का कारण जानने का निश्चय किया कि आखिर वे संपर्क मार्ग के निर्माण के खिलाफ क्यों हैं।

वह इंजीनियर आदिवासी गांववालों से बातचीत करने में सफल रहा है। इससे उस बड़ी रोचक जानकारी मिली।

असल में आदिवासी लोग गांव में पक्की सड़क इस डर से नहीं चाहते थे कि इससे बाहर के व्यापारी और ठेकेदार उन्हें वन उत्पादों से वंचित कर देंगे। व्यापारी और ठेकेदार की उपस्थिति से हिंसा की घटना हमेशा बढ़ जाती है। भला गांव के लोग शहरी लोगों के हाथों अपना शोषण किस तरह सहन कर सकते हैं। गांव वालों का कहना था कि सड़क के आने से उन पर दीकू (बाहरी) लोगों का राज आ जाएगा। इस उदाहरण से हमें सड़क और बाहरी लोगों के शोषणात्मक राज के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध का पता चलता है जिसे साधारण आदिवासी इतनी सहजता से देखता है कि विकास के नाम पर की जाने वाली कोई भी पहल उसे खतरे का संकेत देती है।

बोध प्रश्न 1

1) अनुसूचित जातियों में सामाजिक गतिशीलता पर पांच पंक्तियों में एक संक्षित टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) स्वतंत्र भारत में आदिवासियों के विकास पर पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.4 भारत में महिलाएं

महिलाओं को भी हाशिए के समूह के रूप में देखा जा सकता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि भारत में महिलाओं की स्थिति को हमेशा भेदभाव की नजर से नहीं देखा गया है। अक्सर ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष दोनों को समाज में समान स्वतंत्रता, भागीदारी हासिल थी। वैदिककालीन वृतांत हमें बताते हैं कि स्त्री-पुरुष किस तरह गुरुकुल में साथ-साथ शिक्षा अर्जित करते थे। कई महिलाओं को तो वेदों का विशारद ज्ञान हासिल था। अपना जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता भी महिलाओं को प्राप्त थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री-पुरुष बराबर के भागीदार थे। महिलाएं अपने घर-परिवार की चारदीवारी के दायरे तक सीमित नहीं थी। बल्कि वे सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में भी गमन कर सकती थी। विवाहित युगल को दंपति कहा जाता था जिसका अर्थ यही होता है कि पति-पत्नी घर के संयुक्त स्वामी होते हैं। इस सब का संबंध प्राचीन भारत से है। आज की स्थिति से उसका कोई संबंध नहीं है, जिसमें महिलाएं सामाजिक रूप से अलग-थलग पड़ी हैं, जिन्हें सामाजिक लिंग समानता प्राप्त नहीं है। आज महिलाएं हाशिए में है क्योंकि उन्हें पुरुषों के समान सत्ताधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं। सामाजिक क्रम-परंपरा में

उन्हें निम्न श्रेणी में रखा जाता है। घर तथा बाहर निर्णय प्रक्रिया में उसकी भागीदारी बहुत सीमित है। स्त्री की छवि अबला, भीरू और भावुक प्राणियों के रूप में प्रस्तुत की जाती है। इसके बिल्कुल उलट, पुरुषों को बलिष्ठ, साहसी और विवेकशील समझा जाता है। महिलाओं की ऐसी छवि उनके दैनिक व्यवहार को प्रभावित तो करती ही है बल्कि समाज के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में महिलाओं की असहभागिता को औचित्य भी प्रदान करती है। जीवन के विशेषाधिकारों और लाभों को अगर स्त्री-पुरुष में बांटा जाए तो एक वृत्त के रूप में हमारे सामने समाज की जो तस्वीर उभरती है, उसमें महिलाएं उसके हाशिए पर मिलती हैं।

24.4.1 हाशिए पर महिलाएं

मादा भ्रूण-हत्या और शिशु-हत्या की उच्च दरं से स्पष्ट हो जाता है कि महिलाएं भी उतनी ही उपेक्षित और वंचित हैं जितने कि हाशिए के अन्य समुदाय। जनांकिकीय आंकड़ों से हमें पता चलता है कि आयु-विशेष मृत्युदर में 35 वर्ष तक हर आयु वर्ग में मरने वाली स्त्रियों की संख्या पुरुषों से हमेशा अधिक रहती है। लड़कियां कुपोषण की शिकार भी लड़कों से अधिक होती हैं। यह सिलसिला उनके वयस्क होने और फिर आगे की पीढ़ी तक चलता है। मातृ मृत्युदर भारत में बहुत ज्यादा है। भारतीय परिवारों में लड़की को पौष्टिक आहार देने का चलन नहीं हैं और वह जब कभी बीमार पड़ती है तो उसकी चिकित्सा और देखभाल सही ढंग से नहीं की जाती है। किशोरावस्था में उसकी विशेष पोषणात्मक जरूरत पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है। कुपोषण की यह दशा उसे गर्भावस्था और शिशु जनन के दौरान जटिलताओं और मृत्यु की ओर धकेलता है। लड़कों का वृद्धि-विकास तो पूरा होता है मगर लड़कियां उनकी तरह विकसित नहीं हो पाती हैं। उनका विवाह कच्ची उम्र में कर दिया जाता है जिससे वे अपने पति के घर में भेदभाव पूर्ण बर्ताव के चक्र में फिर से फंस जाती है और इस तरह पितृसत्ता की संतत पराधीन बनी रहती हैं।

MAADHYAM IAS

महिलाएँ एक उपेक्षित समूह है। फिर भी इनके स्तर में बदलाव हो रहा है।
साभार: किरणमई बुशी

24.4.2 महिलाओं के उत्थान के प्रयास

स्वतंत्रता के बाद भारत में दो महत्वपूर्ण नीवें पड़ी, जिनके चलते ऐसे परिवर्तन आए हैं, जो परिवार के भीतर और बाहर महिलाओं को हाशिए की स्थिति से उबारने में बड़े सहायक रहे हैं। ये इस प्रकार हैं:

i) औपचारिक समानता की संवैधानिक गारंटी

ii) राज्य द्वारा प्रोयोजित सामाजिक कल्याण कार्यक्रम

महिलाओं के उत्थान में ये उपाय कितने सार्थक और प्रासंगिक हैं यह जानने के लिए आइए इन पर संक्षेप में कुछ चर्चा की जाए।

i) संविधान सामाजिक-लिंग समानता की गारंटी देता है। संविधान का अनुच्छेद 14 कानून की दृष्टि में सभी को समानता प्रदान करता है, तो अनुच्छेद 15 किसी भी तरह के भेदभाव को वर्जित करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 16(I) देश के सभी नागरिकों को रोजगार या राज्य के पदों में नियुक्ति के मामले में समान अवसर की गारंटी देता है। संविधान में 14 वर्ष की उम्र तक सभी बच्चों की मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है। इसके अलावा पुरुष और महिला दोनों के लिए आजीविका के पर्याप्त साधन समान रूप से मुहैय्या कराने, समान कार्य के लिए समान वेतन और मातृत्व राहत-लाभ के प्रावधान भी किए गए हैं। वयस्क मताधिकार से महिलाएं भी मतदाता बन गई हैं। हिन्दू कानून के अंतर्गत महिलाओं को तलाक और पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार उत्तराधिकार अधिनियम महिलाओं को अपने पिता की संपत्ति में बराबर का हिस्सा देता है।

ii) राज्य द्वारा प्रायोजित समाज कल्याण: भारत सरकार ने 1953 में महिला कल्याण और वंचित समूहों के विकास के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड ने अनेक महिला संगठनों के विकास को बढ़ावा दिया, जिससे सामाजिक और राजनैतिक महिला कार्यकर्ताओं का उदय हुआ। यहां यह बताना जरूरी है कि 1960 के दशक और 1970 दशक आरंभ में अमेरिका और यूरोप में हुए नारी अधिकारवादी या नारी मुक्ति आंदोलन ने पूरे विश्व में नारी की हाशिए की स्थिति और उसके प्रति बरते जा रहे भेदभाव के बारे में जागरूकता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन आंदोलनों के योगदान का महत्व इसलिए भी है कि इन्होंने महिलाओं के निकृष्ट जीवन से जुड़े बुनियादी सवालों और मांगों को उठाया। इन आंदोलनों ने नारी की अनुभूतियों को एक नई दृश्यमानता प्रदान की और उनकी विशिष्ट समस्याओं और चिंताओं को उजागर किया। महिलाओं की स्थिति को सुधारने की दिशा में हुए विश्व प्रयासों को संयुक्त राष्ट्र संघ से भी जबर्दस्त समर्थन मिला। राष्ट्र संघ ने 1975 वर्ष को महिला वर्ष और 1975-85 को महिला दशक घोषित किया। इस अवधि के दौरान महिलाओं से जुड़े मुद्दों को अभूतपूर्व तरीके से अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर उठाया गया। राष्ट्र संघ ने घोषणा की कि "महिलाओं के प्रति भेदभाव समान अधिकार और मानव गरिमा के प्रति आदर के सिद्धांत का उल्लंघन करता है।" इस भेदभाव को देशों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में महिलाओं की पुरुषों की बराबरी में भागीदारी में अवरोधक बताया गया। यह कहा गया कि भेदभाव समाज और परिवार के विकास को अवरुद्ध करता है और महिलाओं की क्षमताओं को पूरी तरह से विकसित नहीं होने देता। यह स्पष्ट रूप से समझा गया कि किसी भी देश के सर्वांगीण विकास के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी पुरुषों के बराबर होना बेहद जरूरी है।

24.4.3 महिला कल्याण नीतियां

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की दशा को लेकर बढ़ती चिंता और जागरूकता के मद्देनजर भारत सरकार ने भी महिला कल्याण के लिए प्रगतिशील नीतियां अपनाई और विषयक अध्ययनों को प्रोत्साहन दिया। इस दिशा में उसका सबसे बड़ा उल्लेखनीय कदम 1971 में महिलाओं की स्थिति पर समिति का गठन था। इस समिति ने समानता के सिद्धांत के प्रति सामाजिक रुझानों और प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करते हुए महिलाओं के उत्थान के

MAADHYAM IAS

लिए उपाय सुझाएं। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1974 में प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था: *समानता की ओर*। रिपोर्ट ने महिलाओं की पराधीनता के कारणों पर प्रकाश डाला और जाति, वर्ग और सामाजिक-लिंग सोचजन्य असमानता के प्रकाश में उनके शोषण की विशद व्याख्या दी। इसके बाद स्वातंत्र्योत्तर भारत में पहली बार महिलाओं की स्थिति और जीवन दशा पर अध्ययनों की बाढ़ सी आ गई। इन अध्ययनों में विभिन्न विद्वानों ने बताया कि महिलाओं की अवनति के कुछ पहलू विकास की प्रक्रिया की परिणति हैं। महिलाओं पर थोपी गई अशक्तताओं और असमानताओं को संपूर्ण सामाजिक संदर्भ में देखा गया, जिसमें शोषणात्मक व्यवस्था के अंतर्गत अन्य तबके भी उत्पीड़न का शिकार हैं। इन अध्ययनों ने लोगों की सोच को बदला, जिससे महिलाओं के स्थान को विकास की प्रक्रिया के संदर्भ में देखा जाने लगा। कल्याण नीतियों के लक्ष्य के रूप में देखे जाने के बजाए महिलाओं को विकास का *अत्यंत महत्वपूर्ण अंग* माना जा रहा है। महिलाओं की इस पुनर्व्याख्या को छठी पंच वर्षीय योजना (1980-85) में अभिव्यक्ति मिली। भारत के इतिहास में पहली बार इसमें महिला और विकास पर एक अलग अध्याय रखा गया था। इस परिवर्तन ने एकता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि विकास की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी के बिना भारत का भविष्य निर्माण अधूरा रहेगा। इससे यह बात भी पहली बार स्वीकार कर ली गई कि सामाजिक और आर्थिक बदलाव महिलाओं को सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं। महिलाओं को समाज के हाशिए से मुख्यधारा में लाने के लिए उनके विकास की दिशा में छठी पंच वर्षीय योजना ने तीन रणनीतियां अनिवार्य बताई: i) आर्थिक स्वतंत्रता, ii) शैक्षिक विकास और iii) स्वास्थ्य सुरक्षा और परिवार नियोजन।

24.4.4 पारिस्थितिकीय ह्रास

ग्रामीण समाज पर हुए अनेक अध्ययनों से हमें पता चलता है कि लड़की अक्सर घर के कामों में हाथ बंटाती हैं। गरीबी, पलायन और पर्यावरण के विनाश के चलते स्त्री पर जब काम का बोझ बढ़ जाता हैं तो इससे सबसे पहले मां और उसकी बेटी ही प्रभावित होती है। जीवनयापन के बुनियादी संसाधनों के ह्रास का सीधा असर लड़की की शिक्षा पर पड़ता है। परिवार में गरीबी बढ़ती है तो लड़की को ही सबसे पहले स्कूल से निकाला जाता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम हिमालय के अंचल में बसे स्यूता नामक गांव का उदाहरण आपको दे रहे हैं। स्यूता उत्तरांचल राज्य के चमोली जिले में अलकनंदा के किनारे 1600 मीटर की ऊंचाई पर बसा गांव है। इस गांव की कहानी हमें बताती है कि जीवनयापन के बुनियादी संसाधनों के क्षरण से मां पर काम का बोक्ष किस क़दर बढ़ जाता है। इसके चलते बेटी को स्कूल छोड़ना पड़ता है, भले ही स्कूल जाना उसके लिए कितना ही सुगम क्यों न हो।

काम का बोझ मुख्यत: महिलाओं पर ही पड़ता है जो इस गांव की मुख्य श्रम शक्ति हैं। पुरुषों की तुलना में महिलाओं को काफी कम उम्र से ही काम करना पड़ता है। पंद्रह वर्ष की होने तक वे अपने परिवार की आर्थिक गतिविधि में सक्रिय भूमिका निभाने लगती हैं। एक ओर सभी पुरुष काम नहीं करते मगर दूसरी ओर सभी महिलाएँ खेती-बाड़ी का काम करती हैं। महिलाएँ अपने घर में हर दिन कई घंटे काम करती हैं, पर गांव कृषि-व्यवस्था में पुरुष उनका बोझ बराबर नहीं बांटते। ठोस जमीन को खोदना, उसे हल जोतने के लायक बनाना, बीज बोना और फसल काटना, ये सारे काम महिलाएँ ही करती हैं। धान से भूसी अलग करने के लिए उसकी मढ़ाई करना, गोशाला से गोबर की खाद निकालकर दूर-दूर खेतों में डालना, घर के सारे काम-काज करना और पशुओं को चारा-पानी देना, उनकी देखभाल करना, ये सारे काम भी महिलाओं को ही करने होते हैं। यही नहीं जंगल से लकड़ी और घास के भारी गट्ठर लाने का काम भी वही करती है। काम के इस भारी बोझ और कठोर जीवन के कारण उनका स्वास्थ्य गिरा रहता है और अक्सर वे असमय मर जाती हैं। स्यूता में स्त्री और पुरुष की जीवन अवधि में भारी फर्क नजर आ जाता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

है। जैसे, अध्ययन के दौरान गांव के सभी पुरुषों में नौ लोगों की उम्र 55 वर्ष से अधिक पाई गई, मगर औरतों में सिर्फ तीन ही इस उम्र तक पहुंच पाई थीं। औरत चाहे जवान हो या बूढ़ी या गर्भवती हो, उसे किसी भी दिन आराम नहीं मिलता।

24.5 बच्चों की स्थिति

बच्चों की हाशिए की स्थिति को जानने से पहले हमें भारत के कामगार बच्चों या बालश्रमिकों की श्रेणी को देखना होगा ताकि हम गरीबी, जबरन रोजगार और बच्चे की आयु के बीच होने वाली पारस्परिकक्रिया को समझ सकें। वयस्क श्रमिकों के रूप में कितने बच्चे काम कर रहे हैं, इसका पता लगाने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि अनेक बच्चे खेतों, घरों या कार्यस्थलों में अपने मां-बाप के साथ बेगार काम करते हैं। अनेक बच्चे हमारी अर्थ व्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं जैसे, कालीन उद्योग, माचिस, पटाखा, बीड़ी, पीतल उद्योग, हीरा, कांच, होजरी, हथकरघा उद्योग, कशीदाकारी, चूड़ी और अन्य पारंपरिक हस्तशिल्प। बच्चे यूं तो अक्सर मजदूरी के लिए काम करते हैं मगर कभी-कभी वे अपने माता-पिता के सहायक के रूप में भी काम करते हैं। जैसे चाय बागानों में छोटे-छोटे बच्चे पत्तियां तोड़ने में अपनी मां का हाथ बंटाते हैं और 12 या 13 वर्ष का होने पर वे स्वतंत्र रूप से मजदूरी करने लगते हैं। ऐसे बच्चे भी हैं जो पशुओं को चराने के लिए जाते हैं और घर के लिए पीने का पानी और लकड़ी लाते हैं, खाना बनाते हैं, मगर इन बच्चों को हम श्रमिकों या कामगारों की श्रेणी में नहीं रखते। इन बच्चों की संख्या कितनी है, कोई नहीं जानता। बच्चों को कामगार या नौकरी पेशा करने वालों के श्रेणी में तभी रखा जाता है, जब वे अपने घर से बाहर पारिश्रमिक के लिए काम कर रहे हों।

पर जो बच्चे पारिश्रमिक के लिए काम कर रहे होते हैं, उन्हें भी मतगणना में शामिल नहीं किया जाता। ऐसे अनेक कार्यस्थल हैं जो मतगणना में प्रदान की जाने वाली सूचना में विरले ही दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए रेस्तरां, टी-स्टाल या ढाबों में काम करने वाले बच्चों और फेरी लगाने, अखबार बेचने, कबाड़ी का काम करने, जूता-पॉलिश का काम करने वाले बच्चों या भवन निर्माण, ईंट के भट्टों, पत्थर के खदानों में प्रशिक्षुओं के रूप में काम करने वाले बच्चों को रोजगार में लगा नहीं बताया जाता है। इस तरह की औपचारिक अदृश्यता आवारा बच्चों, विशेषकर भिक्षावृत्ति और वेश्यावृत्ति के दलदल में फंसे बच्चों के सिलसिले में भी देखने को मिलती है।

MAADHYAM IAS

बड़ों के काम-धंधे या उनमें हाथ बंटाने वाले बच्चे अमूमन असाक्षर होते हैं। उनमें ज्यादातर बच्चे तो कभी स्कूल गए ही नहीं होते या फिर चौथी कक्षा पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ चुके होते हैं। शिक्षा अनिवार्य नहीं है और उसे अधिकार भी नहीं माना गया है, इसलिए बच्चे कच्ची उम्र से ही तरह-तरह के काम-धंधों में लग जाते हैं। पर खेती-बाड़ी को छोड़कर अन्य तरह काम करने वाले बच्चों को कौशल सीखने में लगे प्रशिक्षुओं का दर्जा नहीं दिया जा सकता। शहरों में बच्चे प्रायः पारिश्रमिक के लिए काम करते हैं। मगर किसी निपुण कारीगर के प्रशिक्षु के रूप में बच्चे की जो छवि हम सोचते हैं उसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है। बड़े-बूढ़ों के काम-धंधे करने के लिए बाध्य ये बच्चे जो भी कौशल अर्जित करते हैं वे ऐसे कौशल नहीं, जिन्हें वे अपने वयस्क जीवन में अर्जित नहीं कर सकते। अक्सर कहा जाता है कि कामगार बच्चे परिवार की आमदनी में योगदान करते हैं। मगर यह किसी को स्पष्ट मालूम नहीं है कि बच्चों के इस आर्थिक सहयोग के बिना ऐसे परिवार को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

24.5.1 बाल मजदूरी के उदाहरण

i) मदुरै के समीप स्थित शिवकाशी शायद भारत में बाल मजदूरी का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र

है, जहां बाल मजदूरों की संख्या विश्व में सबसे ज्यादा है। यहां बच्चे माचिस, पटाखा और छापाखानों जैसे उद्योगों में काम कर रहे हैं। लगभग 20 किलोमीटर की परिधि में बसे आस-पास के गांवों से बच्चों को बसों में भरकर शिवकाशी लाया जाता है। उन्हें सुबह के छः या सात बजे बसों में चढ़ाया जाता है, जिसके बाद वे शाम के छः या नौ बजे अपने घर लौटते हैं। एक बस में 150 से 200 बच्चों को ठूंस-ठूंसकर ले जाया जाता है। यूं तो बच्चे 12 घंटे काम करते हैं पर वे पूरे पंद्रह घंटे घर से बाहर रहते हैं। पंद्रह वर्ष से कम उम्र के 45,000 बच्चे शिवकाशी या आस-पास के कारखानों या अपने गांव के कुटीर उद्योगों में काम कर रहे हैं। इनमें एक तिहाई मजदूर लड़कियां हैं। हर गांव में एक एजेंट नियुक्त होता है, जो बच्चों की भर्ती करता है और बस पहुंचने से पहले रोज उन्हें जगाता है। इस दलाल को 150 रुपये की तनख्वाह मिलती है, हर बाल-मजदूर के भर्ती होने पर उसके मां-बाप को 200 रुपये पेशगी दिये जाते हैं, जिसे बाद में बच्चे की मजदूरी से काट लिया जाता है।

ii) उत्तर-प्रदेश के खुर्जा शहर की कुम्हारियों में काम करने वाले बच्चे ज्यादातर स्थानीय मजदूरों के बच्चे हैं। ज्यादातर बच्चे असाक्षर हैं, हालांकि कुछ चौथी कक्षा तक पढ़े हैं। आठ घंटे के रोजाना के श्रम के बदले में बच्चों को 150 रुपये महीना मिलता है। बड़े मजदूरों में अकुशल कारीगरों को 200 रुपये और कुशल कारीगरों को 400 रुपये मिलते हैं।

24.6 भारत में वृद्धजनों की स्थिति

बूढ़ों को भी हम हाशिए के लोगों में गिन सकते हैं क्योंकि वे भी उपेक्षित और वंचित हैं। बूढ़े लोग विभिन्न वर्गों और जातियों से संबंध रखते हैं और गांव और शहर दोनों जगह रहते हैं। इसलिए उनकी हाशिए की स्थिति को समान रूप से लेना उचित नहीं होगा। जनसंख्या वृद्धि और समाज व संबंधों के आधुनिकीकरण के कारण वृद्धजनों की स्थिति पर बड़ा जबर्दस्त दबाव पड़ा है। पारंपरिक परिवार में वृद्धजनों को विवेक और ज्ञान का भंडार माना जाता था। उनसे सभी महत्वपूर्ण मसलों पर सलाह ली जाती थी। पारंपरिक समाज में जो भूमिकाएं वृद्धजन निभाते थे वे अब परिवार से बाहर की संस्थाओं को चली गई हैं। इससे वृद्धजनों की उपयोगिता खत्म हो गई हैं। जहां कहीं भी बूढ़े लोगों को सहायता और सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है, वह उन्हें अपने परिवार के कमाऊ सदस्यों से नहीं मिल पाती है।

भारत जैसे देश में जहां बहुसंख्य जनता गरीबी के नीचे जी रही है, असंख्य व्यक्तियों के पास वृद्धावस्था में जीने के लिए कोई खास आमदनी नहीं होती। अनेक बूढ़ी महिलाएं सिर्फ गृहिणी ही रही होती हैं। इसी तरह कई बूढ़े लोग खेतिहर मजदूर या कम मजदूरी वाले काम-धंधों में लगे होते हैं। इनके अलावा ऐसे वृद्धजन भी हैं जो कभी संगठित क्षेत्र में कार्यरत थे और अब सेवानिवृत्त हो चुके हैं। उन्हें अब आधी से भी कम आमदनी में गुजारा करना पड़ता है। कुछ अध्ययनों से पता चला है कि सेवा निवृत्ति के पांच वर्षों के भीतर ही अनेक लोग सारी जमा-पूंजी उड़ा चुके होते हैं और फिर अपने बच्चों या रिश्तेदारों पर आश्रित हो जाते हैं। पेंशन भोगी वृद्ध लोगों को हमेशा आर्थिक संकट झेलना पड़ता है क्योंकि उनकी आमदनी बढ़ती मंहगाई के कारण सिकुड़ती जाती है। यहाँ दशा तो उन वृद्ध लोगों की है, जो घर-परिवार वाले हैं। जरा उन वृद्ध लोगों की दशा की कल्पना कीजिए जो गरीब हैं और जिन्हें परिवार का कोई सहारा नहीं है।

वृद्ध लोग हाशिए के समूह का एक उदाहरण इसलिए भी हैं कि वृद्धावस्था अपने साथ सेहत और शारीरिक शक्ति में क्षरण लेकर आती है। अध्ययनों से पता चलता है कि कुछ रोग वृद्धों में आम तौर पर पाए जाते हैं। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, बूढ़े लोगों को अपनी दिनचर्या के कामों को अंजाम देना उतना ही कठिन होता जाता हैं

मगर वृद्धों की समस्याओं को दूर करना कठिन नहीं है। इसके लिए एक ऐसी कार्य योजना बनाई जा सकती है जिससे परिवार अपने वृद्धजनों की ओर ध्यान दे सकें। इस योजना में वृद्धजनों को ऐसे सामाजिक क्रिया-कलापों में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है जिसे कमाऊ लोग अपनी व्यस्तता के कारण नहीं कर पाते हैं। इसके अलावा उन्हें अपने स्वास्थ्य के प्रति पूर्णत: जागरूक बनाया जा सकता है ताकि वे अपने स्वास्थ्य के अनुसार आवश्यक निरोधात्मक उपाय और अपनी जीवन शैली को उसी के अनुरूप ढाल सकें। इसके साथ-साथ वृद्धावस्था से जुड़ी नकारात्मक छवि व सोच को भी बदलने की जरूरत है। वृद्ध लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि वृद्धावस्था का मतलब उनके लिए दूसरों पर निर्भर रहना है या वृद्धावस्था हमेशा बीमारी लेकर आती है और मानसिक और शारीरिक रूप से आदमी को कमजोर बनाती है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए क्या उपाय किए गए हैं? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

2) बाल श्रम से आप क्या समझते हैं? पांच पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.6.1 वृद्धों की स्थिति के उदाहरण

एक वृद्ध दंपति, जिनकी उम्र क्रमश: 71 और 73 वर्ष है एक वृद्धाश्रम में रह रहे हैं। पति सेवानिवृत्त है। उसके पास एक फ्लैट था। जब उनका इकलौता बेटा एक दुर्घटना में चल बसा तो पति-पत्नी ने फैसला किया कि वे अपना शेष जीवन दूसरों की सेवा करते बिताएंगे। उन्होंने अपना फ्लैट बेचा और एक वृद्धाश्रम में दो कमरे का अपार्टमेंट खरीद लिया। वृद्धाश्रम उन्हें भोजन देता है जिसके लिए वे हर माह 450 रुपये प्रति व्यक्ति उसे अदा करते हैं। वृद्धाश्रम के बाहरी काम जैसे खरीदारी इत्यादि के अलावा पति आश्रम में रहने वाले अन्य वृद्धों को नहाने के लिए गर्म पानी पहुंचाने का काम भी करता है। पत्नी रसोई का काम संभालती है और भोजन की गुणवत्ता सुधारने में मदद करती है। इसके अलावा वह आश्रम के कर्मचारियो और अन्य वृद्धजनों की छोटी-मोटी जरूरतों का ध्यान भी रखती है। इस प्रकार पति-पत्नी व्यस्त रहते हैं और आश्रम वासियों की देखभाल अपने घर के लोगों की तरह करते हैं। दूसरों की सेवा करके उन्हें जो संतुष्टि प्राप्त होती हैं उससे वे अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु के शोक से भी उबर गए हैं।

दूसरा उदाहरण एक स्वर्ण पदक विजेता लेडी डॉक्टर का है जिसने कभी विवाह नहीं किया। मां-बाप की मृत्यु होने पर उसने अपने दो छोटे भाइयों और एक बहन को

पाला-पोसा, उन्हें पढ़ाया-लिखाया। उसे 2,000 रुपये की तनख्वाह मिलती थी। अपने भाई-बहन की देख-भाल के लिए उसने विवाह नहीं किया। पर जब भाई-बहन बड़े हो गए और पढ़-लिख गए तो उन्हें भला उसकी जरूरत क्यों होती। सो 58 वर्ष की आयु में जब वह सेवा निवृत्त हुई तो उन लोगों ने उसे घर से निकाल दिया। उसने सात वर्ष अपने आप जीने का प्रयास किया। मगर 65 की उम्र में वह उच्च रक्त चाप से पीड़ित हो गई। उसकी याददाश्त कमजोर हो गई और आत्मविश्वास भी टूट गया। आखिर में अपनी जमा-पूंजी लेकर वह एक वृद्धाश्रम में चली गई। लेकिन आज वह एकदम बदल गई है, 73 वर्ष की उम्र में आकर वह अपनी मेडिकल डिग्री और चिकित्सा कौशल पूरी तरह से भूल चुकी है। यह एक ऐसे उच्च शिक्षा और कौशल प्राप्त व्यक्ति का उदाहरण है जिसने अपने निजी जीवन को पूरी तरह से नजर अंदाज करके विवाह तक नहीं किया। आज उसके पास ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो उसे किसी भी तरह का सहारा दे सके। वह जब युवा थी तो उसने इस दिन के बारे में क्यों नहीं सोचा? कहने को उसके पास स्वर्ण-पदक है और जमा-पूंजी भी, मगर वह अपने जीवन में निपट अकेली और रिक्त है।

24.7 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि विभिन्न हाशिए के समूह किस तरह स्थिति का सामना कर रहे हैं जिसके लिए उन्हें सरकार और स्वयंसेवी संगठनों से सहायता मिल रही है। इन समूहों में सिर्फ अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लोग ही नहीं बल्कि महिलाएं, बच्चे और बूढ़े भी शामिल हैं। आशा है कि ये सभी हाशिए के लोग कम होते जाएंगे, जो वृहत्तर समाज के लिए श्रेयष्कर रहेगा।

24.8 शब्दावली

पारिस्थितिकीय : यह पर्यावरण में होने वाली प्राकृतिक क्रिया का चक्र है, जिसमें प्रकृति एक संतुलन बनाए रखती है। मनुष्य भी इस प्राकृतिक आवास का हिस्सा है और इसे जो कुछ भी होता है उसके लिए बराबर का भागीदार है।

समानता : सभी लोगों के साथ पूर्वाग्रह के बिना व्यवहार करना भले ही वे किसी धर्म, लिंग या जातीयता के हों।

न्याय : इसका आधार राज्य का कानून है जिसमें संविधान सभी को निष्पक्ष व्यवहार और शोषण से मुक्ति की गारंटी देता है।

स्थिति या हैसियत : यह किसी व्यक्ति या जनसमूह की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा का सूचक है। समाज में हर कोई व्यक्ति और समूह ऊंची हैसियत और प्रतिष्ठा हासिल करना चाहता है।

24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देसाई एन. और कृष्णराज, एम. (संपा) 1987, *वीमेन एंड सोसाइटी इन इंडिया,* नई दिल्ली, अजंता

फर्नांडीज, डब्लू. *एट आल.* 1988, *फॉरेस्ट्स, एनवाइरमेंट एंड ट्राइबल इकॉनमी: डिफॉरेस्टेशन, इम्पॉवरिशमेंट एंड मार्जिनलाइजेशन इन उड़ीसा,* नई दिल्ली इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट

कोहली, ए.एस., 1996, *सोशल सिचुएशन ऑव द एजेड इन इंडिया,* दिल्ली, अमोल पब्लिकेशंस

कुलश्रेष्ठ, जे.सी. *चाइल्ड लेबर इन इंडिया,* दिल्ली, एशिया पब्लिशिंग हाउस

राम एन. 1995, *बियोंड अंबेडकर: एसेज ऑन दलित्स इन इंडिया,* अध्याय 7, 89 और 10, नई दिल्ली, हर आनंद पब्लिकेशंस

24.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अनुसूचित जातियों में निश्चय ही सामाजिक गतिशीलता रही है। साक्षरता दर और सरकारी पदों में नियुक्ति समेत सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में उनमें स्पष्ट वृद्धि हुई है। गरीबी भी उनमें कम हुई है। अपने अधिकारों के लिए अनुसूचित जातियां अब खुल कर बोल रही हैं। उनकी हाशिए की स्थिति और गतिशीलता में सुधार आया है। इन सब बदलावों का श्रेय फुले और अम्बेडकर जैसे चैतन्य समाज सुधारकों के प्रयासों को जाता है।

2) भारत सरकार स्वतंत्रता के बाद से ही आदिवासियों के विकास के प्रयास में लगी हुई है। सरकार उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा में लाना चाहती है, उन्हें अपनी संस्कृति के संरक्षण के लिए स्वतंत्रता दे रही है और उनके कल्याण के लिए काम कर रही है। पर जनजातीय विकास के लिए जो भी परियोजनाएं चलाई गई हैं, वे अक्सर नुकसानदेह रही हैं। जैसे सिंचाई, खनन, जलविद्युत और औद्योगिक परियोजनाएं। बहरहाल शिक्षा के प्रसार से उनकी स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय संविधान सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) समानता की गारंटी देता है। सरकार ने महिला कल्याण के लिए 1953 में समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की। विश्व में हुए नारी मुक्ति आंदोलन ने भारत पर भी प्रभाव डाला। संयुक्त राष्ट्र संघ महिला दशक 1975-85 ने भी महिलाओं की स्थिति से जुड़े अनेक मुद्दों को उठाया और उनके समाधान की दिशा में प्रयास किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) बाल श्रम उसे कहते हैं जब छोटे नाबालिग बच्चों को काम-धंधों में लगा दिया जाता है, जब कि उन्हें स्कूल में पढ़ाई करनी चाहिए। उन्हें इसका भी ज्ञान नहीं रहता कि जो काम-धंधा वे कर रहे हैं वह उनके लिए कितना जोखिम भरा है। इसमें बच्चों को बहुत कम मजदूरी दी जाती है और उन्हें ऐसी स्थितियों में काम करना पड़ता है जो उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। अनेक बच्चे घरेलू नौकरों के रूप में या माचिस और पटाखा उद्योगों में काम कर रहे हैं जहां उन्हें हर दिन लंबे समय तक काप करना पड़ता है। शिवकाशी बाल मजदूरी का एक उदाहरण जहां बच्चे कठोर और दयनीय स्थिति में काम कर रहे हैं।

इकाई 25 कृषक वर्ग संरचना

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 कृषिक समाजों की धारणाएँ

 25.2.1 एक जैसे कृषक समाज की पुरातन धारणा

 25.2.2 सामंतवादी प्रकार का कृषक समाज

 25.2.3 समकालीन कृषक समाज : आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था एक उप क्षेत्र

 25.2.4 कृषि और बाज़ार

25.3 कृषिक समाजों के विश्लेषण में वर्ग संकलप्ना एवं इसका उपयोग

25.4 भारत में कृषिक समाज की संरचना एवं भारत में परिवर्तन

 25.4.1 ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में कृषक समाज में परिवर्तन

 25.4.2 स्वतंत्रता के बाद कृषिक समाज में परिवर्तन

25.5 भारत में कृषिक वर्ग संरचना

25.6 सारांश

25.7 शब्दावली

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई में कृषक समाजों की संरचना के बारे में निम्नलिखित पर विशेष ध्यान देते हुए चर्चा की गई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- कृषक समाज की संरचना का अभिप्राय समझ सकेंगे,
- कृषक समाजों की धारणाएँ एवं संकल्पनाएँ जान सकेंगे, तथा
- भारत में कृषक वर्ग संरचनाएँ एवं उनका निर्माण की चर्चा कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

कृषक समाज की संरचना का अभिप्राय: साधारण शब्दों में कृषक समाज, व्यवस्थाएँ या ऐसे व्यक्तियों का समूह हैं जो अपनी आजीविका मुख्यत: खेती व उससे संबंधित पशु पालन जैसे कार्यों से प्राप्त करते हैं। कृषिक उत्पादन या खेती स्पष्टत: एक आर्थिक गतिविधि है, इस प्रकार अन्य आर्थिक गतिविधियों की तरह कृषि उत्पादन को भी सामाजिक संबंधों के ढाँचे में रखा जाता है। जो लोग खेती करते हैं वे विभिन्न सामाजिक कार्यों से परस्पर एक दूसरे से मिलते रहते हैं। कुछ लोग स्वयं अपनी भूमि में खेती करते हैं जबकि कुछ लोग श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं तथा कुछ अपनी ज़मीन पट्टे पर दूसरों को दे देते हैं और फसल में साझीदार बन जाते हैं। वे न केवल एक दूसरे से मिलते हैं अपितु उन्हें दूसरी श्रेणियों के लोगों से भी नियमित रूप से मेल-जोल रखना पड़ता है क्योंकि वे खेती के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए पुरानी जजमानी व्यवस्था में भी जो स्वयं अपनी ज़मीन में खेती करते थे विभिन्न कार्यों के लिए अनेक स्तरों पर विभिन्न जातियों के समूहों के सदस्यों पर निर्भर रहते थे।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 25.01

किसानों को फसल का कुछ भाग विनिमय के रूप में विभिन्न जाति वर्गों के सदस्यों को दिया जाता था। इसी प्रकार अधिकांश कृषक नकद पैसा पाने के लिए अपनी फसल का एक हिस्सा बाज़ार में बेचते हैं जिससे वे खेती में काम आने वाली आधुनिक चीज़ें तथा अपनी ज़रूरतों की अन्य वस्तुएँ खरीदते हैं। बाजार से क्रय-विक्रय के लिए किसान बिचौलियों की सहायता लेते हैं।

ये सभी पारस्परिक संबंध एक परंपरागत व्यवस्था में निभाए जाते हैं। कृषि के इस सामाजिक या पारंपरिक व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है भू मालिकों की तथा खेती करने वालों के बीच संबंधों की प्रकृति। किसी समाज में खेती करने वाली परंपराएँ और भू मालिकों की व्यवस्था एक लम्बे ऐतिहासिक काल में विकसित हुई है।

किसी ग्रामीण समाज में अपनी ज़मीन रखने वालों की एक सीमा तक शक्ति एवं दबदबा होता है। इस प्रकार भू मालिकों तथा उन्हें विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करने वालों के बीच स्थापित संबंधों को हम कृषक वर्ग संरचना या व्यवस्था कहते हैं।

25.2 कृषक समाजों की धारणाएँ

आधुनिक औद्योगिक समाजों में विभिन्न वर्ग समूहों की पहचान करना आसान है (जैसे कि श्रमिक वर्ग, उद्योगपति तथा मध्य वर्ग)। इसकी अपेक्षा कृषक समाजों की सामाजिक संरचना में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ होती हैं। कृषक वर्ग संरचना विभिन्न क्षेत्रों में बदलती रहती है। आधुनिक समय में नई बुनियादी व्यवस्थाओं के बनने से अधिकांश कृषक समाजों में स्थिति और भी जटिल हो गई हैं। पश्चिम के अनेक विकसित समाजों में कृषि अर्थव्यवस्था एक गौण क्षेत्र रह गया जिसमें बहुत कम लोग कार्यरत है जबकि तीसरी दुनिया में अधिकांश लोग कृषि कार्य में है तो भी इसका महत्व काफी कम हो गया है। इस प्रकार कृषक सामाजिक सरंचना को अच्छी प्रकार समझने के लिए हमें एक बात का ध्यान रखना होगा कि कृषक वर्ग संरचना ऐसा कोई एक रूप नहीं है जिसे सभी समाजों पर लागू किया जा सके।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 1

अपने निकट के किसी गाँव में जाएँ और वहाँ की विभिन्न जातियों और उसके विभिन्न वर्गों को देखें। यह जातियों से कैसे संबंधित है? अपने निष्कर्ष लिखें तथा अपने अध्ययन केंद्र पर अन्य छात्रों से तुलना करें।

25.2.1 एक जैसे कृषक समाज की पुरातन धारणा

मानव वैज्ञानिकों ने दूसरे विश्व युद्ध के बाद कृषक समाज की धारणा विकसित की। यह धारणा मुख्यत: पश्चिमी अनुभवों से आई है। कृषक समाज का उदय व्यक्तियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के कबीला रूप से अलग होकर खेती द्वारा आजीविका कमाने के साथ आरंभ हुआ। उन्होंने छोटी-छोटी व्यवस्थाओं में भी रहना आरंभ किया। इसके बाद कुछ प्रतीकात्मक कृषक समाज औद्योगिक क्रांति आरंभ होने से पूर्व भी देखे गए। औद्योगिक क्रांति आने से अर्थव्यवस्था का विकास हुआ और आधुनिक जीवन शैली का प्रसार होने से पारंपरिक 'कृषक जीवन शैली' धीरे-धीरे बदलने लगी। वर्तमान में अपने मानवतावादी संदर्भों में यह स्पष्टत: एक जैसी सामाजिक संरचना बन गई। किसानों के सामाजिक और आर्थिक संगठनों के संदर्भ में वे

के संदर्भ में वे लगभग एक जैसे हैं। वे परिवार की सहायता से अपने खेतों में काम करते हैं क्या मुख्यत: अपने उपभोग के लिए फसल उगाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनकी कृषक सभ्यता में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है। कमोबेश कृषक सभ्यता एक जैसी है तथा शहरी कुलीन वर्ग द्वारा उस पर बाहर से प्रभुत्व जमाया जाता है। इरिक वोल्फ बताता है कि 'प्राचीन या आदिम जातियों' से भिन्न कृषक समाज अधिक फसल (अपने उपभोग/आवश्यकता से अधिक) पैदा करते हैं जो प्राय: शहरों में अधिपत्य करने वाले शासकों को प्राय: भूमि कर या भू राजस्व के रूप में चली जाती है।

सांस्कृतिक एवं सामाजिक अर्थों में किसान आधुनिक व्यावसायिक वर्ग से मूलत: भिन्न है। उनका कार्य के प्रति दृष्टिकोण तथा ज़मीन से रिश्ता आधुनिक औद्योगिक समाजों के मुनाफाखोरों से बहुत अलग है। कृषक सभ्यता पर मानवतावादी प्रथम अनुसंधान करने वाले रोबर्ट रेडफील्ड का कहना है कि 'कृषक सभ्यता एक सार्वभौमिक मानवीय प्रकार' है जिसमें किसानों का अपनी ज़मीन से भावनात्मक संबंध होता है। उनके लिए कृषि मुनाफे का व्यवसाय न होकर 'आजीविका और जीवन शैली' है।

इस प्राचीन चर्चा के अनुपालन में थ्योडर शनीन का तर्क है कृषक समाज का एक 'आदर्श रूप' वह किसानों को ऐसे कृषि उत्पादक के रूप में परिभाषित करता है जो अपने पारिवारिक परिश्रम और छोटे-छोटे उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यत: अपने उपभोग के लिए फसल पैदा करता है। साथ ही राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से अधिकार संपन्न व्यक्तियों के अहसानों को भी पूरा करता है। वह आगे कृषक समाज के चार स्वतंत्र घटकों का भी परिचय देता है :

i) कृषक परिवार मूलत: सामाजिक संगठन के एक बहु आयामी इकाई के रूप में कार्य करता है। परिवार खेतों का संचालन कृषक संपत्ति की एक बड़ी इकाई के रूप में उत्पादन, उपभोग, कल्याण, सामाजिक पुनरुत्पादन, पहचान, सम्मान, सामाजिकता तथा कल्याण के लिए करता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति संपूर्ण पारिवारिक व्यवहार एवं कुल के अधिकारों को प्रस्तुत करने की होती है।

ii) भूमि पालन या कृषि का कार्य मुख्यत: जीविका के साधन के लिए किया जाता है। परंपरागत रूप में इसे सामाजिक संगठन तथा कम तकनीकी स्तर वाला माना जाता है।

iii) कृषक समाज विशिष्ट सांस्कृति रूपों वाले होते हैं जिसका संबंध लघु ग्रामीण समुदाय की जीवन शैली हो जाता है। कृषक सभ्यता प्राय: पारंपरिक व्यवहार के अनुरूप है तथा आमने-सामने के संबंध होना उनकी विशेषता है। तथा

iv) किसानों पर बाह्य प्रभुत्व। किसानों को अधिकारों के स्रोतों से एक हाथ दूर रखा जाता है। शनीन का कहना है कि उन्हें राजनीतिक रूप से अधीन रखने का संबंध उनकी सांस्कृतिक अधीनस्थता तथा आर्थिक शोषण से है।

इस प्रकार की व्यवस्था में यह दिखाई देता है कि किसानों पर बाह्य हुकुमत चलाई जाती है, वे एक-दूसरे से अधिक भिन्न नहीं है विशेषत: वर्ग स्तर के रूप में। दूसरे शब्दों में कृषक सभ्यता की इस प्राचीन धारणा में कृषक समाज में आंतरिक रूप से वर्ग भिन्नताएँ नहीं है। सामाजिक संगठन मुख्य इकाई है किसान या कृषक परिवार।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) एक जैसे (समरूप) कृषक समाजों की धारणा का वर्णन करें। अपना उत्तर लगभग दस पंक्तियों में लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) शनीन के कृषक समाज के 'आदर्श प्रकार' की चर्चा करें। उत्तर लगभग 10 पंक्तियों में दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यद्यपि कृषक समाज की यह संकल्पना यूरोपीय समाजों के विशेष अनुभवों से आई है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से उपलब्ध ऐतिहासिक साहित्य यह दर्शाता है कि कृषक समाज उतने स्वतंत्र नहीं थे जितना कि इन ग्रंथों में दिखाया गया है। आंतरिक रूप से कृषक समाजों में विभिन्न स्तरों पर अनेक भिन्नताएँ भी थी। उदाहरण के लिए, भारत में ग्रामीण समाज हमेशा जातियों में विभाजित रहा तथा केवल कुछ वर्गों के पास ही खेती करने का अधिकार था जबकि अन्य वर्ग उन्हें विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते थे। इसी प्रकार यूरोप के अनेक भागों में कृषि दास प्रथा थी जहाँ पर भूअधिपति कृषकों पर शासन करते थे। इन समाजों को सामंती समाज भी कहा जाता था।

25.2.2 सामंतवादी प्रकार का कृषक समाज

ऐतिहासिक रूप से प्राय: सामंती संकल्पना का प्रयोग उस सामाजिक संगठन के लिए किया गया है जो कबीला समूहों के नियमित कृषक बन जाने के बाद यूरोपीय क्षेत्रों में विकसित हुई। 15वीं तथा 19वीं शताब्दी के दौरान औद्योगिक क्रांति की सफलता के बाद सामंती समाज विलुप्त होने लगे तथा आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास होने लगा। फिर भी अनेक वर्षों तक सामंती शब्द जातीय अर्थ में भी प्रयोग होता रहा तथा विश्व के अन्य भागों में पूर्व आधुनिक कृषक समाजों को परिभाषित करने के लिए बखूबी प्रयोग होता रहा।

'कृषक समाज' की संकल्पना के साथ तुलना करने पर सामंती शब्द कृषक वर्ग संरचना का एक भिन्न भाव व्यक्त करता है। सामंती समाजों में कृषकों को पराधीन वर्ग के रूप में माना जाता था। जिस ज़मीन में वे खेती करते थे कानूनन वह उनकी नहीं थी। उन्हें केवल खेती करने का अधिकार था लेकिन ज़मीन प्राय: कानूनन अधिपति या सामंत की होती थी। सामंतवाद में कृषक वर्ग की अन्य विशेषता थी कृषक और भूमि पति के बीच 'निर्भरता' और 'आश्रय- का संबंध कृषकों को भूमिपतियों के प्रति 'वफादारी' तथा अहसान मंद होना पड़ता था। स्वामी भक्ति की भावना का प्रदर्शन न केवल फसल का हिस्सा देकर किया जाता था अपितु अनेक बार बिना किसी मज़दूरी के अनेक काम भी करने पड़ते थे इस प्रकार की व्यवस्था का एक उदाहरण है 'भिखारी' प्रथा (मज़दूरी रहित श्रम) जो भारत के अनेक भागों में पीछे काफी समय तक विद्यमान थी।

25.2.3 समकालीन कृषक समाज: आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का एक उपक्षेत्र

पश्चिमी देशों में 19वीं शताब्दी में तथा शेष दुनिया में 20वीं शताब्दी में औद्योगिकरण के प्रसार से अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। कृषिक अर्थव्यवस्था में हुए दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों को देखा जा सकता है। पहला, कृषि का पहले जैसा महत्व समाप्त हो गया तथा यह अर्थव्यवस्था का एक मामूली क्षेत्रा रह गया। उदाहरण के लिए, पश्चिम के अनेक देशों में आज भी कुल कार्य बल की बहुत कम संख्या इस क्षेत्र में कार्य करती है। (दो से पाँच या छ: प्रतिशत) इन देशों की सकल राष्ट्रीय आय में भी इसका योगदान अधिक नहीं है। तीसरी दुनिया के देशों में भी कुछ समय से कृषि का महत्व कम हो चुका है। उदाहरण के लिए भारत में अधिकांश आबादी कृषि कार्य में लगी हुई है तो भी कुल राष्ट्रीय आय में इसका योगदान पर्याप्त रूप से कम हो गया है। (आजादी के समय लगभग साठ प्रतिशत था जो 1990 के दशक में घट कर तीस प्रतिशत से भी कम हो गया है)।

कृषक समाज में होने वाला दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन इसकी आंतरिक सामाजिक संरचना में था। पिछली शताब्दी व उसके आस-पास विश्व के अनेक भागों में कृषि उत्पादनों में व्यापक परिवर्तन आया। पूर्ववर्ती सामाजिक संरचनाओं के रूप जैसे 'सामंतवाद' तथा 'कृषक समाज' (जिनकी चर्चा उपर की गई है) अधिक भिन्न सामाजिक संरचनाओं के आने से विलुप्त हो रहे थे। यह मुख्यत: औद्योगिकीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभाव के कारण हो रहा था। कृषि अनेक कार्यों जैसे हल चलाना और फसल साफ करना आदि के लिए आधुनिक उद्योग ने अनेक मशीनें और उपकरण प्रदान किए थे। कृषि संबंधी इन मशीनों के कारण ज़मींदार कम समय में अधिक ज़मीन में खेती करने में सक्षम हो गए। कुछ अन्य प्रौद्योगिकीयों ने भी किसानों को रासायनिक उर्वरक तथा अधिक फसल देने वाले अनेक प्रकार के नए बीज भी प्रदान किए। इन सभी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप फसलों की उत्पादकता में

MAADHYAM IAS

व्यापक वृद्धि हुई। इन नई कृषि तकनीकों के कारण न केवल उत्पादकता में वृद्धि हुई अपितु कृषक समाजों के सामाजिक संबंधों में भी व्यापक परिवर्तन हुए।

बॉक्स 25.02

मशीनीकरण और आधुनिकीकरण से किसानों के पास अपनी आवश्यकता से अधिक फसल होने लगी। अतिरिक्त फसल बाज़ार में आई। ये किसान ऐसी फसलों का भी उत्पादन करने लगे जो स्थानीय उपभोक्ताओं के लिए प्रत्यक्ष रूप से काम की नहीं थी। ये 'नकदी फसलें' केवल बाज़ार में बेचने के लिए उगाई जाती थी। कृषकों की नए कृषि संबंधी उपकरण खरीदने के लिए नकद धन की आवश्यकता थी। दूसरे शब्दों में कृषि के मशीनीकरण ने इसे राष्ट्र और विश्व की व्यापक बाज़ारू अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया।

25.2.4 कृषि और बाज़ार

कृषि के मशीनीकरण और इसके व्यापक बाज़ार अर्थव्यवस्था से जुड़ने के कारण कृषिक क्षेत्र में उत्पादन के नए सामाजिक संबंध भी बनने लगे। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह शहरी औद्योगिक अर्थव्यवस्था द्वारा कृषिक अर्थव्यवस्था की दासता का केवल नया रूप है। जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने इसे कृषक समाज में होने वाले अधिक मौलिक परिवर्तन के रूप में भी माना। विद्वानों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया को कृषि क्षेत्र में पूँजीवादी संबंधों के विकास की संज्ञा दी। कृषि में पूँजीवादी विकास ने पूर्ववर्ती स्वामी भक्ति तथा आश्रय संबंध सहायक व्यक्तियों में भी बनने लगे। कृषि उत्पादन में शामिल आबादी की विभिन्न श्रेणियों के बीच संबंध स्वामी भक्ति और अहसान की बिना किसी भावना के औपचारिक होने लगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 2

कुछ ग्रामीणों से उनके गाँव में कृषि के मशीनीकरण होने से पड़ने वाले प्रभावों के बारे में चर्चा करें। अपने निष्कर्ष लिखें तथा अध्ययन केंद्र पर अन्य छात्रों से तुलना करें।

यह प्रक्रिया कृषकों में अंतर डालने वाली भी थी। किसान भिन्न स्तरों और वर्गों में विभाजित होने लगे। फिर बाज़ार तंत्र ने भी ऐसे किसानों पर इस तरह दबाव डाला कि कुछ का अस्तित्व बना रहा तथा कुछ बेचारे घाटे में रहे तथा वे भूमि विहीन श्रमिक बन गए। इसी प्रकार जो प्राय: पट्टेदारी में काम करते थे उन्हें उन ज़मीनों से बेदखल कर दिया गया जिन पर वे खेती करते थे और भूमि मालिकों द्वारा उन्हें मज़दूरों के रूप में नियुक्त किया जाने लगा। इसी प्रकार कुछ कृषि संबंधी आबादी धनवान बन गई तथा कुछ के पास छोटे-छोटे खेत रह गए।

किसानों का अपने व्यवसाय के प्रति जो दृष्टिकोण था उसमें भी परिवर्तन आने लगा। पूँजीवाद से पूर्व या पारंपरिक समाजों में वे मुख्यत: अपने उपभोग के लिए ही फसलों का उत्पादन करते थे। खेतों में कार्य पारिवारिक परिश्रम से ही किया जाता था। किसानों के लिए कृषि आजीविका का साधन तथा जीवन शैली भी थी।

ज्यों ही कृषि का पूँजीवादी बाज़ार अर्थव्यवस्था से संबंध हुआ तभी से कृषिक समाज की व्यवस्था में भी परिवर्तन होने लगे और इससे किसानों के अपने व्यवसाय के प्रति दृष्टिकोण में

भी परिवर्तन होने लगा। वे कृषि को एक उद्यम (व्यवसाय) मानने लगे। वे अपने खेतों में आधुनिक मशीनों से कार्य करने लगे तथा बाज़ार में बेची जाने वाली नकद फसलों का उत्पादन करने लगे। उनका प्रमुख दृष्टिकोण कृषि से मुनाफा कमाने का हो गया। इस प्रकार किसान 'उद्यमी' कृषकों के रूप में विकसित होने लगे। कृषक समाज का पहले वालों से तुलना भी समाप्त होने लगी।

मानवतावादी वर्ग समझे जाने वाला किसान वर्ग अब भिन्न विशिष्टताओं वाला वर्ग बनने लगा। वे विभिन्न श्रेणियों और वर्गों में विभाजित होने लगे। इस प्रकार कृषि में पूँजीवादी विकास होने से कृषक वर्ग संरचना में मौलिक परिवर्तन होने लगे।

MAADHYAM IAS

कृषिक जीवन का अर्थ: छोटे घर और मामूली सुविधा वाले निम्नवर्ग
साभार: बी. किरण मई

25.3 कृषिक समाजों के विश्लेषणों में वर्ग संकल्पना और इसका उपयोग

मुख्यत: पश्चिम के औद्योगिक समाजों में विद्यमान सामाजिक संबंधों की व्याख्या करने के लिए कुछ समाजशास्त्रियों और अन्य समाज वैज्ञानिकों ने वर्ग संकल्पना की कल्पना की। इनमें प्रमुख थे कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर। प्राय: वर्गों की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है। एक जैसे ऐसे आर्थिक संसाधन जिनको बांटने वाले व्यक्तियों के बड़े-बड़े समूहों के लोग जो नेतृत्व करने के योग्य होते हैं और उनकी आर्थिक संसाधनों में हिस्सेदारी होती है तथा उनकी जीवन शैली के प्रकारों को अत्यधिक रूप से प्रभावित करते हैं। संपत्ति का मालिकाना हक और उसके साथ आधिपत्य वर्ग विभेदों के मुख्य आधार माने जाते हैं।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है वर्ग संकल्पना का पहली बार प्रयोग पश्चिम के औद्योगिक समाजों में सामाजिक समूहों की व्याख्या करने के लिए किया गया। बाद में विद्वान अन्य व्यवस्थाओं में भी सामाजिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए इस संकल्पना का प्रयोग करने

लगे। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में लेनिन ने रूस में कृषक समाज में वर्ग भिन्नता की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए एक विस्तृत सिद्धांत प्रतिपादित किया। इसी प्रकार चीनी क्रांति के नेता माओ त्से तुंग ने चीनी कृषक समाज के अपने विश्लेषण में इस वर्ग संकल्पना का प्रयोग किया। लेनिन और माओं के ग्रंथों को कृषक वर्ग संरचना और कृषि संबंधी परिवर्तनों को समझने के लिए पथ प्रदर्शक कार्य माना जाता है।

लेनिन का विचार था कि कृषि में पूँजीवाद के विकास से अब तक सामाजिक श्रेणियों में अविभाजित कृषक व्यवस्था अब विभिन्न सामाजिक वर्गों में श्रेणीकृत या विभाजित हो गई। आरंभ में रूसी कृषक व्यवस्था पांच विभिन्न वर्गों में विभाजित थी। ये हैं :

i) भूमिपति, ii) धनी कृषक, iii) मध्य श्रेणी के किसान, iv) गरीब किसान तथा v) भूमि विहीन श्रमिक।

लेनिन ने तर्क दिया कि रूस तथा अन्य देशों में भी किसानों का ध्रुवीकरण होगा। इस प्रकार वास्तव में दो वर्ग होंगे। एक पूँजीवादी किसान तथा दूसरा भूमिविहीन सर्वहारा वर्ग (मज़दूर)।

फिर भी, विश्व के अनेक भागों में कृषि में विकसित पूँजीवाद के व्यावहारिक अनुभव लेनिन की भविष्यवाणी के अनुरूप नहीं थे। यद्यपि कृषि धीरे-धीरे बाज़ार अर्थव्यवस्था में केंद्रित हो रही थी और कृषिक व्यवस्था विभिन्न सामाजिक वर्गों में विभाजित भी हो रही थी तो भी इस बात के कोई प्रमाण नहीं थे कि आबादी केवल दो वर्गों में ही सिमट रही थी। पश्चिमी देशों और तीसरी दुनिया के अनेक देशों में भी मध्य वर्गीय किसानों ने न केवल अपना अस्तित्व बनाए रखा अपितु कुछ देशों में तो उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई।

25.4 भारत में कृषिक सामाजिक संरचना एवं भारत में परिवर्तन

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है कि एक निश्चित समाज में लम्बी अवधि के बाद कृषक वर्ग संरचना विकसित हुई। लेकिन इसको आकार विभिन्न ऐतिहासिक सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक घटकों द्वारा दिया गया। ये ऐतिहासिक घटक क्षेत्र दर क्षेत्र परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि कोई व्यक्ति कृषक संरचनाओं को विभिन्न संदर्भों में समझने के लिए वर्ग संकल्पना का प्रयोग तो कर सकता है लेकिन विभिन्न क्षेत्रों में इसके व्यावहारिक अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं।

पारंपरिक भारतीय ग्रामीण जातियाँ तथा कृषिक सामाजिक संरचनाएँ 'जजमानी व्यवस्था' के ढाँचे में ही बनी। यह एक विशुद्ध भारतीय परिघटना है। पारंपरिक भारतीय गाँवों में विभिन्न जाति समूह जजमान (संरक्षक) तथा कमीन (दास) में विभाजित थी। जजमान उन जातियों का समूह था जिनके पास अपनी भूमि थी और वे खेती करते थे। कमीन जजमानों को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते थे। जब कमीन जजमानों के लिए कुछ काम करते थे तो जजमान फसल में से कुछ हिस्सा अपने कमीनों को देते थे। यह संबंध परस्पर विनिमय व्यवस्था पर आधारित था।

बोध प्रश्न 2

1) समकालीन कृषिक समाज पर टिप्पणी लिखें। अपना उत्तर लगभग 10 पंक्तियों में दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) कृषि क्षेत्र में पूँजीवाद के विकास पर लेनिन के विचारों का संक्षिप्त वर्णन करें। अपना वर्णन लगभग 10 पंक्तियों में करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यह कहा जा सकता है कि जो लोग परस्पर इस विनिमय व्यवस्था में शामिल थे, वे एक समान विनिमय नहीं करते थे। ऊँची जातियों वाले और ज़मींदार स्पष्टत: निम्न जाति वालों से अधिक शक्तिशाली थे। जजमानी व्यवस्था के स्वरूप में स्थापित कृषिक संबंधों की संरचना ने जाति व्यवस्था की असमानताओं को और दृढ़ किया। परिणामस्वरूप जाति प्रथा ने असमान भूमि संबंधों को वास्तविकता प्रदान की।

अनेक वर्षों के अंतराल में जजमानी व्यवस्था विलुप्त हो गई तथा ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना में गहन परिवर्तन हुए। कृषक वर्ग संरचना में भी बदलाव आया। ये परिवर्तन अनेक तथ्यों द्वारा प्रस्तुत किए जा चुके हैं।

25.4.1 ब्रिटिश औपनिवेशी शासन में कृषिक समाज में परिवर्तन

ब्रिटिश औपनिवेशी शासकों की कृषिक नीतियाँ अन्य घटकों के साथ इस उप महाद्वीप में कृषिक में परिवर्तनों के लिए बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। भूमि से अधिकतम आमदनी प्राप्त करने के लिए किसानों से भूमि कर एकत्रित किया जाता था। उन्होंने भारतीय गाँवों में संपत्ति से संबंधित कुछ मौलिक परिवर्तन किए। औपनिवेशी शासकों की कृषिक नीति के अंतहीन परिणाम हुए। बंगाल, बिहार और चेन्नई के अनेक भागों तथा संयुक्त प्रांत में उन्होंने पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था में कर वसूलने वाले बिचौलियों के रूप में ज़मींदारों को हटा कर भूमि के पूर्ण स्वामित्व अधिकार प्रदान किए।

वास्तव में खेती करने वाले अधिकांश किसान अब नए भूपतियों के पट्‌टेदार बन गए। इसी प्रकार उन्होंने उत्पन्न फसल में हिस्से की अपेक्षा शुल्क रूप में निश्चित राशि की माँग की। इस प्रकार मौसम द्वारा फसल के नष्ट होने के बावजूद उन्हें भूमि कर देने के लिए मजबूर होना पड़ता था।

इन परिवर्तनों से किसानों पर काफी ऋण हो गया। शुल्कों की माँग को पूरा करने के लिए ज़मीनों को गिरवी रखने लगे। आगे चलकर ये किसान साहूकारों और बड़े भूमि मालिकों को ज़मीन सौंपने लगे। इस प्रकार गाँवों में भूमि मालिकों और साहूकारों की उत्पत्ति आधिपत्य वर्ग के रूप में हुई जबकि ग्रामीण किसान कंगाल हो गए। औपनिवेशी शासन के दौरान उत्पन्न नई कृषिक वर्ग संरचना में किसानों को अपनी ज़मीनों को सुधारने और परिश्रम करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिला परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में गिरावट आई।

MAADHYAM IAS

25.4.2 आज़ादी के बाद कृषिक समाज में परिवर्तन

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रीय नेताओं ने किसानों को इस वायदे पर सक्रिय किया कि औपनिवेशी शासन से मुक्ति के बाद भूमि संबंधी नीतियों में परिवर्तन किया जाएगा। आजादी के तुरंत बाद इसकी प्रक्रिया आरंभ की गई। केंद्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को ऐसे भूमि सुधार कानून बनाने के निर्देश दिए जिनमें बिचौलिए भूमि मालिक, ज़मींदार को हटाकर वास्तव में खेती करने वालों को भूमि के स्वामित्व के अधिकार दिए जाएँ। कुछ कानून पट्‌टेदारों की सुरक्षा के लिए भी बनाए गए। राज्यों ने प्रत्येक परिवार के लिए अधिकतम भूमि रखने की सीमा (हदबंदी) को भी निर्धारित किया। फालतू ज़मीन राज्य को सौंपी जानी थी ताकि भूमि विहीनों में वितरित की जा सके।

फिर भी, सभी राज्यों द्वारा कानून बनाए गए लेकिन केवल कुछ मामलों में ही वांछित प्रभाव पड़ा। यह बात सामने आई कि देश के ऐसे क्षेत्रों में जहाँ किसान राजनीतिक रूप से गतिशील थे वहीं पर भूमि सुधार कानूनों का प्रभावी रूप कार्यान्वयन हुआ। हाँ अधिकांश क्षेत्रों में ज़मींदारी प्रथा समाप्त हो गई लेकिन हदबंदी कानूनों का बहुत कम प्रभाव पड़ा।

बॉक्स 25.03

आज़ाद भारत की सरकार ने अनेक विकास कार्यक्रम बनाए ताकि किसानों को अपनी ज़मीनों से अधिक फसल प्राप्त करने के लिए बढ़ावा मिले। इनमें सामुदायिक विकास कार्यक्रम (सी डी पी), सहकारिताएं तथा हरित क्रांति की तकनीक शामिल हैं। ये कार्यक्रम भारतीय गाँवों में कृषि के आधुनिक तरीके अपनाने के लिए बनाए गए। खेती करने वाले किसानों को कम मूल्यों पर नई तकनीकें, बीज तथा उर्वरक प्रदान किए जाते थे। राज्य की अनेक संस्थाएँ उन्हें सस्ते ऋण उपलब्ध कराती थी। यद्यपि सिद्धांतत: यह योजना सभी के लिए बनाई गई थी तो भी देश के अनेक भागों में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि सरकारी मदद के लाभ ग्रामीण समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त नहीं हुए। अधिकांश लाभ पहले से ही धनी तथा शक्तिशाली लोगों ने उठाया। फिर भी, इस पक्षपात के बावजूद इन प्रोत्साहनों से कृषिक अर्थव्यवस्था में कम से कम देश के कुछ भागों में तो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यह तथ्य पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, तटीय आंध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र, गुजरात और तमिलनाडु के क्षेत्रों में तो विशेष रूप से सत्य है।

भूमि की उत्पादकता में वृद्धि होने के अतिरिक्त इन परिवर्तनों का भारतीय कृषि के सामाजिक ढाँचे पर प्रभाव पड़ा। भारत के अनेक क्षेत्रों में कृषि को अब व्यावसायिक स्तर प्रदान हो गया। प्राचीन जजमानी संबंध करीब करीब पूरी तरह समाप्त हो गए तथा कृषकों और उनके लिए सेवा प्रदान करने वालों के मध्य अधिक औपचारिक व्यावसायिक संबंध बनने लगे। कुछ विद्वानों ने तर्क दिया कि ये परिवर्तन इस बात का संकेत है कि कृषि में उत्पादन का पूँजीवादी रूप पनप रहा है तथा भारतीय गाँवों में नई वर्ग संरचना उत्पन्न हो रही है।

25.5 भारत में कृषिक वर्ग संरचना

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है कि पारंपरिक भारतीय समाज जाति प्रथा पर संगठित रहा है। कृषक संबंध जजमानी व्यवस्था के नियमों के अनुसार निभाए जाते थे। फिर भी भारतीय कृषिक समाज में औपनिवेशी शासकों द्वारा परिवर्तन लागू करने के बाद जजमानी संबंध विलुप्त होने लगे थे। आजादी के बाद भारतीय प्रांतों द्वारा आरंभ की गई आधुनिकीकरण एवं विकास प्रक्रिया ने पुन: पारंपरिक सामाजिक संरचना को और भी कमजोर बना दिया। फिर भी समकालीन भारतीय समाज में जाति प्रथा एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रथा बनी रही। लेकिन आर्थिक जीवन संगठित करने की व्यवस्था के रूप में इसका महत्व अत्यधिक रूप से कम हो गया। यद्यपि भारत के अधिकांश क्षेत्रों में कृषि भूमि पारंपरिक कृषक जाति वर्ग द्वारा खरीदी जाती है तो भी भूमि विहीन वर्गों के साथ उनके संबंध जाति प्रथा के अनुसार लागू नहीं होते हैं। निम्न जाति के भूमि विहीन व्यक्ति अब किसानों के साथ कृषि श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं। एक अर्थ में यह कह सकते हैं कि भारतीय गाँवों ने अब जातियाँ वर्ग व्यवस्था में परिवर्तित हो रही हैं।

फिर भी कृषिक सामाजिक संरचना में भिन्नताएँ हैं जैसा कि डी.एन. धांगरे ने बताया है कि 'भारत में वर्गों और समूहों की सामाजिक रचना के बीच संबंध जो भूमि नियंत्रण और भूमि प्रयोग करने वालों के मध्य विशिष्ट संबंध है वे इतने असमान और जटिल हैं कि उन्हें किसी एक सामान्य योजना में सम्मिलित करना कठिन है' (धांगरे, 1983)। फिर भी देश के विभिन्न भागों में विभिन्न कृषक संबंधों में असमानताओं के बावजूद कुछ विद्वानों ने उन्हें कुछ

सामान्य श्रेणियों में रखने का प्रयास किया है। आरंभिक प्रयासों में एक प्रयास प्रसिद्ध अर्थशास्त्रा डेनियल थार्नर का है। उन्होंने भारतीय कृषिक समाज को सामाजिक वर्गों की एक व्यवस्था में श्रेणीकृत करने का प्रयास किया है। उनका विचार है कि भारत की कृषक आबादी को तीन स्तरों के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, भूमि से **प्राप्त आमदनी के प्रकार** (जैसे 'किराया', 'अपनी खेती से लाभ' या 'मज़दूरी') दूसरा, **भूमि संबंधी अधिकार** (जैसे, 'स्वामित्व' या 'पट्‌टेदारी' या 'फसल में हिस्सेदारी के अधिकार' या 'कोई अधिकार नहीं')। तीसरा, खेत में किए गए कार्य की मात्रा (जैसे, 'कुछ भी कार्य न करने वाले' या 'आंशिक कार्य करने वाले' या 'पारिवारिक श्रम से किया गया संपूर्ण कार्य' या 'मजदूरी के लिए दूसरों के लिए काम करने वाले')। इन स्तरों के आधार पर उन्होंने भारत में कृषिक वर्ग संरचना का निम्नलिखित रूप प्रस्तुत किया।

i) **मालिक** : इनकी आमदनी खेतों में स्वामित्व के अधिकार से होती है। इसका मुख्य स्वार्थ किराया अधिक वसूलना और मज़दूरी कम देने में होता है। ये पट्‌टेदारों, उप पट्‌टेदारों तथा फसल के साझीदारों से किराया वसूल करते हैं।

ii) **किसान** : काम करने वाले किसान जिनके पास छोटे-छोटे खेत होते हैं और स्वयं तथा अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ श्रम करते हैं।

iii) **मज़दूर** : इनके पास कोई अपना खेत नहीं होता तथा इनकी आजीविका पट्‌टेदारी, फसल बँटाई या दूसरे के साथ मज़दूरी करने से चलती है।

कृषक आबादी का थोर्नर द्वारा किया गया वर्गीकरण भारत में कृषक परिवर्तनों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में अधिक प्रचलित नहीं रहा। आर्थिक क्षेत्र के कृषि क्षेत्र में पूँजीवादी संबंधो के विकसित होने से पुरानी वर्ग संरचना में भी परिवर्तन आया। उदाहरण के लिए, भारत के अधिकांश क्षेत्रों में भूमि मालिक उद्यमी या व्यावसायिक किसान बन गए। इसी प्रकार अधिकांश भूमि विहीन मज़दूरों में पट्‌टेदार तथा फसल के साझीदार मज़दूरी वाले श्रमिक के रूप में कार्य करने लगे। कृषि क्षेत्र में पूँजीवाद के विकास ने मार्क्सवादी विद्वानों की भविष्यवाणी के अनुरूप में किसानों में किसी प्रकार का अंतर भी उत्पन्न नहीं किया। इसके विपरीत मध्य वर्गीय किसानों की संख्या में वृद्धि हुई।

भारत में कृषिक संरचना और परिवर्तनों का अध्ययन करने वाले छात्रों में प्रचलित रहने वाला वर्गीकरण था कृषिक आबादी का चार या पांच वर्गों में विभाजन। इनमें सबसे ऊपर हैं बड़े ज़मींदार जो आज भी देश के अनेक हिस्सों में विद्यमान है। उनके पास अत्यधिक भूमि हैं यहाँ तक कि कइयों के पास एक सौ एकड़ से भी अधिक भूमि है। फिर भी पुराने ज़मींदारों की तरह वे हमेशा अपनी भूमि पट्‌टेदारी या फसल के सांझीदारों को नहीं देते। कुछेक ने अपने खेतों को आधुनिक उद्योग का दर्ज़ा दिया है जिसमें उन्होंने प्रबंधक तथा श्रमिकों की नियुक्ति की है तथा वे बाज़ार के लिए फसलों का उत्पादन करते हैं। वर्षों के अंतराल के बाद कृषक आबादी में उनकी संख्या पर्याप्त रूप से कम हो गई है। उनकी मौजूदगी अब देश के पिछड़े क्षेत्रों में ही अधिक है।

बड़े ज़मींदारों के बाद आते हैं **बड़े किसान**। उनके खेतों का आकार 15 एकड़ से 50 एकड़ तक या कुछ क्षेत्रों में इससे अधिक भी होता है। वे प्रायः अपने खेतों की स्वयं देखभाल करते हैं तथा श्रमिकों के साथ काम करते हैं। वे अपने खेतों में खेती के कार्यों में मशीनों का प्रयोग करते हैं तथा आधुनिक सामान जैसे रासायनिक उर्वरक तथा शंकर बीजों का इस्तेमाल करते

MAADHYAM IAS

हैं। वे स्थानीय रूप से अधिपत्य वर्ग वाले होते हैं तथा स्थानीय अधिकार संरचना में उनका अच्छा दबदबा होता है। यह गाँव में तथा राज्य स्तर पर भी होता है। देश के विकसित कृषि क्षेत्र में बड़े किसानों की संख्या काफी है।

अगली **श्रेणी मध्य वर्गीय किसानों** की है। जिनके पास अपेक्षाकृत छोटे खेत (5 एकड़ से 10 या 15 एकड़ के बीच) होते हैं। सामाजिक स्तर पर बड़े किसानों की तरह वे भी स्थानीय रूप से आधिपत्य जाति वर्ग के होते हैं। फिर बड़े किसानों के विपरीत वे खेतों में अधिकांश कार्य स्वयं तथा परिवार के सदस्यों के साथ करते हैं। वे श्रमिकों को फसल काटने तथा फसल बोवाई जैसे व्यस्तम समय में ही नियुक्त करते हैं। वर्षों के अंतराल के बाद इस श्रेणी के किसान भी आधुनिक चीज़ें जैसे रासायनिक उर्वरक तथा शंकर बीजों का प्रयोग करने लगे है। संख्या की दृष्टि से किसानों में यह सबसे बड़ी श्रेणी है।

छोटे तथा लघुतम किसान भारत में कृषकों की चौथी श्रेणी है। उनके खेत काफी छोटे (पाँच एकड़ से कम तथा कहीं-कहीं एक एकड़ से भी कम) होते हैं। वे प्राय: अपने खेत में सभी काम स्वयं करते हैं तथा दूसरों को मुश्किल से कभी कभार ही अपने खेत में काम पर लगाते हैं। अपनी अल्प कृषि आमदनी को बढ़ाने के लिए उनमें से कुछ दूसरे किसानों के साथ कृषि श्रमिक के रूप में भी कार्य करते हैं। अनेक वर्षों के बाद ये भी आधुनिक कृषि वस्तुओं का प्रयोग करने लगे हैं। इन्होंने भी बाज़ार में बेचने के लिए नकदी फसलों का उत्पादन करना आरंभ कर दिया है। भारतीय गाँवों में इनकी अधिकांश आबादी ऋण ग्रस्त है। जैसे परिवार बड़े होते जाते हैं खेतों का विभाजन भी हो जाता है। भारत के अधिकांश क्षेत्रों में इनकी संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कृषक आबादी की अंतिम श्रेणी है **भूमि विहीन श्रमिक**। इनमें से अधिकांश पूर्ण अछूत या दलित जाति समूह के हैं। उनके पास खेती के लिए अपनी ज़मीन नहीं है। संपूर्ण कृषक आबादी में इनकी संख्या विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न है। पंजाब तथा हरियाणा जैसे राज्यों में वे संपूर्ण ग्रामीण श्रमिक बल का 20 से 30 प्रतिशत तक हैं। कुछ राज्यों जैसे आंध्र प्रदेश में उनकी संख्या पचास प्रतिशत तक है। ग्रामीण भारत में ये सबसे निर्धन हैं। वे न केवल बदहाल आवासों में और असुरक्षित आय के संसाधनों सहित दयनीय अवस्थाओं में रहते हैं अपितु उन्हें बड़े किसानों से ऋण लेना पड़ता है जिसके बदले वे अपने मानव श्रम को गिरवी रखते हैं। अर्थात् ऋण चुकाने के लिए उन्हें मुफ्त में काम करना पड़ता है। यद्यपि पुरातन दास प्रथा का प्रचलन तो अब नहीं है तो भी बड़े किसानों पर भूमि विहीन श्रमिकों की निर्भरता उन्हें अपनी आजादी सौंप देती है। जिससे वे न केवल अपने नियोक्ता या मालिक का चयन कर पाते हैं अपितु अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों का भी चुनाव अपनी इच्छा से नहीं कर पाते हैं।

25.6 सारांश

इस इकाई में हमने कृषिक समाजों की धारणाओं की जाँच की है, उन पर चर्चा की है तथा उनका विश्लेषण किया है। हमने इन धारणाओं के विभिन्न प्रकारों की जाँच की है तथा वर्ग संरचना को प्रस्तुत किया है। इस बात की भी चर्चा की है कि ये संरचनाएँ कृषक समाजों के अध्ययन में कैसे लागू होती हैं। आगे हमने कृषिक सामाजिक संरचना, भारत में परिवर्तन तथा भारत में कृषक संरचना की भी चर्चा की है। इस प्रकार अब हम कृषक वर्ग संरचना का स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं।

25.7 शब्दावली

कृषिक (Agrarian) : ग्रामीण तथा कृषि पर आधारित

किसान : छोटे खेत रखने वाले किसान जो अपने खेतों में परिवार सहित कार्य करते हैं।

मालिक : जिनके कब्जे में बड़ी संपत्ति होती है और जो श्रमिकों से काम करवाते हैं।

मज़दूर : भूमिविहीन फसल के साझीदार या पट्टेदार।

कृषक समाज : एक जैसा समाज, जो औद्योगिक स्वरूप वाला नहीं होता।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धांगरे, डी.एन. (1983), *भारत में कृषक आंदोलन,* 1920-50 दिल्ली, उत्तर प्रदेश।

गुप्ता, डी. संस्करण (1992) *सामाजिक स्तरीकरण,* दिल्ली, उत्तर प्रदेश।

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) कृषक समाज संरचना की संकल्पना मुख्यत: पश्चिमी समाज से आई है। विश्वास किया जाता है कि कृषिकों की उत्पत्ति भूमि जोतने वाले कबीलों से हुई है। वे छोटे-छोटे समूहों में रहते थे। कृषक समाज औद्योगिकरण से पूर्ण था। इस प्रकार कृषिक समाज मूलत: एक जैसी सामाजिक संरचना थी। क्योकि उनकी सामाजिक और आर्थिक संरचना प्राय: एक जैसी थी। मूलत: वे जिस ज़मीन पर कार्य करते थे वह उनके लिए पर्याप्त थी। अर्थात् वे आत्म निर्भर थे। इस प्रकार इस समाज में कोई बड़ी वर्ग विशमताएँ नहीं थीं। आंतरिक रूप से किसान मानवतावादी थे लेकिन उन पर बाहरी शहरी विशिष्ट या उच्च वर्ग का प्रभुत्व था। कृषिक समाज में होने वाली अधिक पैदावार, कर के रूप में शहरी शासकों को दी जाती थी।

2) शनीन के अनुसार अपने उपभोग के लिए उत्पादन करने वाला समाज आदर्श कृषिक समाज था। यह समाज शासकों अर्थात् राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार संपन्न लोगों के अहसान चुकाने के लिए भी उत्पादन करता था। उन्होंने कृषिक जीवन के परस्पर निर्भर चार घटकों का वर्णन किया है। ये हैं :

   i) किसान अपने परिवार की सहायता से अपने खेत में काम करते हैं।

   ii) खेतों में निम्न स्तर की तकनीकों से काम किया जाता है।

   iii) किसानों को विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप होता है।

   iv) किसानों पर बाहरी अधिपत्य होता है।

1) पश्चिम में औद्योगिककरण के विस्तार से कृषि में श्रमिकों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गई। दूसरे इससे कृषिक संरचना में परिवर्तन आ गया। कृषि का आधुनिकीकरण और मशीनीकरण होने से अत्यधिक फालतू उत्पादन होने लगा। नकदी फसलों के द्वारा किसान अपनी आमदनी का पुनर्निविश करने लगे और बाजार से निकट संपर्क रखने लगे। इस प्रकार कृषक समाज में पूँजीवाद के विकास ने वफादारी तथा असंरक्षक संबंधों के लिए जरूरी कारकों में परिवर्तन ला दिया। इसने कृषक समाज में असमानता भी उत्पन्न की। फिर कृषि में मशीनीकरण के दबाव से कुछ किसानों को लाभ हुआ तथा कुछ भूमिविहीन मज़दूर बन गए। कृषि एक उद्यम बन गया तथा इससे मुनाफा कमाना कृषि का मुख्य उद्देश्य बन गया।

2) लेनिन के अनुसार पूँजीवाद के विकास ने कृषक समाज को निश्चित रूप से प्रभावित किया तथा पहले के विशमता रहित श्रेणियों को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर दिया। रूसी कृषक समाज में i) भूमिपति, ii) धनी किसान, iii) मध्य श्रेणी के किसान, iv) गरीब किसान तथा v) भूमिविहीन मज़दूर वर्गों में विभाजित हो गया। लेनिन का मत था कि किसानों का ध्रुवीकरण होगा और वास्तव में केवल दो वर्ग बन जाएंगे। एक पूँजीपति किसान वर्ग तथा दूसरा भूमिविहीन सर्वहारा वर्ग।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 औद्योगिक वर्ग

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 वर्ग व्यवस्था की उत्पत्ति

26.2.1 वर्ग संरचना की विशेषताएँ

26.3 वर्ग और औद्योगिक समाज

26.3.1 औद्योगिक वर्ग

26.3.2 पूँजीवादी समाज की विशेषताएँ

26.3.3 समाजवादी समाजों की विशेषताएँ

26.3.4 पूँजीवादी समाज में वर्ग

26.4 कार्ल मार्क्स : वर्ग, असमानता और पूँजीवाद

26.4.1 उत्पादन के रूप

26.4.2 वर्ग संघर्ष

26.4.3 वर्ग जागरुकता

26.4.4 पूँजीवादी औद्योगिक समाज

26.5 मैक्स वेबर : औद्योगिक वर्ग

26.6 गिड्डेंसस, पार्किन एवं बर्गेल

26.7 समाजवादी समाजों में वर्ग संरचना

26.8 पूँजीवादी और समाजवादी समाजों में तुलना

26.9 सारांश

26.10 शब्दावली

26.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- वर्ग व्यवस्था की उत्पत्ति जान सकेंगे,
- वर्ग व्यवस्था और औद्योगिक समाज में संबंध पहचान सकेंगे,
- पूँजीवादी एवं समाजवादी विचारधाराओं की विशेषताएँ को समझ सकेंगे, तथा
- मार्क्स एवं वेबर के औद्योगिक वर्ग के बारे में विचारों पर चर्चा कर सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

सामाजिक वर्ग शब्द का प्रयोग अठारहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण हुआ। प्राय: लोग इस शब्द का प्रयोग सम्पत्ति की अवधारणा की श्रेणी की स्थिति बताने के लिए प्रयोग करते थे। अमेरिकन और फ्रांसीसी क्रांति से वर्ग व्यवस्था में असमानता सिद्धांत के अध्ययन करना महत्वपूर्ण विषय

बन गया। इस शब्द का पहली बार प्रयोग सेंट सिमोन ने सम्पत्ति जो स्थिति बताती थी के स्थान पर किया। इस प्रकार वर्ग शब्द की संकल्पना मार्क्स से पहले की है। सामाजिक वर्ग का संबंध उपलब्ध स्थिति एवं उससे जुड़े अन्य लाभों से है अर्थात् इसमें व्यक्ति के गुण, कुशलता और योग्यता का विकास करने की प्रवृत्ति होती है। वास्तव में सामाजिक वर्ग व्यक्तियों के समूह होते हैं। लेकिन ये समूह वैधानिक या धार्मिक रूप से स्वीकृत नहीं होते। औद्योगिक समाजों में अलग विशेषताएँ होती हैं। सामाजिक वर्ग व्यक्ति की सामाजिक स्थिति दर्शाते हैं। इसकी प्रवृत्ति व्यक्ति की योग्यता, उपलब्धियों का उत्थान करने की होती है।

विद्वानों के बीच वर्गों में सदस्यों का निर्धारण करने पर मतभेद है। फिर भी अधिकांश समाजशास्त्री निम्नलिखित वर्गों की विद्यमानता से सहमत हैं :

क) उच्च वर्ग (मालिक)
ख) मध्य वर्ग (सफेदपोश श्रमिक)
गं) मज़दूर (श्रमिक वर्ग)

कुछ समाजों में चौथा वर्ग अर्थात कृषक वर्ग भी माना जाता है।

26.2 वर्ग व्यवस्था की उत्पत्ति

अधिकांश वर्ग व्यवस्था इस धारणा पर आधारित है कि 'जन्म से सभी व्यक्ति स्वतंत्रा एवं एक समान है' परंतु वर्ग व्यवस्था का वास्तविक रूप उसके दिखाई देने वाले रूप से भिन्न है। अतः कुछ व्यक्ति कह सकते हैं कि वर्ग व्यवस्था का कोई वैचारिक आधार नहीं है। यह एक अवशिष्ट श्रेणी है। समाज में वर्ग संरचना के अनेक कारण हैं, कुछ महत्वपूर्ण कारण इस प्रकार हैं :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) उत्पादकता में श्रमिक बल में आवश्यकता से अधिक विस्तार
ii) परिवार से बाहर श्रम विभाजन का विस्तार
iii) अत्यधिक फालतू धन का संचय
iv) संसाधनों पर निजी स्वामित्व

26.2.1 वर्ग संरचना की विशेषताएँ

वर्ग व्यवस्था की कुछ विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं :

i) सामाजिक वर्गों का सोपानात्मक क्रम : विशेषाधिकार और भेदभाव के संदर्भ में वंश परंपरा होना।
ii) वर्ग स्वार्थों का स्थाई विचार।
iii) वर्ग जागरूकता, वर्गों की चेतना, वंश परंपरा, पहचान और परस्पर निर्भरता की विद्यमानता वर्ग व्यवस्था का माप है सामाजिक भिन्नताएँ। वर्ग विशिष्टताएँ असमानता और वर्ग सीमाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है।

वर्ग संरचना को समझाने के दो तरीके हैं :

i) श्रेणीकरण की योजनाएँ
ii) परस्पर निर्भरता आधारित संबंधों की विशेषताएँ
   क) एक तरफ निर्भरता
   ख) परस्पर निर्भरता

सामाजिक संबंधों को समझने की एक व्यवस्था है प्राय: एक पर दूसरे की अधीनता। कुछ समाजशास्त्रियों का वर्ग के बारे में विचार है कि विजय के रूप में विजेता उच्च वर्ग का तथा पराजित निम्न वर्ग का होता है।

वर्ग विकास के संबंध में प्राय: पूछा जाता है कि क्या सामाजिक वर्ग आधुनिक समकालीन समाजों की विशेषता है। अर्थात् सभी औद्योगिक समाजों में वर्ग व्यवस्था पाई जाती है। इसके लिए मार्क्सवादी तर्क है कि ये सभी ऐतिहासिक रूप से ज्ञात समाजों में विद्यमान रहा है। लेकिन अन्य विद्वानों का तर्क है कि सामाजिक वर्ग केवल उन्हीं समकालीन समाजों में है जहाँ आर्थिक गतिविधियाँ प्रमुख रही हैं और जहाँ पर ओद्योगीकरण का प्रसार समग्रत: निरंतर होता जा रहा है।

एक जैसे सामाजिक वर्ग के लोगों को कमोबेश एक जैसे जीवन 'अवसर मिलते' हैं अर्थात् जीवन में अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करने की संभावनाएँ एक जैसी हैं। जैसे किसी समाज में आज़ादी, उच्च जीवन शैली, सुविधा, मूल्यवान मानी जांने वाली वस्तुएँ। किसी समाज की सामाजिक वर्गों के बीच की विषम संबद्धता जीवन शैली को प्रभावित करती है। इसलिए निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वर्ग उन वंशानुगत परंपराओं के विपरीत होते हैं जो स्तरों में अपरिवर्तनीय मानी जाती है।

26.3 वर्ग और औद्योगिक समाज

औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण की तीन विशेषताएँ हैं:

i) असमानता

ii) समरूपता

iii) सामाजिक गतिशीलता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) **असमानता** : औद्योगिक समाजों में एकरूपता की प्रवत्ति होती है। अर्थात् रहन-सहन का स्तर, आर्थिक स्थिति एवं शक्ति की दृष्टि से एक समान दिखाई देते हैं। ज्यादा से ज्यादा लोग मध्यम वर्ग में शामिल हो रहे हैं। अर्थात् जनसंख्या का यह वर्ग हैसियत आमदनी और जीवन शैली में एकरूपता लिये हुये है।

इस वर्ग की असमानता एक खास पहचान बनती जा रही है जिसको हम एक हीरे की शक्ल द्वारा बता सकते हैं।

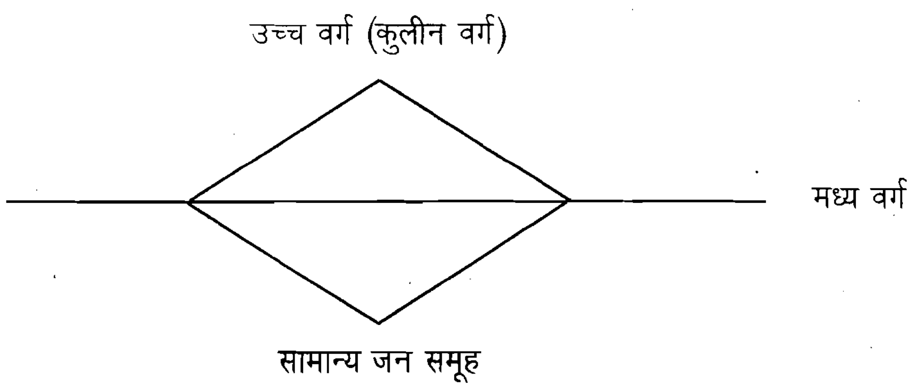

मध्यम वर्ग का यह विस्तार निम्न कारणों से है :

क) **श्रम विभाजन का विस्तार**
इस व्यवस्था में व्यवसाय के लिए प्रत्येक व्यक्ति के पास विशेषज्ञता होना महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार लोगों को उसके व्यवसाय इसकी उपलब्धता, कार्य क्षमता, कुशलता आदि के अनुसार होती है।

ख) **सरकार की भूमिका में वृद्धि**
सरकार को नौकर शाही का प्रबंध करना पड़ता है। जिसके लिये तकनीकी व्यक्तियों की ज़रूरत पड़ती है। कल्याणकारी योजनाओं के लिये सरकार को ऐसे व्यक्ति या कर्मचारी चाहिए जो प्राय: मध्य आय वर्ग से ही मिलते है।

ii) समरूपता किसी स्तरीकरण व्यवस्था में किसी व्यक्ति या समूह की प्रवत्ति अपेक्षाकृत दूसरी व्यवस्था मे उन्हीं स्थितियों या वैसी ही स्थितियों जैसी अपनाने की किसी व्यक्ति अथवा समूह की प्रवृत्ति होती है।

हैसियत के प्रति जागरूकता	**बनाम उपलब्धि के प्रति जागरूक**
(परंपरागत समाज बिना किसी समरूपता के)	(इसमें समरूपता स्वयं की कुशलता और क्षमता पर निर्भर होती है)

iii) **सामाजिक गतिशीलता** : यह उद्योगीकरण से ही जुड़ा हुआ गतिशीलता का विचार है। जब समाज उद्योगीकरण के खास स्तर तक पहुँच जाता है तो गतिशीलता की दर में वृद्धि हो जाती है अर्थात् वे और ज्यादा खुले अवसर पाते हैं तथा उपलब्धि के प्रति केंद्रित रहकर अपनी योग्यता, क्षमता तथा गुणों का विकास कर लेते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.3.1 औद्योगिक वर्ग

युक्ति संगत उद्योगीकरण से भी वैसी ही वर्ग संरचना होती है। औद्योगिक समाज वे समाज हैं जहाँ बड़ी मात्रा में उत्पादन होता है। साथ ही परिवार और आर्थिक उद्यमों के बीच एक अलगाव रहता है। इसमें श्रम का विभाजन अत्यधिक तकनीकी एवं अत्यधिक लाभ कमाना ही इसका मुख्य उद्देश्य रहता है। औद्योगिक समाजों की पूँजीवादी और समाजवादी स्वरूपों के बारे में चर्चा की है।

इन समाजों की व्यावसायिक ढाँचागत विशेषताएँ समान है। अर्थात् दोनों ही व्यवस्थाएँ कामगारों की नियुक्ति करते हैं तथा सामाजिक स्तरीकरण समान है। परंतु राजनीतिक ढाँचे या शासन उनके सामाजिक सिद्धांतों और नीतियों के साथ ऐतिहासिक परिवर्तन में भिन्नता रखते हैं। (संयुक्त राज्य अमेरकि तथा इंग्लैंड)

26.3.2 पूँजीवादी समाज की विशेषताएँ

i) उत्पादन के संसाधनों का स्वामित्व निजी हाथों में रहता है अर्थात् इसमें निजी स्वामित्व की धारणा प्रमुख होती है।

ii) अर्थव्यवस्था के नियंत्रण का विकेंद्रीकरण हो जाता है अर्थात् उत्पादन और उपभोग का संतुलन के अनुसार नहीं होता बल्कि बाज़ार के नियमों के अनुसार निर्धारित होता है। यह बाज़ार में माँग एवं पूर्ति के आधार पर चलता है जिसका केवल अनुमान किया जाता है।

iii) मालिक एवं कर्मचारी में मतभेद रहता है क्योंकि श्रमिक के पास श्रम की शक्ति होती है जिसके लिये उनको मज़दूरी मिलती है जबकि मालिकों के पास उत्पादन के साधन रहते हैं और वह श्रमिक को मज़दूरी का भुगतान करता है।

iv) क्योंकि इसमें लाभ कमाना ही मुख्य उद्देश्य होता है अत: ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की ओर ध्यान दिया जाता है।

v) क्योंकि संसाधनों का वितरण का निर्धारण योजनाबद्ध तरीके से नहीं होता और माँग तथा आपूर्ति से बाज़ार के हर क्षेत्र में वस्तुओं के मूल्यों में उतार चढ़ाव होता है और इस प्रकार पूरी अर्थव्यवस्था में इसका सीधा असर पड़ता है।

पूँजीवादी समाज के आलोचक तर्क देते हैं कि इसमें मज़दूरों का शोषण होता है क्योंकि यह पूर्णतया लाभ केंद्रित व्यवस्था है। यह शोषण श्रमिकों की फालतू संख्या के रूप में होता है। जहाँ मज़दूर को मिलने वाली मज़दूरी अपर्याप्त होती है तथा मालिकों का मुनाफा कई गुना ज्यादा होता है और आय में असमानता की स्थिति बन जाती है। चूँकि पूँजीवादी समाजों में अर्थव्यवस्था योजनाबद्ध नहीं होती इसलिये इसके चरमराने का हमेशा खतरा बना रहता है। साथ ही अतिरिक्त आमदनी से विलासिता की वस्तुएँ खरीदी जाती हैं इससे भी आय के असमान वितरण को बढ़ावा मिलता है।

बोध प्रश्न 1

1) पूँजीवादी समाजों की विशेषताओं को लगभग 10 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) क) एक ....

ख) .... उत्पादन के साधन

ग) .... सरकार द्वारा

26.3.3 समाजवादी समाजों की विशेषताएँ

समाजवादी समाजों में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

i) उत्पादन के संसाधनों पर सरकार का नियंत्रण होता है।

ii) अर्थव्यवस्था का नियंत्रण केंद्रीय योजना अधिकरण द्वारा होता है। संसाधनों का वितरण और उपभोग योजना अधिकरण निर्धारण करता है।

iii) सोवियत अर्थव्यवस्था में श्रमिकों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त लाभ संपूर्ण समाज को दिया जाता है क्योंकि इसका उद्देश्य कल्याणकारी रहता है।

26.3.4 पूँजीवादी समाजों में वर्ग

वर्गों में अंतर करने के लिए अनेक विद्वान आर्थिक घटक को आधार बनाते हैं। ब्रिटेन के समाजशास्त्री - एडम स्मिथ प्रथम विद्वान थे जिन्होंने आर्थिक मानदंड के आधार पर समाज में वर्ग समूहों के विभाजन की बात की। वह इनको श्रेणियाँ कहते हैं। उनके अनुसार तीन प्रकार की श्रेणियाँ हैं :

i) जो किराये के सहारे रहते हैं (किराया कमाने वाले)
ii) जो मज़दूरी के सहारे काम चलाते हैं (मज़दूरी करने वाले)
iii) जो मुनाफा कमाते हैं (पूँजीपति)

अरस्तु के अनुसार समाज में तीन वर्ग हैं। उच्च वर्ग, मध्य वर्ग तथा निर्धन वर्ग। उनके अनुसार इन तीन वर्गों में से मध्य वर्ग महत्वाकांक्षी होता है तथा समाज के विकास के लिए श्रेष्ठ होता है। उच्च वर्ग मुनाफा कमाना चाहता है तथा अपनी स्थिति बनाए रखना चाहता है। निर्धन वर्ग इतना अधिक निर्धन होता है कि उसकी इच्छा अपनी स्थिति सुधारने की होती है। इस प्रकार दो महत्वाकांक्षी वर्गों में से मध्यवर्ग अधिक अच्छा है।

बर्गेल के अनुसार वर्ग विभिन्न उपसंस्कृतियों को दर्शाते हैं जो परस्पर संबंधित होते हैं तथा विभिन्न मूलों से आते हैं। उनका यह भी मत है कि वर्गों की उपस्थिति सामाजिक विचारों में अंतर को दर्शाती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 1

किसी नगर या शहर में किसी बड़े उद्योग को देखें। उसमें श्रमिकों के विभाजन और वर्गों को देखें। अपने निष्कर्ष लिखें तथा अध्ययन केंद्र में अन्य छात्रों से चर्चा करें।

26.4 कार्ल मार्क्स : वर्ग, असमानता और पूँजीवाद

कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग असमानता पैदा करता है के रूप में वर्ग व्यवस्था काफी प्रसिद्ध हुई। उन्होंने वर्ग की परिभाषा पूँजीवादी समाज के संदर्भ में की है। उन्होंने इसको स्पष्ट करने के लिए कहा है कि 'किसी समाज के उत्पादन संगठन में एक जैसा काम करने वाले व्यक्तियों का समूह वर्ग होता है'। इस प्रकार विभिन्न ऐतिहासिक कालों में वर्ग व्यवस्था के स्वतंत्र और दास (दास प्रथा) भूमि मालिक और भूमि दास (सामंती प्रथा) इस दुनिया में शोषक और शोषित विभिन्न नाम ऐतिहासिक काल में रहे हैं। मार्क्स के अनुसार सामाजिक समूहों के सदस्यों में उत्पादन वाले श्रमिक कार्य बलों में एक जैसा संबंध होता है। व्यक्तियों के समूह में एक वर्ग उत्पादन संगठन में एक ही प्रकार का कार्य करते हैं। इसका निर्धारण व्यवसाय या आमदनी से नहीं होता अपितु उत्पादन प्रक्रिया में किए जाने वाले कार्य से होता है। उदाहरण के लिए बढ़ई जिसमें से एक दुकान मालिक है और एक उसका नौकर है दोनों का कार्य एक जैसा होते हुए भी दो अलग-अलग वर्ग से संबंधित हैं।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक वर्गों के विकास के लिए उत्पादन का संगठन होना ही काफी नहीं है। इसके लिए निम्न घटक भी होने चाहिए :

1) जनसंख्या का वास्तविक रूप से केंद्रीकरण
2) सरल संप्रेषण
3) वर्ग जागरुकता का विकास

उदाहरण के लिए छोटे किसानों की बड़ी आबादी है और एक जैसी परिस्थितियों में रहते हैं लेकिन वे एक दूसरे से पृथक हैं। उन्हें अपने सामान्य हितों की जानकारी नहीं है तथा उनका मार्क्सवादी विचारधारा में वर्ग नहीं बनता है।

किसी समाज में उत्पादन संगठन की आर्थिक स्थिति ही वर्ग की विशेषता है। मार्क्स का मत है कि प्राचीन साम्यवाद के अतिरिक्त जहाँ निजी संपत्ति की संकल्पना नहीं थी वर्ग व्यवस्था विद्यमान नहीं थी।

मार्क्स का विचार था कि पश्चिमी समाज निम्नलिखित चार मुख्य कालों में विकसित हुआ :

प्राचीन साम्यवाद	-	कोई वर्ग नहीं
प्राचीन समाज	-	मालिक व दास
सामंती समाज	-	भूमि मालिक और कृषि मज़दूर
पूँजीवादी समाज	-	बूर्जुआ व सर्वहारा वर्ग

इन वर्गों में भिन्नता अर्थव्यवस्था में उनकी स्थितियों में अंतर से पता लगती है।

26.4.1 उत्पादन का रूप

MAADHYAM IAS

अतीत के प्रत्येक काल में उत्पादन का रूप स्थिति विशेष में समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विशेषताओं के साथ वर्ग संबंधों की प्रकृति के बारे में भी जानकारी देता है। समाज में वर्गों की उत्पत्ति उत्पादन के विशेष रूपों के अनुसार होती है। उदाहरण के लिए उत्पादन के पूँजीवादी रूप में उच्च स्तर की तकनीक एवं पूँजी उत्पादन के साधन बन जाते हैं। इस व्यवस्था में एक वर्ग के पास उत्पादन के साधन होते हैं जबकि अन्य वर्ग उससे वंचित रहते हैं। इससे समाज का दो वर्गों अर्थात् पूँजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग में विभाजन हो जाता है।

बॉक्स 26.01

वर्ग एक दूसरे के प्रतिरोध में संघठित होने लगते हैं तथा उत्पादन व्यवस्था में एक समान हितों और आर्थिक स्तरों के कारण उनकी पहचान पक्की हो जाती है। इस व्यवस्था में पारंपरिक विरोध वर्ग संघर्ष की ओर ले जाते हैं। उत्पादन के नए रूप में एक नया समाज बन जाता है जिसमें नए वर्ग होते हैं।

26.4.2 वर्ग संघर्ष

मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष होना सभी समाजों की विशेषता है। उनका मत है कि इस संघर्ष से बचा नहीं जा सकता क्योंकि प्रत्येक समाज के शासक वर्ग में ही उसके विनाश के बीज मौजूद होते हैं और देर सबेर सामने आ जाते हैं। इस वर्ग संघर्ष में आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक अत्याचार होना एक विशेषता है। शोषण से विरोधी वर्ग का उदय होता है। इस प्रकार वे उस व्यवस्था से अपने को पराया महसूस करने लगते हैं जिसे बनाने में वे सहायता

करते हैं। इसे यूँ कहा जा सकता है कि श्रम के बिना पूँजीवाद टिक नहीं सकता लेकिन श्रमिक उसमें पराए ही रहते हैं। जागरुकता बढ़ने से श्रमिक वर्ग संघटित होने लगता है और जब अत्याचार के साथ टकराव होता है वे व्यवस्था को नष्ट कर देते हैं। फिर एक नई सामाजिक व्यवस्था की शुरुआत होती है तथा स्वामित्व के निजी साधनों की समाप्ति होने से वर्गवाद कम हो जाता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि जब वर्ग जागरुकता विकसित होती है और वर्ग स्वत: ही अपने आप में संगठित हो जाते हैं इस प्रकार मार्क्स के अर्थों में वर्ग बन जाते हैं। इस प्रकार वर्ग से ही वर्ग बन जाता है।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार सामाजिक असमानता की मुख्य विशेषता है शक्ति-आर्थिक शक्ति। समाज दो वर्गों में - जो इस शक्ति को रखता है और जो इससे वंचित है, विभाजित हो जाता है अर्थात् शोषक व शोषित। मार्क्स की आर्थिक व्याख्या में इस शक्ति की असमानता को आधार बनाया गया है।

जिनके पास उत्पादन के संसाधन होते हैं उन्हीं के पास शक्ति होती है और वे इनसे वंचित व्यक्तियों पर शासन करते हैं। इस प्रकार किसी समाज में वर्ग नियंत्रण ही मुख्य विचार है।

26.4.3 वर्ग जागरुकता

वर्ग निर्माण एवं वर्ग जागरुकता की स्थितियों के बारे में मार्क्स बताता है।

i) वर्गों में आर्थिक लाभों के विभाजन के बारे में संघर्ष

ii) एक वर्ग की स्थिति के बारे में उसी वर्ग के व्यक्तियों में आसानी से संप्रेषण ताकि विचार और कार्यक्रमों का पहले ही प्रचार किया जा सके।

iii) वर्ग विकास वर्ग जागरुकता जिसमें सभी सदस्यों में परस्पर संबद्धता तथा अपने ऐतिहासिक भूमिका के महत्व की भावना होती है।

iv) उस आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण न कर पाने की अयोग्यता जिस पर निम्न वर्ग का गहन असंतोष होता है। यह असंतोष उनके प्रति होता है जिसे वह शोषक मानती है।

v) आर्थिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप राजनीतिक संगठन की स्थापना, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा वर्ग-जागरुकता में वृद्धि होना।

प्रत्येक काल में शासक वर्ग का विचार शासन करते रहने के विचारों को निर्धारित करता है। जैसे समाज में संसाधनों पर अधिकार रखने वाला वर्ग उसी समय प्रबुद्ध वर्ग पर भी शासन करता है। किसी काल विशेष में क्रांतिकारी विचारों की उपस्थिति क्रांतिकारी वर्ग की उपस्थिति की पूर्व संभावना होती है। उत्पादन के सभी संसाधनों में स्वयं क्रांतिकारी वर्ग सबसे बड़ी उत्पादन शक्ति है। इस प्रकार वह वर्गों को ऐसे विशिष्ट उप विभाजनों में बाँटता है जिनके हित प्राय: भिन्न-भिन्न होते हैं। मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बड़े सामाजिक वर्गों में संबंध एक परस्पर निर्भरता और संघर्ष पर आधारित होते हैं।

26.4.4 पूँजीवादी औद्योगिक समाज

इस प्रकार मार्क्सवादी पूँजीवादी समाज में दो मुख्य वर्ग होते हैं। एक पूँजीपति (बूर्जुआ) जो मज़दूरी देता है तथा दूसरा (सर्वहारा) जो मज़दूरी प्राप्त करता है। मार्क्स भविष्यवाणी करता है चूँकि पूँजीवाद का विकास होने से ये दोनों वर्ग और अधिक समानांतर होते हैं। इसके विपरीत डेहेंड्रोफ का मत है कि वर्ग अधिक से अधिक विषम हो जाएँगे अर्थात् उनमें विभिन्नताएँ

MAADHYAM IAS

बढ़ेगी तथा श्रमिक वर्ग तीन विशेष श्रेणियों में अकुशल, अर्धकुशल तथा कुशल श्रमिकों में विभाजित हो जाएँगे। इनके स्वार्थ भी अलग अलग होंगे।

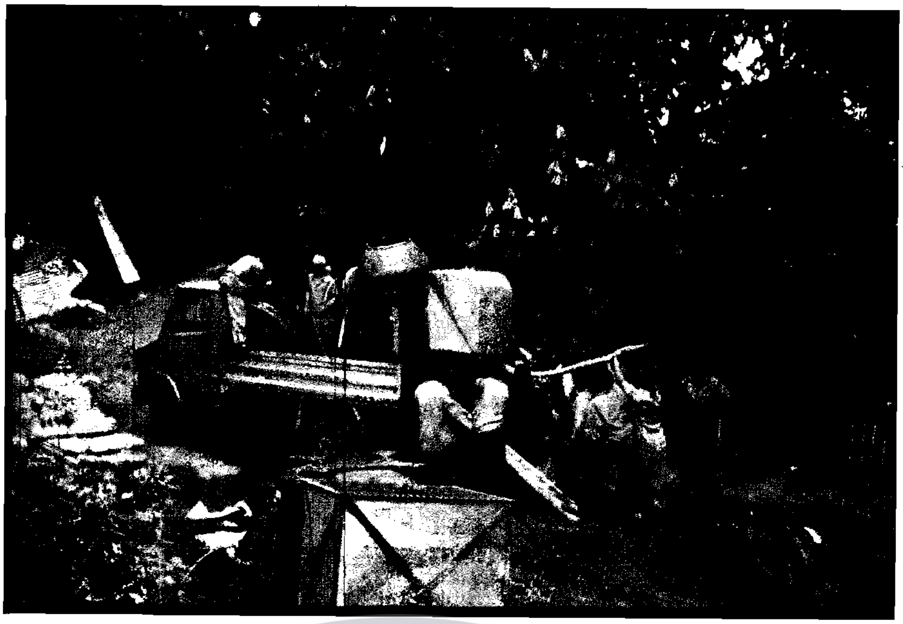

औद्योगिक समाज अत्यधिक पूँजी और प्रौद्योगिकी आधारित होता है।

साभार: बी. किरण मई

MAADHYAM IAS

कार्ल मार्क्स जिन दो वर्गों की बात करता है इससे भिन्न वेबर मध्य वर्ग की भी बात करता है। उसके अनुसार पूँजीवाद के विकास से मध्य वर्ग में भी विस्तार होता है। 19वीं शताब्दी में मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी एक ऐसी स्थिति आएगी कि पूँजीवाद के विकास में मध्य वर्ग सर्वहारा वर्ग बन जाएगा। लेकिन 1950 और 1960 के दशकों में अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया कि स्थिति इसके विपरीत थी।

उनका मत था कि जहाँ बूर्जुआ प्रक्रिया घटित हो रही थी वहीं श्रमिकों की संख्या भी मध्य वर्ग में शामिल हो रही थी। उनके अनुसार औद्योगिक समाज में वर्ग पेंटागॉन आकार (पंचभूजी आकार) ले रहा था जहाँ सबसे अधिक आबादी श्रमिकों की अपेक्षा मध्य वर्ग की थी। क्लार्क केर के अनुसार यह विकसित उद्योगीकरण की आवश्यकता थी जिसमें उच्च शिक्षित, प्रशिक्षित तथा कुशल श्रमिक कार्य बल की आवश्यकता थी।

26.5 मैक्स वेबर : औद्योगिक वर्ग

वेबर का तर्क है कि वर्ग बाज़ार अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होते हैं जिसमें व्यक्ति आर्थिक लाभों के लिए प्रतियोगिता करते हैं। उनका मत है, 'एक जैसी आर्थिक स्थिति को भोगने वाले व्यक्तियों के भौतिक स्तर और निजी जीवन को प्रभावित करने वाली स्थितियाँ, उनके स्तर और जीवन शैली का निर्धारण करती हैं। इस प्रकार वेबर के मतानुसार व्यक्ति की वर्ग स्थिति मूलतः उसकी बाज़ार स्थिति होती है जबकि मार्क्स के मतानुसार वर्ग संबंध परस्पर निर्भरता और संघर्ष पर आधारित है।

मार्क्स की तरह वेबर वर्गों को आर्थिक संदर्भ में भी देखता है। लेकिन वह उनकी बाज़ार स्थितियों को महत्वपूर्ण अंतरों के रूप में देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न व्यवसायों का बाज़ार मूल्य भी भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए इंजीनियरों और बिजली के कारीगरों का बाज़ार मूल्य अलग-अलग होगा। इस प्रकार वेबर के मत में व्यक्ति की वर्ग स्थिति मूलतः उसकी बाज़ार स्थिति होती है। जिन व्यक्तियों की वर्ग स्थिति एक जैसी होती है उनके जीवन अवसर भी समान होते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति समाज में वांछित वस्तुओं को प्राप्त करने के अवसरों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। जैसे उच्च शिक्षा और अच्छे आवास प्राप्त करने के अवसर।

मार्क्स की तरह वह भी इस बात से सहमत है कि संपत्ति मालिक तथा संपत्ति विहीन दो वर्ग होते हैं। लेकिन वह समाज में संपत्ति विहीन समूहों के वर्गों की बाज़ार स्थिति में महत्वपूर्ण अंतर मानता है अर्थात् भूमि विहीन वर्गों में कुशलता व्यावसायिक क्षमता तथा योग्यता में अंतर होने के कारण अनेक वर्ग हैं जो इस प्रकार हैं :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) संपत्ति वाला उच्च वर्ग

ii) भूमि विहीन सफेदपोश श्रमिक

iii) छोटे बूर्जुआ वर्ग

iv) हाथ से काम करने वाला श्रमिक वर्ग

इनका निर्धारण बाज़ार में उनके व्यावसायिक शिल्प के मूल्यों के अनुसार किया गया है। जिनका व्यावसायिक शिल्प दुर्लभ था बाज़ार में उनका वेतन अधिक था और उनका एक अलग वर्ग बन गया। वेबर दो वर्गों के ध्रुवीकरण से सहमत नहीं है। वह सफेदपोष या कुशल श्रमिकों के मध्य वर्ग की बात करता है। पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ मध्यवर्ग का भी विस्तार होता है। उसका तर्क है कि आधुनिक राष्ट्रों के राज्य में तर्क संगत नौकरशाही व्यवस्था में लिपिकों और प्रबंधकों की आवश्यकता होती है।

बॉक्स 26.02

मार्क्स से भिन्न वेबर का तर्क है कि एक वर्ग के व्यक्ति आवश्यक नहीं कि एक जैसा सामुदायिक कार्य करें या उस वर्ग में एक समान वर्ग जागरुकता हो। यह हो सकता है कि उनका व्यवहार समान हो और मतदान का दृष्टिकोण समान हो या फिर मद्यपान की आदतें समान हो। वेबर वर्ग क्रांति की अनिवार्यता से सहमत नहीं है। हो सकता है क्रांति करना उनके लिए जरूरी न हो। वर्ग जागरुकता हो तो सकती है लेकिन वह भिन्न प्रकार की होगी। जैसे भारत में जातीय वर्ग।

निम्न वर्ग के व्यक्ति सुधार के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए माँग करने में तो वे संगठित हो सकते हैं लेकिन व्यवस्था परिवर्तन में बड़ी क्रांति कभी नहीं होती। दूसरा उदाहरण भी देखा जा सकता है औद्योगिक हड़ताल वहाँ तालाबंदी हो सकती है लेकिन व्यवस्था परिवर्तन के लिए क्रांति कभी नहीं होती।

वेबर के अनुसार श्रमिकों द्वारा व्यवस्था परिवर्तन संभव नहीं है। क्योंकि किसी व्यवस्था पर चोट करने के लिए एक सैद्धांतिक व्यवस्था का होना आवश्यक है जिसके लिए एक प्रबुद्ध वर्ग अर्थात् कुलीन समूह आवश्यक है। अत: ऐसा कार्य करने के लिए एक सैद्धांतिक व्यवस्था के बिना अशिक्षित लोगों द्वारा क्रांति संभव नहीं।

26.6 गिड्डेंस, पार्किन तथा बर्गेल

एँथोनी गिड्डेंस औद्योगिक समाज में तीन बड़े वर्ग मानता है विशेषत: पूँजीवादी समाज में आर्थिक मानदंड के आधार पर निम्नलिखित वर्ग होते हैं :

i) उच्च वर्ग - उत्पादन संसाधनों के मालिक
ii) मध्य वर्ग - तकनीकी योग्यता रखने वाले
iii) निम्न वर्ग - हाथों से काम करने वाले श्रमिक

फ्रैंक पार्किन आधुनिक पूँजीवादी समाज में सामाजिक वर्गों का व्यावसायिक वर्गीकरण करता है। लाभ प्राप्त करने की शक्ति प्रत्यक्ष रूप से व्यावसायिक कुशलताओं की माँग से संबंधित है। यह दावा नहीं माना जा सकता कि उच्च वर्ग चतुराई तथा उपलब्धि में श्रेष्ठ होता है। लेकिन एक सूक्ष्म अध्ययन दर्शाता है कि परीक्षण कार्य निष्पादन का होता है न कि चतुराई का और कार्य का निष्पादन न केवल योग्यता अपितु विशेष प्रशिक्षण पर भी निर्भरता करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उच्च शिक्षित/प्रशिक्षित कर्मचारियों को उच्च वेतन - उच्च व्यावसायिक स्तर प्राप्त होता है। इस प्रकार बाज़ार में उनकी अधिक माँग के कारण मध्य वर्ग के उत्थान में सहायता मिलती।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) उत्पादन के रूप और इससे संबंधित वर्ग संघर्ष पर एक टिप्पणी लिखें। उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सही या गलत बताइए

मार्क्स के अनुसार व्यक्ति की वर्ग स्थिति मूलत: उसकी बाज़ार स्थिति होती है।

गलत/ सही

बर्गेल के अनुसार वर्ग स्वभाविक रूप से आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वर्ग होते हैं। वर्गों के बारे में उनके चार विचार हैं :

i) किसी समाज में भूमि व्यवस्था के समाप्त होने से वर्गों का उदय हुआ। उदाहरण के लिए यूरोप में वैधानिक व्यवस्था समाप्त होने से उपलब्धि के मानदंडों से एक मुक्त समाज का विकास हुआ।
ii) वर्गों में कोई सिद्धांत नहीं होता वे अवशिष्ट श्रेणियाँ होती हैं।
iii) वह वर्ग के विचार को संघर्ष के रूप में देखता है जहाँ विजेता उच्च वर्ग का और पराजित समूह निम्न वर्ग का होता है।
iv) स्तरीकरण व्यवस्था में जैविक अंतरों का भी प्रभाव पड़ता है जैसे गोरे काले रंग से श्रेष्ठ माने जाते हैं।

बर्गेल का तर्क है कि धन कुछ वर्गों और स्वामित्वों में केंद्रित हो सकता है। इसी तरह शक्ति पर भी एकाधिकार हो सकता है।

उनके अनुसार वर्ग विभिन्न उन संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो परस्पर एक दूसरे से संबंधित होते हैं और अलग-अलग मूल घटकों से उत्पन्न होते हैं। उनका तर्क है कि लगभग संपूर्ण वर्ग व्यवस्था इस धारणा पर आधरित है कि सभी व्यक्ति मुक्त बन समान उत्पन्न होते हैं। फिर भी वास्तविक रूप में वर्गों में गहन भेद होते हैं जो उनमें नहीं होने चाहिएँ।

26.7 समाजवादी समाजों में वर्ग संरचना

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसमें स्तरीकरण बाज़ार अर्थव्यवस्था के कारण नहीं होता अपितु विशिष्ट राजनीतिक वर्ग के कारण होता है। जबकि पूँजीवादी समाज में अनेक विशिष्ट वर्ग होते हैं। उदाहरण के लिए अमरीकी समाज में सी आर मिल्स की संकल्पना के अनुसार विशिष्ट वर्गों की तीन श्रेणियाँ हैं। फिर भी, सोवियत समाज में केवल एक ही विशिष्ट वर्ग है : राजनीतिक वर्ग। इन कुलीन या विशिष्ट वर्गों का एक स्वार्थी समूह बन जाता है। स्तरीकरण नौकरशाहों द्वारा लागू राज्य का प्रयास है। यह एक जैसा विशिष्ट वर्ग समाज को शासक बनाम कृषक/मज़दूर/श्रमिक/ जनता में विभाजित कर देता है। समाजवादी समाजों में वर्गों का अध्ययन करने वाले विद्वानों का कथन है कि 'वर्ग' शब्द के प्रयोग के स्थान पर यहाँ 'स्तर' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए मुख्य स्तर इस प्रकार है :

i) प्रबुद्ध स्तर वर्ग
  क) कुलीन शासक
  ख) श्रेष्ठ प्रबुद्धजन
  ग) सामान्य प्रबुद्धजन

ii) शासक वर्ग
  क) कुलीन वर्ग
  ख) सामान्य जन श्रेणी
  ग) वंचित श्रमिक

iii) किसान वर्ग

 क) संपन्न किसान

 ख) सामान्य किसान

मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि उत्पादन संसाधनों पर जनता का स्वामित्व होना बूर्जुआ समाज की तरफ पहला चरण है। सभी सदस्य उत्पादन संसाधनों में समान रूप से भागीदार होंगे। उनका मानना था कि राज्य द्वारा अलग हो जाने से वस्तुओं का उपभोग एवं सेवाएँ प्रत्येक की आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारित होंगी। सोवियत समाज का अध्ययन करने वालों ने इसकी वर्ग संरचना का भी अध्ययन किया। फ्रैंक पार्किन ने विभिन्न आर्थिक उपलब्धियाँ, व्यावसायिक हैसियत और शक्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों का पता लगाया है। ये हैं :

i) प्रबंधकीय और प्रशासनिक स्थिति

ii) कुशल श्रमिक स्थिति

iii) निम्न या अयोग्य सफेदपोश स्थिति

iv) अकुशल श्रमिक स्थिति

यद्यपि सोवियत समाज में आमदनी की समानता पूँजीवादी समाजों की तरह प्रधान तो नहीं है तो भी इसका महत्व अवश्य है।

मिलोविन डिजीलस के अनुसार समाजवादी समाज में वर्ग नहीं होते। पश्चिम के बूर्जुआ समूहों को पूर्व के नए शासक वर्ग ने हटा दिया। इस नए वर्ग में राजनीतिक नौकरशाह थे जिनमें से अधिकांश साम्यवादी दल के उच्च अधिकारी शामिल थे। उन्होंने आगे अपने स्वार्थों के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग किया। यद्यपि कानूनी रूप में उत्पादन संसाधनों पर सामुदायिक स्वामीत्व था लेकिन व्यावहारिक रूप में इस नए वर्ग ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन पर नियंत्रण कर लिया। ये राजनीतिक नौकरशाह अर्थव्यवस्था का नियंत्रण एवं संचालन करते थे तथा उत्पादन, उपभोग और प्रक्रियाओं आदि के निर्णयों पर इनका संपूर्ण एकाधिकार था। इन सबके परिणामस्वरूप इस वर्ग में तथा सामान्य जनता के बीच व्यापक आर्थिक अंतर देखा गया जिसका संबंध उच्च विशेषाधिकार तथा हैसियत से था। डिजीलस के अनुसार बाद के सोवियत संघ के शासक वर्ग बूर्जुआ समूह से अधिक शोषणकर्ता बन गए थे। इनके अधिकार भी अत्यधिक थे क्योंकि उन पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण नहीं था। उनका तर्क है कि एक ही राजनीतिक दल वाले राज्य में नौकरशाह एकाधिकार युक्त शक्तियों का प्रयोग करते हैं। वह मार्क्स से सहमत हैं कि व्यवहारिक रूप से उनकी शक्तियों का स्रोत इसलिए है कि उत्पादन संसाधन उनके नियंत्रण में हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

दूसरे विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि सोवियत समाजों में आर्थिक शक्तियाँ राजनीतिक अधिकारों से मिलती हैं। टी.बी. बोटोमोरे के अनुसार नया वर्ग उत्पादन संसाधनों का नियंत्रण अपनी राजनीतिक शक्तियों के कारण ही करता है।

पोलिश विद्वान वेसोलोस्किस के अनुसार यद्यपि सामाजिक स्तर तो विद्यमान है लेकिन मार्क्सवादी अर्थ में वर्गों की अनुपस्थिति ने संघर्ष के बुनियादी कारणों को समाप्त कर दिया। वह पुन: कहता है कि समाज में कोई छोटा वर्ग बड़ी आबादी का शोषण नहीं कर सकता। वह यह भी कहता है कि विभिन्न स्तरों के बीच स्वार्थों के लिए कोई बड़ा संघर्ष भी नहीं है क्योंकि उत्पादन संसाधनों पर सामुदायिक स्वामित्व है तथा प्रत्येक वर्ग सबके फायदे के लिए कार्य करता है। फिर भी कुछ आर्थिक असमानताएँ हैं जो उनके कार्य के अनुसार वाले सिद्धांत पर आधारित हैं। समाज का मत है कि सामाजिक उत्पादन में व्यक्ति की हिस्सेदारी का विभाजन, व्यक्ति की योग्यता, कार्य की मात्रा कार्य की क्वालिटी के अनसार

निर्धारित होती है। यह इसलिए होता है कि दिए गए किसी कार्य को करने के लिए उनके पास आवश्यक कुशलता का स्तर और शिक्षा होती है।

अभ्यास 2

समाजवादी समाज किन अर्थों में पूँजीवादी समाज से भिन्न होता है। विभिन्न व्यक्तियों से चर्चा करें तथा बताएँ कि भारतीय समाज क्या है? अध्ययन केंद्र पर अन्य छात्रों से अपने अध्ययन की तुलना करें।

'नए वर्ग' और पश्चिम के बूर्जुआ वर्ग में मुख्य अंतर यह है कि पश्चिम में संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्र को हो जाता है जबकि पूर्व में संपत्ति पर किसी सदस्य/पुत्र आदि का कोई कानूनी हक नहीं होता। उनका अधिकार मुख्यत: राजनीतिक दरबार में होता है जिसे सीधे ही पुत्रों में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता।

वेसोलोस्की का तर्क है कि समाजवादी समाज में रूढ़िवादी अर्थों में वर्ग समाप्त हो गए हैं तथा उनकी अधिक स्पष्ट व्याख्या स्तरों के रूप में वर्णन द्वारा की जा सकती है।

चाहे पूँजीवादी समाज हो या समाजवादी समाज दोनों में ही लाभ की धारणा प्रमुख है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि सही कार्य करने वाली संस्थाएँ ही लाभ उठा सकती हैं। फिर भी योजना की अर्थव्यवस्था में अनेक उद्योगों में व्यापक संसाधन लगाए जाते हैं जिनसे लाभ नहीं होता।

26.8 पूँजीवादी तथा समाजवादी समाजों की तुलना

MAADHYAM IAS

प्राय: योजनागत अर्थव्यवस्था अर्थात् समाजवादी समाज की आलोचना में तर्क दिया जाता है कि संपूर्ण योजना के अधिकारों में योजनाकारों की निरंकुश या संपूर्ण शक्तियों का केंद्रीयकरण हो जाता है। यह अधिकारों का संघटन है। इससे श्रमिकों के प्रतिनिधियों, किसानों तथा औद्योगिक क्षेत्र में विषमता फैल जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि वे राष्ट्रीय संसाधनों का उचित हिस्सा निर्धारित करना चाहते हैं। आलोचकों का तर्क है कि इस तरह की आर्थिक व्यवस्था में उपभोक्ताओं की पसंद का ध्यान नहीं रखा जाता।

इस प्रकार हम पूँजीवादी समाज तथा समाजवादी समाज में अंतर देख सकते हैं जो इस प्रकार है :

पूँजीवादी समाज	समाजवादी समाज
पूँजीवादी समाज में संपत्ति मालिकों तथा संपत्तिविहीन व्यक्तियों में काफी अंतर होता है।	समाजवादी समाज में संपत्ति अंतर के कारण असमानताएँ तो नहीं होती लेकिन आमदनी के आधार पर असमानताएँ होती है।
संपत्ति से आमदनी तथा कार्य से आमदनी में अंतर होता है पूँजीपति राजनीतिक नेता भी होते हैं।	आर्थिक क्षेत्र अलग होता है तथा राजनीतिक क्षेत्र अलग।
	संपूर्ण सामाजिक समूहों में अंतर कम होता है तथा उनमें अंतर का महत्व भी कम होता है।

	व्यक्ति ही राजनीतिक/विशिष्ट व स्तर तक पहुँचता है वर्ग या समूह नहीं।
स्तरीकरण आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है जैसे अमरिकी समूह में गौरों+कालों में देखा जा सकता है।	प्रायः संघर्ष को किसी न किसी प्रकार के विरोध से दबा दिया जाता है (जैसे समाज के प्रबुद्ध नेताओं के द्वारा) लेकिन डाहरेंडोर्फ के अनुसार स्वार्थ के लिए समूहों में संघर्ष होता है जो समन्वित कुलीनों में भी देखा जा सकता है।
पूँजीवादी समाज में संगठनों के बनने और स्थापित होने की संभावना होती है जो सत्ता के कुलीन वर्ग की शक्ति का विरोध करें।	सोवियत समाजों में कोई शोषित वर्ग नहीं होता, किसी प्रकार का विरोध नहीं होता जैसा कि मार्क्स ने कहा है किसी प्रकार का राजनीतिक विद्रोह भी नहीं होता लेकिन किसान विद्रोह हुआ है जैसे 1930 के दशक में केंद्रीकरण की धारणा के विरोध में सरकार के खिलाफ किसानों का विद्रोह। सोवियत समाजों में वर्ग संघर्ष के अलावा भी संघर्ष के अन्य स्रोत देखें जा सकते हैं।
संसाधनों का वितरण पूँजीपतियों द्वारा स्वयं किया जाता है	वस्तुओं का असमान वितरण सरकारी एजेंसियों द्वारा किया जाता है।
वेतन/मज़दूरी तथा आमदनी पूँजीपतियों द्वारा करती निर्धारित की जाती है।	मज़दूरी/वेतन या आमदनी सरकार निर्धारित है।
आमदनी तथा वेतनों के मध्य संबंध गहन तथा मजबूत होता है और परस्पर संबंधित है।	आमदनी का असमान वितरण के बीच परस्पर संबंध पूँजीवादी समाज से कम होता है।
स्तर का निर्धारण पूँजी के स्वामित्व के अनुसार होता है अर्थात् आपके पास पूँजी है या नहीं।	शिक्षा और व्यावसायिक स्तर के बीच गहरा संबंध होता है। (व्यावसायिक स्तर)
संगठन अर्थात् बाज़ार नियंत्रण स्थान है व्यक्ति बाज़ार में अर्थव्यवस्था का निर्णय - करते हैं। अर्थव्यवस्था की कोई योजना नहीं होती। उत्पादन संसाधनों पर व्यक्तियों का अधिकार होता है।	संगठन संसाधनों के वितरण के लिए एक तथा महत्वपूर्ण केंद्रीय योजना एजेंसी होती है। जिसका वितरण योजनाबद्ध होता है। उत्पादन संसाधनों पर सामुदायिक अधिकार होता है।
उद्देश्य है मुनाफा अर्जित करना।	कोई आर्थिक उद्देश्य नहीं होता अर्थात् इसमें उद्देश्य कल्याणकारी होता है।
असमानता सोच समझ कर नहीं की जाती अपितु व्यवस्था के कारण होती है। उत्पादन, उपभोग तथा वितरण ढंग नियंत्रित किया जा सकता है।	सोवियत संरचना में राजनीतिक क्षेत्र के अनुरूप नीति के अनुसार असमानता की जाती है।

MAADHYAM IAS

	उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ महत्वपूर्ण होती हैं जो संसाधनों के वितरण को प्रभावित करती है।
आर्थिक गतिविधियाँ असमानता का निर्णय करती है।	स्तरीकरण आर्थिक आधार पर नहीं अपितु राजनीतिक आधार पर होता है।

26.9 सारांश

हाल ही के वर्षों में दोनों औद्योगिक समाजों में आर्थिक असमानताओं की विद्यमानता को देखा जा सकता है। समाजों का उद्देश्य अपने सभी सदस्यों को रोज़गार देना, श्रमिक वर्ग की आमदनी में वृद्धि करना तथा सभी को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना है जो अभी तक उच्च वर्ग हमेशा अपना एकाधिकार मानता था। हाल के वर्षों में घरेलू नौकर वर्ग व्यवस्था को लगभग पूरी तरह समाप्त कर दिया गया है। यह एक बड़ी उपलब्धि है जिसे श्रमिक वर्ग ने 20वीं शताब्दी में प्राप्त किया है। इस प्रकार वे उच्च वर्ग की दासता से बच गए हैं। मुख्य उद्देश्य समाज को गुलामी और दलित वर्ग में विभाजित होने से रोकना है।

20वीं शताब्दी में विभिन्न वर्गों के बीच संबंध 19वीं शताब्दी के संबंधों से अलग थे। 20वीं शताब्दी में संपूर्णत: सामाजिक सेवाओं ने आर्थिक परिणामों के कारण होने वाली असमानताओं को समाप्त करने के लिए काफी प्रभावित किया।

औद्योगिक समाजों में आर्थिक विकास के कारण प्राय: सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई लेकिन अधिक वृद्धि व्यावसायिक संरचना में हुए परिवर्तनों के कारण हुई। यह मुख्यत: सफेदपोश और व्यावसायिक वर्गों की वृद्धि तथा निरंतर हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के कारण हुई।

प्रगतिशील कराधान, भूमि कर तथा आयकरों के माध्यम से धन तथा आमदनी पुनर्वितरण करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया जा रहा है। इसलिए जीवन स्तर में समानता तथा मध्य वर्ग में उत्थान हो रहा है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

26.10 शब्दावली

पूँजीपति (Capitalist) : समाज में उत्पादन के संसाधन निजी स्वामित्व में हो

औद्योगिक (Industrial): जहाँ भारी मशीनों, उद्योगों आदि पर जोर दिया जाता है।

समाजवाद (Socialist) : ऐसे समाजों में अधिकांश उद्योग और योजनाएँ राज्य के नियंत्रण में होती है।

26.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोटोमोर, टी (संपादित) 1973, *मार्क्सवादी विचारों का कोष,* ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड।

वबर, एम 1964, *सामाजिक और आर्थिक संगठनों के सिद्धांत* (अनुवाद एवं प्रकाशित हेंडर्सन ए एम तथा पार्सस, टी) फ्री प्रैसग्लेंका।

26.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पूँजीवादी समाज में उत्पादन संसाधनों पर निजी स्वामित्व होता है। फिर उत्पादन एवं उपभोग बाज़ार की शक्तियों के अनुसार नियंत्रित होते हैं। फिर नियोक्ता तथा नियुक्त अर्थात् कर्मचारी में अंतर होता है। मालिक कर्मचारी को वेतन देता है। संपूर्ण व्यवस्था का उद्देश्य मुनाफा कमाना तथा उसे अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। फिर वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्ति आधार पर निर्धारित होता है। यह भी देखा गया है कि पूँजीवाद के आलोचक श्रेणियों के शोषण और दोगले व्यवहार की बात करते हैं तथा व्यवस्था के नष्ट होने की आशा करते हैं।

2) क) समाजवादी

   ख) अर्थव्यवस्था

   ग) स्वामित्व

बोध प्रश्न 2

1) उत्पादन का रूप मार्क्स के विचार के अनुसार एक संकल्पना है। प्रत्येक समाज की व्यवस्था में एक विशेष उत्पादन का ढंग होता है। पूँजीवादी समाज में उत्पादन का रूप पूँजीवादी होता है जिसमें अत्यधिक पूँजी निवेश वाले उद्योग होते हैं। वे बूर्जुआ जिनके पास उत्पादन के संसाधन होते हैं श्रमिकों का शोषण करते हैं और वर्ग संघर्ष क्रांति करने की सीमा तक बढ़ जाती हैं। श्रमिक पूँजीपतियों को समाप्त कर वर्ग रहित समाज की नई संरचना करते हैं जहाँ उत्पादन संसाधनों का स्वामित्व सामूहिक होता है। इस प्रकार एक वर्ग रहित समाज का प्रादुर्भाव होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) गलत

इकाई 27 भारत में मध्य वर्ग

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 वर्ग और मध्य वर्ग की संकल्पना

27.3 पश्चिमी देशों में मध्य वर्ग

27.4 भारत में मध्य वर्ग

27.5 ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में मध्य वर्ग का उद्‌गम

27.6 स्वतंत्रता आंदोलन में मध्य वर्ग की राजनीति

27.6.1 स्वतंत्रता के बाद भारत में मध्य वर्ग

27.6.2 आकार और संयोजन

27.7 स्वतंत्रता के बाद मध्य वर्गों का विकास

27.8 सारांश

27.9 शब्दावली

27.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्‌देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- मध्य वर्ग की संकल्पना जान सकेंगे,
- भारत में और पश्चिमी देशों के मध्य वर्गों की तुलना कर सकेंगे,
- भारत में मध्य वर्ग के उद्‌गम का वर्णन कर सकेंगे,
- मध्य वर्ग की राजनीति संबंधी चर्चा कर सकेंगे, और
- स्वतंत्रता के बाद मध्यवर्गों के विकास को समझ सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

हमारे देश में विकास या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को देखने से पता चलता है कि यह केवल आर्थिक विकास तक ही सीमित नहीं है। यह विकास भारतीय समाज की सामाजिक संरचना में कुछ मूलभूत परिवर्तन ला रहा है। यह परिवर्तन प्रक्रिया बिल्कुल स्पष्ट है। लोगों के नए सामाजिक समूह तथा नई श्रेणियाँ दिखाई देने लगी हैं। वयस्क मताधिकार पर आधारित शासन की लोकतांत्रिक परंपराओं ने तथा धर्मनिरपेक्ष संविधान ने सामाजिक संगठनों के विभिन्न स्तरों पर चले आ रहे शक्ति संबंधों के परम्परागत ढाँचे में साफ तौर पर परिवर्तन किया है।

भारत में पिछले पाँच दशकों से आर्थिक विकास और लोकतांत्रिक शासन ने भी सामाजिक स्तरीकरण को परिवर्तित किया है। पहले शासन और शासित की व्यवस्था, जो जातिगत

उच्चता और भूस्वामी आधारित थी, एक भिन्न प्रकार की शक्ति संरचना में परिवर्तित हो गई थी। यद्यपि आज भी जाति और भूस्वामी होना विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है तो भी आज भारत में वे सामाजिक स्तरीकरण को निश्चित करने वाले एकमात्र घटक नहीं है। पिछले पचास वर्ष के दौरान भारत में शक्ति का नया ढाँचा उभर कर सामने आया है और एक विशिष्ट वर्ग की स्थापना हुई है जो पहले से बिल्कुल भिन्न है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि लोगों की नई सामाजिक श्रेणियाँ तथा नए व्यावसायिक समूह उत्पन्न हुए हैं।

बॉक्स 27.01

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना को जातिप्रथा के ढाँचे में बहुत पहले से देखा जा चुका है। तथापि नयी शहरी अर्थव्यवस्था का विकास और पिछले कुछ वर्षों में कृषि संबंधों में हुए परिवर्तनों के अनुभवों से जाति व्यवस्था समाप्त नहीं हुई तो उसका महत्व कम हुआ है। इसलिए शक्ति संरचना के उद्‌गम और सामाजिक स्तरीकरण की नयी व्यवस्था को समझने के लिए हमें विभिन्न संकल्पनात्मक श्रेणियों की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में काम करने वाले कुछ सामाजिक विद्वानों का सुझाव है कि हमें 'जाति' की संरचना से 'वर्ग' संरचना की ओर जाना चाहिए। कुछ अन्य विद्वानों का तर्क है कि यद्यपि पुराना जातिक्रम परिवर्तित हो चुका है, फिर भी भारतीय समाज में आज भी विभिन्न स्तरों के विषयों में निर्धारण की भूमिका में लगातार जाति एक महत्वपूर्ण घटक बनी हुई है। फिर भी समकालीन भारतीय समाज को संतुलित रूप से समझने के लिए हमें दोनों संकल्पनाओं भारतीय समाज को संतुलित रूप से समझने के लिए हमें दोनों संकल्पनाओं - वर्ग और जाति का प्रयोग करने की आवश्यकता है। सामाजिक स्तरीकरण की बदलती संरचना के संदर्भ में हमें भारत में मध्य वर्ग के उद्‌गम को समझना चाहिए।

27.2 वर्ग और मध्य वर्ग की संकल्पना

MAADHYAM IAS

वर्ग संकल्पना पश्चिमी समाज विज्ञान में बहुत ही महत्वपूर्ण श्रेणी रही है। यह एक लम्बी परम्परा रही है कि पश्चिमी समाज को देखने के लिए वहाँ वर्ग व्यवस्था की संकल्पना को देखा जाता है। समाज विज्ञान के विशिष्ट विचारक कार्ल मार्क्स वेबर ने वर्ग की संकल्पना पर बहुत कुछ लिखा है। मार्क्स ने पश्चिमी समाज के विश्लेषण में तथा अपने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त में वर्ग को महत्वपूर्ण श्रेणी माना है।

मार्क्स का वर्ग सिद्धान्त दो खंडों में विभक्त है। वर्ग की संकल्पना के माध्यम से ही उन्होंने स्पष्ट किया है कि शासक अथवा प्रभुत्व वाले अपने से नीचे के लोगों का शोषण करते हैं अर्थात शोषक और शोषित के रूप में स्पष्ट किया है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वर्ग समाज मूल रूप से दो वर्गों में बँटा होता है। इस द्विखंडीय व्यवस्था की धूरी सम्पत्ति संबंधों से निर्मित होती है– 'अनुत्पादकों' का अल्पसंख्यक वर्ग जो उत्पादों के साधनों पर नियंत्रण रखता है। यह वर्ग शक्तिशाली होने के कारण 'उत्पादकों' के बहुसंख्यक वर्ग से फालतू उत्पादन को छीनने से समर्थ है, जो उनके जीवन यापन का साधन/स्रोत है। इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार 'वर्ग' उत्पादन संसाधनों के लोगों के समूहों के संबंध है। इसके अलावा मार्क्स के सिद्धांत में आर्थिक अधिकार राजनीतिक अधिकारों से जुड़े हुए हैं। इस लिए उत्पादनों, संसाधनों पर नियंत्रण राजनीतिक नियंत्रण भी प्रदान करता है।

वर्ग संरचना के द्विखंडीय रूप में मध्य वर्ग की स्थिति केवल संक्रमणात्मक होती है। मार्क्स के

लिए मध्य वर्ग में स्व रोज़गार वाले किसान हैं तथा छोटे बूर्जुआ लोग हैं। इन्हें इस लिए ऐसा कहा गया है कि उनके अपने उत्पादन के साधन हैं और वे बिना किसी श्रमिक के स्वयं परिश्रम करते हैं। मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था के विकास से मध्य वर्ग अदृश्य हो जाएगा। केवल दो प्रमुख वर्ग सर्वहारा वर्ग अथवा श्रमिक वर्ग और बुर्जुआ वर्ग या पूँजीवादी वर्ग ही प्रमुख होंगे। वर्ग संबंधों के मार्क्सवादी सिद्धांत में ये दो वर्ग ही महत्वपूर्ण हैं। अन्य वर्ग सिद्धांतवादियों ने मध्य वर्ग को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इनमें प्रमुख हैं – मैक्स वेबर, डाहरेंडोर्फ तथा लोंकवुड।

यद्यपि मैक्स वेबर मार्क्स के वर्ग सिद्धांत को आर्थिक संदर्भ में अत्यंत आवश्यक मानते हैं परन्तु वे संकल्पना के मामले में मार्क्स से बिल्कुल सहमत नहीं है। मार्क्स के विपरीत उन्होंने तर्क दिया है कि बाज़ार अर्थव्यवस्था में ही वर्गों का विकास होता है जिसमें आर्थिक लाभ कमाने के लिए व्यक्तिगत प्रतियोगिता होती है। उन्होंने वर्ग को लोगों के समूहों के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है कि जो बाज़ार अर्थव्यवस्था में समान स्थिति में होते हैं और इस प्रकार से वे वास्तव में समान रूप से आर्थिक लाभ कमाते हैं। अत: वेबर की परिभाषा में एक व्यक्ति का वर्ग स्तर उसकी 'बाजार स्थिति' है अथवा दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति के वर्ग का स्तर जानने के लिए उसकी क्रय शक्ति का आकलन करना होगा। किसी व्यक्ति के वर्ग का स्तर उसके 'जीवन अवसरों' को भी निर्धारित करता है। उनकी आर्थिक स्थिति अथवा 'वर्ग स्थिति' यह निर्धारित करती हैं कि वे अपने समाज में कितनी वांछनीय वस्तुएँ खरीद सकता है।

बोध प्रश्न 1

1) मार्क्स के वर्ग संरचना के द्विखंडीय सिद्धान्त को लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) मध्य वर्गों को अधिक महत्व देने वाले विचारकों में शामिल हैं:

i)... ii) ....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

यद्यपि मार्क्स की तरह ही वेबर ने भी वर्ग को परिभाषित करने के लिए सम्पत्ति स्वामित्व को एक कसौटी माना है। वह मार्क्स के इस विचार से सहमत हैं कि पूँजीवादी समाज में दो मुख्य वर्ग हैं, एक वह वर्ग जिसके पास सम्पत्ति हैं, और दूसरा वह वर्ग जिसके पास कोई सम्पत्ति

नहीं हैं, अर्थात एक सम्पत्तिधारी और दूसरा सम्पत्तिविहीन वर्ग। फिर भी वेबर सभी विहीन लोगों का सर्वहारा वर्ग जैसा एक वर्ग स्वीकार नहीं करता। सम्पत्ति विहीन लोगों की 'वर्ग स्थिति' उनके कौशल के आधार पर अलग-अलग होती है। जिनके पास कौशल होता है, निश्चित रूप से उनका 'बाजार मूल्य' (उदाहरण के लिए डॉक्टर, इंजीनियर तथा अन्य व्यवसायी) भी अकुशल श्रमिकों की तुलना में अच्छा होगा। इस प्रकार उनकी 'वर्ग स्थिति' उस कामगार श्रेणी के लोगों से भिन्न होगी जो वेबर के सिद्धांत की संरचना में मध्य वर्ग का निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त, मार्क्स की तरह वेबर समाज के दो भागों में ध्रुवीकरण होने की प्रवृत्ति नहीं मानते। इसके विपरीत वेबर तर्क देते हैं कि पूँजीवाद विकसित होने के साथ सफेदपोश 'मध्य वर्ग' के ह्रास ही अपेक्षा विस्तार रहेगा।

इसके बाद के समाज शास्त्रियों ने अपने मध्य वर्ग की संकल्पना पर अध्ययन में विचारधारा या सिद्धांतों की चर्चा वेबर के विचारों के अनुरूप ही की है।

समाजशास्त्र के ग्रन्थों में 'पुराना' मध्य वर्ग और 'नया' मध्य वर्ग में निर्णायक अन्तर किया गया है। 'पुराना' मध्य वर्ग जैसा कि मार्क्स ने प्रयोग किया है 'लघु बूर्जुआ' यानि वे लोग जो उत्पादन के अपने संसाधनों से कार्य करते हैं जैसे व्यापारी, स्वतंत्र व्यावसायी तथा किसान आदि। इसके साथ ही 'नया' मध्य वर्ग के मायने काफी विस्तृत हैं जैसे कि कुशल श्रमिक या काम करने वाले सफेदपोश वेतनभोगी कर्मचारी तथा स्वरोजगार करने वाले व्यावसायी आदि। यहाँ तक जिनके पास कार्य करने के लिए उत्पादन के साधन नहीं हैं उन्हें भी अकुशल नीलपोश कामगारों से अलग माना गया है। उनकी आय अकुशल नीलपोश लोगों से बहुत अधिक होती है और इनकी जीवनशैली तथा स्तर श्रमिक वर्ग से बहुत श्रेष्ठ होता है।

27.3 पश्चिमी देशों में मध्य वर्ग

MAADHYAM IAS

ऐतिहासिक रूप से कहा जा सकता है कि 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी यूरोप में बूर्जुआ वर्ग का वर्णन करने के लिए पहली बार मध्य वर्ग के शब्द का प्रयोग किया गया। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के आरंभिक विकास काल के दौरान बूर्जुआ वर्ग (व्यापारियों और उद्योगपतियों का नया वर्ग), एक तरफ कुलीन वर्गों और दूसरी तरफ (भूपतियों और अभिजात वर्ग) गरीब श्रमिक वर्गों के बीच में खड़ा था। जैसे-जैसे औद्योगिक अर्थव्यवस्था का विकास हुआ भूपति वर्ग का ह्रास हो गया। बूर्जुआ वर्ग, जिसमें बड़े उद्योगपति और पूँजीपति थे, शासन वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया। मध्य वर्ग शब्द स्वतंत्र रूप से कार्य करने वाले छोटे व्यापारियों, व्यावसायिकों तथा कारीगरों या दस्तकारों के लिए प्रयोग किया जाने लगा जिसके एक ओर बुर्जुआ वर्ग और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग था। यह दोनों के बीच में था। नगरों और शहरीकरण के विकास से अनेक नए मध्यवर्गों का विकास हुआ जो औद्योगिक उत्पादन के विकास में शामिल हुए। बड़े-बड़े शहरों और नगरों के विकास के कारण उपभोक्ता और उत्पादकों के बीच सीधा व्यापार होने में कठिनाइयाँ आने लगी थीं। इन सब वर्गों को बाद में 'पुराना मध्य वर्ग' कहा जाने लगा।

'नए मध्य वर्ग' के प्रादुर्भाव ने औद्योगिक पूँजीवाद, बड़े-बड़े निगमों और जटिल संगठनात्मक संस्थाओं के उत्थान को बढ़ावा दिया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री जी.डी.एच. कोल ने कहा है कि पश्चिमी अर्थव्यवस्था में दो तरह के महत्वपूर्ण विकासों के कारण 'नये मध्य वर्ग' का उद्गम हुआ। पहला कारण था पब्लिक स्कूलों का बड़ी संख्या में खुलना और शिक्षा का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार। दूसरा यह कि ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों का विकास और विस्तार। इन

विकासों के कारण वृहत् उद्यमों का विकास हुआ जिनमें भारी संख्या में उद्यमी और उद्यमों में कार्य करने वाले वेतनभोगी प्रबंधकों तथा प्रशासकों की आवश्यकता के कारण नए वर्ग पैदा हुए। लॉकवुड भी मानते हैं कि निगम पूँजीवाद तथा बड़े संगठनों के उद्गम से नए सफेदपोश पैदा हुए जो वेतनभागी थे।

अभ्यास 1

आंवासीय परिसरों में जाइए और वहाँ पर विभिन्न वर्गों से संबंधित भवनों को पहचानें। विभिन्न तरह के लोगों और उनके कार्यों से संबंधित भवनों के नोट अपनी नोट बुक में लिखें। आप किन भवनों को मध्य वर्ग का कहेंगे और क्यों? अपनी टिप्पणियों की अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से तुलना करें।

अर्थव्यवस्था की स्थिति में 'पुराना मध्य वर्ग' और 'नया मध्य वर्ग' दोनों में स्पष्ट भेद हैं। पुराने मध्य वर्ग की स्थिति दो ध्रुवी वाली वर्ग संरचना से बाहर की थी। ये वर्ग न तो पूँजीवादी वर्ग का हिस्सा थे और न ही श्रमिक वर्ग का। नये मध्य वर्गों ने इस प्रकार की कोई स्वायत स्थिति प्राप्त नहीं की थी। ये तो बड़े संगठनों का हिस्सा थे। इन की मध्य स्थिति औद्योगिक अर्थव्यवस्था के कारण बनी। इस वर्ग का विकास इसलिए हुआ था क्योंकि आधुनिक उद्योगों में बड़ी संख्या में नए विशेषज्ञों, व्यावसायिकों, तकनीकी और कौशल वाले प्रशासन की भारी माँग थी। अर्थव्यवस्था में तीसरे अथवा सेवा क्षेत्र के विकास के कारण नए मध्य वर्ग का और विस्तार हुआ। शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के साथ अनेक तीसरे उद्योगों जैसे बैंकिंग, बीमा, अस्पताल, होटल, पर्यटन तथा जनसंचार सेवा आदि का विकास हुआ। इन सेवा उद्योगों में कुशल श्रमिकों और व्यावसायिकों की नियुक्तियाँ हुई। इस तरह के वर्ग ने अधिकतर पश्चिमी औद्योगिक देशों में कुल श्रमिक जनसंख्या में अत्याधिक वृद्धि कर दी। इस तरह हमें लगता है कि पश्चिमी देशों के अनुभवों ने मार्क्स को गलत सिद्ध कर दिया। फिर भी 'पुराने मध्य वर्ग' का ह्रास तथा 'नये मध्य वर्ग' का विस्तार हुआ है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.4 भारत में मध्य वर्ग

ऊपर हमने देखा कि औद्योगिक और शहरी अर्थव्यवस्था के विकास के साथ पश्चिमी यूरोप में पहली बार मध्य वर्गों का उद्गम हुआ। हम यह भी अध्ययन कर चुके हैं कि नये बूर्जुआ वर्ग/औद्योगिक वर्ग को परिभाषित करने के लिए पहली बार मध्य वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया था। और इसके बाद एक ओर औद्योगिक बूर्जुआ तथा दूसरी ओर श्रमिक वर्ग अर्थात कुशल व्यावसायिकों के बीच पैदा हुए सामाजिक समूहों की स्थिति के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

ऐतिहासिक रूप से कहा जाए तो भारत में जो मध्य वर्ग का विकास हुआ है वह पश्चिमी देशों से बिल्कुल भिन्न है। भारत में 19वीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन के संरक्षण में इस मध्य वर्ग का उदय हुआ। यद्यपि इस वर्ग का जन्म अंग्रेज़ों के संरक्षण में हुआ तो भी इस वर्ग ने अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी मध्य वर्गों ने आर्थिक विकास की नीतियों को निर्णायक स्वरूप प्रदान करने और भारतीय राज्य द्वारा किए जाने वाले सामाजिक परिवर्तनों में सहायता प्रदान की। इसलिए मध्य वर्ग को समझने उसके इतिहास, उसकी सामाजिक संरचना और उसकी राजनीति के विषय में जानना अत्यंत आवश्यक है।

27.5 ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में मध्य वर्ग का उद्‌गम

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन इस महाद्वीप में विद्यमान पहले की राजनीतिक व्यवस्था तथा साम्राज्यों से मूल रूप में भिन्न था। ब्रिटिश शासकों ने इस उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग पर न केवल अपना राज्य/शासन ही स्थापित किया, बल्कि इस क्षेत्र की उन्होंने आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं को ही बदल दियां। उन्होंने भू-राजस्व व्यवस्था को बदलने के अलावा इस क्षेत्र में आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था को भी स्थापित किया। उन्होंने राजनीतिक और प्रशासनिक ढाँचे को मान्यता प्रदान की तथा भारतीय लोगों ने पश्चिमी विचारों और सांस्कृतिक मूल्यों को भी लागू किया। भारतीय मध्य वर्ग के जाने माने इतिहासकार बी.वी. मिश्रा ने संकेत दिया है कि इस वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पश्चिम में इस वर्ग की उत्पत्ति में और भारतीय मध्य वर्ग की उत्पत्ति में विशेष अन्तर रहा है। पश्चिम में मध्य वर्ग की उत्पत्ति आर्थिक और प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के कारण हुई और वहाँ का मध्य वर्ग अधिकांश व्यापार और उद्योग में लगा हुआ है। भारत में इसके विपरीत स्थिति रही है। यहाँ पर कानूनी और सार्वजनिक प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप मध्य वर्ग का जन्म हुआ है। इसलिए यहाँ का मध्य वर्ग मुख्य रूप से बौद्धिक व्यवसायों से संबंधित है।' (मिश्रा, 1961 : वी)

19वीं शताब्दी के मध्य तक औपनिवेशिक शासन ने अधिकतर भारतीय राज्यों को अपने शासन में ले लिया था। लगभग इसी समय औद्योगिक क्रांति भी सफल हो चुकी थी। ब्रिटेन की फैक्टरियों एवं मिलों में उत्पादित माल भारत में अत्यधिक मात्रा में आने लगा था तथा ब्रिटेन और भारत के बीच व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने यहाँ पर रेलवे और अन्य आधुनिक सेवा क्षेत्रों - जैसे प्रेस (मुद्रण और जनसंचार) तथा डाक विभागों की भी स्थापना की। इन संस्थानों को चलाने के लिए शिक्षित लोगों की आवश्यकता थी। सभी कर्मचारीगण ब्रिटेन से लाना संभव नहीं था। इसलिए सेवा क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्कूलों और कालेजों की स्थापना की गई जिससे आवश्यक शिक्षित कर्मचारी वर्ग सुलभ हो जाए। शुरू-शुरू में ये स्कूल कालेज भारत के बड़े शहरों जैसे कि कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में ही खोले गए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) भारत के मध्य वर्ग पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर पाँच पक्तियों में दें।

....

....

....

....

....

2) भारत में स्वतंत्रता के बाद मध्य वर्ग के उदय पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

जिन लोगों ने अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्ष नई शिक्षण संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त की उनके माध्यम से भारतीय समाज में ब्रिटिश योजनाओं के तहत पश्चिमी विचारों और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रसारित किया गया। इन संस्थाओं में जिन लोगों ने भी शिक्षा प्राप्त की वे केवल उनके लिए काम ही नहीं करते थे बल्कि वे अंग्रेज़ों की तरह ही सोचते भी थे। देशी मध्य वर्ग पैदा करने की मंशा यह थी कि वे पश्चिमी संस्कृति के भारत में वाहक बनेंगे। इस अवधारणा को 1935 में लार्ड मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया था। भारतीय शिक्षा पर टिप्पणी करते हुए मैकाले ने कहा था : 'हम इस समय अपने अथक प्रयासों से एक नए वर्ग का निर्माण करेंगे जो हमारे और जिन लाखों लोगों पर हम शासन करते हैं उनके बीच अर्थ प्रतिपादित करेंगे। ये रंग और रक्त में तो भारतीय होंगे परंतु स्वभाव, विचारों, चरित्र तथा विद्वता में अंग्रेज़ होंगे। (जैसा कि वर्मा, की 1998 : 2 में)

कुछ वर्षों के बाद भारत में एक नया वर्ग पैदा हो गया। जो लोग सरकार की प्रशासनिक सेवाओं में लगे हुए थे वे वकील, डॉक्टर, अध्यापक और पत्रकार आदि स्वतंत्र व्यवसाय करने वाले वर्ग में शामिल हो गए। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'शिक्षित मध्य वर्ग' की संख्या और आकार में असीमित वृद्धि हुई। यह वर्ग प्रमुख रूप से शहरी क्षेत्रों में केंद्रित थे और सभी लोग ऊँची जातियों की पृष्ठभूमि से आए थे। 1911 तक भारत के विभिन्न भागों में 186 कॉलेज थे और उनमें 36284 विद्यार्थी अध्ययन करते थे। सन् 1921 तक क्रमश: कॉलेजों की संख्या 231 और विद्यार्थियों की संख्या 59595 तक पहुँच गई थी। इसके बाद 1939 तक कॉलेजों की संख्या बढ़कर 385 हो गई तथा विद्यार्थियों की 144904 विद्यार्थियों तक पहुँच गई। (मिश्रा, 1961 : 304)

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बॉक्स 27.02

अभी भी कुछ परिवार अपने बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेजते थे। शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे लोग डिग्री के साथ-साथ 'उदारवाद' और 'लोकतंत्र' को भी यहाँ लाए। ये विचार फ्रांसीसी क्रांति के बाद पश्चिम में प्रसिद्ध हो चुके थे। अत: वे लोग केवल ब्रिटिश सांस्कृतिक मूल्यों के ही वाहक नहीं थे अपितु स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र के आधुनिक विचारों के भी वाहक हो चुके थे। उनमें से अनेक लोगों ने भारतीय संस्कृति की समीक्षा की ओर 'पुरानी' तथा 'घिसीपिटी' सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं व्यवहारों को सुधारने की प्रक्रिया आरम्भ की। 19वीं शताब्दी के दौरान भारत के विभिन्न हिस्सों में सामाजिक सुधार आंदोलन आरम्भ हुआ। जिसका नेतृत्व ये नव शिक्षित मध्य वर्ग के व्यक्ति करते थे।

अंग्रेज़ी से शिक्षित वर्ग के अलावा भी भारतीय समाज के अन्य वर्गों को भी मध्य वर्ग के नाम से जाना जाता था। इनमें छोटे व्यापारी/दुकानदार तथा स्वतंत्र कारीगर थे जिन्हें पश्चिमी संदर्भ के अनुसार 'पुराना मध्य वर्ग' माना जाता था। भारत में व्यापारियों और कारीगरों को हमेशा सामाजिक स्तरीकरण के परम्परागत संरचना में अलग सामाजिक स्तर वाला माना जाता रहा है। इन व्यापारियों और कारीगरों की जातियों को आसानी से पहचान सकते हैं जो ग्रामीण समुदायों के विशेष अंग रहे थे। औपनिवेशिक शासकों की नई प्रशासनिक नीतियों के परिणामस्वरूप अर्थव्यवसथा में परिवर्तन आया तथा अनेक व्यापारी नगरों और शहरों में जा बसे और स्वतंत्र व्यापारी बन गए। यह प्रक्रिया स्वतंत्रता के बाद और भी तेज़ हो गई।

अपने सीमित महत्व में ही सही औपनिवेशिक शासन के दौरान आधुनिक मशीनों के आधार पर उद्योगों का विकास आरंभ हो गया था। 19वीं शताब्दी के मध्य में भारत में रेलवे की स्थापना के साथ ही भारत में आधुनिक उद्योग के विकास के लिए वातावरण और स्थितियाँ बन गई। वैसे मूलरूप से अंग्रेज़ों ने रेलवे की स्थापना ब्रिटेन में कच्चा माल भेजने के लिए की थी। तथापि एक बार रेलवे की स्थापना हो जाने से अंग्रेज़ों ने स्थानीय उद्योग जैसे कि बागानों में भी निवेश किया। आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि होने से व्यापार और वाणिज्य में तीव्र गति आई और कुछ स्थानीय व्यापारियों ने अपनी बचत से आधुनिक उद्योगों को विकसित करने में तीव्रता आई। इन उद्योगों में श्रमिक बलों को तो खपाया गया ही साथ में सफेदपोश कुशल कर्मचारियों की भी नियुक्तियाँ की गई। अत: हम कह सकते हैं कि भारत में औपनिवेशिक शासकों द्वारा जो लोग प्रशासनिक ढाँचे में नियुक्त किए गए थे उनके साथ ही औद्योगिक क्षेत्र में कार्यरत सफेदपोश लोग भारत में बन रहे नए मध्य वर्ग का हिस्सा बन गए।

27.6 स्वतंत्रता आन्दोलन के मध्य वर्गों की राजनीति

भारत में यद्यपि मध्य वर्ग अंग्रेज़ी शासन के संरक्षण में पैदा हुआ था और वे सब अंग्रज़ी भाषा और अंग्रेज़ी संस्कृति के शिक्षित लोग थे। परन्तु वे अपने मालिक अंग्रेज़ों के प्रति हमेशा के लिए निष्ठावान नहीं रहे। मध्य वर्ग के सदस्यों ने न केवल सामाजिक सुधार आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया बल्कि उन्होंने राजनीतिक सवाल उठाने आरम्भ कर दिए थे। इसके बाद तो वे भारत में ब्रिटिश शासन की वैधता पर ही प्रश्नचिह्न लगाने लगे थे। ये मध्य वर्ग के ही लोग थे जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। वर्मा वर्णन करते हैं कि 'शिक्षित मध्य वर्ग ने जो कुलीन वर्ग भी था राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व उपलब्ध कराया और अतयंत उन्नत बूर्जुआ लोकतंत्र के नाम पर स्वयं ब्रिटेन द्वारा किए जाने वाले शासन का विरोध किया।' (वर्मा, 1998 : 21)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 2

अपने इलाके में कुछ स्वतंत्रता सेनानियों से मिलें। क्या वे महसूस करते हैं कि मध्य वर्ग को पैदा करने वाले अंग्रेज़ थे? यदि ऐसा है तो क्यों? अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपनी टिप्पणियों की तुलना करें।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने प्रारंभिक वर्षों में मध्यवर्गीय पेशेवर लोगों द्वारा संचालित की जा रही थी। यहाँ तक कि महात्मा गांधी भी जिनके बारे में माना जाता है कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन आन्दोलन में बदल दिया, एक वकील थे और विशिष्ट व्यावसायिक मध्य वर्ग से संबंधित थे। यद्यपि गांधीजी किसानों तथा भारतीय समाज के अन्य वर्गों को राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करने में सफल रहे और कांग्रेस का नेतृत्व हमेशा मध्य वर्ग और विशेषकर उच्च जातियों के हाथों में ही रहा, अंग्रेज़ों को भी कांग्रेस में निम्न वर्ग की भीड़ की अपेक्षा अंग्रेज़ी जानने वाले शहरी मध्य वर्ग के भागीदारों से बात करने में अधिक सुविधा थी। (वर्मा, 1998 : 13)

27.6.1 स्वतंत्रता के बाद भारत में मध्य वर्ग

यद्यपि भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों ने अंग्रेज़ी शासकों से स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया था। तो भी यह मध्य वर्ग के ही लोग थे जिन्होंने औपनिवेशिक

शासकों से शासन की बागडोर संभाली। यह तर्क दिया गया कि औपनिवेशिक शासन का अन्त होने के बाद भी इसका अर्थ यह नहीं लगना चाहिए कि हमारा पूर्व से बिल्कुल संबंध-विच्छेद हो गया है। अधिकतर संवैधानिक संरचनाएँ जो औपनिवेशिक शासन के दौरान विकसित हुई थी आज भी नए शासन में उन्हीं सिद्धान्तों पर सतत संचालित हो रही है। अत: मध्य वर्ग के जो सदस्य औपनिवेशिक शासकों के लिए काम करते थे उन्होंने राज्य संस्थाओं में अपनी स्थिति के संदर्भ में कुछ अधिक नुकसान नहीं उठाया है।

27.6.2 आकार और संयोजन

स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों के दौरान इस वर्ग के सही आँकड़े उपलब्ध नहीं है। एक अनुमान के अनुसार कुल जनसंख्या का दस प्रतिशत लोग मध्य वर्ग के थे। (वर्मा 1998 : 26) तथा दूसरे समाजों में मध्य वर्गों की तरह यह भी कोई भिन्न नहीं था। इसकी सैद्धान्तिक और आकांक्षा संबंधी दोनों विशेषताएँ एक जैसी थी, परन्तु इसके व्यापक ढाँचे को परिभाषित करने पर आय, व्यवसाय और शिक्षा के संदर्भ में अनेक भिन्नताएँ थीं। मध्य वर्ग के अतिरिक्त नीचे के तबकों में गरीब कृषक, किसान तथा भूमिहीन लोगों की व्यापक संख्या थी। मध्य वर्ग के बाहर के क्षेत्र में अकुशल तथा अर्ध या अल्प कुशल श्रमिक, कुशल श्रमिक, छोटे क्लर्क तथा कर्मचारी जैसे कि पोस्टमैन, कांस्टेबल, सैनिक, चपरासी आदि भी शामिल थे। इस पैमाने के दूसरे सिरे पर भारतीय समाज का उच्च वर्ग, जैसे कि धनी उद्योगपति और पूँजीपति, बड़े जमींदार और राजपरिवारों के सदस्य इत्यादि आते थे। इसके बीच विशिष्ट क्षेत्रों के मध्य वर्ग में से सरकारी सेवा के अधिकारी, योग्य व्यावसायिक जैसे कि डॉक्टर इंजीनियर, कॉलेज और विश्वविद्यालय के अध्यापक, पत्रकार तथा निजी क्षेत्र में लगे हुए सफेदपोश वेतनभोगी कर्मचारी शामिल थे। आय के संदर्भ में मध्य वर्ग सामान्यत: मध्यम आय समूह में शामिल है। परंतु केवल इस प्रकार आय की परिभाषित करने की एकमात्र कसौटी नहीं है। उदाहरण के लिए एक छोटा अशिक्षित व्यापारी मध्य वर्ग का सदस्य नहीं हो सकता। अत: आय की अपेक्षा शिक्षा भारत के सभी क्षेत्रों में मध्य वर्ग की सामान्य विशिषताओं में आती है। यह मध्य वर्ग, स्वतंत्रता के बाद आरंभिक वर्षों में कुछ विचारधाराओं जैसे विकास के लिए और राष्ट्रनिर्माण के लिए प्रतिबद्धता के कारण संगठित था। अंग्रेजी का ज्ञान होना भी इस वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

MAADHYAM IAS

मध्यवर्गीय लोग प्राय: आधुनिक आवासों और घनी बस्तियों में रहते हैं।

साभार: बी. किरण मई

27.7 स्वतंत्रता के बाद मध्य वर्गों का विकास

औपनिवेशिक शासन से भारत के स्वतंत्रता इतिहास में एक नए युग का आरम्भ माना जाता है। भारतीय स्वतंत्र राज्य सिद्धान्तत: धर्म-निरपेक्ष लोकतांत्रिक परंपराओं, सभी नागरिकों के लिए सामानरूप से जाति, पंथ या धर्म के बिना किसी भेदभाव के तथा सभी स्तरों - सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक स्तर पर स्वतंत्रता, न्याय और समानता के लिए प्रतिबद्ध था। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भारत ने नियोजित विकास का मार्ग अपनाया। इसलिए कृषि, औद्योगिक एवं अर्थव्यवस्था के तृतीय क्षेत्रों में विकास के लिए योजनाओं की रूपरेखा तैयार की गई। सभी क्षेत्रों में आर्थिक विकास को तेज़ व उन्नत करने के लिए व्यापक प्रयास किए गए। भारत सरकार ने अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लिए अनेक कार्यक्रमों और योजनाओं का निर्माण किया। इन कार्यक्रमों को निष्पादित करने और उन्हें लागू करने के लिए बड़ी संख्या में प्रशिक्षित कार्मिकों की आवश्यकता थी।

बॉक्स 27.03

प्रशिक्षित एवं कुशल कार्मिकों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए देश के विभिन्न भागों में बहुत सारी संस्थाएँ, इंजीनियरिंग तथा मेडिकल कॉलेज, तकनीकी एवं प्रबंध संस्थाएँ और विश्वविद्यालय स्थापित किए। एक ओर इन संस्थाओं के खुलने से प्रशिक्षित कार्मिकों की बढ़ती हुई माँग को पूरा किया गया वहीं दूसरी ओर नए गतिशील समूहों को आगे बढ़ने के लिए शिक्षा तथा सामाजिक गतिशीलता की इच्छा की पूर्ति के लिए अवसरों को भी उपलब्ध कराया गया।

MAADHYAM IAS

सरकारी क्षेत्रों में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि के अतिरिक्त शहरी उद्योग तथा तृतीय क्षेत्रों में भी व्यापक विस्तार हुआ। यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रगति तीसरी दुनिया के अन्य देशों की तुलना में बहुत ही मन्द रही है परन्तु समग्रत: औद्योगिक क्षेत्रों ने व्यापक रूप से विभिन्न स्तरों पर उन्नति हुई। तृतीय क्षेत्र में संवृद्धि तीव्र गति से हुई है। जनसंख्या विशेषत: शहरी जनसंख्या में वृद्धि से सेवा उद्योग का काफी विकास हुआ है। प्रशिक्षित कार्मिकों के बड़ी संख्या में रोज़गार उपलब्ध कराते हुए बैंकों, इंश्योरेंस कम्पनियों, अस्पतालाओं, होटलों, प्रेस, विज्ञापन एजेंसियों की स्थापना दर में अभूतपर्व वृद्धि हुई। इसके बाद ग्रामीण क्षेत्रों में विकास हुआ। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्य ने विभिन्न प्रकार के विकास कार्यक्रमों को आरंभ किया जिसके कारण महत्वपूर्ण कृषि विकास हुआ जो हरित क्रांति के रूप में हमारे समक्ष आया। हरित क्रांति प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप भूमि की उत्पादन शक्ति में विकास हुआ तथा इसने भारतीय भूमि मालिकों को जो गाँवों में रहते थे महत्वपूर्ण रूप से समृद्ध बनाया। आर्थिक विकास से ग्रामीण लोगों में खास परिवर्तन हुआ तथा वे महत्वाकांक्षी बने। समर्थ लोग अपने बच्चों को न केवल अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दिलाते थे अपितु वे अब उच्च शिक्षा के लिए कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों में भी अपने बच्चों को अध्ययन के लिए भेज रहे थे। वस्तुओं की उपभोग संरचना में भी परिवर्तन आया। इससे पहले जिन वस्तुओं को किसान सरल जीवन शैली अपनाने के कारण अनावश्यक मानता था उनके लिए अब गहरी लालसा रखने लगा और जिस जीवन शैली को अपनाने से बचता और दूर रहता था अब उसको प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करने लगा। (वर्मा, 1998 : 95) भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में एक नया वर्ग पैदा हो गया है जो शहरी व्यवसायों में भी कुछ रुचि रखता था। कृषि परिवर्तन की प्रक्रिया में से विद्यमान मध्य वर्गों में नया विभाजन हो गया। सैद्धांतिक शब्दों में इसे यूँ कहा जा सकता है कि यह मध्य वर्गों का 'नया' हिस्सा परम्परागत मध्य वर्ग से बिल्कुल भिन्न था।

पुराने शहरी मध्य वर्गों से भिन्न यह 'नया' ग्रामीण मध्य वर्ग स्थानीय तथा क्षेत्रीय था। ग्रामीण मध्य वर्ग का सदस्य राष्ट्रीय स्तर की अपेक्षा क्षेत्रीय कार्यकलापों में दिलचस्पी रखता था। यह वर्ग राजनीतिक रूप से क्षेत्रीय स्वायत्तता की गतिविधियों या कार्रवाइयों में सबसे आगे रहता था।

मध्य वर्ग का एक और नया हिस्सा स्वतंत्रता के बाद दलित जातियों के समूहों से उभर कर आया। पहले के अछूत/अनुसूचित जाति के सदस्यों के लिए सरकार की सकरात्मक भेद और आरक्षण नीतियों से कुछ लोग शिक्षा और शहरी कार्यों में नियुक्तियाँ विशेषत: सेवा और सरकारी क्षेत्रों में सेवा पाने लगे। कुछ वर्षों बाद नया दलित मध्य वर्ग भी उभर कर आया।

27.8 सारांश

यद्यपि आधुनिक भारतीय समाज का मध्य वर्ग हमेशा ही सर्वाधिक प्रभावशाली हिस्सा रहा है किंतु वे कभी भी इतना विशिष्ट एवं प्रकट नहीं रहा जितना कि 1990 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की उदारीकरण प्रक्रिया आरंभ होने के बाद रहा है। नई आर्थिक नीति तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप भारतीय मध्य वर्ग का नया उत्कर्ष हुआ।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने भारत में मध्यवर्ग के वास्तविक आकार, इसकी उपभोग पद्धति, भविष्य में विकास गति के बारे में एक बहस छेड़ दी है। दावा किया जाता है कि मध्य वर्ग का आकार भारत की कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत हो गया है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसे 30 प्रतिशत मानते हैं। यह भी कटु सत्य है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या अभी भी गरीबी का जीवन व्यतीत कर रही है और मध्य वर्ग ही हैं जो आज भी भारत में सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन में आधिपत्य रखता है।

27.9 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

प्रभुत्व (प्रभावशाली) : शोषण करने तथा विशिष्ट होना। इस वर्ग को स्पष्ट करने के लिए मार्क्स के साहित्य में वर्णन किया गया है जिनके पास उत्पादन के अपने साधन होते हैं।

द्विभाजन : स्तरीकरण साहित्य में मार्क्स के दो वर्गों के रूप प्रयोग किया जाता है।

सम्पत्ति संबंध : ये संबंध जिसमें (विपरीत या अन्य) एक ऐसा वर्ग जिसके उत्पादन के अपने साधन होते हैं तथा दूसरा वह वर्ग जो कामगार के रूप में उनके द्वारा नियुक्त किया गया है।

27.10 कुछ उपयोग पुस्तकें

गिड्नस, ए (1980) *दि क्लास स्ट्रक्चर ऑफ दि एडवांस सोसायटिज़,* लंदन, अनविन हाइमन।

मिश्रा बी.बी. (1961) *दि इंडियन मिडिल क्लास देअर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स;* बम्बई, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

27.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ग संरचना के लिए जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह एक द्विभाजन है। इसका अर्थ उनके विचार से समाज की संरचना में एक शोषक वर्ग और एक शोषित. वर्ग है। इसलिए सम्पत्ति संबंध मूलरूप से इसी रूप में निहित है। मार्क्स के अनुसार अपेक्षाकृत अल्प उत्पादक बचाया हुआ फालतू उत्पादन को निकालते हैं। इस प्रकार उन्होंने उत्पादन . साधनों को परिभाषित किया है। इसके अलावा उन्होंने उत्पादनों के साधनों पर नियंत्रण को राजनीतिक नियंत्रण माना है। इस रूप में मध्य वर्ग को केवल संक्रमण की भूमिका में माना गया है जिसमें स्व नियोजित किसान तथा छोटा बूर्जुआ वर्ग शामिल है। ये लोग कभी भी वेतनभोगी श्रमिक नियुक्त नहीं करते जबकि इनके पास अपने उत्पादन के साधन होते हैं। इस संदर्भ में मार्क्स का मानना है कि ये लोग एक समय में अदृश्य हो जाएँगे।

2) i) आर. डाहरेंडोर्फ

ii) डी. लॉकवुड

बोध प्रश्न 2

1) भारत में मध्य वर्ग मूलरूप से कानून और सार्वजनिक प्रशासन की व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। इसके अलावा ये लोग बौद्धिक कार्यों से शैक्षिक संस्थानों तथा औद्योगीकरण से संबंधित भारत में ब्रिटिश शासकों ने भी मध्य वर्ग स्थापित किया।

2) यह मध्य वर्ग ही है जिसने औपनिवेशिक शासकों से शासन संभाला था। इस प्रकार यह पूर्व की निरंतरता थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मध्य वर्ग की कुल जनसंख्या भारत की कुल जनसंख्या का 10 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त गरीब, अकुशल तथा अमीर उच्च वर्ग भी हैं। स्वतंत्रता के बाद मध्य वर्ग में प्रमुख रूप से सरकारी अधिकारी, डॉक्टर, इंजीनियर, विश्वविद्यालयों के अध्यापक शामिल हैं जिनकी पर्याप्त आय थी।

MAADHYAM IAS

इकाई 28 वर्ग संघर्ष

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 संघर्ष और प्रतिस्पर्धा

28.3 कार्यकर्ता की विचारधारा

28.3.1 कार्यात्मक विचारधाराओं की आलोचना

28.4 वर्ग संघर्ष सिद्धांत

28.5 कार्ल मार्क्स : वर्ग संघर्ष की विचारधाराएँ

28.5.1 वर्ग संघर्ष के पहलू

28.5.2 मार्क्सवादी विचारधाराओं की आलोचना

28.6 लेविस कोसर के सिद्धांत

28.7 डाह्रेंडॉर्फ तथा वर्ग संघर्ष

28.8 सी. डब्ल्यू. मिल्लस तथा शक्तिशाली कुलीन वर्ग

28.9 संघर्ष सिद्धांत : एक मूल्यांकन

28.10 सारांश

28.11 शब्दावली

28.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- संघर्ष और प्रतिस्पर्धा के बीच अंतर कर सकेंगे,
- संघर्ष पर कार्ल मार्क्स के विचारों को जान सकेंगे,
- संघर्ष पर कोसर और डाह्रेंडार्फ के विचारों की चर्चा कर सकेंगे, और
- संघर्ष सिद्धांत की कमियों का वर्णन कर सकेंगे।

28.1 प्रस्तावना

'संघर्ष' का अर्थ है किसी की अथवा किन्हीं व्यक्तियों की इच्छा के विरूद्ध उनका विरोध करना, प्रतिरोध करना अथवा उनके साथ टकराव का व्यवहार करना। इस प्रकार संघर्ष के मूल्य अथवा स्थिति, शक्ति और दुर्लभ संसाधनों को प्राप्त करने के दावों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें संघर्षरत पक्षों का उद्देश्य केवल वांछित मूल्यों को प्राप्त करना ही नहीं अपितु अपने विरोधियों को निष्प्रभावी करना चोट पहुँचाना अथवा उन्हें नष्ट करना भी होता है।

28.2 संघर्ष और प्रतिस्पर्धा

संघर्ष और प्रतिस्पर्धा में निम्नलिखित अंतर है :

i) संघर्ष में हमेशा अपने विरोधी की जानकारी शामिल है जबकि प्रतिस्पर्धा में दूसरों की उपस्थिति की वास्तविक जानकारी नहीं होती।
ii) प्रतिस्पर्धा में, दो या दो से अधिक पक्ष कुछ पाने की इच्छा करते हैं जिसे वे वोट नहीं ले सकते, साथ ही ये लोग किसी का विरोध करने अथवा किसी के हकों का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से प्रयास नहीं करते।
iii) प्रतिस्पर्धा में हमेशा ही नैतिकता एवं सही आचरण का पालन किया जाता है जबकि संघर्ष में यह सब कुछ नहीं होता।

28.3 कार्यकर्ता की विचारधारा

कार्यकर्ता सिद्धांतवादियों (टालकोर पार्सन, डेविस तथा मूरे प्यूमिन) का मानना है कि कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ या पूर्वापेक्षित प्रवृत्तियाँ होती है किसी समाज के जीवित रहने या गतिशील रहने के लिए उनका होना आवश्यक होता है। उनका विचार है कि समाज के विभिन्न भागों के एकीकरण से एक सम्पूर्ण समाज का निर्माण होता है तथा इसमें समाज की कार्य प्रणाली में योगदान करने के लिए एक समाज की अन्य व्यवस्थाओं के साथ सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था की संबद्धता के तरीकों की जाँच हो जाती है। इन कार्यात्मक सिद्धांतों की अत्यधिक आलोचनाएँ हुई हैं। समीक्षकों में मुख्यत: वर्ग संघर्ष सिद्धांत की आलोचना हुई है जिसमें उन्होंने कार्यकर्त्ताओं को अव्यवहारिक माना है।

28.3.1 कार्यात्मक दृष्टिकोण की समीक्षा

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

i) वर्ग संघर्ष के सिद्धांतवादी कार्यकर्ता विचारधारा को इसकी प्रकृति में एक अव्यावहारिक सिद्धांत स्वीकार करते हैं तथा सार्वभौमिक, रूप से स्तरीकरण की व्यवस्था में वर्ग संघर्ष के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देते हैं। यह वर्ग संघर्ष सर्वव्यापक तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक है।
ii) वर्ग संघर्ष सिद्धांतवादियों का कहना है कि कुछ न कुछ मात्रा में असहमति, दबाव, अस्थिरता, नियंत्रण, उत्पीड़न एवं दुस्क्रियाओं जैसी विशेषताएँ हैं जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता।
iii) तथापि कार्यकर्ता सिद्धांतवादियों से भिन्न संघर्ष सिद्धांतवादी यह भी कहते हैं कि संघर्ष ही समाज में स्थिरता और सामंजस्य पैदा करता है।
iv) इसलिए दी गई व्यवस्था में संघर्ष के साथ सामंजस्य और संतुलन की प्रकृति का भी अध्ययन करना महत्वपूर्ण हो जाता है!

28.4 वर्ग संघर्ष सिद्धांत

वर्ग संघर्ष सिद्धांत की कुछ मूलभूत अवधारणाएँ जो आज विकसित हो चुकी हैं वे निम्नलिखित हैं :

i) समाज हमेशा स्थिर मैत्रीभाव एवं समत्व की स्थिति में नहीं रहता है बल्कि इसमें उत्पीड़न और परतंत्रता के तत्व रहते हैं। देखा गया है कि यह निरंतर असंतुलित रहता है।

ii) इस समाज के अनेक तत्व लगातार परिवर्तन की प्रक्रिया में रहते हैं।

iii) ये सभी घटक वर्ग संघर्ष तथा परिवर्तन सामाजिक वातावरण में चलते रहते हैं जिन्हें हम सामाजिक संघर्ष के नाम से जानते हैं।

iv) अंत में यह कहा जा सकता है कि ये वर्ग संघर्ष सामाजिक संरचना की विभिन्न प्रकृतियों से लिए गए हैं।

कुछ वर्ग संघर्ष सिद्धांतवादियों जैसे कार्ल मार्क्स, कोसर, डाह्रेंडॉर्फ तथा सी डब्ल्यू मिल्लस के द्वारा समाज का विश्लेषण किया गया है जो आधुनिक औद्योगिक समाजों में वर्ग संघर्ष का अध्ययन है।

28.5 वर्ग संघर्ष पर कार्ल मार्क्स के विचार

वर्ग संघर्ष सिद्धांत को स्पष्ट करने का मुख्य प्रयास कार्ल मार्क्स के पूँजीवाद पर उसके अध्ययन के दौरान उत्पन्न सिद्धांत में किया गया है। मार्क्स ने कहा था कि 'आज तक के मौजूदा समाजों का इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है।' इसका अर्थ यह हुआ कि समाज मूल रूप से दो भागों में विभाजित है आधारकि संरचना और उच्चतम संरचना।

बॉक्स 28.01

आधारिक संरचना आर्थिक क्षेत्र के आधार पर निर्मित होती है जो मूलरूप से सामाजिक संरचना को शक्ति प्रदान करती है और इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन अन्य संरचनाओं को प्रभावित करेंगे। मार्क्सवाद यह बताना चाहता है कि सभी संघर्षों का उद्‌गम आर्थिक क्षेत्रों से संबंधित होता है तथा जिसका मुख्य कारण उत्पादनों के संसाधनों का असमान वितरण होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अतीत के विभिन्न कालों में विभिन्न नामों से जैसे स्वतंत्र तथा गुलाम, कुलीन एवं निम्न वर्ग, सामंत और दास या एक शब्द विरोधी रहे हैं। इन वर्गों में अर्थव्यवस्था में उनकी भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण अंतर होता है।

इंगेल्स तथा मार्क्स ने प्राचीन साम्यवाद, प्राचीन दास समाज, सामंती समाज, आधुनिक पूँजीवादी समाज सामाजिक संरचना के प्रमुख ऐतिहासिक स्वरूपों की पहचान की है। प्रत्येक युग में उत्पादन के प्रकार इतिहास में राज्य विशेष की वर्ग संबंधों की प्रकृति सहित समाज की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक विशेषताओं को निर्धारित करते हैं।

28.5.1 वर्ग संघर्ष के पहलू

पूँजीवादी समाज में मूल संरचना दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों द्वारा निर्मित होती है एक बूर्जुआ वर्ग अथवा जिसके हाथ में उत्पादन के संसाधन हैं (संपन्न)। तथा दूसरा वह है जो सर्वहारा वर्ग है जिसके पास कोई संसाधन नहीं होते (वंचित वर्ग)। यह समूह बूर्जुआ वर्ग के लिए काम करता है जिसका मुख्य उद्‌देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना है। वह कामगारों के प्रति अमानवीय व्यवहार करता है। इसके परिणामस्वरूप कामगारों का शोषण और उनको बंधुआ मज़दूर बनाया जाता है। असंतोष और अभावग्रस्त होने के कारण उनमें वर्ग जागरुकता पैदा होती है। ये जागरूक वर्ग अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरे से संघर्ष करने लगते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) वर्ग संघर्ष के पहलुओं पर एक टिप्पणी लिखिए। अपने उत्तर को दस पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादनों के संसाधनों के मालिकों को किस नाम से जाना जाता है। (सही उत्तर पर सही का निशान लगाएँ)

i) सर्वहारा वर्ग

ii) बूर्जुआ वर्ग

iii) शक्तिशाली कुलीन वर्ग

iv) अभावग्रस्त वर्ग

MAADHYAM IAS

इसके विपरीत लाभार्थी लोग यह सोचते हैं कि स्वार्थ से एक सुव्यवस्थित समाज का संचालन होता है। इस संबंध में मार्क्स का कहना है कि यही संघर्ष का मूल स्रोत है। जहाँ तक पूँजीवादी समाज का प्रश्न है, धनी पूँजीपति एक समान राजनीतिक तथा सैद्धांतिक विचारधारा के आधार पर संगठित हो जाते थे। इसी वर्ग जागरुकता ने श्रमिकों के लिए भी ऐसा ही कार्य किया। एक बार जब श्रमिक यह महसूस करने लगें कि उत्पादन की प्रक्रिया में उन्हें शामिल नहीं किया जाता है और उनकी उपेक्षा हो रही है। ऐसी स्थिति में वे समाज में परिवर्तन करना आरंभ कर देंगे। मार्क्स के अनुसार श्रमिक पूँजीवादी व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। यहाँ पर हम साफतौर पर समझ गए हैं कि किस प्रकार से संघर्ष नई मूल्य व्यवस्था को पैदा करता है और उसे किस प्रकार से कार्यात्मक रूप प्रदान करता है।

मार्क्स का वर्ग और वर्ग संघर्ष का सिद्धांत उनके सामाजिक परिवर्तन के व्यापक ढाँचे में सम्मिलित किया गया है जो अब उनके सामाजिक विश्लेषण में ऐतिहासिक तथा सामाजिक सिद्धांतों के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके बावजूद भी उनके इस सिद्धांत की आलोचना की गई है।

28.5.2 मार्क्स के सिद्धांत की आलोचना

मार्क्स के सिद्धांत बहुत ही आलोचना के विषय रहे हैं। अत:

i) उनके वर्ग के साथ पूर्वाग्रहों के कारण उन्होंने अन्य सामाजिक संबंधों जैसे कि राष्ट्रवादी प्रभाव तथा इतिहास में राष्ट्रों के बीच संघर्ष आदि की उपेक्षा की है। उन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों में बढ़ती राष्ट्रीय समुदायिक भावना की भी उपेक्षा की है जिसके द्वारा सामान्य मानव हितों पर बल देने के साथ नई नैतिक एवं सामाजिक संकल्पनाओं को बढ़ावा दिया है।

ii) मार्क्स की उनके वर्ग विभाजन की संकल्पना के आधार पर भी आलोचना की गई है। साक्ष्य बताते हैं कि 20वीं सदी के पूँजीवाद ने इस तरह की स्थितियाँ उत्पन्न की हैं जिनमें श्रमिक वर्ग को अधिक समय तक पूरी तरह उपेक्षित नहीं किया जा सकता। सामान्य जीवन स्तर, सामाजिक सेवाओं तथा रोज़गार की सुरक्षा में विस्तार होने के साथ व्यक्ति की आम स्थिति में सुधार हुआ है।

iii) नए मध्य वर्ग की उत्पत्ति के कारण भी वर्ग ध्रुवीकरण का सिद्धांत गलत सिद्ध हुआ है। यह नया वर्ग कामगारों, पर्यवेक्षकों, प्रबंधकों आदि से निर्मित हुआ है जो व्यवसाय, उपभोग और जीवन शैली के आधार पर स्तरीकरण अर्थात् सामाजिक प्रतिष्ठा का महत्वपूर्ण घटक है।

iv) मार्क्सवादी सिद्धांत में गतिशीलता की उच्च दर ने वर्ग दृढ़ता को प्रस्तुत किया है जिसके परिणामस्वरूप समूह स्थिति और महत्वपूर्ण बन गयी।

iv) कुशल व्यवसाय के अर्थों में श्रमिक वर्ग अत्यधिक रूप से उपेक्षित हो गया। इसलिए वर्गों में समरूपता नहीं रही। मध्य वर्ग के विस्तार तथा जीवन स्तर में सामान्य सुधार के कारण श्रमिक वर्ग बूर्जुआ वर्ग में परिवर्तित होने लगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

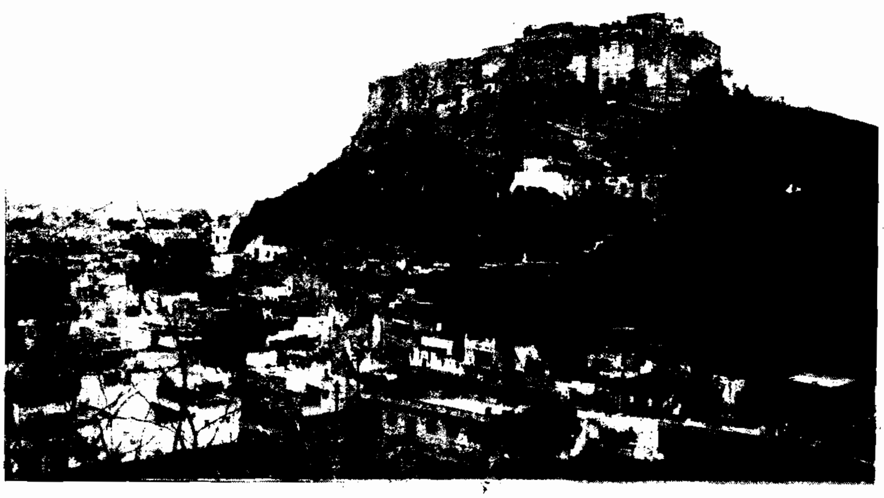

मध्यकालीन भारत के विशाल किले, जातियाँ परस्पर मिलकर रहते थे।

साभार: बी. किरण मई

28.6 लेविस कोसर के विचार

लेविस कोसर वर्ग संघर्ष को समाज के लिए गतिशीलता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि समाज की वास्तविकता अंतर-संबद्ध भागों की उत्पत्ति है। इन भागों के बीच असंतुलन के कारण अंतर-समूह और अंत: समूह में संघर्ष पैदा होता है जो परस्पर सामाजिक संबंधों का महत्वपूर्ण तत्त्व है। कोसर महसूस करते हैं कि बार-बार को संघर्ष समाज में मौजूदा नियमों को सुधारने या नए मूल्यों को बनाने में लगातार सहायता करते हैं। उनके कहने का आशय है कि सामाजिक संबंधों में शक्ति का संतुलन एक महत्वपूर्ण घटक है।

वर्ग/सामाजिक संघर्ष अधिकतर वहीं पर अधिक मौजूद होते हैं जहाँ समाज के सदस्यों के बीच लगातार अत्यधिक परस्पर कार्यकलाप होते हैं। कोसर मानते हैं कि वर्ग संघर्ष सामान्य दुश्मन से संघर्ष के लिए व्यक्तियों को संगठित करने में सुरक्षा वाल्व की तरह काम करता है।

28.7 डाह्रेंडॉर्फ तथा वर्ग संघर्ष

राल्फ डाह्रेंडॉर्फ मानते हैं कि सामाजिक जीवन में वर्ग संघर्ष एक मूल तत्त्व है तथा जब द्वंद्वात्मक रूप का विकास हो रहा है उस समय सामान्य स्थिति बिचलना स्वभाविक है। मार्क्स की ही तरह डाह्रेंडॉर्फ भी इस मूल धारणा को ध्यान में रखते हैं कि वर्ग संघर्ष क्रियाशील संस्थाओं में प्रतिद्वंद्वी समूहों वाले सभी समाजों की स्वभाविक विसंगतियों के कारण उत्पन्न होते हैं। मार्क्स की तरह ही वे भी दो वर्गों की बात करते हैं जो एक दूसरे से संबंधित है और संघर्ष करने की प्रवृत्तियाँ रखते हैं। इसे दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि उन्होंने समाज को दो वर्गों में विभक्त किया है एक जिसके पास अधिकार है और दूसरा वह जिसके पास कोई नहीं हैं। इन समूहों के स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत होते हैं। अधिकार संपन्न लोग अपनी स्थिति को उसी तरह से बनाए रखना चाहते हैं तथा जो लोग अधिकार विहीन होते हैं वे अधिकार संबंधों की संरचना में परिवर्तन करना चाहते हैं। समान हितों वाले इन समूहों को अंतिम रूप से संघर्षशील वर्गों के नाम से जाना जाता है।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 28.02

डाह्रेंडॉर्फ मार्क्स से प्रभावित होने के बावजूद वे यह नहीं मानते कि उत्पादन के स्वामित्व के परिवर्तन से वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाएगा। इसके विपरीत वे मानते हैं कि क्रांति विरोधी वर्गों का निर्माण करेगी जो समाज में संघर्ष को स्थायी बना देगा। यही प्रतिद्वंद्वी रूप है।

डाह्रेंडॉर्फ के अनुसार एसोसिएशनों में शक्ति और अधिकार के प्रश्न पर समाज की प्रभावशाली समन्वित संघर्ष चलता है। आई सी ए के अंदर संचालित संबंध सामाजिक कार्यों की इकाइयाँ है। इस प्रकार की आई सी ए चर्च, सतरंज क्लब आदि होंगी। चूँकि समाज में एक आई सी ए दूसरी आई सी ए से संबद्ध होती है, इनमें संघर्ष अंतर-समूह और अंत:-समूह दोनों प्रकार के होते हैं। एक ही आई सी ए में शक्ति के पदानुक्रम की स्थितियाँ होती हैं इन स्थितियों के संबंध में ही संघर्ष पैदा होता है। चूँकि प्रत्येक समाज चाहे वह किसी भी विकास के स्तर का हो उसमें अनेक आई सी ए इकाइयाँ होती हैं उनमें परस्पर वर्ग संघर्ष संबंध होते हैं। इस प्रकार व्यापक रूप में एक समाज के अंदर सभी आई सी ए संघर्ष को पैदा करने में सहयोग देती हैं। इन संघर्षों को संघर्षरत संगठनों के तंत्र के माध्यम से टाला जा सकता है या इनका समाधान किया जा सकता है और समग्रत: स्थिरता में योगदान दिया जा सकता है।

डाह्रेंडॉर्फ के अनुसार 'अस्थाई समूहों' से वर्गीय समाजों में परिवर्तन या प्रगति होती है। इन समूहों में किसी परिस्थिति के प्रति अप्रकट या निहित स्वार्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ स्वार्थ समूहों में सामान्य या एक समान जागरुकता पैदा हो जाती है। वह महसूस करता है कि वे एक जैसी परिस्थितियों में होते हैं अत: उन सभी को उनके स्वार्थ का पता लग जाता है और उनके स्वार्थ घोषित हो जाते हैं। इसलिए जब तक उनके गुप्त स्वार्थ रहते हैं तो यह एक मात्र महत्वपूर्ण है। यह स्थिति प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसके लिए साम्प्रदायिक जीवन तथा सांस्कृति के अन्य पक्षों की भी आवश्यकता होती है।

अभ्यास 1

कौन-सा स्वरूप भारतीय वास्तविकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है? कार्यात्मक रूप अथवा वर्ग संघर्ष रूप है अध्ययन केंद्र में अन्य विद्यार्थियों से अपने विश्लेषण की चर्चा कीजिए।

इस प्रकार डाहे्रंडॉर्फ का मानना है कि अधिकार संबंधों की स्वार्थपूर्ण संरचनाओं के परिणाम स्वरूप वर्ग संघर्ष होता है। डाह्रेंडॉर्फ तर्क देते हैं कि श्रेष्ठ या अधिनिस्थों के बीच आर्थिक संबंधों के कारण वर्ग संघर्ष की स्थिति नहीं बनती। यहाँ पर मुख्य मुद्दा अधिकार है जो किसी एक या अनेक व्यक्तियों के पास दूसरों के ऊपर रखे जाते हैं। जिस प्रकार अधिकारी /कर्मचारी संबंध हमेशा संघर्षात्मक होते हैं। इसी प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ पर किसी संगठन में अधिकार और अधीनता होगी वहाँ वर्ग संघर्ष होगा जैसे अस्पताल, विश्वविद्यालय या सेना की बटालियन।

28.8 सी.डब्ल्यू. मिल्लस तथा शक्तिशाली कुलीन वर्ग

MAADHYAM IAS

सी डब्ल्यू मिल्लस ने वर्ग शक्ति संरचना पर प्रकाश डाला है जिसे उन्होंने अमरीका के एक विशिष्ट मामले में देखा है। वे दो वर्गों में समाज के दो वर्गों में विभाजन की बात करते हैं। कुलीन और सामान्य जन/कुलीन वर्ग का अर्थ है श्रेष्ठ या सबसे उत्तम। यह वर्ग अल्पसंख्यक वर्ग होता है जो समाज में किसी न किसी कारण से श्रेष्ठ वर्ग के रूप में जाना जाता है। वास्तव में कुलीन सिद्धांत का विकास मार्क्स के वर्ग सिद्धांत की प्रतिक्रिया में तथा वर्ग रहित समाज की संकल्पना के विरोध में हुआ है। अत: कुलीन वर्ग का शासन अपरिहार्य है तथा वर्ग रहित समाज काल्पनिक है। इन कुलीन सिद्धांतों का एक और पक्ष है जिसमें वे मार्क्सवाद में नियतिवाद की आलोचना तो की जाती है परंतु वे स्वयं यही नहीं बताते कि प्रत्येक समाज दो स्तरों में बँटा होता है एक शासक अल्पसंख्यक और दूसरे शासित बहुसंख्यक। अपितु वे यह भी कहते हैं सभी समाजों का इस प्रकार विभाजन होता है। पेरेटो का दावा है कि राजनीतिक समाज का एक प्रकार कुलीन और सामान्य जन के इस सिद्धांत को सार्वभौमिक रूप से सिद्ध करता है।

मार्क्स का सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक समाज में शासक वर्ग मौजूद होता है जिनके पास अपने उत्पादन के साधन और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं तथा एक अथवा अन्य वर्ग वे होते हैं जो इनसे शासित होते हैं। ये दोनों वर्ग हमेशा संघर्षरत रहते हैं और वे उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा प्रभावित रहते हैं अर्थात् प्रौद्योगिकी में परिवर्तन का उन पर प्रभाव पड़ता है। मार्क्स मानते हैं कि संघर्ष में शासक वर्ग की विजय होती हैं जो अंतत: वर्ग रहित समाज के निर्माण में सहायक होती है। इस सिद्धांत को कुलीन सिद्धांत के विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।

जैसे कि पहले ही बताया जा चुका है कि सी डब्ल्यू मिल्लस समाज में दो वर्गों के बारे में चर्चा करते हैं कि एक कुलीन वर्ग होता है जो शासन करता है और दूसरा सामान्य जन होता है जो शासित होता है और कुलीन वर्ग का विरोध करता है। उनका मानना है कि कुलीन शक्ति का निर्माण समाज के तीन वर्गों सेना, उद्योग और राजनीति से होता है। इसे वे अमरीका की शक्ति संरचना की एकाधिकारिता मानते हैं। फिर ये कुलीन समूह उच्चतम शैक्षिक सुविधाएँ तथा परिवारों की शक्ति सम्पन्न पृष्ठभूमि के कारण और भी मजबूत बन जाते हैं। दूसरी और सामान्य जन निष्क्रीय ग्रहणकर्ता मात्र रहता है तथा वे कुलीन वर्गों को कभी भी चुनौती नहीं दे सकता। अत: यह कहा जा सकता है कि कुलीन वर्ग समाज में अपनी स्थिति को श्रेष्ठ बनाए रखने में समर्थ रहता है।

बोध प्रश्न 2

1) अमरीका में वर्गों की विद्यमानता के संबंध में सी डब्ल्यू मिल्लस के विचारों को लिखें। अपने उत्तर के लिए पाँच पंक्तियों का प्रयोग करें।

....

....

....

....

....

2) रिक्त स्थान भरिए :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

क) .... मानते हैं।

ख) कि ....

ग) .... परिवर्तन लाने में प्रमुख कारण होगी।

मार्क्सवादी सिद्धांत को मानने वाले विद्वान समझते कि वर्ग संघर्ष को परिवर्तन लाने वाला मानते हैं। जबकि कुलीन सिद्धांतवादियों का मानना है कि कुलीन वर्ग का जब ह्रास हो जाता है तो एक नए कुलीन वर्ग का उदय होता है और उसका विस्तार हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है। शासक वर्ग के निर्माण में केवल उसी समय परिवर्तन आता है जब उत्पादन की सम्पूर्ण व्यवस्था और समाप्ति के स्वामित्व में तीव्र परिवर्तन आता है। यह 'कुलीन वर्गों का प्रसार' अथवा 'सामाजिक गतिशीलता' आधुनिक समाजों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

अभ्यास 2

क्या कुलीन शक्ति का विश्लेषण भारत पर लागू होता है। यदि ऐसा है तो वे कौन है जो जिनसे कुलीन शक्ति का निर्माण होता है। अपना निर्णय करने से पूर्व कुछ लोगों से चर्चा कीजिए। अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से चर्चा करें।

28.9 वर्ग संघर्ष सिद्धांत : एक मूल्यांकन

अब हम वर्ग संघर्ष सिद्धांत की कुछ कमियों की चर्चा करते हैं। हमने देखा है कि :

i) संघर्ष सिद्धांत बताना चाहता है कि सभी संघर्ष और विरोध समाज को दो पक्षों में विभाजित करते हैं। इस प्रकार से किसी भी समाज का स्पष्ट विभाजन संभव नहीं है।

ii) वे यह भी मानते हैं कि समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया सतत् और अंतहीन है। यह सच नहीं है। अनेक परम्परागत समाजों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुए हैं।

iii) उसके अतिरिक्त इन सिद्धांतवादियों ने हमेशा ही संघर्ष को परिवर्तन के साथ संबद्ध किया है। वे कहते हैं कि वास्तव में परिवर्तन संघर्ष का स्वभाविक अनुसरण करता है। परंतु यह सिद्ध हो चुका है कि जब संघर्ष परिवर्तन का अनुकरण करता है लेकिन परिवर्तन से संघर्ष हो यह ज़रूरी नहीं है।

iv) संघर्ष के सिद्धांतवादी सकारात्मक और नकारात्मक संघर्ष के बीच विभेद करने में असफल रहे हैं। वे इस तथ्य को नहीं मानते संघर्ष सामाजिक संबद्धता और स्थिरता में ही नहीं अपितु बिखराव और अस्थिरता में भी योगदान करते हैं।

v) और अंत में यह कह सकते हैं ये सिद्धांतवादी अनुभवपरक प्रमाणिक आँकड़ों के स्थान पर उद्धृत सामग्रियों पर अत्यधिक निर्भर रहे हैं।

यदि संघर्ष सिद्धांत ने समाज में अपनी भूमिका पर अनावश्यक विशेष बल दिया है और समाज में स्थिरता बनाए रखने के लिए अनुबंध की भूमिका की उपेक्षा करने का प्रयास किया है। वर्ग विभाजन के अध्ययन के लिए यह दृष्टिकोण न तो तर्क संगत और न ही व्यावहारिक।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.10 सारांश

वर्ग संघर्ष सिद्धांत के अनेक अर्थभेद हैं तथा असमान अथवा भिन्न-भिन्न विचारों वाले विद्वानों जैसे मार्क्स तथा मिल्लस कोसर और डाह्रेंडॉर्फ द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह वह सिद्धांत है जिसका विकास 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी तथा उसके बाद तक हुआ है। इस इकाई में इस सिद्धांत के अनेक रूपों तथा कमियों का भी वर्णन किया गया है।

28.11 शब्दावली

संघर्ष : यह वह स्थिति है जहाँ पर लोगों के समूहों के बीच कार्य करने के अधिकार और कार्य करने के संबंधों पर विरोध हों।

वर्ग : यह लोगों का एक बड़ा समूह होता है जो समान स्थितियों और स्वार्थों के लिए संगठित हों। यह 'अपने आप में वर्ग' जो व्यापक रूप में सांख्यकीय श्रेणी होती है अथवा 'अपने आप में एक वर्ग' होता है। वर्ग के दूसरे सदस्यों के प्रति जागरुकता वर्ग संरक्षात्मक प्रवत्तियाँ होती हैं।

धुव्रीकरण : यह वह स्थिति है जहाँ समाज दो विपरीत वर्गों या संपन्न और वंचित वर्गों में संगठित हो जाए।

शक्तिशाली वर्ग : यह शासक वर्गों से निर्मित होती है जो मिल्लस के अनुसार सेना, व्यापार और राजनीतिक समूहों के मिश्रण से बनती है।

28.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डाह्रेंडॉर्फ आर. 1959, *कलास एंड क्लास कंफिल्क्ट इन इंडस्ट्रियल सोसाइटी*, स्टेंडफोर्ड, स्टेंडफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मार्क्स, के एंड इंजेल्स एफ, *कॉलेक्टिड वर्क्स*, वाल्यूम 6, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को।

28.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ग संघर्ष कार्ल मार्क्स की पूँजीवादी सिद्धांतों से जुड़ा हुआ है जहाँ उत्पादन संसाधनों के स्वामी तथा सर्वहारा वर्ग या श्रमिक विरोधी और परस्पर विमुख स्थिति में होते हैं। बूर्जुआ वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का शोषण करने से दोनों सामाजिक वर्गों में हिंसात्मक संघर्ष है और आखिरकार श्रमिकों द्वारा क्रांति या पूँजीवादियों को उखाड़ दिया जाता है।

2) (ii)

बोध प्रश्न 2

1) अमेरिका में वर्ग संरचना का अध्ययन सी डब्ल्यू मिल्लस ने किया। उन्होंने महसूस किया कि मुख्यत: दो वर्ग कुलीन वर्ग और सामान्य जनता वर्ग होते हैं। कुलीन शासन करते हैं और प्रभावशाली पृष्ठभूमि से आते हैं। मिल्ल्स के अनुसार यह शक्तिशाली कुलीन वर्ग है जिसने अमेरिका की जनता पर शासन किया है। सी डब्ल्यू मिल्लस के अनुसार इस शक्तिशाली कुलीन वर्ग में उच्च सैन्य अधिकारी, बृहत व्यावसायिक संगठनों के स्वामी तथा बड़े व्यावसायिक संगठनों कें स्वामी तथा बड़े राजनीतिक नेता शामिल होते हैं। मिल्लस के अनुसार इन तीन वर्गों ने अमेरिका में बड़े-बड़े निर्णय लिए।

2) क) मार्क्सवादी

   ख) वर्ग

   ग) वर्ग संघर्ष

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

इकाई 29 सामाजिक गतिशीलता की संकल्पनाएँ और रूप

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 गतिशीलता के प्रकार और रूप
29.2.1 समस्तर गतिशीलता
29.2.2 ऊर्ध्व गतिशीलता
29.2.3 गतिशीलता के रूप
29.3 गतिशीलता के आयाम और तात्पर्य
29.3.1 परिवर्तित पारस्परिक गतिशीलता और अंतःपारंपरिक गतिशीलता
29.3.2 गतिशीलता के क्षेत्र
29.3.3 नीचे की तरफ गतिशीलता
29.3.4 ऊपर की तरफ गतिशीलता
29.3.5 गतिशीलता की संभावनाएँ
29.3.6 तुलनात्मक सामाजिक गतिशीलताएँ
29.4 सामाजिक गतिशीलता का आधुनिक विश्लेषण
29.4.1 औद्योगीकरण का लचीला सिद्धांत
29.4.2 लिपसेट और जैटरबर्गर का सिद्धांत
29.4.3 लिपसेट और जैटरबर्ग के सिद्धांत की पुनर्स्थापना
29.4.4 सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन की समस्याएँ
29.5 सारांश
29.6 शब्दावली
29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

29.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- गतिशीलता के विभिन्न प्रकार और रूप जान सकेंगे;
- गतिशीलता के मुख्य आयाम और उनका तात्पर्य समझ सकेंगे; और
- गतिशीलता के आधुनिक विश्लेषण की रूपरेखा की चर्चा कर सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है कि व्यक्तियों का किसी एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में संचलन। सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन का अभिप्राय प्रायः जीवन-यापन और जीवन-शैली में होने वाले महत्वपूर्ण बदलावों से है। **सामाजिक गतिशीलता** की संकल्पना की आदर्श परिभाषा पिटरीम ए. सोरोकिन द्वारा दी गई है। सोरोकिन के अनुसार सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन एक व्यक्ति, सामाजिक उद्देश्य या सामाजिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों द्वारा समझा जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई भी वस्तु जिसे मनुष्य ने बनाया या परिवर्तित किया है, सामाजिक गतिशीलता का अनुभव कराती है।

समाजशास्त्र में एक संकल्पना के रूप में सामाजिक गतिशीलता का महत्व एकदम स्पष्ट है। किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा समाज की स्थिति में अनुभव किया गया कोई परिवर्तन न केवल उस व्यक्ति या समूह पर प्रभाव डालता है बल्कि संपूर्ण समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना की व्याख्या परोक्ष रूप से समाज में वर्गीकरण की पहचान कराती है। यह वर्गीकरण सामान्यतः शक्ति, हैसियत और विशेषाधिकार के संदर्भ में किया जाता है। इससे किसी समाज में किसी व्यक्ति या समूह द्वारा शक्ति, हैसियत और विशेषाधिकारों को प्राप्त करने या खोने की समाजशास्त्रीय जाँच की संभावनाओं का मार्ग खुल जाता है। अन्य शब्दों में, अधिकारी-वर्ग की सीमा-रेखा से किसी के ऊपर जाने या नीचे आने से सामाजिक स्थिति अर्थात् सामाजिक गतिशीलता का पता लगता है।

सामाजिक स्थिति पर प्रभाव डालने में लगने वाला समय अलग-अलग समाज में अलग-अलग होता है। सामाजिक गतिशीलता के अनेक आयाम हैं। सामाजिक गतिशीलता का समाजशास्त्र ऐसे विद्वानों के योगदानों से भरपूर है जिन्होंने अपने संबंधित अध्ययन क्षेत्रों और एकत्रित आँकड़ों के आधार पर इस संकल्पना के बारे में सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं।

यह एकदम स्पष्ट है कि किसी स्थिति में परिवर्तन या तो सम-स्तरीय या फिर सोपानात्मक हो सकता है। अतः सामाजिक स्थिति में परिवर्तन को दो आरंभिक प्रकारों अर्थात् सम-स्तर गतिशीलता और ऊर्ध्व गतिशीलता के विश्लेषणात्मक रूप में समझा ज़ा सकता है।

29.2 गतिशीलता के प्रकार और रूप

अब हम सामाजिक गतिशीलता के प्रकारों और रूपों का वर्णन करेंगे।

29.2.1 समस्तर गतिशीलता

सम-स्तरीय सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है—किन्हीं व्यक्तियों या समूहों द्वारा किसी समाज में एक स्थिति से ऐसी दूसरी स्थिति में जाना जो स्तर में उच्च या निम्न न हो। सोरोकिन के अनुसार, सम-स्तर सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है किसी एक सामाजिक समूह से किसी व्यक्ति या समूह का समान स्तर वाले किसी अन्य समूह में जाना। अमेरिकी समाज के संदर्भ में बैपटिस्ट धार्मिक समूह से मैथोडिस्ट धार्मिक समूह में व्यक्तियों का गमन एक नागरिकता से दूसरी नागरिकता, तलाक या पुनर्विवाह के द्वारा एक परिवार से दूसरे परिवार (पति या पत्नी के रूप में) एक कारखाने से उसी व्यावसायिक स्तर पर दूसरे कारखाने में जाना आदि सभी सम-स्तर सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण हैं।

चूँकि सम-स्तर गतिशीलता में बड़े क्रमिक सोपानात्मक उतार-चढ़ाव नहीं होते। अतः सामाजिक गतिशीलता का सम-स्तरीय आयाम किसी समाज में स्थित स्तरीकरण की स्थिति पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकता। फिर भी यह समाज में स्थित विभाजन की प्रकृति का संकेत तो कर ही देता है। ऐसे विभाजन समाज में स्थिति के बड़े अंतर का आरंभिक संकेत नहीं देते। अधिक समकालीन समाजशास्त्री एंटोनी गिड्डन का विचार है कि आधुनिक सभ्यताओं में गतिशीलता की अनेक उप-दिशाएँ हैं। वह समस्तर गतिशीलता को ऐसी पार्श्व गतिशीलता के रूप में परिभाषित करता है जिसमें पड़ोसी नगरों या क्षेत्रों के बीच भौगोलिक संचलन शामिल हों।

29.2.2 ऊर्ध्व गतिशीलता

समाजशास्त्र के साहित्य में ऊर्ध्व गतिशीलता पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। यह साधारणतः क़िसी व्यक्ति या समूह के स्तर में ऊपर या नीचे की तरफ होने वाले परिवर्तन

पर है। ऊर्ध्व गतिशीलता के अनेक उदाहरण हैं। उन्नति या अवनति, आमदनी में परिवर्तन, किसी ऊँची या नीची हैसियत वाले व्यक्ति से शादी तथा किसी अच्छे या बुरे पड़ोस में गमन आदि सभी ऊर्ध्व गतिशीलता के उदाहरण हैं। ऊर्ध्व गतिशीलता में ऐसा संचलन अवश्य शामिल होता है जो स्तर में वृद्धि या कमी सुनिश्चित करता हो। यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि कुछ संचलन एक ही समय में समस्तर तथा ऊर्ध्व दोनों ही हो सकते हैं।

पी.सोरोकिन **ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता** को बेहतर ढंग से इस प्रकार परिभाषित करता है कि इसमें किसी व्यक्ति (या सामाजिक वस्तु) का एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में संचलन हो। संचलन की दिशाओं के अनुसार दो प्रकार की सामाजिक गतिशीलताएँ होती हैं—(1) **ऊपर की तरफ**; तथा (2) **नीचे की तरफ** या क्रमशः **'सामाजिक उत्थान'** और **'सामाजिक पतन'**।

एंटोनी गिड्डन ऊर्ध्व गतिशीलता को ऊपर या नीचे की तरफ सामाजिक आर्थिक मानदंड संचलन के रूप में परिभाषित करता है। उसके अनुसार जो सम्पत्ति, आमदनी या हैसियत प्राप्त करते हैं वे **ऊपर की तरफ** गतिशील माने जाते हैं तथा जो इसके विपरीत संचलन करते हैं वे **नीचे की तरफ** गतिशील माने जाते हैं।

गिड्डन के अनुसार आधुनिक सभ्यताओं में ऊर्ध्व तथा समस्तर (पार्श्व) गतिशीलता प्रायः एक-साथ होती है। प्रायः एक गतिशीलता से दूसरी गतिशीलता पैदा होती है। उदाहरण के लिए किसी शहर में एक कंपनी में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी अन्य शहर या देश में स्थित उस कंपनी की शाखा में पदोन्नति प्राप्त कर सकता है।

29.2.3 गतिशीलता के रूप

विश्लेषण के रूप में किसी व्यक्ति या समूह द्वारा अनुभूत सामाजिक स्थिति के परिवर्तन का कोई व्यक्ति विभिन्न तरीकों या रूपों में संकल्पनात्मक विवेचन कर सकता है। अमरीकी समाज के साक्ष्य देकर पी.सोरोकिन कहता है कि ऊपर तथा नीचे की तरफ आर्थिक, राजनीतिक तथा व्यावसायिक गतिशीलता दो मुख्य रूपों में निहित है। ये हैं—

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1) निचले स्तर के व्यक्तियों का विद्यमान उच्च स्तर में प्रवेश करना।
2) ऐसे व्यक्तियों द्वारा एक नए समूह की स्थापना। यह समूह इसी प्रकार के विद्यमान अन्य समूहों के साथ मिलने की अपेक्षा एक उच्चतर समूह में सम्मिलित हो जाता है।

इसी प्रकार, नीचे या उतार वाली गतिशीलता के भी दो मुख्य रूप हैं—

1) व्यक्तियों का विद्यमान उच्च सामाजिक स्थिति से बिना किसी अपकर्ष या संबंधित उच्च समूह के विघटन के विद्यमान निचली सामाजिक स्थिति में जाना; और
2) अन्य समूहों में किसी समूह की स्थिति की अवनति होने के कारण या एक सामाजिक इकाई के विघटन के कारण किसी संपूर्ण सामाजिक समूह की स्थिति का पतन होना।

गतिशीलता के रूपों या प्रकारों के संबंध में नवीनतम कार्य रालफ एच.टर्नर द्वारा किया गया है। ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में गतिशीलता के प्रधान प्रकारों के विपरीत टर्नर ने उच्च गतिशीलता के दो आदर्श विशिष्ट नमूनों का सुझाव दिया है। ये हैं—

1) **प्रतियोगात्मक गतिशीलता** : यह एक व्यवस्था है जिसमें खुली प्रतियोगिता में श्रेष्ठ स्थिति एक पुरस्कार होती है जिसे महत्वाकांक्षी लोगों द्वारा कोशिश करके प्राप्त किया जाता है। 'इलीट' शब्द का प्रयोग टर्नर द्वारा सरल अर्थ में किया गया है जिसका अर्थ है—उच्च श्रेणी वर्ग (कुलीन)। 'प्रतियोगिता' में सही खेल के कुछ नियम लागू होते हैं। उम्मीदवार अपनी पसंद की नीतियाँ अपना सकते हैं। चूँकि सफल उच्च गतिशीलता का

पुरस्कार देना किसी उच्च वर्ग के हाथ में नहीं होता, अतः यह कोई निर्णय नहीं कर सकता कि कौन इस **पुरस्कार** को प्राप्त करेगा और कौन नहीं।

2) **प्रायोजित प्रतियोगिता** : इसमें स्थापित उच्च वर्ग या उनके एजेंट व्यक्तियों को अपने समूह में नियुक्त करते हैं। इस स्थिति में बनाई गई उच्च श्रेणी की श्रेष्ठता कुछ मानदंडों के आधार पर दी जाती है, जिसे किसी प्रकार के प्रयत्नों या नीति से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उच्च गतिशीलता किसी निजी क्लब में प्रवेश पाने की तरह है जहाँ प्रत्येक उम्मीदवार एक या अनेक सदस्यों द्वारा प्रायोजित किया जाता है। अंत में, उसके सदस्य उच्च गतिशीलता प्रदान करने या प्रदान न करने का निर्णय इस आधार पर करते हैं कि उस व्यक्ति में उनके साथी सदस्यों में पाए जाने वाले गुण हैं या नहीं।

जब तक किसी समाज में सामाजिक स्थितियों का श्रेणीकरण है तब तक एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में संचलन की कम से कम सैद्धांतिक संकल्पना की संभावना होती है। ये परिवर्तन किसी व्यक्ति, समूह या यहाँ तक किसी सामाजिक मूल्य/वस्तु द्वारा किए/महसूस किए जाते हैं। सामाजिक स्थिति के ऐसे परिवर्तनों को सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है।

अभ्यास 1

जिन लोगों को आप जानते हैं उनमें समस्तर गतिशीलता तथा ऊर्ध्व गतिशीलता के उदाहरण खोजिए। परिणामों को अपनी नोटबुक में लिखिए और फिर अपने अध्ययन केंद्र में अन्य विद्यार्थियों के साथ चर्चा कीजिए।

यह परिवर्तन यदि नवीनतम रूप में महसूस किया जाता है तो इसे समस्तर सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। यदि संचलन सोपानात्मक हो तो उसे ऊर्ध्व गतिशीलता कहा जाएगा। समाजशास्त्र में सोपानात्मक गतिशीलता जो ऊपर की तरफ या नीचे की तरफ होती हुई विभिन्न पहलुओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न रूपों का विश्लेषण भी किया जा सकता है। कुछ महत्वपूर्ण रूप हैं—प्रतियोगी गतिशीलता और प्रायोजित गतिशीलता। प्रतियोगी गतिशीलता व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों और उपलब्धियों द्वारा अपनाता है। जबकि प्रायोजित गतिशीलता में अवनत वर्ग के संघर्ष और प्रयत्नों के स्थान पर यह पहले से स्थापित उच्च सामाजिक समूहों या सरकार/समाज द्वारा कुछ मुख्य मानदंडों के आधार स्वीकृत या प्रदान किए जाते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) प्रतियोगितात्मक गतिशीलता की संकल्पना का पाँच वाक्यों में संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) प्रायोजित प्रतियोगिता की विचारधारा का पाँच वाक्यों में संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

29.3 गतिशीलता के आयाम और तात्पर्य

सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना का विश्लेषण करने और इसके विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के लिए हमें इसके विभिन्न आयामों की चर्चा करनी होगी। इसके पश्चात् इन आयामों का किसी समाज के बुनियादी रूप के साथ मिलान किया जाना अपेक्षित है। इस भाग में हम सामाजिक गतिशीलता के महत्वपूर्ण आयामों का पता लगाएँगे तथा व्यापक सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में उनके तात्पर्य की भी बात करेंगे।

29.3.1 परिवर्तित पारस्परिक गतिशीलता और अंतःपारंपरिक गतिशीलता

सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के दो तरीके हैं। एक तो कोई भी व्यक्ति इस बात का अध्ययन कर सकता है कि एक व्यक्ति अपने कार्य जीवन के दौरान अपने व्यवसाय में सामाजिक मानदंड के अनुसार कितना ऊपर या नीचे जाता है। इसे प्रायः **परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता** कहा जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

विकल्प के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है कि बच्चे अपने पिता या दादा की तरह उसी प्रकार के कार्य में कहाँ तक जाते हैं। पीढ़ी के बाद गतिशीलता को **अंतःपारंपरिक गतिशीलता** कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति के जीवन-काल में परिवर्तनों के किसी एक बिंदु से किया गया अध्ययन परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता के अध्ययन का विषय है। यदि अध्ययन दो या तीन पीढ़ी के बाद परिवार में हुए परिवर्तनों के किसी एक बिंदु से किया जाए तो यह **अंतःपारंपरिक गतिशीलता** का विषय है।

परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता को प्रमुख रूप से व्यावसायिक गतिशीलता के रूप में भी जाना जाता है। व्यावसायिक गतिशीलता के बारे में जानकारी लेने के लिए लोगों से अपने जीवन में किए गए कार्यों के बारे में पूछा जाता है।

अमेरिकी व्यावसायिक संरचना का अध्ययन करते समय ब्लो और डंकन (1976) ने पाया कि किसी व्यक्ति का अपने कार्य की सोपान पर ऊपर चढ़ने में निम्नलिखित बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है—

1) शिक्षा की मात्रा

2) व्यक्ति के प्रथम कार्य की स्थिति; और

3) पिता का व्यवसाय।

ब्लो और डंकन की गतिशीलता के मॉडल का चित्रांकन इस प्रकार किया जा सकता है-

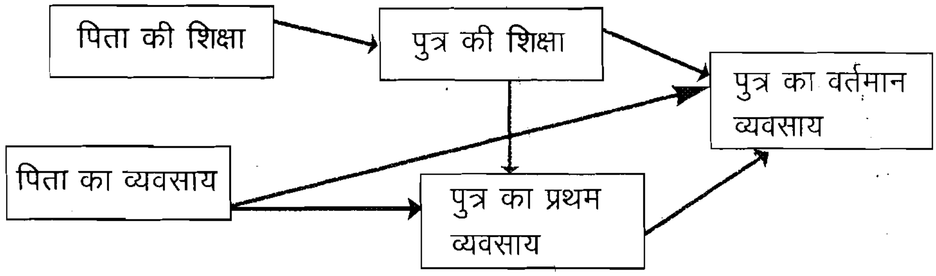

इस उदाहरण में प्रभाव की दिशा तीर द्वारा तथा प्रभावों का महत्व तीर बनाने वाली पंक्तियों की बढ़ती संख्या द्वारा दर्शाया गया है।

व्यावसायिकता को अपनाने में कुछ परोक्ष तथ्य भी भूमिका निभाते हैं। छोटे परिवार प्रत्येक बच्चे को अधिक संसाधन, ध्यान तथा प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं। शीघ्र विवाह करने वालों की अपेक्षा विलंब से विवाह करने वालों के सफल होने की अधिक संभावना है। विलंब से विवाह करने की स्वीकृति एक दबे हुए व्यक्तित्व की विशेषता का संकेत हो सकती है, आदि।

जीविका-संबंधी गतिशीलता या परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता का अध्ययन जिसमें कार्य-जीवन के दौरान व्यक्ति के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है अपेक्षाकृत छोटी अवधि को शामिल करता है तथा वंश परंपरा को उस वर्ग ने कैसे अपनाया इसपर अधिक प्रकाश नहीं डालता। इस तरह के अध्ययन से इस प्रकार के समाज पर भी अधिक रोशनी नहीं पड़ती। कोई समाज किस सीमा तक मुक्त या बंद है, इसका निर्णय करने के लिए अभिभावकों तथा बच्चों में अपने व्यवसाय के एक जैसे बिंदुओं पर या समान आयु में तुलना करना हमेशा सही होता है। इस प्रकार, समाजशास्त्रीय अनुसंधान में अंतःपारंपरिक गतिशीलता अधिक उपयोगी है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.3.2 गतिशीलता की सीमा

जब व्यक्ति सामाजिक पैमाने से ऊपर या नीचे की ओर जाते हैं तो वे एक या अनेक स्तरों से गुज़र सकते हैं। इस प्रकार तय की गई सामाजिक सीमा को रेंज (सीमा) का नाम दिया गया है। इस तरह के संचलन में सीमित सामाजिक सीमा अर्थात् कम दूरी तक परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार, अनेक स्तरों (ऊपर या नीचे) की थोड़ी बड़ी सामाजिक दूरी भी संभव हो सकती है। उदाहरण के लिए, जब ब्लो और डंकन ने राष्ट्रीय स्तर पर 20,000 पुरुषों के नमूने से सूचना एकत्रित की तो पाया कि अमेरिका में अधिक सोपानात्मक गतिशीलता है।

यह जानना रुचिकर होगा कि लगभग सभी एक-दूसरे के निकट व्यावसायिक स्थितियों के बीच हैं। अधिक सीमा वाली (लॉग रेंज) गतिशीलता न के बराबर है। इसके विपरीत, फ्रेंक पार्किन ने अपने अध्ययन (1963) में हंगरी में पूर्व-साम्यवादी शासन में अधिक सीमा वाली (लॉग रेंज) गतिशीलता के अधिक उदाहरण देखे।

29.3.3 नीचे की तरफ गतिशीलता

एंटोनी गिड्डन का मानना है कि नीचे की तरफ गतिशीलता ऊपर की तरफ वाली गतिशीलता से कम प्रचलित है, तो भी यह सर्वव्यापक है। उसके निष्कर्षों के अनुसार, इंगलैंड में 20 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति नीचे की तरफ अंतःपारंपरिक रूप से गतिशील हैं। लेकिन अधिकांश गतिशीलता सीमित है। नीचे की तरफ परिवर्तित गतिशीलता भी आम है।

यह प्रवृत्ति प्रायः मनोवैज्ञानिक समस्याओं और चिंताओं से जुड़ी है जहाँ व्यक्ति अपनी आदतन जीवन-शैली को बनाए रखने में असफल हो गया। नीचे की तरफ गतिशीलता अत्यधिकता के कारण भी हो सकती है। उदाहरण के तौर पर, अधेड़ अवस्था के वे व्यक्ति जिनका कार्य छूट जाता है, उन्हें दूसरा रोज़गार नहीं मिल पाता। अतः वे पहले से कम आमदनी वाला कार्य करने लगते हैं।

किसी भी प्रकार की परिवर्तित गतिशीलता के संदर्भों में नीचे की तरफ गतिशीलता में अधिकांशतः महिलाएँ होती हैं। ऐसा इसलिए है कि अधिकांश महिलाएँ अपना अभीष्ट व्यवसाय प्रसव के समय छोड़ देती हैं। परिवार का पालन करने के कुछ वर्षों बाद विलंब से वे वेतनभोगी कार्य करने लगती हैं, जो प्रायः पहले से कम आमदनी वाला होता है।

29.3.4 ऊपर की तरफ गतिशीलता

आधुनिक समाजों में धन और सम्पत्ति प्राप्त करना उत्कर्ष के लिए मुख्य साधन है। लेकिन कुछ अन्य माध्यम भी हैं। सम्मानजनक कार्य (जैसे, न्यायाधीश आदि) करना, डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करना, या फिर वैभवशाली परिवार में विवाह करना ऐसे ही कुछ माध्यम हैं।

प्रायः यह माना जाता है कि परिवार एक सामाजिक इकाई है जिसके माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक वर्ग संरचना में रखा जाता है। परिवार के माध्यम से बच्चा ग़ैर-औद्योगिक समाजों में ये चीज़ें व्यक्ति की सामाजिक संरचनात्मक स्थिति का पता लगाने के लिए बड़ी प्रक्रिया का निर्माण कर सकती है। औद्योगिक समाजों में वंशानुगत प्रक्रिया संबंधों के द्वारा लगभग उसी सीमा तक वही सामाजिक स्थिति संप्रेषण की गारंटी नहीं लेती। लेकिन तब भी यह समाज की इस महत्वपूर्ण प्रक्रिया को समाप्त नहीं करती। यहाँ पर यह जानना महत्वपूर्ण है कि उच्च जीवन शैली और व्यवहार का अनुकरण (बहुत बार समय अपरिष्कृत या भिन्न होता है) पारंपरिक तथा आधुनिक समाजों में भी ऊपर की तरफ गतिशीलता के उपयोगी साधनों के रूप में कार्य करता है।

29.3.5 गतिशीलता की संभावनाएँ

MAADHYAM IAS

सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन अनिवार्य रूप से समाज के खुलेपन और संकीर्णता के प्रश्न पैदा करता है। यदि किसी समाज की श्रेणीकृत संरचना में किसी संचलन की अनुमति नहीं है तो उसमें गतिशीलता संभव नहीं है। दूसरी तरफ, जो समाज लचीला होता है उसमें गतिशीलता आसानी से हो जाती है।

संकीर्ण समाज में ऊर्ध्व गतिशीलता न के बराबर संभव है। कोलम्बिया और भारत में आधुनिकता से पूर्व कमोबेश समाज इसी प्रकार के थे। इसके विपरीत, एक मुक्त समाज में अधिक ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता होती है। फिर भी, खुले समाज में लोग एक स्तर से दूसरे स्तर में बिना प्रतिरोध के नहीं जा सकते। प्रत्येक समाज में एक स्थापित मानदंड होता है। यह मानदंड उपयुक्त शिष्टाचार परिवार का श्रेणी में स्थान, शिक्षा या जातीय संबंध आदि के रूप में हो सकता है, जिसे उच्च सामाजिक स्तर में जाने से पूर्व लोगों द्वारा पूरा करना होता है।

अधिकांश मुक्त समाजों में उच्च औद्योगीकरण की प्रवृत्ति होती है। ज्यों-ज्यों समाज औद्योगिक होता जाता है नए शिल्प और व्यवसाय आवश्यक हो जाते हैं। इस कारण पीछे वाले कार्य अनावश्यक हो जाते हैं। नए व्यवसायों का अर्थ है—अधिक वर्ग के लोगों के लिए गतिशीलता के अधिक अवसर। इसके अतिरिक्त, शहरीकरण से ऊर्ध्व गतिशीलता में वृद्धि होती है क्योंकि आरोपित मानदंड शहर के पहचान-रहित वातावरण में कम महत्वपूर्ण हो जाते हैं। लोग उपलब्धिपरक, प्रतिस्पर्धात्मक तथा अच्छी स्थिति के लिए प्रयास करते हैं। औद्योगिक समाजों में सरकार भी कल्याणकारी कार्यक्रम चलाती है जिससे गतिशीलता को बढ़ावा मिलता है।

वास्तव में गतिशीलता से व्यावसायिक ढाँचे में परिवर्तन, मध्य और उच्च वर्ग के व्यवसायों की श्रेणी और अनुपात में वृद्धि तथा निचली श्रेणी के व्यवसायों में कमी हो जाती है। समाज के व्यावसायिक ढाँचे में परिवर्तन से उत्पन्न गतिशीलता को संरचनात्मक गतिशीलता (कभी-कभी आरोपित गतिशीलता भी) कहा जाता है।

बॉक्स 29.01

यह बताना महत्वपूर्ण है कि आधुनिक समाज में कृषक समाज, औद्योगिक समाज से भी आगे चला गया है। आधुनिक औद्योगिक देशों ने अपने प्रमुख उत्पादन कार्यों से परे अर्थव्यवस्था की तीसरी शाखा अर्थात् व्यवसाय, परिवहन, संचार और वैयक्तिक तथा व्यावसायिक सेवाएँ विकसित कर ली हैं। कहने का अभिप्राय है कि आधुनिक औद्योगिक समाज में समग्रतः सेवा-क्षेत्र प्रमुख रूप से है। ऐसी भविष्यवाणी डेनियन बेल द्वारा लगभग तीन दशक पहले ही की जा चुकी थी। कृषि-रोज़गार आनुपातिक तथा संपूर्ण रूप से कम रहा था जबकि उत्पादन-रोज़गार आनुपातिक रूप से कम हो रहा था। इस परिवर्तन से अभिजात वर्ग तथा मध्यवर्गीय व्यवसायों में वृद्धि हो गई। ये विकास वैयक्तिक प्रयत्नों की अपेक्षा मुख्यतः सामाजिक गतिशीलता के कारण हुआ।

अनेक विद्वानों ने पता लगाया कि औद्योगीकरण के पूँजीवाद से व्यापक रूप से नीचे की तरफ़ गतिशीलता हुई। सफेदपोश व्यवसायों ने ऊपर की तरफ गतिशीलता के अधिकांश जनसंख्या को पर्याप्त अनुकूलता प्रदान नहीं की। मार्क्सवादी सिद्धांत ने विद्वानों को यह दर्शाने के लिए प्रेरित किया कि बाद के पूँजीवाद की विवशताओं के कारण श्रम के उत्कर्ष की अपेक्षा क्रमिक रूप से उसका पता हुआ। इसके परिणामस्वरूप अत्यधिक मात्रा में सभी प्रकार की नीचे की तरफ गतिशीलता हुई।

29.3.6 तुलनात्मक सामाजिक गतिशीलताएँ

MAADHYAM IAS

एक बार सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना स्पष्ट होने के बाद हम इसके सैद्धांतिक तात्पर्य के बारे में जान गए हैं।

अतः सामाजिक गतिशीलता के वास्तविक अनुभव-जन्य अध्ययनों पर ध्यान देना उपयोगी होगा। इन अध्ययनों के निष्कर्ष एवं अनुमान जिनमें विभिन्न समाजों को शामिल किया गया है, वास्तविक रूप से निर्धारित सामाजिक स्थिति को सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना और रूपों के साथ संबंध स्थापित करने में हमारे लिए सहायक होंगे। हम सर्वाधिक प्रतिनिधित्व वाले अध्ययन कर सकते हैं।

बॉक्स 29.02

वास्तव में सोरोकिन के अध्ययन के माध्यम से मुख्यतः यह विश्वास किया जाता था कि अमेरिका में किसी भी यूरोपीय देश की अपेक्षा गतिशीलता के अधिक अवसर हैं। यूरोपीय महाद्वीप के अनेक उदाहरणों के द्वारा सिमौर लिपसेट तथा रियनहार्ड बैंडिक्स (1959) ने दर्शाया कि किसी भी औद्योगिक देश में कोई अंतर नहीं है। उन्होंने अपने आँकड़ों को अनेक औद्योगिक समाजों के हस्तचालित और मशीनी क्षेत्रों में विभाजित किया।

गिर्हार्ड लेंस्की (1965) ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर हस्तचालित और मशीनी कार्य की एक निर्देशिका तैयार की। उसके अध्ययन ने दर्शाया कि पहले स्थान पर अमेरिका में गतिशीलता की दर 34 प्रतिशत है, लेकिन पाँच यूरोपीय देश लगभग उसके

नज़दीक हैं। ये ह-स्वीडन (32 प्रतिशत), इंगलैंड (31 प्रतिशत), डेनमार्क (30 प्रतिशत), नार्वे (30 प्रतिशत) तथा फ्रांस (29 प्रतिशत)। अतः हम देख सकते हैं कि औद्योगिक देशों में गतिशीलता दर एक-जैसा है।

फ्रैंक पार्किन ने सामाजिक गतिशीलता की नई ऊँचाइयों वाला अभी तक का एक उपयुक्त एवं सारगर्भित अध्ययन किया। उसने पूर्वी यूरोप के प्राचीन साम्यवादी समाज के आँकड़े एकत्रित कर एक तुलना प्रस्तुत की।

1) पूँजीवादी समाजों की तरह प्रभुत्व वाला प्रबंधक तथा व्यावसायिक वर्ग अपने बच्चों के लिए अपेक्षाकृत अधिक लाभ पहुँचाते हैं; और
2) विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग अपने बच्चों के लिए उच्च स्थिति सुनिश्चित करते हैं। फिर भी इन समाजों में किसानों एवं हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के लिए अधिक गतिशीलता है।

पार्किन ने हंगरी में एक अध्ययन के उदाहरण द्वारा सिद्ध किया कि 77 प्रतिशत प्रबंधक, प्रशासनिक तथा व्यावसायिक स्थिति वाले पुरुष और महिलाएँ किसान तथा मूलतः श्रमिक वर्ग के थे और 53 प्रतिशत चिकित्सक, वैज्ञानिक, तथा इंजीनियर भी ऐसे ही परिवारों से संबंधित थे।

औद्योगिक विस्तार से पूर्वी यूरोप में सफेदपोश स्थितियों में वृद्धि होने के कारण निचले स्तर में गतिशीलता प्रदान की जो अमेरिका और यूरोप से भी अधिक थी। इस तथ्य ने श्रमिक वर्गों में प्रेरणा भर दी।

ये अध्ययन बताते हैं कि सामाजिक गतिशीलता उसकी संभावनाएँ और तात्पर्य सभी विशिष्ट सामाजिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं। अगले भाग में हम सामाजिक गतिशीलता के और अधिक नवीन अध्ययनों को देखेंगे जो अनुसंधान की सूक्ष्म तकनीकों का प्रयोग कर सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना के व्यापक सिद्धांतों के आधार पर किए गए हैं।

MAADHYAM IAS

सामाजिक गतिशीलता के किसी भी अध्ययन के अनेक आयाम होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के जीवन काल में उसकी सामाजिक स्थितियों के परिवर्तन का पता लग जाए तो यह परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता का मामला है। यदि परिवर्तन दो या तीन पीढ़ियों के बाद होते हैं तो इसे अंतःपारंपरिक गतिशीलता का मामला माना जाएगा।

सामाजिक स्थिति में परिवर्तन छोटे या अधिक दूरी वाले हो सकते हैं। गतिशीलता की रेंज में इस तथ्य का ध्यान रखा जाता है।

प्रचलित विश्वास के विपरीत, आधुनिक औद्योगिक समाजों में भी नीचे की तरफ गतिशीलता भी काफी व्यापक है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में उपलब्धिपरक मानदंड ही ऊपर की तरफ गतिशीलता का मानदंड है। अधिकांश आधुनिक समाजों के बारे में माना जाता है कि वे अधिक खुली तथा अधिक सामाजिक गतिशीलता वाले होते हैं। फिर भी प्रत्येक समाज का अपना मानदंड है और गतिशीलता के प्रयासों में भी विभिन्न प्रकार से बाधाएँ आती हैं।

सामान्यतः कहा जाए तो सभी औद्योगिक समाजों में कमोबेश गतिशीलता की बराबर मात्रा होती है। साम्यवादी समाज में इतने बंद नहीं होते हैं जैसे कि सोचा जाता है।

बोध प्रश्न 2

1) परिवर्तित पारस्परिक गतिशीलता और अंतःपारंपरिक गतिशीलता को लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) 'उच्च स्तर' तथा 'निम्न स्तर' की गतिशीलता के बारे में दस पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

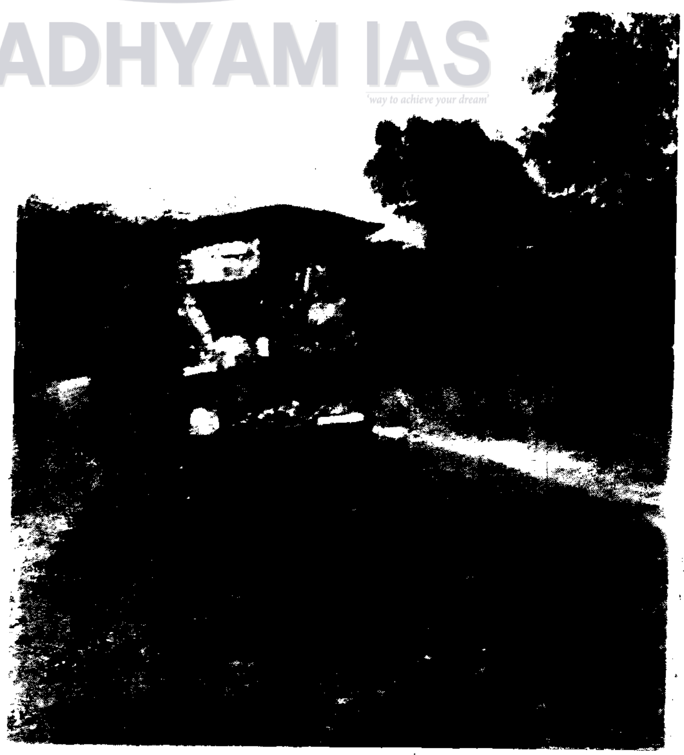

प्रायः लघु उद्योग आरम्भ करके ही सफल उद्यमी बनते हैं

साभारः बी.किरणमई

29.4 सामाजिक गतिशीलता का आधुनिक विश्लेषण

1959 में सियमोर मार्टिन लिपसेट, रिनहार्ड बैंडिक्स तथा हंस एल.जैटरबर्ग ने शोध प्रस्तुत किया जिसमें दर्शाया गया कि सभी पूर्वी औद्योगिक समाजों में गतिशीलता दर प्रायः एक-समान है। इस शोध ने सामाजिक गतिशीलता के विद्वानों में एक संवाद छेड़ दिया। और अधिक नवीन तथा विस्तृत आँकड़ों की सहायता से अनेक समाजशास्त्रियों ने इस शोध के संवाद में भाग लिया।

लिपसेट आदि विद्वानों के शोध का समर्थन करने के लिए यह उपयोगी है कि पहले औद्योगीकरण के प्रसिद्ध लचीले सिद्धांत को संक्षेप में समझा जाए जिसने गतिशीलता अध्ययनों को प्रेरित किया। हम इस शोध की मौलिक विशेषताएँ तथा इसके तर्कशास्त्र का भी वर्णन कर सकते हैं। एक बार इसे जानने के बाद हम लिपसेट, बैंडिक्स, जैटरबर्ग के सिद्धांत की औद्योगीकरण के सिद्धांत से तुलना कर सकते हैं। इसके बाद हम उन विद्वानों के विचारों को देखेंगे जिन्होंने लिपसेट, बैंडिक्स तथा जैटरबर्ग के विचारों पर दृढ़ता से संवाद किया तथा उसकी पुनर्स्थापना की।

29.4.1 औद्योगीकरण का लचीला सिद्धांत

लचीले सिद्धांत का मुख्य मत यह है कि इसके लिए कुछ निश्चित पारिभाषिक पूर्व-आवश्यकताएँ तथा समाज को प्रभावित करने वाले कुछ अनिवार्य परिणाम होते हैं। अतः औद्योगिकरण से पूर्व समाजो की तुलना में औद्योगिक समाजों में गतिशीलता की प्रवृत्ति निम्नलिखित प्रकार से होती है—

1) प्रायः समग्र सामाजिक गतिशीलता की दर अपेक्षाकृत उच्च होती है और इसके अतिरिक्त ऊपर की गतिशीलता अर्थात् कम से अधिक लाभ की स्थितियाँ नीचे की तरफ वाली गतिशीलता से अधिक होती है।
2) गतिशीलता की तुलनात्मक दर या गतिशीलता के अवसर अधिक समान हैं। वे इस अर्थ में कि विभिन्न सामाजिक वर्गों वाले व्यक्ति और अधिक समान विषयों में प्रतिस्पर्धा करते हैं।
3) कुछ समय बाद सभी प्रकार की गतिशीलताओं में तथा तुलनात्मक रूप से सभी में समानता की डिग्री में वृद्धि की प्रवृत्ति होती है।

पीतम ब्लौ और ओडी डंकन (1967) उन प्रमुख समाजशास्त्रियों में से हैं जिन्होंने उपर्युक्त विचारधारा का संकेत किया। इस निष्कर्ष के कारण यह है कि—

1) औद्योगिक समाज में वैज्ञानिक विकसित तकनीकों के कारण गतिशीलता सामाजिक संरचना में श्रम विभाजन की निरंतर तथा प्रायः शीघ्र परिवर्तन की माँग करती है। स्वयं श्रम विभाजन की संकल्पना में अधिक विशिष्ट कार्यों के कारण अत्यधिक अंतर आ जाता है। इस प्रकार, उच्च गतिशीलता पीढ़ी दर पीढ़ी तथा व्यक्ति के जीवन-काल में चलती चली जाती है।
2) औद्योगीकरण के कारण स्वयं श्रम विभाजन की विभिन्न श्रेणियों में विशेष व्यक्तियों के चयन और उनके वर्ग-निर्धारण के ठोस आधार बन जाते हैं। औद्योगिक व्यवसाय तथा उपलब्धि की होड़ चयन की युक्तिसंगत प्रक्रिया के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त, अति-योग्य व्यक्तियों की बढ़ती हुई माँग शिक्षा और प्रशिक्षण को बढ़ावा देती है। सामाजिक वर्गों के व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर सकें; और
3) चयन के नए तरीके अर्थव्यवस्था के नए क्षेत्रों अर्थात अत्यधिक उन्नत तकनीक वाले निर्माण उद्योगों और सेवाओं के लिए अनुकूल होंगे। ये नए तरीके बड़े प्रशासन संगठनों के बदले प्रभावी रूप के भी अनुकूल होंगे। इस प्रकार औद्योगिक जीवनधारा की प्रतिरोधी

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र दूर हट जाते हैं तथा उपलब्धिमूलक गतिशीलता अर्थव्यवस्था के व्यापक क्षेत्रों में फैल जाती है।

29.4.2 लिपसेट और जैटरबर्गर का सिद्धांत

लिपसेट और जैटरबर्ग का औद्योगिक समाज में गतिशीलता का सिद्धांत पर्याप्त रूप से उपर्युक्त लचीली अवस्था में समाया हुआ है। फिर भी इस बात पर गौर किया जाए कि वे इस तर्क का समर्थन नहीं करते कि गतिशीलता में औद्योगिक विकास के साथ धीरे-धीरे वृद्धि होती है। उनके अनुसार, औद्योगिक समाज में गतिशीलता दर तथा आर्थिक उन्नति के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। जब औद्योगीकरण एक निश्चित स्तर पर पहुँच जाता है तो सामाजिक गतिशीलता तुलनात्मक रूप से अधिक हो जाती है। वे अत्यधिक खुलेपन की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप औद्योगिक समाजों की उच्च गतिशीलता को भी नहीं मानते। इस प्रकार की उच्च गतिशीलता मुख्य रूप से इन समाजों में संरचनात्मक परिवर्तनों से होने वाले प्रभावों के कारण होती है। लिपसेट और जैटरबर्ग की मुख्य परिकल्पना यह है कि सामाजिक गतिशीलता दर औद्योगिक समाजों में अधिक मौलिक समानता दर्शाती है।

29.4.3 लिपसेट और जैटरबर्ग के सिद्धांत की पुनर्स्थापना

लिपसेट और जैटरबर्ग की विचारधारा को दोहराने के लिए फीदरमैन, जौंस तथा होज़र ने विकसित साधनों और तकनीकों से अनुसंधान किया। उन्होंने दर्शाया कि जब सामाजिक गतिशीलता की तुलनात्मक दर पर विचार किया जाए तभी यह विचारधारा लागू होती है। अन्यथा यदि सामाजिक गतिशीलता को संपूर्ण दरों में अभिव्यक्त किया यह विचारधारा सही नहीं है।

यदि कोई व्यक्तियों या समूहों की स्पष्ट विशेषताओं द्वारा निर्धारित संपूर्ण दरों को देखें तो संपूर्ण देश की एकसमान समानता निर्धारित नहीं की जा सकती। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ये दरें अर्थव्यवस्था, तकनीकी और परिस्थितियों की संपूर्ण रेंज द्वारा व्यापक रूप से प्रभावित होती हैं और ये रेंज व्यापक रूप से बदलती रहती है (गतिशीलता के संरचनात्मक संदर्भ में)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अभ्यास 2

उद्योग से संबंधित विभिन्न व्यक्तियों से मिलिए और देखिए कि भारत के लिए लिपसेट तथा जैटरबर्ग ने किस प्रकार की कल्पना की है। अपने नोट्स की अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के नोट्स से तुलना कीजिए।

गतिशीलता की तुलनात्मक दरों पर अर्थात् जब गतिशीलता पर ऐसे सभी प्रभावों की वास्तविकता के रूप में विचार किया जाए तो संपूर्ण राष्ट्रीय गतिशीलता की संभावनाएँ काफी अधिक होती हैं। इस मामले में केवल वे ही तत्व शामिल होते हैं जो दी गई संरचना के भीतर प्रतिस्पर्धा द्वारा विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने या वंचित रहने वाले विभिन्न वर्गों के तुलनात्मक अवसरों को प्रभावित करते हैं।

अंत में रॉबर्ट एरिक्सन तथा जॉन गोल्डलहोप द्वारा नो यूरोपीय देशों में किए गए अध्ययन में भी औद्योगीकरण के लचीले सिद्धांत का खंडन किया गया है। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी दोनों यूरोपीय समाजों का अध्ययन किया तथा उन्हें न तो उच्च स्तरों की तरफ सामान्य तथा अनिवार्य संपूर्ण गतिशीलता के और न ही राष्ट्रों में सामाजिक गतिशीलता के प्रमाण मिले। उन्हें न तो गतिशीलता दरों में संपूर्णता या तुलनात्मक रूप से किसी सुसंगत दिशा में परिवर्तन के और न ही किसी अवधि के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्याप्त रूप से एकसमान होने की प्रवृत्ति के प्रमाण मिले।

29.4.4 सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन की समस्याएँ

सामाजिक गतिशीलता की सर्वाधिक मौलिक जानकारी के बाद हमने प्रचलित तथा सामाजिक गतिशीलता के अधिक उन्नत निष्कर्षों से परिचित होने का भी प्रयास किया है। सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना और इसके रूपों पर हमारी जानकारी का निष्कर्ष निकालने से पूर्व आवश्यक है कि इसके अध्ययन में आने वाली कम से कम बुनियादी समस्याओं का संकेत किया जाए।

एंटोनी गिड्डस का अनुकरण करते हुए हम संभावित समस्याओं की निम्नलिखित सूची बना सकते है—

1) समयोपरांत कार्यों की प्रकृति बदल जाती है और यह हमेशा स्पष्ट नहीं होता कि एक जैसे व्यवसायों को वास्तव में कभी किसी रूप में माना जाता है। उदाहरण के तौर पर, यह स्पष्ट नहीं है कि नीलपोश कार्य से सफेदपोश कार्य की गतिशीलता हमेशा उच्च गतिशीलता ही हो। हो सकता है कि नीलपोश निपुण श्रमिक सामान्यतः सफेदपोश कार्य करने वाले अधिकांश व्यक्तियों से अच्छी आर्थिक स्थिति में हों।

2) अंत-पारंपरिक गतिशीलता के अध्ययन में यह निर्णय करना कठिन है कि किस बिंदु पर तुलनात्मक व्यवसायों की तुलना की जाए। उदाहरण के तौर पर, हो सकता है कि पिता अपने व्यवसाय के मध्य में हो जबकि उसकी संतान अपना कार्य-जीवन आरंभ कर रही हो। अभिभावक और बच्चे हो सकता है एक-साथ गतिशील हों तथा यह भी कि एक ही दिशा में या (उससे कम) भिन्न दिशाओं में। अब समस्या आती है कि उनके कार्यों की आरंभ में या अंत में किए रूप में तुलना की जाए।

फिर भी, इन समस्याओं का कुछ सीमा तक समाधान किया जा सकता है। जब यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक अध्ययन में शामिल कार्य के सम्मान और प्रकृति में समयोपरांत संपूर्ण परिवर्तन आ जाता है तो हम व्यावसायिक श्रेणियों का वर्गीकरण करते समय इस बात का ध्यान रख सकते हैं। उपर्युक्त दूसरी समस्या भी आँकड़ों का ध्यान रखकर दूर की जा सकती है। यह अभिभावकों और बच्चों के संबंधित व्यवसायों की आरंभ और अंत में तुलना करके किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) संक्षेप में लिपसेट तथा जैटरबर्ग के सिद्धांत का दस पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में आने वाली दो समस्याओं का पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

29.5 सारांश

औद्योगीकरण के लचीले सिद्धांत पर सामाजिक गतिशीलता का आधुनिक विश्लेषण करते समय अनिवार्य रूप से संवाद किया जाता है। औद्योगीकरण का लचीला सिद्धांत बताता है कि एक अवधि के बाद सभी औद्योगिक समाज खुलेपन की एक जैसी विशेषताओं को अपनाते हैं। इस तरह, सामाजिक गतिशीलता दर और रूपों में भी एक समानता की प्रवृत्ति होती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लिपसेट, बैंडिक्स और जैटरबर्ग के सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन बताता है कि औद्योगिक समाजों में गतिशीलता दरों में बुनियादी समानताएँ होती हैं। वे यह भी बताते हैं कि औद्योगिक समाजों की उच्च गतिशीलता का इनके खुलेपन पर कम प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, वे उच्च गतिशीलता को इन समाजों के संरचनात्मक परिवर्तन का परिणाम मानते हैं।

फीदरमैन, जॉन्स और हाउज़र बताते हैं कि यदि सामाजिक गतिशीलता की तुलनात्मक दरों पर विचार किया जाता है तो औद्योगिक समाजों में गतिशीलता प्रवृत्ति की समानता भी उसी के अनुरूप होगी।

एरिक्सन और गोल्डहोप ने अपने अध्ययनों के माध्यम से दर्शाया है कि विभिन्न समाजों में गतिशीलता की कोई एक जैसी प्रवृत्ति नहीं होती।

सामाजिक गतिशीलता के अध्ययनों में इसके साथ जुड़ी समस्याओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। कार्य स्थिति के द्वारा निर्धारित की गई विशेष सामाजिक स्थिति अपरिवर्तनीय नहीं है क्योंकि समयोपरांत व्यवसाय से जुड़े मान बदलते रहते हैं। अतः गैर-पारंपरिक गतिशीलता का अध्ययन करते समय इस बात का सावधानी से निर्णय करना चाहिए कि अभिभावकों और बच्चों के व्यवसायों की किस बिंदु पर तुलना की जाए।

29.6 शब्दावली

प्रतियोगात्मक गतिशीलता : यह गतिशीलता खुली प्रतियोगिता के माध्यम से पैदा होती है।

सम-स्तर गतिशीलता : इसका अर्थ है समाज में हैसियत या स्थिति में परिवर्तन होना। इसमें आवश्यक नहीं कि स्तर में परिवर्तन हो।

प्रायोजित गतिशीलता : इस तरह की गतिशीलता ऊपर की तरफ होती है जो 'प्रायोजक' अथवा किसी ऊँचे व्यक्ति या वर्ग के द्वारा व्यक्तिगत को आमंत्रित किया जाता है।

परिवर्तित पारस्परिक गतिशीलता : यह गतिशीलता विभिन्न पीढ़ियों के प्रयासों से उत्पन्न होती है।

अंतःपारंपरिक गतिशीलता : इस प्रकार की गतिशीलता दो या इससे अधिक पीढ़ियों के दौरान पैदा हो जाती है।

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अमेरिकन व्यावसायिक संरचना,

ब्लौ, पी.एम तथा ओ.डी. डंकन (1967), विले : न्यूयॉर्क

निरंतर परिवर्तन : औद्योगिक समाजों में वर्ग

गतिशीलता का एक अध्ययन

एरिक्सन, आर तथा जे.एच.गोल्डथ्रोप (1987) क्लैरंडोन प्रेस, ऑक्सफोर्ड

ब्रिटेन : समाजशास्त्र, गिड्डन्स, ए (1989), पॉलिटी प्रैस

औद्योगिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता, लिपसेट, एस.एम तथा आर. बैंडिक्स (1959)

बेरकेली : कैलिफोर्निया प्रैस विश्वविद्यालय

सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता, सोरोकिन पी.ए (1927), जनरल : फ्री प्रैस

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रतियोगितात्मक गतिशीलता में सर्वोत्तम स्थिति एक उद्देश्य होती है जिसके लिए खुली प्रतियोगिता होती है। सफलता उम्मीदवार के प्रयत्नों पर निर्भर करती है। इसका अर्थ है कि प्रतियोगिता के कुछ नियम होते हैं। इसका भावार्थ यह है कि सफल उच्च गतिशीलता स्थापित उम्मीदवार के हाथ में नहीं है।

2) प्रायोजित गतिशीलता की स्थिति में स्थापित व्यक्ति उम्मीदवार को अपने समूह में नियुक्त करते हैं। इसके लिए आवश्यक योग्यता खुली प्रतियोगिता प्रमाण या संघर्ष से प्राप्त नहीं की जा सकती। इस प्रकार, उच्च गतिशीलता ऐसे किसी सदस्य द्वारा प्रायोजित की जाती है।

बोध प्रश्न 2

1) सामाजिक गतिशीलता का विश्लेषण करने के दो विभिन्न तरीके हैं। प्रथम है— परिवर्तित गतिशीलता। इसके अध्ययन में व्यक्तियों के व्यवसायों तथा सामाजिक स्तर में कि वे कहाँ तक ऊपर या नीचे की तरफ गए हैं, इसको शामिल किया जाता है।

   दूसरा तरीका है—अंतःपारंपरिक गतिशीलता। इसमें पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवसायों और सामाजिक स्थिति की गतिशीलता का अध्ययन किया जाता है।

2) नीचे की तरफ गतिशीलता में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का ह्रास होता है जबकि ऊपर की तरफ गतिशीलता में उसकी सामाजिक हैसियत में वृद्धि होती है। नीचे की तरफ गतिशीलता............। गिड्डन के अनुसार, इंगलैंड में 20 प्रतिशत व्यक्ति नीचे की तरफ अंतःपारंपरिक रूप से गतिशील हैं। ऊपर की तरफ गतिशीलता में पहले से अधिक धन, शक्ति और हैसियत प्राप्त करना शामिल होता है।

बोध प्रश्न 3

1) लिपसेट तथा जैटरबर्ग के अनुसार, औद्योगिक समाज तथा गतिशीलता दरों में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। फिर भी जब औद्योगीकरण एक निश्चित स्तर पर पहुँच जाता है तो सामाजिक गतिशीलता अपेक्षाकृत उच्च हो जाती है। वे औद्योगिक समाजों की उच्च गतिशीलता को अधिक खुलेपन का परिणाम नहीं मानते अपितु इसे संरचनात्मक परिवर्तनों का परिणाम अनुभव करते हैं।

2) सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन की दो समस्याएँ है—

   क) समयोपरांत कार्यों की प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है।

   ख) अंतःपारंपरिक गतिशीलता के अध्ययनों में व्यवसायों की तुलनाओं का निर्धारण करना कठिन होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 30 जाति एवं वर्ग में सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 जाति में गतिशीलता

30.2.1 गतिशीलता के स्तर

30.3 संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण

30.3.1 संस्कृतिकरण

30.3.2 पश्चिमीकरण

30.4 धर्मनिरपेक्षीकरण

30.4.1 शिक्षा

30.4.2 अनुसूचित जातियाँ एवं अन्य पिछड़े वर्ग

30.4.3 औद्योगीकरण एवं शहरीकरण

30.5 वर्ग एवं सामाजिक गतिशीलता

30.5.1 वर्ग-गतिशीलता का महत्व

30.5.2 वर्ग-गतिशीलता एवं वर्ग-निर्माण

30.5.3 औद्योगीकरण एवं गतिशीलता

30.5.4 शिक्षा और गतिशीलता

30.5.5 अंतःपारंपरिक अंतःपरिवर्तित गतिशीलता

30.6 भारत में गतिशीलता एवं वर्ग

30.6.1 कृषक वर्गों में सामाजिक गतिशीलता

30.6.2 शहरी वर्गों में सामाजिक गतिशीलता

30.7 सारांश

30.8 शब्दावली

30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- जातिगत गतिशीलता को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओं और घटकों की रूपरेखा तैयार कर सकेंगे,
- वर्ग गतिशीलता की प्रकृति और उसे प्रभावित करने वाले घटकों का वर्णन कर सकेंगे, और
- भारत में वर्ग गतिशीलता को प्रभावित करने वाले घटकों को स्पष्ट कर सकेंगे।

30.1 प्रस्तावना

सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता का विश्लेषण और अध्ययन किया है। साथ ही, इसकी संकल्पना, प्रकार और माध्यमों की जाँच-पड़ताल करके हमारे समक्ष रखने का प्रयास किया है जो उनका एक विशेष योगदान कहा जा सकता है। उन्होंने इसे दो समाजों के बीच स्पष्ट रूप से विभाजित किया है। प्रथम किस्म के वे समाज हैं जो अपने आप में 'अवरूद्ध', स्थिर, अचल और अगम्य हैं। इनके नियम कठोर हैं। इसलिए इनमें गतिशीलता नहीं होती। दूसरी तरह के वे समाज हैं जिन्हें 'मुक्त' समाज कहा जा सकता है। मुक्त समाजों की प्रकृति सुगम्य, खुली और लचीली होती है। सोरोकिन ने स्तरीकरण के संबंध में कहा है कि इसमें गतिशीलता की प्रकृति मौजूद है जबकि जाति प्रथा 'अवरूद्ध समाज' की श्रेणी में आती है। यहाँ पर गतिशीलता का कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक वर्गों का प्रश्न है, ये 'मुक्त समाजों' में पाए जाते हैं जो उपलब्धियों के माध्यम से गतिशीलता के लिए विस्तृत अवसर प्रदान करते हैं। इसलिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण है कि जाति और वर्ग में गतिशीलता की प्रकृति का विस्तृत विश्लेषण किया जाए ताकि यह पता लगाया जा सके कि वे सोरोकिन द्वारा वर्णित सामान्यीकरण कहाँ तक अनुरूप हैं।

30.2 जाति में गतिशीलता

यह आम धारणा है कि जाति स्तरीकरण की एक 'अवरूद्ध' व्यवस्था है जो वास्तव में सच्चाई से बहुत दूर है। कोई भी समाज स्थिर या स्थैतिक नहीं है। यहाँ तक कि पारंपरिक संरचना में भी जहाँ पर पूजा-पाठ ही किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुष्ठान और उसकी व्यावसायिक स्थिति का तथा उसके पारश्रमिक निर्धारण का मुख्य घटक थी वहाँ भी नीचे और ऊपर, दोनों तरफ की सामाजिक गतिशीलता समाप्त नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ न कुछ सामाजिक गतिशीलता अवश्य थी।

MAADHYAM IAS

जाति प्रथा में सामाजिक गतिशीलता के प्रमाण जाति और व्यवसाय में बढ़ती विषमता में जजमानी बंधनों से परे हटने में, शुद्धता और अपवित्रता की कठोरता में तथा धर्मनिरपेक्षता की स्वीकृति में मौजूद है। श्रीनिवास ने ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन समय में गतिशीलता के दो प्रमुख स्रोत थे। पहला था अस्थिर राजनीतिक व्यवस्था। इसमें नई जातियों द्वारा क्षत्रियों के स्तर और शक्ति प्रयोग की स्थिति को स्वीकार करना आसान कर दिया। दूसरा कारण था कृषि-योग्य कम भूमि की उपलब्धता। उर्ध्व गतिशीलता के इन दो मार्गों के परिणामस्वरूप प्रभावशाली जातियाँ जैसे रेड्डी और मराठा जातियों के नेता राजनैतिक शक्ति तथा जाति की स्थिति की अभिलाषा करने लगे। इसी तरह से मध्यकालीन बंगाल के पालवंशी मूल रूप से शूद्र वर्ग के थे, गुजरात के पट्टीदार लोग भी मूल रूप से किसान वर्ग के थे। किसी प्रमुख जाति का कोई नेता जब राजा या राज-प्रमुख बन जाता है उस हालत में उस जाति के अन्य लोगों के लिए यह गतिशीलता का स्रोत बन जाता है और उच्च जातियों की परंपरा तथा जीवन शैली को अपनाने से यह और भी दृढ़ हो जाता है।

30.2.1 गतिशीलता के स्तर

गतिशीलता व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा समूहों में भी दृष्टिगोचर होती है। गतिशीलता के इन स्तरों का श्री शर्मा ने बहुत ही गहन विश्लेषण किया है।

1) **परिवार में व्यक्तिगत गतिशीलता** : किसी एक परिवार में चाहे वह परिवार किसी छोटी जाति का ही क्यों न हो, परिवार के अन्य सदस्यों की तुलना में कोई सदस्य एक अच्छा स्तर और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। यह प्रतिष्ठा व्यक्ति के अच्छे व्यक्तित्व उसकी सत्य-निष्ठा और ईमानदारी, उच्च शिक्षा द्वारा अथवा अन्य उपलब्धियों के कारण हो

सकती है। इसी प्रकार एक ऊँची जाति का व्यक्ति भी अपने दुष्कर्मों और जाहिलपन की आदतों के कारण अपना स्तर नीचे गिरा सकता है, अपनी प्रतिष्ठा खो सकता है। यह एक व्यक्ति की गतिशीलता की गिरावट मानी जा सकती है। अतः व्यक्ति की गतिशीलता का कारण उसकी कमी या उसकी क्षमता हो सकती है। इसलिए इस गिरावट को पूरी जाति की गिरावट नहीं माना जा सकता है। इसका प्रभाव व्यापक नहीं होता है तथा व्यक्तिगत स्तर तक ही सीमित रहता है।

2) **एक जाति में अल्पसंख्क परिवारों की गतिशीलता :** इस प्रकार की गतिशीलता को परिवारों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पहलुओं के साथ जोड़कर देखना चाहिए। इस तरह के स्तरों में उन्नति होने के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे, भूमि प्राप्त कर लेना और उच्च शिक्षा ग्रहण कर लेना जिस कारण वे उच्च जातियों की तरह से व्यवहार करने लगते हैं। जैसे कि वस्त्र धारण करना, जीवन शैली अपनाना और उनके धार्मिक कर्मकाण्ड करना है। इस तरह की गतिशीलता की प्रकृति व्यापक नहीं होती है। इन्हें **समतल गतिशीलता** ही मानना चाहिए न कि **सोपानात्मक गतिशीलता** क्योंकि यह केवल स्तर विशिष्टताओं को ही पूरा करती है। इस संबंध में बर्टन स्टीन ने स्पष्ट किया है कि इस तरह की प्रवृत्ति मध्यकाल में व्यापक रूप से रही है।

3) **अधिक परिवारों की अथवा समूह की गतिशीलता :** इस प्रकार की गतिशीलता व्यापक प्रकृति की होती है। इसमें सामूहिक रूप से सांझी प्रतिष्ठा, स्तर एवं सम्मान निहित होता है। और इसलिए इसका शुद्धता तथा अपवित्रता के संबंध में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के द्वारा पता लगता है। कुछ जातियाँ अशुद्धता और अपवित्रता जैसे व्यवहारों को त्याग कर अपनी स्थिति में सुधार करती हैं। इन सब मामलों में संस्कृतिकरण सबसे प्रमुख प्रक्रिया होती है जो इन जातियों को सामाजिक क्रम में ऊर्ध्व अथवा उच्च श्रेणी में ले जाती है तथा उच्च गतिशीलता के दावे को वैध बनाती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.3 संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण

गतिशीलता की विशेषताएँ एवं प्रक्रियाएँ हैं। अब उनकी चर्चा करेंगे।

30.3.1 संस्कृतिकरण

एम.एन. श्रीनिवास ने जाति में गतिशीलता की प्रक्रिया के रूप में संस्कृतिकरण को विस्तार से सूत्रबद्ध किया है। उसके अनुसार संस्कृतिकरण एक 'प्रक्रिया' है जिसके माध्यम से कोई नई हिंदू जाति, आदिवासी या अन्य समूह के लोग (श्रीनिवास 1966) अपने रीति-रिवाजों, सांस्कृतिक सिद्धांतों तथा जीवन-शैली को अपनी मूल जाति से दोगुनी गति 'उच्च' की दिशा में परिवर्तित करते हैं। संपूर्ण इतिहास में संस्कृतिकरण विभिन्न रूपों में प्रचलित रहा है। इसको धर्मनिरपेक्षता और धर्मों के बीच की दूरी को कम करने के लिए साधन के रूप में प्रयोग किया गया है। जब कोई जाति धर्मनिरपेक्षता की शक्ति प्राप्त कर लेती है तो वह ऊँची जातियों के रीति-रिवाजों, संस्कारों, विश्वासों, शाकाहार, मद्य-निषेध जैसे विचारों को अपना कर अपने स्तर को वैध ठहराने का प्रयास करती है। इसके अतिरिक्त, वे लोग ब्राह्मण पुजारी की सेवाओं को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, और तीर्थ-स्थलों का भ्रमण एवं धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करके जानकारी प्राप्त करते हैं।

जनगणना के आँकड़े रिकॉर्ड करना उच्च स्तर के दावों के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जा सकता है। श्रीनिवास का मानना है कि बाद में की जाने वाली जनगणना में ये दावे अधिक ऊँचे स्तर के लिए किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई एक जाति एक

जनगणना में अपने आपको वैश्य ही घोषित करती है। परंतु यही जाति अगली जनगणना के समय अपने आपको ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होने का दावा प्रस्तुत कर देगी। इनका इस प्रकार से दावे का अर्थ यह होता है कि वे दावा की जाने वाली संबंधित उच्च जातियों जैसी जीवन शैली तथा व्यवहारों को अपनाने का प्रयत्न करती हैं। यह स्थिति उच्च स्तर की शासक सैनिक का संकेत देती है जैसे क्षत्रिय और ब्राह्मण सर्वोच्च आदर्श या गतिशील वर्गों के उदाहरण हैं।

इसके अलावा, संस्कृतिकरण का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रूप विशुद्धवाद उभर कर सामने आया है। यह दोबारा बनी उच्च जाति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करता। उदाहरण के तौर पर, पूर्वी उत्तर प्रदेश की कोरी जाति के लोग ब्राह्मणों का पानी नहीं पिएंगे, न ही उनका छुआ हुआ भोजन करेंगे। इसे अपसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया कहा जा सकता है, जो नए वर्गों के निर्धारण में तथा उच्च राजनैतिक गतिशीलता में योगदान करती है। पुनःसंस्कृतिकरण की एक और प्रक्रिया से भी गतिशीलता को बढावा मिलता है। इस मामले में पहले के पश्चिमीकृत या आधुनिकीकृत सभ्यता को स्वीकारने वाले लोग भी आधुनिकीकरण के अनेक चिह्नों को छोड़ देते हैं तथा परंपरागत सांस्कृतिक जीवन-शैली को अपना लेते हैं।

उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी विशेष जाति और वर्ग के लिए केवल **स्थितिगत परिवर्तन** होता है। वर्गक्रम में अकेली जातियाँ नीचे अथवा ऊपर की ओर गतिशील होती हैं जबकि जातियों का संपूर्ण ढाँचा वैसा ही बना रहता है।

30.3.2 पश्चिमीकरण

श्रीनिवास के अनुसार भारत में 'ब्रिटिश शासन के 150 वर्ष के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति का पश्चिमीकरण हुआ है जिसमें विभिन्न स्तरों जैसे प्रौद्योगिकी, विचारधाराओं और संस्थानों, सिद्धांतों तथा मूल्यों के स्तर पर हुए परिवर्तनों को शामिल किया गया है।' (श्रीनिवास 1966)। इसलिए पश्चिमीकरण विस्तृत, बहु-आयामी और जटिल प्रक्रिया है जोकि संस्थानों के किसी सदस्य के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में आक्रमण करती है जाति गतिशीलता पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। यह न केवल मौजूदा ढाँचे को ही बदलती है बल्कि सामाजिक गतिशीलता के लिए नए क्षेत्रों और नवीन मार्गों को भी प्रस्तुत करती है। इस प्रक्रिया में बहुत सारे अंतःसम्बद्ध घटकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भूमि को क्रय-विक्रय की वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया तथा इसके परिणामस्वरूप व्यापक गतिशीलता का आरंभ हुआ। छोटी जातियों के भूमि खरीद सकने वाले व्यक्ति भूस्वामी बनकर उच्चता की ओर गतिशील हो सकते थे। जबकि जो लोग अपनी भूमि को किन्हीं कारणों से नहीं रख पाए। नीचे की ओर गतिशीलता में आ गए।

अभ्यास 1

अपने निकट किसी शहरी गाँव के समाज का अध्ययन करें। सामाजिक पारस्परिक संबंध कहाँ तक पश्चिमीकरण संकल्पना के अनुरूप हैं। अपने निष्कर्ष लिखें तथा अध्ययन केंद्र में अन्य छात्रों से उनकी तुलना करें।

नई-नई खोजों, साधनों तथा संचार की प्रगति से जातिगत बंधनों, अवरोधों में कमी आ गई।

ब्रिटिश शासनकाल में पूर्व-संस्थापित संस्थाओं के स्थान पर नई संस्थानों की स्थापना की गई, जो पहले से बिल्कुल भिन्न प्रकृति की थी। इससे सभी जातियों के लिए सामाजिक गतिशीलता के लिए आधुनिक मार्ग खोल दिए तथा प्रगति के दरवाज़े सबके लिए उपलब्ध

करा दिए गए थे। अंग्रेज़ों ने नए विद्यालयों और कॉलेजों की स्थापना की जिसमें बिना किसी जातिगत भेदभाव के सबको प्रवेश दिया गया था। इसके साथ ही सेना, शासन वर्गों, विधि न्यायालयों में योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ की जाने लगीं। इससे सभी को समान अवसर मिलने लगे जिससे पर्याप्त गतिशीलता हुई। ब्रिटिश शासन ने सबसे अधिक काम आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न अवसरों की उत्पत्ति करके किया। ऊँची जाति के लोगों ने संस्थानों से उच्च शिक्षा प्राप्त करके आर्थिक लाभ के अवसरों का भरपूर लाभ उठाया। किंतु इस नई व्यवस्था से छोटी जाति के लोग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। बेले ने उदाहरण दिया है कि अंग्रेज़ों की प्रतिबंधित नीति ने गांजा और बोर्द शराब कारखाने को किस प्रकार से प्रभावित किया। उसके फलस्वरूप लोग धनवान बन गए। इसी प्रकार, श्रीनिवास ने उदाहरण दिया है कि रेलवे, सड़क और नई नहरों का निर्माण होने से पश्चिमी उत्तर प्रदेश के नोनीयास तथा सूरत के समुद्री-तट के कोलियों ने इस नई व्यवस्था में विस्तृत रोज़गार के अवसरों को प्राप्त किया और आर्थिक स्तर पर समृद्ध बन गए। इसके साथ ही, पूर्वी भारत के तेली जाति के लोग तेल के लिए नए-नए खुले बाज़ारों और व्यापार में हिस्सा लेकर धनी बन गए। इस तरह, हम देखते हैं कि जातिगत गतिशीलता में नई प्रौद्योगिकी और ब्रिटिश शासनकाल की बहुत बड़ी देन माना जा सकता है।

पश्चिमीकरण ने गतिशीलता की प्रक्रिया को विभिन्न तरीकों से विशेष गति प्रदान की है। एक ओर, उनकी क्रियाविधि गतिशीलता के लिए आवश्यक थी तथा दूसरी ओर, उन्होंने विभिन्न प्रकार से गतिशीलता को पैदा किया क्योंकि अन्य व्यक्तियों द्वारा पश्चिमीकरण को आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया गया था।

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि ब्रिटिश शासनकाल के आरंभ से पश्चिमीकरण का आरंभ और इसके अंत के साथ इसका अंत नहीं हो गया। बल्कि उन्होंने गतिशीलता की प्रक्रिया को लगातार गति देने के लिए मार्ग प्रदान किया। उन्होंने हमें एक ऐसी व्यवस्था दी है जो स्वतंत्रता के बाद भी और अधिक तेज़ी से आगे बढ़ रही है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि स्वतंत्र भारत ने अंग्रेज़ों के तर्क-बुद्धिपरक समानतावादी एवं मानवतावादी सिद्धांतों को समान रूप में अपनाया है जिस कारण गतिशीलता के लिए आगे और मार्ग खुल गए।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

1) **नया विधि व्यवस्था** : ब्रिटिश शासनकाल राजनीतिक रूप से पूरे देश में एकल शासन-व्यवस्था की इकाई थी। उनका शासन कानून-व्यवस्था की तर्कवादपरक, मानवतावादी एवं समानतावादी सिद्धांतों पर आधारित था जो बिना किसी जातिगत भेदभाव के अपने निर्णय देता था। इसलिए उनका न्याय-तंत्र समानतावादी और समान रूप से सबपर लागू होता था। ये कानून कभी-कभी पहले के कानूनों के विपरीत होते थे। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश शासन से पहले के कानून जातिगत और भेदभावपूर्ण थे। अपराध करने वालों को यहाँ की दण्ड-व्यवस्था में सज़ा या न्याय जाति के आधार पर दिए जाते थे। परंतु ब्रिटिश शासनकाल में सभी लोगों पर समान रूप से कानून लागू होता था। उन्होंने जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम तथा दास प्रथा उन्मूलन अधिनियमों को निर्मित करके निम्न जाति के लोगों को आगे बढ़ने और उन्हें समान अधिकार देकर उन्नति के लिए नए अवसरों को उपलब्ध कराया। इन कानूनों के माध्यम से ऊँची जाति और नीची जाति के लोगों के बीच जो दूरी थी उसे कम करने में विशेष योगदान दिया गया। इस तरह से अंग्रेज़ों की कानून व्यवस्था ने जातिगत गतिशीलता को बढ़ाने में आदर्श सहयोग दिया है।

बॉक्स 30.01

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में कानूनी व्यवस्था को सार्वभौमिकतावाद एवं समानतावाद के सिद्धांतों के आधार पर रचना की है जिसके कारण निम्न जातियों में सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला। नए दीवानी, दांडिक एवं प्रक्रिया कानून में पुराने पारंपरिक कानून में विद्यमान असमानता को समाप्त किया गया। दूसरा महत्वपूर्ण अंशदान नई विधि व्यवस्था का यह है कि इसमें सकारात्मक अधिकारों के प्रति चेतना जाग्रत की है। छुआछूत उन्मूलन अधिनियम तथा अत्याचारों को रोकने के लिए संरक्षणात्मक नीतियों को अपना कर निम्न समाजों को असीम लाभ दिए गए हैं।

समान रूप से मताधिकार के सिद्धांत के साथ पंचायती राज व्यवस्था को लागू करके शक्ति का विकेंद्रीकरण किया गया है ताकि कमज़ोर वर्गों के लोगों के हाथ मज़बूत किए जा सकें और ऊँची जाति के लोगों के प्रभुत्व को कम किया जा सके। इसी प्रकार, भूमि सुधार कानूनों ने गतिशीलता को तेज़ी से प्रभावित किया है। हदबंदी लागू कर ज़मींदारी व्यवस्था पर कड़ी चोट की गई है तथा छोटे किसानों (जिन्होंने भूमि प्राप्त की है) को कृषि करने के अधिकार एवं भूस्वामी बनने के अधिकार दिए गए हैं। यह व्यवस्था छोटे किसानों के लिए वरदान सिद्ध हुई है। इन अधिकारों से जातिगत गतिशीलता में निश्चित रूप से असीम वृद्धि हुई है।

2) **सुधारों को अपनाना :** जब भी समाज में सुधार किए जाते हैं गतिशीलता के अवसर उत्पन्न होते हैं। बौद्ध धर्म, जैन धर्म और बाद के सिख धर्म ने शुद्धता एवं अपवित्रता की रुढ़िवादिता को त्यागा है। उन्होंने विद्यमान असमानता और भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया। वहीं पर अपने धर्मों में नए समानता के सिद्धांत को लागू किया। इसी प्रकार, अंग्रेज़ों के शासनकाल में ईसाई मिशनरियों ने निम्नतम दलित जाति के लोगों में धर्म-परिवर्तन कराया और जो अछूत माने जाते थे उनके जीवन से गरीबी एवं शोषण को दूर किया, और उन्हें शिक्षा प्रदान की और स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराई गईं। इससे उन्हें रोज़गार के अच्छे अवसर मिले और उनका सामाजिक स्तर बढ़ा और उन्होंने वह प्रतिष्ठा प्राप्त की जो उन्होंने इससे पहले कभी नहीं प्राप्त की थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कुछ शिक्षित उदारवादी सुधारक जैसे कि राजाराम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद ने समाज में व्यापक अंधविश्वासों, बुराइयों जैसे कि सती प्रथा, बाल विवाह, मानव बलि आदि को मिटाने के लिए अपने-अपने तरीके से प्रयास किए थे। उन्होंने वंचित और दलितों तथा निम्न जाति के लोगों में अत्याचारों को कम करने तथा उनके स्तर को सुधारने के लिए तर्कसंगत बनाने और हिंदू धर्म को आधुनिक बनाने के प्रयास किए। उन्होंने यह कार्य हिंदु धर्म के साथ जुड़े सिद्धांत और कर्मकांडों को दूर करके तथा ब्राह्मणों जिन्हें वे अत्याचारी समझते थे, के चंगुल को कम करके किया। आर्य समाज, रामृकष्ण मिशन, ब्रह्म समाज जैसे नए धार्मिक पंथ समतावादी थे और जातिगत अयोग्यता और अत्याचारों के विरोधी थे। उन्होंने अपने सदस्यों को शिक्षित किया और उन्हें आधुनिक शिक्षा प्रदान कर उनके स्तर को उन्नत करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

महात्मा गांधी तथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अछूतों के उत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप छुआछूत को जड़ से मिटाने के लिए छुआछूत उन्मूलन एवं अत्याचारों से बचाने के लिए संरक्षणात्मक अधिनियमों को बनाया गया। इससे निम्न वर्गों के लोगों में व्यापक रूप से उच्च-स्तरीय सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न की।

30.4 धर्मनिरपेक्षीकरण

'धर्मनिरपेक्षीकरण' शब्द के व्यापक अर्थ हैं। इसमें पीछे की गई धार्मिक चर्चा के मामले अंतर्निहित हैं। इसके साथ ही, इसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, कानून और नैतिकता के विभिन्न पक्षों में परस्पर मतभेद बढ़ने से एक-दूसरे के संबंध पृथक होने का भाव भी अंतर्निहित है। पुराने धार्मिक ढाँचे में स्तर, पद, व्यवसाय अथवा पेशा और सामान्य जीवन-शैली को निर्धारित करने के लिए शुद्धता एवं अशुद्धता के सिद्धांतों को आधार निश्चित बनाया जाता था। तर्कसंगत विचारों और शिक्षा के प्रभाव के कारण आज शुद्धता और अशुद्धता जैसे विचारों को लोगों ने नकार दिया है। इस विचार को त्यागने से लोग एक-दूसरे के नज़दीक आए हैं तथा विभिन्न जातियों के लोग एक-साथ कारखानों, दफ्तरों में काम करते हैं और कंधे से कंधा मिलाकर बसों-रेलों में यात्रा करते हैं, वहीं पर होटलों, रेस्तराओं में एक-साथ खाना भी खाते हैं। आधुनिक समाज के आधुनिक वस्त्र धारण करने से भी जाति प्रथा को नष्ट करने में सहायता मिली है। सार्वभौमिकता के आधार पर नए कानूनों से, सभी नागरिकों को संविधान के अनुसार समान घोषित करने, और भारत के एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित होने से जाति-आधारित विषमताओं को नष्ट करने में विशेष योगदान मिला।

30.4.1 शिक्षा

पुरानी सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा पर ब्राह्मणों और 'द्विजों' का एकाधिकार था। परंतु ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेज़ों ने शैक्षिक संस्थाओं को सबके लिए खोल दिया गया था और उन्होंने धर्मनिरपेक्षता और युक्तिसंगत के आधार पर शिक्षा देना आरंभ किया गया। सबके लिए शिक्षा के अवसर मिलने के कारण व्यक्तिगत और समूहों को गतिशीलता के मार्ग खुल गए। इससे सबको लाभ मिला था। जिन लोगों ने आधुनिक शिक्षा में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, वे सेना और नौकरशाही में नियुक्ति प्राप्त कर सकते थे। इससे उच्च स्तर पर गतिशीलता में तेज़ी आई। इसके अतिरिक्त, इस शिक्षा के कारण लोगों के विचारों में बदलाव आया और न्याय, स्वतंत्रता तथा समानता सिद्धांत लागू हुए। उच्च कुलीन शिक्षित लोगों ने जाति के आधार पर अत्याचार और शोषण को समाप्त करने के लिए अपनी आवाज़ उठाई।

MAADHYAM IAS

शिक्षा ने गतिशीलता की गति और उसके ढाँचे पर गहरा प्रभाव छोड़ा था जिस कारण एक नए मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ है। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के माध्यम से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए प्रयास किए गए और इन वर्गों की शिक्षा संस्थाओं में सीटें आरक्षित की गईं। इससे इन्हें निश्चित रूप से लाभ हुआ है। इससे इन छोटे वर्गों में भी कुछ और छोटे वर्ग बनकर सामने आए। यह बिखराव अथवा अलग बनने का कारण गतिशीलता के ढाँचे के कुछ पक्ष रहे हैं जैसे कि जिन लोगों ने शिक्षा प्राप्त करने के अवसरों का लाभ उठाया वे अलग समूह और जिन्होंने शिक्षा प्राप्त नहीं की वे अलग समूह में बँट गए। इस तरह से शिक्षा से भी एक तरह की गतिशीलता में तेज़ी आई है।

शिक्षा ने गतिशीलता की प्रगति और रूप पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि एक नए वर्ग का उदय हुआ। स्वतंत्रता के बाद, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, तथा अन्य पिछड़ा वर्गों के उत्थान के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में इनके लिए स्थान आरक्षित किए गए। ये लाभ एक छोटे वर्ग द्वारा ही उठाए गए। इससे इन वर्गों में भी नया विभाजन हो गया। ये विभाजन शिक्षा का लाभ उठाने वाले और लाभ न उठा पाने वालों के आधार पर गतिशीलता रूपों का एक पक्ष बन गए।

30.4.2 अनुसूचित जातियाँ एवं अन्य पिछड़े वर्ग

इस भाग में हम गतिशीलता के दो मुख्य तरीकों का विश्लेषण करेंगे अर्थात् विभाजन के माध्यम से गतिशीलता और संरक्षित अत्याचारों के माध्यम से गतिशीलता के बारे में चर्चा करेंगे।

अनेक वर्षों तक पिछड़े वर्ग के लोग उच्च जातियों के अत्याचारों को सहन करते रहे हैं और विनम्र भाव से जुल्मों के शिकार बनते रहे हैं। परंतु ब्रिटिश शासन काल के दौरान इन्होंने अपने स्तर में सुधार किया और संस्कृतिकरण के माध्यम से इसे वैधानिक सिद्ध करने का प्रयास किया। परंतु इसी दौरान, ऊँची जाति के लोगों ने भी नए अवसरों का अनाधिकार लाभ उठाने के लिए आगे बढ़ने का प्रयास किया। उच्च जातियों और निम्न जातियों के बीच का अंतर और अधिक हो गया। अतः निम्न श्रेणी के लोग इस असमानता को पाटने के लिए आर्थिक तथा राजनीतिक संसाधनों के लिए दावे करने लगे। उन्हें प्राप्त करने के लिए माँग उठाई गई। पीछे 1870 के दशक में महाराष्ट्र में इन सभी असुविधाभोगी जातियों उच्च जातियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए जाति सभाओं के रूप में संगठित होकर, ब्राह्मण विरोधी आंदोलन चलाए जिनका नेतृत्व कामाओं, रेड्डी, नैयर जैसी उच्च जातियों ने किया। सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन डॉ. भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में महारों ने आरंभ किया। अन्य आंदोलनों में सभी दलित जातियों ने मिलकर 'दलित पैंथर' के नेतृत्व में एकत्रित होकर आंदोलन किया।

अभ्यास 2

लोगों के विभिन्न स्तरों पर चर्चा करें तथा पता करें कि संरक्षक भेदभाव अधिनियम ने अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ा वर्गों की कहाँ तक मदद की। अध्ययन केंद्र में अन्य छात्रों से चर्चा करें।

MAADHYAM IAS

ये आंदोलन क्षैतिज गतिशीलता के उदाहरण हैं और इन आंदोलनों के माध्यम से सोपानात्मक (उच्च-स्तरीय) गतिशीलता का प्रयास किया गया। प्रदीप बोस ने दो प्रमुख गतिशीलताओं की पहचान की है। उदाहरण के लिए, **संगठन के लिए आंदोलन तथा अधिकारों की माँग के लिए आंदोलन**। इससे पहले, जाति-एसोसिएशनों ने जनगणना के माध्यम से अपने जातिगत स्तरों को ऊँचा उठाने का प्रयास किया और शासकों से माँग की। अपनी जातियों को ऊँचा स्तर दिलाने के लिए तथा उसे वैध बनाने के लिए संस्कृतिकरण का भी प्रयोग किया एवं समान जातियों से दूर रहने की नीतियों का भी पालन किया गया। इसका उदाहरण है— बिहार के कायस्थ और भूमिहार।

दूसरी गतिशीलताओं में आर्थिक संकटग्रस्त और वंचित जातियों को शामिल किया गया। उदाहरणार्थ—यादव, कुर्मी तथा कोरी जातियों ने मौजूदा राजनीतिक, भूमि, आर्थिक संबधों को सुधारने और इन्हें प्राप्त करने के लिए उन्होंने संगठित होकर एसोसिएशनें बनाईं।

पिछड़े वर्गों के 'संरक्षणात्मक भेदभाव' के तहत उच्च-स्तरीय गतिशीलता का अवसर मिला है जिसमें शैक्षिक संस्थाओं में सीटों के आरक्षण, निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्तियों को प्रदान करना आदि है। इसके अलावा, इन वर्गों को सरकारी नौकरियों और वैधानिक संस्थाओं में भी आरक्षण दिया गया है। परंतु फिर भी, यह कहा जा सकता है कि ये जो कल्याणकारी उपाय किए गए हैं इन्हें केवल कुछ खास वर्ग के लोग ही उठा पाते हैं जो अपनी सहजातियों से कहीं सशक्त और धनी हैं। इसके परिणामस्वरूप, एक ही जाति के अंदर एक और विभाजन आरंभ हो जाता है।

30.4.3 औद्योगीकरण एवं शहरीकरण

औद्योगीकरण विभिन्न तरीकों से सामाजिक गतिशीलता की दर में तेज़ी लाता है। इससे

लोगों को रोज़गार मिलता है जिससे बिना किसी जातिगत भेदभाव की उपलब्धि तथा शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता है। उद्योगों में नौकरियाँ कर्मचारी की शिक्षा एवं अनुभवों पर आधारित होता है, न कि किसी जातिगत उच्चता पर। इस तरह की व्यवस्था में रोज़गार के अवसर सबके लिए खुले होते हैं, साथ ही भूमिहीन मज़दूरों को उच्च-स्तरीय गतिशीलता के लिए अवसर उपलब्ध होते हैं।

औद्योगीकरण में एक नए प्रकार का कार्य ढाँचा होता है जो श्रमिकों के तकनीकी विभाजन और समान या एकरूपता के स्तर पर आधारित होता है। उद्योगों में विभिन्न जातियों के श्रमिक एक ही मशीन पर बिना किसी जातिगत भेदभाव के एक-साथ काम करते हैं जिसमें किसी प्रकार की पवित्रता या शुद्धिकरण का विचार नहीं किया जाता।

बॉक्स 30.02

अधिकतर उद्योगों की स्थापना का आधार शहर होते हैं, कार्यबल शहरों में आ जाता है जिससे शहरीकरण का विकास होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के कारण शहरीकरण का निमार्ण होता है तथा सामाजिक गतिशीलता में हर प्रकार से विस्तार होता है। नगरों में जीवन शैली तथा आवासीय ढाँचा किसी जातीय संरचना के आधार पर नहीं होते हैं बल्कि जातियों की दूरी कम होती है तथा मद्धम पड़ जाती है। साथ ही, सार्वजनिकता के कारण अंतर-जातीय विवाह भी संभव हुए हैं। इससे दो जातियों के लोग एक-दूसरे के नज़दीक आए हैं, आपस में समझ पैदा कर रहे हैं।

शहरों में गतिशीलता का सबसे बड़ा कारण शिक्षा के द्वारा उपलब्धियाँ प्राप्त करना और नए-नए व्यावसायिक अवसर हैं। इससे जाति के स्थान पर स्तरीकरण की पद्धति वर्ग के रूप में उभरकर आती है। पंरतु साथ ही, जातियों की एसोसिएशन एवं परिसंघों आदि के रूप में जाति-विभाजन का स्वरूप भी विद्यमान है। इसलिए कहा जा सकता है कि शहरीकरण सोपानात्मक एवं क्षैतिज गतिशीलता का सृजन करता है। शहरों में क्षैतिज गतिशीलता जाति एवं वर्ग, दोनों ही तरह की विशेषताएँ रखती है। जाति के आधार पर एसोसिएशनों का निर्माण पूर्व की स्थिति का वहीं पर रोज़गारों में परिवर्तन बाद की स्थिति का उदाहरण है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए :

1) संस्कृतिकरण का अर्थ है :

   क) संस्कृत में बोलना।

   ख) संस्कृत में ज्ञान का प्रसार करना।

   ग) जाति में गतिशीलता की प्रक्रिया।

2) पश्चिमीकरण का अर्थ है :

   क) प्रतिभा-पलायन

   ख) ब्रिटिश शासन के आधार.पर परिवर्तन लाना

   ग) पश्चिमी संस्कृति को अपनाना

3) 'भेदभावपूर्ण नीतियों के विरुद्ध संरक्षण' क्या है?

क) कमज़ोर वर्गों के लिए शैक्षिक संस्थाओं, वैधानिक संस्थाओं और नौकरियों में पदों की आरक्षण नीतियाँ।

ख) उच्च वर्गों के उत्थान की नीतियाँ।

ग) अछूतों का शोषण करना एवं उन्हें दबा कर रखना।

4) जाति में गतिशीलता सृजित करने वाले घटकों पर सही (✓) का निशान लगाएँ :

क) शिक्षा

ख) कानूनी सुधार

ग) औद्योगीकरण

घ) शहरीकरण

MAADHYAM IAS

निम्न स्तरीय समाज के लोग प्रायः असुविधाजनक यात्रा करते हैं।

साभारः बी.किरणमई

30.5 वर्ग एवं सामाजिक गतिशीलता

अब हम वर्ग और सामाजिक गतिशीलता के महत्व के संबंध में निम्नलिखित चर्चा करेंगे।

30.5.1 वर्ग-गतिशीलता का महत्व

वर्ग स्तरीकरण का बहुत महत्वपूर्ण और व्यापक आयाम है तथा वर्ग की तर्ज़ के आधार पर गतिशीलता का विश्लेषण है। इसका विशिष्ट महत्व केवल इसलिए नहीं है कि इसकी अंतिम अवस्था है बल्कि इसका महत्व इसलिए भी है कि अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं को भी दर्शाता है। गतिशीलता की व्यापकता का प्रयोग औद्योगिक समाज की 'खुलेपन' के लिए भी किया जाता है। साथ ही, जहाँ पर गतिशीलता की ऊँची दर धर्म की अपेक्षा सामाजिक उपलब्धता का संकेत करती है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत प्रतिभा और योग्यता के आधार पर व्यक्ति

पुरस्कृत होता है या उसे लाभ मिलता है न कि इसमें कि एक व्यक्ति को उत्तराधिकार में बहुत सारी सम्पत्ति और सामाजिक स्तर प्राप्त हुआ है।

वर्ग गतिशीलता वर्ग निर्माण को समझने के लिए एक विशिष्ट घटक है। इसके अतिरिक्त, समाज के सदस्यों के जीवन में अवसरों की उपलब्धता के संकेतों का वर्ग गतिशीलता के अध्ययनों से भी पता लगाया जा सकता है अर्थात् जीवन अवसरों पर किसी वर्ग की उत्पत्ति का प्रभाव देखा जाता है। इसके अलावा, सामाजिक स्थिरता तथा विस्तार के विश्लेषण के लिए उन लोगों की जो गतिशीलता के दौर से गुज़र रहे हैं, की क्रिया एवं प्रतिक्रिया को जानना बहुत महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही, सामाजिक गतिशीलता की सीमा को औद्योगिक समाज के 'खुलेपन' के उपायों के रूप में प्रयोग किया गया है तथा उच्च गतिशीलता दर विरासत में मिली उपलब्धियों की तुलना में स्वयं के बल प्राप्त की गई योग्यता वाले समाज का संकेत देती है।

30.5.2 वर्ग-गतिशीलता एवं वर्ग-निर्माण

वर्ग गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है—वर्ग निर्माण की प्रक्रिया। अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र के अध्ययन में अपनी विशेष रुचि दिखाते हुए खोज की है। कार्ल मार्क्स ने एक ओर वर्ग निर्माण और उसके कार्य तथा दूसरी ओर गतिशीलता का विस्तार और वर्ग स्थिति के बीच के संबधों के बारे में इसका विश्लेषण किया है। उनका विचार था कि सर्वहारा वर्ग वर्ग निर्माण की प्रक्रिया के विरुद्ध था। इसके साथ ही, उन्नत पूँजीवादी समाजों के संबंध में यही धारणा थी जबकि सवर्हारा वर्ग से मध्य वर्ग का निर्माण और विस्तार हुआ था। मार्क्स ने इस बात को भी स्वीकार किया है कि कुछ स्थिरता वर्ग जागरूकता की पूर्व-शर्तों के रूप में भी दिखाई देती है। इसी प्रकार, वेबर ने वर्ग निर्माण के लिए सामाजिक गतिशीलता के महत्व को उजागर करते हुए उसपर विशेष ज़ोर दिया है। वेबर सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहचान के लिए स्थिरता को प्रमुख घटक स्वीकार करते हैं।

वेस्टर्डगार्ड तथा रेसलर ने कहा है कि पूँजी रखने वाले और पूँजी न रखने वाले लोगों के बीच विभाजन ने संपूर्ण वर्ग संरचना को मूर्त रूप देने में पुनः विशेष भूमिका निभाई है। उन्होंने गतिशीलता के महत्व को मान्यता प्रदान की है और वर्ग-स्थिति, वर्ग-जागरूकता और वर्ग-संगठन के संदर्भ में लोगों की प्रतिक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप गतिशीलता की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति के महत्व को दर्शाया है। वेस्टर्डगार्ड और रेसलर की तरह से ही गिड्डेनस ने भी गतिशीलता को वर्ग निर्माण की महत्वपूर्ण केंद्रीय प्रक्रिया को दिखाया है। परंतु गिड्डेनस के सिद्धांत के अनुसार, इसका महत्व न केवल वर्ग जागरूकता के विकास विकास एवं उनके लिए वर्ग संगठन में है अपितु अतीत में स्वीकार्य सामाजिक घटक अर्थात् स्वयं वर्गों में भी देखा गया है। गिड्डेनस का मत है कि गतिशीलता पर जितनी अधिक पाबंदियाँ होगी उतनी ही स्थिरता के जीवन अवसरों के पुनरुत्पादन के संदर्भ में विशिष्ट अभिगेय वर्ग निर्माण के तथा वर्ग निर्भरता एवं सम्बद्धता के अधिक अवसर होंगे। इसी तरह से समाज में प्रवाह तथा अत्यधिक गतिशीलता दर, विभिन्न वर्गों पहचान भी अस्पष्ट दिखाई देती हैं। गतिशीलता वर्ग 'संरचना' का बुनियादी स्रोत होता है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि यह गतिशीलता की दर और उसका कजो रूप है जिससे व्यक्ति, परिवार की एक जैसी आवासीय स्थिति के कारण सामूहिकता के रूप में वर्गों की पहचान की सीमा का निर्धारण होता है। दूसरा गतिशीलता की सीमा को वर्ग कार्य के प्रचलित स्वरूप के महत्वपूर्ण सूचक के रूप में लिया जा सकता है। पार्किन का मानना है कि वर्ग संघर्ष में सुविधाभोगी समूहों द्वारा अलग रहने की रणनीति निर्माण में महत्वपूर्ण घटक है। गतिशीलता की दर और उसके रूप पर निर्भरता के लिए अलग रहने एवं महत्वपूर्ण सफलता का वर्णन करने के रूप में प्रयोग किया जाता है।

30.5.3 औद्योगीकरण एवं गतिशीलता

गतिशीलता की प्रक्रिया और उसके संरचना रूपों के विश्लेषण में वर्ग की परिभाषा को मार्क्स या वेबर के अनुरूप प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि वर्ग से उनका अर्थ व्यावसायिक समूहों से है क्योंकि व्यवसाय किसी व्यक्ति की पात्रता, योग्यता, शिक्षा का एक पक्ष है और इससे किसी के स्तर का, सम्मान का तथा वेतन का निर्धारण होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के उपभोग, रहने का ढंग तथा जीवन अवसर प्रभावित होते हैं।

औद्योगीकरण ने केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु समाज के सभी क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन किए हैं। औद्योगिक समाजों को 'खुले' समाजों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जहाँ पर गतिशीलता के लिए अत्यधिक अवसर उपलब्ध होते हैं। औद्योगिक समाजों में गतिशीलता की बहुत ऊँची दर होती है। यह दर तीव्र आर्थिक परिवर्तनों को जन्म देती है जिसके लिए व्यावसायिक, भौगोलिक एवं सामाजिक गतिशीलता अत्यंत आवश्यक होती है ताकि उपलब्ध प्रतिभाओं का प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सके। इसी कारण लिपसेट तथा जेटरबर्ग का मानना है कि उद्योगवाद एकसमान गतिशीलता की संरचना उत्पन्न करता है। इन विद्वानों के समान ही, डंकन तथा बलाउ औद्योगीकरण के द्वारा सृजित अनेक घटकों पर ज़ोर देते हैं जिनका गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है। इनके विचार हैं कि औद्योगीकरण बुद्धिवाद के विकास से जुड़ा होता है जो चयन, तथा श्रमिकों के व्यावसायिक विभाजन के लिए सार्वभौमिक मानदंडों का सृजन करता है। इसके साथ ही, यह परिवारवाद तथा पड़ोसवाद को कमज़ोर भी करता है।

औद्योगीकरण में चयन के लिए शर्तों के रूप में उपलब्धियों पर विशेष बल देने से गतिशीलता उच्च स्तर एवं निम्न स्तर, दोनों ही तरह से होती है। जबकि यह तो स्पष्ट ही है कि उच्च स्तर की गतिशीलता किसी व्यक्ति की योग्यता-क्षमता को मानती है। जबकि निम्न स्तर की गतिशीलता कुलीन वर्गों के उत्तराधिकारी स्तरों में गिरावट आने से संबंध रखती है।

औद्योगीकरण व्यावसायिक रूपों पर अपना प्रभाव डालता है। प्रत्येक औद्योगीकृत या उद्योगशील समाज में आनुपातिक रूप से निपुण कार्यालयीन, प्रबंधकीय और सफेदपोश स्थितियों में वृद्धि होती है तथा अकुशल श्रमिक कार्यों में अपेक्षाकृत कमी जिससे उच्च स्तर की गतिशीलता में उफान आता है। क्योंकि किसी भी उद्योग के संचालन के लिए, प्रशासन के लिए एवं उत्पादित वस्तुओं के वितरण और सेवाएँ प्रदान करने के लिए अधिक से अधिक लोगों की आवश्यकता पड़ती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.5.4 शिक्षा और गतिशीलता

किसी व्यक्ति की पात्रता निर्धारण करने वाले घटक उपलब्धि तथा योग्यता को बढ़ावा मिलने से इनको प्राप्त करने के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण पर ज़ोर दिया जाता है। शिक्षा गतिशीलता को विशेषतः औद्योगिक समाजों में, गतिशीलता को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाती है। विशेषज्ञता तथा श्रमिक विभाजन की वृद्धि योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की विद्यमानता की पूर्व-शर्त होती है जो विशिष्ट कार्यों का संचालन में सक्षम हो। ये विशेषज्ञ किसी भी क्षेत्र के हो सकते हैं, जैसे कि उद्योग, कानून या आयुर्विज्ञान में प्रशिक्षित होते हैं तथा ज्ञान के विशेष क्षेत्रों में शिक्षित होते हैं। इस तरह की शैक्षिक तथा प्रशिक्षण की सुविधाएँ औद्योगिक समाजों में सबके लिए खुली होती हैं। पारंपरिक समाजों में इस प्रकार की सुविधाएँ विशेष क्षेत्रों में कुछ ही लोगों को मिलती थी जिससे सामाजिक गतिशीलता बाधित होती थी। शिक्षा उच्च स्तर की गतिशीलता प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण मार्ग रही है। शिक्षा प्राप्त करना रोज़गार गतिशीलता के लिए एक प्रमुख निर्धारक माना जाता है एवं अंतःपारंपरिक और अंतःपरिवर्तित गतिशीलता पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ता है जिसपर हम नीचे चर्चा कर रहे हैं।

30.5.5 अंतःपारंपरिक अंतःपरिवर्तित गतिशीलता

यह किसी व्यक्ति के पैतृक वर्ग की गतिशीलता अथवा संचरण तथा संचरण अथवा गतिशीलता (ऊपर की ओर या नीचे की ओर) को बताता है। यदि किसी पर्यवेक्षक का पुत्र या पुत्री अकुशल श्रमिक बन जाता है तो इसे **निम्न स्तर की गतिशीलता** कहेंगे और यदि उसी व्यक्ति का पुत्र या पुत्री प्रबंधक बन जाते हैं तो ऐसी स्थिति में हम उसे **उच्च स्तर की गतिशीलता** कहेंगे।

आरंभिक प्रमुख अध्ययनों में से अंतःपारंपरिक गतिशीलता पर एक प्रमुख अध्ययन 1949 में इंगलैंड तथा वालेस में डेविड ग्लास ने किया। उन्होंने इस अध्ययन में देखा कि अंतःपारंपरिक गतिशीलता बहुत ही अधिक थी। उन्होंने बहुत सारे लोगों का साक्षात्कार लिया जो भिन्न-भिन्न व्यावसायिक श्रेणियों के थे जिसमें उन्होंने पाया कि लगभग दो-तिहाई लोग अपने पिता की तुलना में इस गतिशीलता की श्रेणी में थे। अधिकतर गतिशीलता बहुत ही छोटे दायरे में थी अर्थात् ऐसे लोग अधिकतः पाए गए जिनकी श्रेणी लगभग अपने पिता की श्रेणी के आसपास ही थी। निम्न स्तर की गतिशीलता की तुलना में उच्च स्तर की गतिशीलता अधिक सामान्य रूप से पाई गई और अधिकतर लोग वर्ग संरचना के मध्यम स्तर से थे।

इसके बाद, दूसरा महत्वपूर्ण अध्ययन पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में किया गया। अध्ययन में पाया कि सभी पश्चिमी औद्योगिक समाजों में लगभग 30 प्रतिशत गतिशीलता वर्ग से बाहर हुई थी और लघु दायरे में थी। उन्होंने देखा कि अंतःगतिशीलता का संबंध परिवार की पृष्ठभूमि का व्यक्ति के व्यावसायिक एवं सामाजिक स्थिति पर पड़ने वाले प्रभाव से संबंध है। शैक्षिक योग्यता गतिशीलता की संरचना में प्रमुख भूमिका निभाती है। जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त थे, वे लोग गैर-शारीरिक श्रम के कार्यों में लगे हुए थे। इसके साथ ही, वैसी ही योग्यता वाले कुछ शारीरिक श्रमिक हाथ के दूसरे कार्यों में लग गए जबकि कुछ लोग पहले गैर-शारीरिक श्रम में लगे हुए थे बाद में उन्हें शारीरिक श्रम में प्रवेश करना पड़ा। केवल कॉलेज स्तर की शिक्षा ही शारीरिक श्रम से गैर-शारीरिक कामों में प्रवेश दिलाने में सहायक हुई। लिपसेट तथा बेनडिक्स का मानना है कि गरीबी, शिक्षा की कमी तथा खुलेपन की कमी भी गतिशीलता को प्रभावित करते हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इसके बाद हॉज़र तथा हॉट ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि लघु स्तर की गतिशीलता दीर्घ स्तर की गतिशीलता से अधिक है जो शिखर पर बैठे लोगों क़ी बजाय सामाजिक–आर्थिक पदानुक्रम के मध्यम वर्ग में होती है।

अंतःपरिवर्तित गतिशीलता उसे कहते हैं जिसमें कोई व्यक्ति अपने सेवा काल में अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कर लेता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति लिपिक संवर्ग में काम करता था और उसने अपने सेवा काल में ही प्रबंधक का पद प्राप्त कर लिया। अध्ययन से यह पता चलता है कि सेवाकालीन गतिशीलता सामान्यतः अंतःपारंपरिक गतिशीलता से कम है। सेवाकालीन गतिशीलता उसके प्रथम कार्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। सेवाकालीन गतिशीलता आयु के साथ घटती रहती है और यह देखा गया है कि व्यक्ति की 35 वर्ष की आयु के बाद इसमें कमी आ जाती है। यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं है, फिर भी सेवाकालीन गतिशीलता सामान्यतया ऊपर की ओर अधिक जाती है। अध्ययनों से पता लगता है कि अंतःपरिवर्तित गतिशीलता का शैक्षिक योग्यता भी संबंध रखती है। जितनी अधिक विशिष्ट शैक्षणिक योग्यता एवं प्रशिक्षण होगा, उतनी ही गतिशीलता कम होगी। लिपसेट और बेनडिक्स के अनुसार स्व-रोज़गार के माध्यम से शारीरिक कामगारों में से उच्च स्थिति तथा उच्च गतिशीलता प्राप्त करने के लिए बहुत अवसर और साधन होते हैं।

30.6 भारत में गतिशीलता एवं वर्ग

प्रायः लोग अपने विचार व्यक्त करते समय उल्लेख करते हैं कि भारत में वर्ग निर्माण अंग्रेज़ी शासन काल के दौरान सामाजिक गतिशीलता के कारण संभव हुआ है। यह कथन असत्य है क्योंकि वर्ग या श्रेणियाँ अंग्रेज़ों के शासन से पूर्व भी भारत में मौजूद थीं। फिर भी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पारंपरिक संरचना में स्तरीकरण की व्यवस्था में जाति प्रथा प्रमुख थी। अतः वर्ग गतिशीलता जाति-प्रथा की बुराइयों से दबी पड़ी थी। वर्तमान संरचना तथा जाति एक-साथ गतिशील व्यवस्था के रूप में नज़र आती है। तथा मिश्रित और बहु-आयामी अनुभव-सिद्ध वास्तविकता के साथ परस्पर मिलकर सक्रिय हैं। हम केवल विश्लेषण के उद्देश्य से निम्नलिखित श्रेणियों के स्तरों की पहचान करके आपके समक्ष रख रहे हैं।

30.6.1 कृषक वर्गों में सामाजिक गतिशीलता

पुरानी पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था में भूमि खरीदी और बेची नहीं जाती थी। इसलिए भूमि रखना एक प्रतिष्ठा का स्रोत होता था। परंतु अंग्रेज़ों के शासनकाल में भूमि को एक वस्तु के रूप में देखा गया और अब इसे बेचा तथा खरीदा जाने लगा था। इस नियम से कृषिक संबधों और सामाजिक गतिशीलता की प्रकृति पर दूरगामी प्रभाव पड़ा था।

सन 1950 में भूमि सुधार कानून पारित हुआ। इस अधिनियम का उद्देश्य भूमि में बिचौलियों को समाप्त करना तथा भूमि काश्तकारों को देना था। इस तरह से सोपानात्मक गतिशीलता—उच्च स्तर एवं निम्न स्तर दोनों तरह की गतिशीलता पैदा हुई। इस नियम के तहत कुछ काश्तकारों ने फालतू भूमि खरीद ली जिसके परिणामस्वरूप वे उच्च गतिशीलता की ओर बढ़े। वहीं पर कुछ किसानों ने अपने कृषक होने का दावा करने पर उन्हें भूमि से बेदखल कर दिया गया जिससे उनकी गतिशीलता निम्न स्तर की ओर चली गई। इन सबके परिणामस्वरूप भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई जिससे वे और गरीब हो गए। दूसरे रूप में देखा जाए तो भूमि सुधार अधिनियम ज़मींदारों के लिए निम्न सामाजिक गतिशीलता का साधन बन गया था। वे काश्तकारों से भूमि कर तथा फसल का हिस्सा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित हो गए थे जो उनके धनी होने का सबसे बड़ा स्रोत होता था। उनके पास केवल सीमित भूमि रह गई जिससे राजसी जीवन शैली बिताने में असमर्थ हो गए। इसके साथ ही, अन्य अधिनियम के पारित होने से भी ज़मींदारी व्यवस्था को कड़ा झटका लगा था। इनमें सबसे प्रमुख थे—व्यापक वयस्क मताधिकार और पंचायती राज व्यवस्था जिससे ज़मींदारों एवं साहूकारों के बचे-खुचे प्रभाव और अधिकारों को गहरी चोट पहुँची।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसके बाद सरकार ने 1960 के दशक में हरित क्रांति कार्यक्रम आरंभ किया जिससे गाँवों में असमानता के ढाँचे में परिवर्तन आया। इस कार्यक्रम का मुख्य ज़ोर ऊँची पैदावार बढ़ाने वाले बीजों का प्रयोग और उत्पादन को और अधिक गति देने के लिए उर्वरक के प्रयोग से था। परंतु उच्च किस्म की खादों और बीजों का प्रयोग करने के लिए अन्य बुनियादी ढाँचागत सुविधाओं की आवश्यकता महसूस हुई जैसे निरंतर पानी की आपूर्ति के लिए ट्यूबवेल आदि। इन सब सुविधाओं की व्यवस्था करने में छोटे किसान असमर्थ थे। इस तरह से हरित क्रांति कार्यक्रम से गाँवों में एक नया वर्ग उभर कर सामने आया जिसे **प्रगतिशील किसान** का नाम दिया गया। ये प्रगतिशील किसान अधिक भूमि रख सकते थे। साथ ही, उसमें काम आने वाले साधन जैसे कि ट्रैक्टर, पम्प सेट, पॉवर थ्रेशर्स आदि की व्यवस्था भी कर सकते थे। ये लोग बड़े उद्यमी बन गए जो अपनी भूमि में अधिक से अधिक धन लगा कर अत्यधिक लाभ कमाने में समर्थ थे। अब इनका एक अलग वर्ग बन गया था जिन छोटे किसानों और कृषि श्रमिकों से अलग हुए थे जिन्हें वे अब अपनी भूमि पर कृषि मज़दूरों के

रूप में काम पर रख सकते थे। इस तरह, हम देखते हैं कि हरित क्रांति ने सामाजिक असमानता को और दृढ़ कर दिया।

कृषि कामगारों की गरीबी के मूल्य पर अमीर और भूमिपतियों और अधिक धनी तथा सम्पत्तिवान बन गए हैं जिसके कारण कृषिक संरचना में भूमि विवादों और संघर्षों को जन्म दिया। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ही कृषक वर्गों में राजनीतिक गतिशीलता संपूर्ण भारत में पनप गई जो आज भी निरंतर चल रही है, पहले अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी किंतु अब अपनों के विरुद्ध गतिशील है। यद्यपि गतिशीलता की सघनता समयानुसार क्षेत्रों-वर्गों में परिवर्तित होती रहती है।

अब यह तो स्पष्ट हो गया है कि कृषक वर्गों की प्रकृति तथा उनकी गतिशीलता पर अनेक प्रक्रियाओं का प्रभाव पड़ा है। वे अब नई जातियों की उत्पत्ति के साथ-साथ मौजूदा व्यवस्था में उच्च स्तर एवं निम्न स्तर दोनों तरह की गतिशीलता के साधन एवं व्यवस्था के रूप में प्रयुक्त हुए।

30.6.2 शहरी वर्गों में सामाजिक गतिशीलता

भारतीय समाज के लिए शहरीकरण कोई नई परिघटना नहीं है। यहाँ पर अंग्रेज़ों के आने से पहले भी अनेक बड़े शहर और नगर थे, जिनका रैंक विभिन्न स्तर और प्रशासनिक ढाँचे के अनुसार था। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप शहरों की ओर लोगों का आना अत्यधिक एवं तीव्र हो गया है। इस कारण से समग्र सामाजिक वर्गों की प्रकृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हमने शहरीकरण की संरचना में प्रमुख चार वर्गों की पहचान की है। यह चार वर्ग निम्नलिखित हैं—

1) पूँजीपति/बूर्जुआ वर्ग

भारत में अंग्रेज़ों ने आधुनिक औद्योगीकरण की स्थापना की। उद्योग, मुक्त व्यापार तथा नए बाज़ारों की स्थापना ने व्यापार और व्यवसाय को नई प्रेरणा दी। व्यापारी धनी बन गए और उद्योगों की स्थापना की। ध्यान देने वाली बात यह है कि आज भी बड़ी संख्या में उद्योगपति को व्यापारिक जातियों और समुदायों से हैं जैसे कि राजस्थान के मारवाड़ी, गुजराती बनिया और पश्चिम में जैन तथा दक्षिण में चेत्तियार लोग प्रसिद्ध हैं। सबसे पहले व्यापारी वर्ग पूँजीपति बना। इनके साथ ही कुछ कारीगर तथा शिल्पकार जिन्होंने नए आर्थिक अवसरों का लाभ उठाया है और उन्होंने भी लघु उद्योग स्थापित किए। लिंच ने अपने अध्ययन में उद्धृत किया है कि आगरा के जाटव जूते बनाने वाले उद्योगपति बन गए हैं तथा भूमिपति जातियाँ जैसे गुजरात के पटिदारों, आंध्र प्रदेश के नायडुओं और रेड्डियों ने भी उद्योग स्थापित किए हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात उद्योगों में असीमित विस्तार और विकास हुआ है। इसने सभी क्षेत्रों में विस्तार किया है जैसे कि लोहा और स्टील, टेक्सटाइल, ऑटोमोबाइल, इलेक्ट्रॉनिक्स से लेकर हवाई जहाज़ बनाने के कारखानों तक पहुँचा है। इस तरह से हम देखते हैं कि उद्योगपतियों का एक वर्ग आर्थिक रूप से तथा संख्या में सशक्त हो गए।

2) उद्यमी-व्यापारी एवं दुकानदार

शहरी समाज हमेशा से ही उद्यमियों से बनता है जिसमें व्यापारी एवं दुकानदार शामिल हैं। ये वर्ग शहरों एवं नगरों के विकास के साथ फले-फूले हैं। इन शहरों में नई वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग पूरी करके धन कमाते हैं। इस वर्ग में रेस्टोरेंट चलाने वाले, मैरीज ब्यूरो, वीडियो लाइब्रेरी, प्रॉपर्टी डीलर, पंसारी, लॉण्ड्री, ड्राईक्लीनर्स, सब्जी बेचने वाले व्यवसायी शामिल हैं जो इन वस्तुओं की आपूर्ति एवं सेवाएँ उपलब्ध कराने और उपभोक्ता के बीच

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कड़ी का काम करते हैं। अनेक व्यक्ति नगरों तथा शहरों में इस व्यावसायिक संरचना को अपना कर समृद्ध हो गए हैं। जबकि कुछ लोग ऐसे हैं जो इसके विपरीत अपने पुश्तैनी धंधों और कलाओं में विस्तार किया जैसे कि धोबियों ने ड्राईक्लीनर्स की दुकानें खोल ली हैं, नाइयों ने ब्यूटी पार्लर की दुकानें खोली हैं। इनके अलावा, कुछ लोगों ने बिल्कुल नए व्यवसायों को चुना है जिसमें नए उद्यम जैसे उपभोक्ता स्थायी वस्तुएँ बेचना, ट्रेवल्स कंपनियाँ खोलना इत्यादि कार्यों आदि शामिल है।

3) व्यावसायिक वर्ग

इस वर्ग ने अपनी प्रकृति और स्वरूप को व्यापकता से बदला है जिसे इन्हें ब्रिटिश शासनकाल में मिला था। इसके बाद स्वतंत्रता के बाद भी इस वर्ग में काफी परिवर्तन आए हैं। ब्रिटिश सरकार को भारत में विभिन्न काम करने के लिए बड़ी संख्या में व्यावसायियों की अत्यंत आवश्यकता थी। उन्होंने सोचा कि व्यावसायियों अन्य देशों से लाने की बजाए यदि भारत के लोगों को समुचित शिक्षा और प्रशिक्षण देकर इन्हें व्यावसायिक रूप से तैयार कर दिया जाए तो ये लोग सस्ते पड़ेंगे और लाभकारी रहेंगे। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने बड़ी संख्या में शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की ताकि व्यावसायियों को प्रशिक्षित किया जा सके। इस वर्ग में डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रबंधक, प्रशासक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद आदि शामिल थे। प्रादेशिक क्षेत्रों के विकास के साथ-साथ इस वर्ग की संख्या और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। यद्यपि इस वर्ग की रचना पंचमेल लोगों से हुई है, जैसे कि एक क्लर्क से सी.ए, बाबू से प्रशासक इस वर्ग के सदस्य हैं। इन सबके बावजूद एक बात सब में समान है कि इन लोगों ने ये जो पद प्राप्त किए हैं, वे सब अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही संभव हुआ है जिससे इन लोगों ने अपनी स्थिति में सुधार किया है।

इस वर्ग के सभी सदस्यों ने अपनी शिक्षा और प्रशिक्षण के बल पर इस स्थिति को प्राप्त किया है। इस वर्ग की एक और सामान्य विशेषता यह है कि ये लोग अधिकतर सरकारी संगठनों तथा निजी क्षेत्र में काम करते हैं और वेतनभोगी हैं। ये लोग उद्योगपतियों अथवा किसानों की तरह से सीधे अर्थ उत्पादक नहीं हैं और न ही ये लोग शासक हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4) श्रमिक वर्ग

अध्ययनों से पता चलता है कि पहले श्रमिक वर्ग में वे लोग शामिल माने जाते थे जो गरीब कृषि मज़दूर थे जिनके पास भूमि नहीं होती थी अर्थात् भूमिहीन किसान अथवा दरिद्र किसान थे जिन्होंने अपनी भूमि को कंगाली के कारण गिरवी रख दिया था। कुछ किसान थोड़े समय के लिए 'लक्ष्य श्रमिक' (टार्गेट वर्कर्स) के रूप में श्रमिक बल में शामिल हो गए ताकि कुछ धन कमा कर अपनी गिरवी रखी गई भूमि को फिर से प्राप्त कर लिया जाए। कुछ लोग खेती-बाड़ी में काम की कमी या मंदी होने से कार्य की तलाश में अस्थायी श्रमिक बन गए। इस तरह के श्रमिक फैक्ट्रियों, टेक्सटाइल मिलों, बागवानी तथा अनौपचारिक क्षेत्रों में काम करने लगते हैं। इन सबकी स्थिति समान होती है तथा शहरों की गंदी बस्तियों में रहते हैं। इनका जीवन दमनीय और दयनीय होता है।

हाल के दशकों में उद्योगों का विकास होने से श्रमिक वर्गों में बहुत ही वृद्धि एवं विकास हुआ है। इसके कार्यों में भी भिन्नता पाई गई है जो देश के हर हिस्से में देखी जा सकती है। ये लोग अब संगठित हो गए हैं और इन्होंने यूनियनें बना ली हैं ताकि अपने नियोक्ताओं से अच्छे वेतन की शर्तों को मनवा सकें। ये ट्रेड यूनियनें राजनीतिक संगठनों या दलों से सम्बद्ध हो गई हैं ताकि वे अपने शक्तिशाली नेताओं के माध्यम से अपनी माँगों के लिए नियोक्ताओं और सरकार पर बराबर अपना दबाव बनाए रखें। इनकी यूनियनें श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच बिचौलिया का काम करती है जो इनकी शक्ति और प्रतिष्ठा को बनाए रखती है। श्रमिकों के लिए अंतःगतिशीलता और अंतःपरिवर्तित दोनों ही तरह के प्रावधान

मौजूद होतें हैं। वे अपनी औद्योगिक इकाई, वे वेतन संरचना और कार्यों की शर्तें और स्थिति के आधार पर बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग श्रमिक यूनियनों, क्लबों, एसोसिएशनों आदि के माध्यम से सोपानात्मक तथा क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता भी प्राप्त कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाएँ—

1) अंतःपारंपरिक गतिशीलता का अर्थ है :

   क) व्यक्ति के जीवन कार्यकाल के दौरान गतिशीलता

   ख) प्रव्रजन के कारण गतिशीलता

   ग) बदलाव गतिशीलता का बदलाव (ऊँचे स्तर या निम्न स्तर) पिता से पुत्रों में या पुत्रों से पिता में।

2) भारत के कृषक क्षेत्र में गतिशीलता के लिए उत्तरदायी घटक हैं—

   क) भूमि सुधार

   ख) हरित क्रांति कार्यक्रम

   ग) सफेदपोश के काम

   घ) उपर्युक्त क तथा ख

3) भारतीय शहरों में निम्नलिखित प्रमुख चार वर्ग पाए जाते हैं—

   क) बूर्जुआ, उद्यमी, किसान तथा

   ख) बूर्जुआ, उद्यमी, व्यावसायिक तथा ज़मींदार

   ग) बूर्जुआ, उद्यमी, व्यावसायिक तथा श्रमिक वर्ग

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.7 सारांश

उपर्युक्त सामाजिक गतिशीलता पर हुई चर्चा के संबंध में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि स्तरीकरण के तथाकथित 'बंद' व्यवस्था में उपलब्ध साधनों के माध्यम से सदस्य अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार करने के लिए लगातार प्रयास करते रहते हैं। भारत में जैसा कि हमने देखा है कि सामाजिक गतिशीलता में कुछ विशेष प्रकार का रचना-तंत्र और प्रक्रियाएँ शामिल थी जैसे कि विशिष्ट संस्कृति, जैसे संस्कृतिकरण, शिक्षा, शहरीकरण और औद्योगीकरण के द्वारा उपलब्ध गतिशीलता के लिए नए लाभदायक अवसरों पर शीघ्र ही सुविधाभोगी या सम्पन्न लोगों ने कब्ज़ा कर लिया। औद्योगीकरण तथा शहरीकरण ने समाज में जाति एवं वर्ग दोनों में गतिशीलता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह शिक्षा के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियाँ और कौशल प्राप्त करने के कारण हुआ। इन दोनों प्रक्रियाओं ने क्षैतिज तथा सोपानात्मक गतिशीलता के लिए व्यापक अवसर प्रदान किए।

भारत में जातिगत गतिशीलता और वर्ग पदानुक्रम एक-दूसरे में सम्मिलित और जुड़े हुए हैं। इसलिए इनके परिणामस्वरूप स्तरीकरण का मिश्रित और बहु-आयामी ढाँचा उभर कर हमारे समक्ष आया है जिसमें स्तरीकरण तथा गतिशीलता कहीं पर मिली-जुली हो सकती हैं या फिर अलग-अलग भी हो सकती हैं।

30.8 शब्दावली

संस्कृतिकरण : यह जाति में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया है जिससे निम्न जाति के लोग ऊँची जातियों मुख्यतः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की तरह से अपने रीति-रिवाजों, जीवन-शैली, धार्मिक संस्कारों तथा सिद्धांतों में परिवर्तन करते हैं। इसमें बराबरी की भावना प्रमुख रूप से शामिल है।

पश्चिमीकरण : यह शब्द परिवर्तन को परिभाषित या वर्णित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है जोकि भारत में ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप हुए हैं। ये परिवर्तन जो प्रौद्योगिकी, संस्थानों, सिद्धांतों इत्यादि के स्तर पर हुए हैं। पश्चिमीकरण ने व्यक्तिगत तथा जातिगत स्तर पर गतिशीलता के लिए नए मार्ग खोले हैं।

30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डी. गुप्ता (संपा.) 1992, *सोशल स्ट्रेटिफिकेशन,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, यूनिट-IV

कुर्ज़, वाल्टर तथा मिल्लर (1987) *क्लास मोबिलिटी इन इंडस्ट्रियल वर्ल्ड,* अनुअन रिव्यू ऑफ सोशियोलॉजी, भाग 13, 417-42 दिल्ली में।

शर्मा, के.एल. (1997), *सोशल स्ट्रेटिफिकेशन इन इंडिया : इश्यूज़ एण्ड थीम्स,* नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स

सिंगर, मिल्टन तथा कोह्न, बनर्डिस (संपा.), 1996, *स्ट्रक्चर एण्ड चेंज इन इंडियन सोसाइटी,* जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स, अध्याय 8, 9 तथा 10।

सिंह, योगेन्द्र, 1986, *मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन,* जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स

श्रीनिवास, एम.एन., *सोशल चेंजिस इन मॉडर्न इंडिया,* बम्बई : ओरिएंट लॉगमैन लिमिटेड।

MAADHYAM IAS

30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ग

2) ख

3) क

4) क, ख, ग तथा घ

बोध प्रश्न 2

1) क

2) ख

3) ग

इकाई 31 सामाजिक गतिशीलता के घटक एवं शक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 जनसांख्यिकीय घटक

31.3 प्रतिभा एवं योग्यता

31.3.1 कुलीन सिद्धांत

31.4 सामाजिक वातावरण में परिर्वतन

31.4.1 औद्योगीकरण एवं गतिशीलता

31.4.2 उपलब्ध रिक्त स्थान

31.4.3 कानूनी प्रतिबंध

31.4.4 पद और स्थिति

31.4.5 समरूप परिकल्पना

31.5 अधोमुखी गतिशीलता

31.6 गतिशीलता के अवरोधक

31.7 मार्क्सवादी विचारधारा

31.8 व्यक्तिपरक घटक

31.9 सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन

31.10 सारांश

31.11 शब्दावली

31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

31.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- गतिशीलता को प्रभावित करने वाले घटकों को समझ सकेंगे; और
- इसपर आप अपने विभिन्न विचार प्रस्तुत कर सकेंगे।

31.1 प्रस्तावना

सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक स्तरीकरण के उन क्षेत्रों में से एक है जिसमें सबसे अधिक अनुसंधान हुए हैं। अभी तक आप जान चुके हैं कि विभिन्न समाजों में गतिशीलता का क्या अर्थ है। इस इकाई में हम कुछ ऐसे घटकों के बारे में विचार करेंगे जो सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव डालते हैं। इसलिए चर्चा करने से पूर्व हमें कुछ बातें ध्यान में रखनी

चाहिए। पहली बात यह है कि सामाजिक गतिशीलता स्तरीकरण के सिद्धांत से अलग नहीं है (क्योंकि जब हम सामाजिक गतिशीलता के घटकों की बात करते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप से मस्तिष्क में कोई सिद्धांत होता है।) अथवा समाज की संरचना किस प्रकार होती है। दूसरे शब्दों में इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन को किसी एक समाज की स्थापना या उसकी उत्पत्ति से अलग नहीं किया जा सकता।

दूसरा पक्ष यह है कि जब हम सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव डालने वाले घटकों की चर्चा करेंगे तब इन्हें आप गतिहीन अथवा स्थिर बिल्कुल न मानें क्योंकि ये तत्व परिवर्तनीय होते हैं। सामाजिक गतिशीलता के अथवा उसकी रूढ़िवादिता के किसी समाज और किसी विशेष सामाजिक स्तरीकरण के लिए दूरगामी परिणाम होते हैं। चर्चा में क्रमशः विस्तृत विवरण दिया जाएगा। अंत में विभिन्न विद्वानों के मतांतरों को भी प्रस्तुत करेंगे। जो उन्होंने सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले घटकों के संबंध में जाना है। इस भाग में हम गतिशीलता के प्रश्न पर विभिन्न तरीकों से किए गए विचारों पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे। यह सच है कि सामाजिक गतिशीलता सभी समाजों में मौजूद होती है। यहाँ तक कि भारत में जाति प्रथा के दायरे में आने वाले समाज जो खास कर 'अवरुद्ध' या बंद होते हैं उनमें भी गतिशीलता को देखा जा सकता है और औद्योगीकरण जहाँ सामाजिक गतिशीलता की दर अत्यधिक होती। इसीलिए सबसे अधिक गतिशीलता के संबंध में अनुसंधान औद्योगिक समाजों में, सामाजिक गतिशीलता, तथा वहाँ पर गतिशीलता को प्रभावित करने वाले घटकों पर हुए हैं।

रूस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री, सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन प्रमुख रूप से किया है। उनके अनुसार, कुछ प्राथमिक घटक होते हैं जो सभी समाजों में गतिशीलता को प्रभावित करते हैं। तथा दूसरी तरह के वे घटक होते हैं जो विशेष प्रकार के होते हैं। इसलिए वे खास समाजों में किसी खास समय पर ही अपना प्रभाव डालते हैं। उनका तर्क है कि कोई भी समाज पूरी तरह से अवरुद्ध या बंद नहीं होता है। साथ ही, ऐसे भी समाज नहीं होते हैं जो बिल्कुल या पूर्ण रूप से मुक्त हों क्योंकि खुले समाजों में भी कहीं न कहीं गतिशीलता के लिए बंधन होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि कोई भी समाज न तो पूर्ण रूप से अवरुद्ध होता है और न ही पूर्ण मुक्त होता है। उन्होंने प्राथमिक घटकों की सूची बनाई है जिनकी संख्या चार है। ये हैं—जनसांख्यिकीय (जनसंख्यात्मक) घटक, अभिभावकों तथा बच्चों की सामर्थ्य या योग्यता, सामाजिक वर्गों में व्यक्तियों के गलत निर्धारण, तथा सबसे महत्वपूर्ण है—परिस्थितियों का परिवर्तन। आइए अब हम क्रमशः प्रत्येक घटक पर चर्चा करें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.2 जनसांख्यिकीय घटक

जनसांख्यिकीय घटक एक ऐसा घटक है जो सभी समाजों में गतिशीलता को प्रभावित करता है। प्रायः देखा गया है कि ऊँचे वर्गों में जन्म-दर निम्न वर्गों की जन्म-दर की अपेक्षा कम होती है। यद्यपि मृत्यु-दर भी निम्न वर्गों में अधिक होती है, कुल मिलाकर प्रजनन दर ऐसी होती है कि प्रायः उच्च स्थिति में निम्न वर्गों के सदस्यों के लिए कुछ स्थान रहते हैं। उदाहरण के लिए, पेरेने अपने अध्ययन में पाया है कि फ्रांस के कुछ क्षेत्रों में 12000 संख्या में 215 कुलीन वंशों में से एक शताब्दी बाद केवल 149 की संख्या रह गई। आम तौर पर उन्होंने देखा है कि इन वंशावलियों का जीवन-काल तीन से चार पीढ़ियों तक ही रहा। उसके बाद वे या तो उत्पन्न गैर-कुलीन वंशों द्वारा अथवा समानांतर वंशों द्वारा स्थापन्न कर दिए गए। इसी तरह से, एलेक्स इंकलेस ने अपने अध्ययन में जो सोवियत संघ के स्तरीकरण से संबंधित है दर्शाया है कि इस शताब्दी के मध्य में बहुत ही अधिक गतिशीलता

रही है क्योंकि इस समय युद्ध में बहुत लोग अपनी जान गँवा चुके थे। इस प्रकार, यह समय की आवश्यकता थी। इसके साथ ही दूसरा कारण तीव्र औद्योगीकरण रहा।

यह तथ्य केवल ऊँचे तथा निम्न समूहों के संबंध में ही नहीं अपितु शहरी और ग्रामीण जनसंख्या के संबंध में भी कहा जा सकता है। ग्रामीणों में प्रायः प्रजनन दर ऊँची रहती है। इसके बावजूद, शहरी जनसंख्या ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में अधिक तीव्रता से बढ़ी है। इसका मुख्य कारण जनसंख्या में वास्तविक वृद्धि नहीं है, अपितु इस जनसंख्या में वृद्धि के कारण बड़ी संख्या में शहरी प्रव्रजन का होना है।

बॉक्स 31.01

जनसांख्यिकीय तत्व सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करता है। आज आयुर्विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति में विकास और अन्य घटकों के कारण लोगों के जीवन-काल अर्थात् आयु में वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप सेवा निवृत्ति की आयु अधिक हो गई। परिणामस्वरूप नई भर्ती के लिए पदों की संख्या कम रह गई। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि कार्य के लिए समाज में मानव संसाधनों की भरमार है। क्योंकि काम करने की आयु में विस्तार हो गया है। दूसरी तरफ, वृद्धों की देखभाल करने की समस्या भी इसी कारण पैदा हुई है। इस तरह की समस्या पश्चिमीं समाजों में कई दशकों से चली आ रही है जिसका वहाँ सामना किया जा रहा है।

इसके कारण, साथ ही अनेक वृद्ध लोगों के लिए सदन, अस्पताल आदि भी खोलने पड़े हैं जहाँ पर वृद्धों को रखा जाता है और बीमार होने पर उनका इलाज तथा देखभाल की जाती है। गतिशीलता के दृष्टिकोण से इसे यूँ देखा जाना चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप नए पदों का सृजन भी हुआ है जिन्हें अवश्य ही भरा जाना है।

MAADHYAM IAS

अतः यह कहा जा सकता है कि जनसांख्यिकीय घटक निश्चित रूप से सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करता है, परंतु यह अपने आप में विशुद्ध रूप से जैविक परिघटना नहीं है क्योंकि इसमें सामान्यतः सामाजिक घटक भी हैं। उदाहरणार्थ, मैंडेलबाम तथा अन्य विद्वानों ने लिखा है कि किस प्रकार सांस्कृतिक घटक जैसे एक पुत्र की आकांक्षा जनसंख्या संरचना में किस तरह प्रभावित करते हैं।

31.3 प्रतिभा एवं योग्यता

सामाजिक गतिशीलता के लिए प्रतिभा एवं योग्यता को घटकों के रूप में देखने वाले अनेक लोगों ने विभिन्न तरीकों से चर्चा की है। सोरोकिन ने अपने अध्ययन में इंगित किया है कि प्रायः अभिभावकों और बच्चों की योग्यता समान नहीं होती है। आरोपित अथवा वंशगत समाजों में बच्चे सामान्यतः अपने माता-पिता की तरह अपनी वंशानुगत स्थिति के लिए हमेशा उपयुक्त नहीं होते। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि जो बच्चे अपने अभिभावकों से सम्पत्ति या पद प्राप्त करते हैं उसे वे संभाल नहीं पाते। इस समस्या से संबंधित अनेक मुद्दों के संबंध में सोरोकिन ने बहुत सारे सुझाव प्रस्तुत किए हैं। व्यक्तिगत रूप से विरासत में मिली स्थिति के अयोग्य होने पर उनपर अत्यधिक दबाव पड़ता है कि वे इस स्थिति को छोड़ दें। इसलिए पहले से ही अधिकार-प्राप्त नव-आगंतुक रिक्त स्थिति को अपनाते जाते हैं। लिपसेट तथा बैन्डिक्स का कहना है कि हमेशा ही नए प्रतिभाशाली लोग आते रहते हैं या पैदा होते रहते हैं और कहीं न कहीं उनका समावेश हो जाता है। यहाँ तक कि पैतृक पद और स्थिति प्राप्त पैतृक समाजों में भी व्यक्तिगत रूप से प्रतिभाशाली व्यक्तियों के उर्ध्व स्तर

की गतिशीलता के अवसर उपलब्ध होते हैं। ब्लॉच ने अपने अध्ययन में दिखाया है कि सामंतवाद की प्रथम स्थिति में भी अदम्य सास वाले लोग प्रगति कर सकते थे।

इसी प्रकार, बेरगल ने अपने सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में इस तत्व को प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार रुढ़िवादी पदानुक्रम सामंती व्यवस्था में भी निम्न जाति में जन्मे व्यक्ति को भी प्रतिभा के बल पर ऊँचे स्तर की गतिशीलता का अवसर मिलता था। सामंतवाद में जो बंधुआ मज़दूर या बंधुआ नौकर होते थे, उनकी स्वामिभक्ति के कारण उन्हें 'लिपिकीय वर्ग' में शामिल किया गया था। इसके साथ ही जो लोग घरों में काम करते थे, उन्हें भी सेवा के पुरस्कार के रूप में जागीरें तक भी दी जाती थी। टर्नर ने अपने अध्ययन में इस प्रकार की गतिशीलता को 'प्रायोजित गतिशीलता' कहा है (प्रतियोगी गतिशीलता के विपरीत)। फिर भी गतिशीलता के पूर्व-औद्योगीकरण रूप में इसका संदर्भ नहीं लिया जा सकता।

जब समाजों में यहाँ तक खुले समाजों में भी किसी नई प्रतिभा के समावेश को समस्यामूलक की दृष्टि से देखा जाता है तो इसे आसानी से स्वीकृत नहीं किया जाता है। कहने का आशय यह है कि प्रगतिशील समाज भी वास्तव में उतने खुले नहीं होते हैं, जैसा कि सामान्यतः माना जाता है। इस संदर्भ में डेविस और मूरे के कार्यात्मक सिद्धांत के बारे में संक्षेप में जानकारी देना समीचीन रहेगा। सारांश में यह सिद्धांत कहता है कि विभिन्न सामाजिक स्थितियों के कारण ही प्रतिभा और प्रशिक्षण के आधार पर व्यक्तिगत स्तर एवं प्रस्थिति को समाज में स्थापित किया जाता है। उस समय समाज में उसकी स्थिति भिन्न होती है। विभिन्न लाभ उनके साथ जुड़े होने के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थितियाँ अधिक योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इस प्रकार से समाज बहुत महत्वपूर्ण स्थितियों में सबसे अच्छे मानव संसाधनों का प्रयोग करने में सफल होता है। अतः स्तरीकरण एक साधन है जिससे सामाजिक प्रस्थापन तथा प्रेरणा का स्वरूप बनता है।

MAADHYAM IAS

जहाँ इस सिद्धांत को परिष्कृत तथा कठोर माना गया इसकी बुनियादी आलोचना भी हुई तथा इसका अनेक प्रकार से खंडन भी किया गया। वर्तमान चर्चा के संदर्भ में अर्थात व्यक्तियों की योग्यता के संदर्भ में विद्वानों ने पाया कि तथाकथित खुले समाज कहीं न कहीं अधिक रुढ़िवादी होते हैं जो व्यक्तियों को उनकी योग्यता के आधार पर सामाजिक स्थिति प्रदान करते हैं। यद्यपि वर्ग की उत्पत्ति में जाति या नस्ल जैसी असमानता स्पष्ट नहीं है तो भी पीढ़ी दर पीढ़ी लगभग असमानता जैसी स्थिति का पुनर्जन्म होता रहता है। अवसरों की असमानता का अर्थ है—निम्न वर्ग का अधिक योग्य व्यक्ति भी उन्नति करने में असमर्थ रहता है अथवा उसे अवसर प्राप्त नहीं होते। हम यहाँ पर कह सकते हैं कि माइकल यंग द्वारा दिया गया व्यंग्यात्मक कथन कि 'मेघाविता का उदय', 'खुले' समाजों में होता है वास्तव में गलत है। वह इस मिथक का प्रभावी ढंग से खंडन करता है कि वास्तव में प्रतिभा और योग्यता का जन्म खुले समाजों में होता है। पश्चिमी औद्योगिक समाजों में गतिशीलता के वास्तविक अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि अधिकांश गतिशीलता 'जन-गतिशीलता' है। और यह गतिशीलता श्रमिक/गैर-श्रमिक, दोनों में है। वर्ग की उत्पत्ति सबसे ऊँची स्थितियों और सबसे निम्न स्थितियों में आज भी बनी हुई है तथा स्वयं ही स्थापित हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि गतिशीलता को स्पष्ट करने के लिए प्रतिभा जैसे घटक की बहुत मामूली भूमिका होती है।

31.3.1 कुलीन सिद्धांत

विल्फ्रेडो पैरेटो कुलीन सिद्धांतवादियों में से एक ने अपने अध्ययन में तर्क दिया है कि व्यक्तिगत रूप से लोग कुछ स्थितियों को प्राप्त करते हैं उसमें प्रतिभा और योग्यता ही मुख्य कारण होते हैं। उन्होंने कहा है कि स्वाभाविक योग्यताओं में स्वाभाविक ह्रास होता है या

फिर समय के अंतराल् में निम्न स्तर के लोग अपनी उन्हीं योग्यताओं को प्रदर्शित कर सकते हैं। इस तरह से कुलीन के व्यक्तिगत स्तर में परिवर्तन होता है। पैरेटो का कहना है कि 'इतिहास कुलीन वंशों का कब्रिस्तान है।' यह कुलीनों की गतिशीलता का प्रसिद्ध सिद्धांत है।

पैरेटो के सिद्धांत में गतिशीलता अथवा संचरण दो प्रकार के हैं। प्रथम, प्रतिभाशाली व्यक्ति जो निम्न स्तर से आता है और उच्च स्तर में प्रवेश करता है। दूसरे, बहुत बार समय में जब ऊँचे समूहों की योग्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाता है। इसका अर्थ है कि प्रायः निम्न स्तर की ओर से उच्च वर्गों को चुनौती दी जाती है और उनकी श्रेष्ठता को नकार दिया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक गतिशीलता संभव होती है। मैक्स क्लुकमैन ने इसे 'बार-बार परिवर्तन' का नाम दिया है जिसे अफ्रीकी सरकार के परिवर्तनों में देखा जा सकता है। अतः ऐसा हो सकता है कि इस प्रकार के परिवर्तन दी गई व्यवस्था के अनुरूप न हो लेकिन व्यवस्था में परिवर्तन कर देते हैं अर्थात् स्थिति की संरचना में स्व-परिवर्तन हो जाता है। मॉरिस डुवेरजर ने इसे 'सामाजिक व्यवस्था में' और 'सामाजिक व्यवस्था से परे' संघर्ष के रूप में माना है।

31.4 सामाजिक वातावरण में परिवर्तन

सोरोकिन ने सभी घटकों को तर्कसंगत माना है। लेकिन सामाजिक वातावरण में होने वाले परिवर्तन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अप्रत्यक्ष रूप से यह सच है कि ये जनसांख्यिकीय घटक (जैसे चिकित्सा में प्रगति के कारण जीवन-काल में वृद्धि होना) तथा व्यक्तिगत प्रतिभाओं (उदाहरण के लिए, शैक्षिक अवसरों के विस्तार से प्रतिभा खोज की संभावना) को प्रभावित कर सकते हैं।

MAADHYAM IAS

गतिशीलता के लिए सबसे प्रमुख घटक हैं—सामाजिक परिवर्तन। परिवर्तन अनेक प्रकार के होते हैं: आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैधानिक, प्रौद्योगिकीय तथा अन्य प्रकार के परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव डालते हैं। यह परिवर्तन की व्यापक प्रक्रिया है जो न केवल गतिशीलता पर प्रभाव डालती है बल्कि समाज के अन्य पक्षों पर भी समान रूप से अपना प्रभाव डालती है। सामाजिक वैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण आर्थिक घटकों में से एक है—औद्योगीकरण।

31.4.1 औद्योगीकरण एवं गतिशीलता

गतिशीलता पर अनेक सिद्धांत बनाए गए हैं जिनमें सामाजिक गतिशीलता के साथ औद्योगीकरण के संबंधों को जोड़ा गया है। इस क्षेत्र में लिपसेट तथा बेन्डिक्स के एक महत्वपूर्ण तर्क के अनुसार पूर्व-औद्योगिक गतिशीलता दरों में औद्योगीकरण ने गतिशीलता में अत्यधिक वृद्धि की है। एक बार तो सभी समाज औद्योगीकरण के एक विशेष स्तर तक अवश्य पहुँचे हैं। इस तरह से देखने में आया है कि सामाजिक गतिशीलता की उनकी वृद्धि दर एकसमान है। इसी संदर्भ में केर तथा अन्य लोगों द्वारा प्रतिपादित कुछ भिन्न लेकिन संबंधित सिद्धांत है—'समरूप सिद्धांत'। इनका कहना है कि सभी औद्योगिक समाज गतिशीलता के एक सामान्य ढाँचे की ओर अग्रसर होते हैं जिसमें अन्य घटकों के साथ-साथ समग्र स्तरीकरण का रूप भी समान होता है।

आइए इस संबंध में सबसे पहले लिपसेट तथा बेन्डिक्स के सिद्धांत पर चर्चा करें। इसमें यूरोप एवं अमेरिका के अनेक देशों के बीच तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने दो मुख्य परिकल्पनाओं को जाँच के लिए हमारे समक्ष रखा है। उनका पहला सिद्धांत है कि एक बार तो सभी समाजों ने औद्योगीकरण के खास स्तर को प्राप्त किया है तथा उनमें गतिशीलता की दर पूर्व-औद्योगीकरण से काफी अधिक थी। उनकी

दूसरी आम धारणा यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरोपीय देशों की तुलना में गतिशीलता के लिए अधिक अवसर प्रदान किए हैं। उनके आँकड़े स्वयं बताते हैं कि उनका प्रथम सिद्धांत मानने योग्य है किंतु दूसरी परिकल्पना स्वीकार्य नहीं है। लिपसेट तथा बैन्डिक्स ने औद्योगिक समाज में गतिशीलता के घटकों पाँच प्रमुख तत्वों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—

i) उपलब्ध रिक्तियों की संख्या में परिवर्तन

ii) प्रजनन क्षमता की विभिन्न दरें

iii) व्यवसायों के अनुसार स्थितियों में परिवर्तन

iv) विरासत में प्राप्त स्थितियों की संख्या में परिवर्तन

v) संभावित अवसरों से संबंधित कानूनी प्रतिबंधों में परिवर्तन।

इनमें से कुछ विभिन्न प्रजनन दरों जैसे घटकों पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। अब हम शेष घटकों पर चर्चा करेंगे।

31.4.2 उपलब्ध रिक्त स्थान

यह तो सभी लोग मानते हैं कि औद्योगीकरण कृषि से व्यावसायिक संरचना में तथा इसके बाद सेवा क्षेत्र में संचरण हुआ है। उद्योग में संचरण होते ही समाज में अचानक तीव्र गति से आर्थिक गतिविधियों का जन्म हुआ और समाज में उपलब्ध पद या स्थितियाँ जो मौजूद थी, उनकी संख्या में आशतीत वृद्धि हुई। इसके अनेक दस्तावेज़ मौजूद हैं। ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का नगरों और शहरों की ओर अत्यधिक प्रव्रजन हुआ क्योंकि गाँवों के लोग फैक्ट्रियों में रोज़गार ढूँढने के लिए शहरों की ओर निकल पड़े जो सामाजिक गतिशीलता का एक रूप है। इसमें भौगोलिक पहलू तो है ही, साथ ही उर्ध्व स्तर भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। प्रायः यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रामीण लोगों को शहर में रोज़गार मिलने से उनके पद, स्थिति और प्रतिष्ठा में अवश्य ही वृद्धि होगी जिससे उनका स्तर ऊँचा होगा और समाज की गतिशीलता ऊंचे स्तर की ओर बढ़ेगी। यहाँ पर दूसरे उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इससे अनेक सफेदपोश स्थितियों का जन्म हुआ जैसे कि कंप्यूटर व्यवसाय में। इससे उपलब्ध रिक्तियों अथवा पदों की संख्या में वृद्धि हुई है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि औद्योगीकरण एक महत्वपूर्ण घटक है जिसके कारण सामाजिक गतिशीलता में न केवल तीव्रता आई बल्कि इसमें वृद्धि भी हुई है।

31.4.3 कानूनी प्रतिबंध

राजनैतिक और कानूनी ढाँचे में परिवर्तन भी सामाजिक गतिशीलता का महत्वपूर्ण साधन बन सकते हैं। भारत में जाति प्रथा के कारण लोगों में पारंपरिक कार्यों का बंटवारा किया हुआ था। तथा कुछ कार्य जैसे पढ़ना-पढ़ाना निम्न वर्ग के लोगों के लिए कानूनी या पारंपरिक रूप से प्रतिबंधित थे। राजनैतिक व्यवस्था का लोकतंत्रीकरण होने से कानून के तहत सभी नागरिकों के लिए समान-अधिकारों की संकल्पना से सामाजिक गतिशीलता में जो रुकावटें थीं, उन्हें कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया। इन प्रावधानों के साथ ही सब नागरिकों को समान मताधिकार और पंचायती राज की व्यवस्था इत्यादि की स्थापना करके राजनैतिक क्षेत्र में सभी नागरिकों के लिए समान रूप से प्रगति एवं विकास के द्वार खोल दिए गए जो अब प्रतिबंधित थे। आनंद चक्रवर्ती ने राजस्थान में देवीसर गाँव का अध्ययन किया है जिसमें उन्होंने दर्शाया है कि किस तरह से राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ और सामाजिक गतिशीलता के लिए किस प्रकार से उसका उपयोग हुआ। दूसरे उदाहरण में बेले ने उड़ीसा

के एक गाँव का अध्ययन किया है जिसमें बताया गया है कि राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए किस-किस तरह के परिहासपूर्ण हथकंडे अपनाए गए। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पुराने समाजों के जातिगत प्रतिबंधों को कानून द्वारा निरस्त करने से निश्चित रूप से सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई।

इस तथ्य के संबंध में कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण और उसके लिए कुशल व्यक्तियों की माँग का अभी तक पता नहीं था। यह पारंपरिक विशेषज्ञता के आधार पर हैसियत प्राप्त करने से भिन्न परिस्थिति थी। इससे वंशानुगत स्थितियों की संख्या में गिरावट आई तथा उपलब्धता के आधार पर भरी जाने वाली स्थितियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसमें सबसे बड़ी भूमिका शिक्षा व्यवस्था की रही। इस अध्याय में शिक्षा पर चर्चा नहीं की जाएगी क्योंकि शिक्षा के स्तरीकरण से संबंधों की चर्चा हम अपने पाठ्यक्रमों में पहले कर चुके हैं। परंतु यहाँ यह कहना अत्यंत आवश्यक है कि यह गैर-पारंपरिक स्थितियों में वृद्धि से सीधे संबंधित है।

31.4.4 पद और स्थिति

किसी व्यक्ति की स्थिति में बिना किसी परिवर्तन के भी गतिशीलता आ सकती है, यदि उसकी स्थिति के रैंक में परिवर्तन हो जाए तो। उदाहरण के लिए, अमेरिका में एक अध्ययन से पता चलता है कि पचास के दशक में बीसवें दशक की तुलना में सरकारी पदों की अधिक प्रतिष्ठा थी। इस तरह कहा जा सकता है कि सरकारी नौकरों ने अपने काम में परिवर्तन किए बिना उर्ध्व सामाजिक गतिशीलता का अनुभव किया। निस्संदेह इससे नीचे की ओर भी गतिशीलता देखी जा सकती है। कई बार कुछ कार्यों की प्रतिष्ठा कम हो जाने से वे पहले की अपेक्षा समाज तथा अर्थव्यवस्था में कम महत्वपूर्ण हो जाते हैं और इन कार्यों को करने वालों की अवनति हो जाती है।

31.4.5 समरूप परिकल्पना

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

औद्योगीकरण और स्तरीकरण के संबंधों के बारे में एक प्रसिद्ध और अत्यधिक बहस वाली परिकल्पना है—समरूप परिकल्पना। कैर तथा अन्य लोगों ने इस बारे में स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार आज की दुनिया में औद्योगीकरण एक वास्तविक घटक रहा है जो सभी उद्योगीकृत समाजों को भविष्य के एक सामान्य समाज की ओर प्रेरित करता है जिसे वे बहुवादी वेतनभोगी औद्योगिक समाज के नाम से पुकारते हैं। इन समाजों में स्तरीकरण का समान ढाँचा साथ ही गतिशीलता का भी समान रूप होता है। इस प्रकार की स्थिति में गतिशीलता दर निश्चित रूप से ऊँची होगी क्योंकि औद्योगीकरण की माँग व्यक्तियों की एक स्थिति से दूसरी स्थिति में मुक्त एवं आसान गतिशीलता को उत्पन्न करेगी। एक अर्थ में यह तर्क एक कार्यवादी (व्यावसायिक) तर्क हो सकता है। उनका आशय यह भी है कि समय के अनुसार गतिशीलता में निरंतर वृद्धि होगी।

केर तथा अन्य विद्वानों के तर्कों को गोल्डथॉर्प ने व्यापक रूप से आलोचना की है। उन्होंने अपने तर्क को सबल बनाने के लिए मिलर के अध्ययनों के साक्ष्य दिए हैं जिनमें लिपसेट और बैन्डिक्स से अधिक आँकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। उसने दर्शाया है कि औद्योगिक समाजों की गतिशीलता की दरों में समानता की कमी है। अध्ययन बताता है कि शायद यह औद्योगीकरण ही नहीं है बल्कि इसके साथ अन्य घटक जैसे कि सांस्कृतिक घटक, शिक्षा इत्यादि भी हैं जो सामाजिक गतिशीलता प्रभावित करते हैं। गोल्डथॉर्प स्वयं अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ये राजनैतिक तथा सैद्धांतिक मतभेद हैं जो समाजवादी और पूँजीवादी समाजों के बीच महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिन्हें केर तथा उनके साथी विद्वानों ने 'औद्योगिक समाज' की श्रेणी के अंतर्गत रखा है।

अभ्यास 1

समरूप परिकल्पना के बारे में अन्य विद्यार्थियों और अध्यापकों से चर्चा कीजिए। इसे किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। अपने निष्कर्ष लिखिए।

यह केर तथा लिपसेट एवं बैन्डिक्स के तर्कों के बीच सतही समानता है। परंतु वास्तव में लिपसेट तथा बैन्डिक्स के तर्कों पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं, इनके अनुसार औद्योगीकरण के एक विशिष्ट स्तर के पश्चात गतिशीलता दरों में वृद्धि होती है लेकिन इनमें निरंतर तथा एक-समान वृद्धि की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। हमें यहाँ पर सोराकिन के कथन को ध्यान में रखना होगा जिसमें उन्होंने न तो विशेष समय के बाद गतिशीलता में लगातार वृद्धि की और न ही गिरावट की भविष्य की है। वास्तव में वे मानते हैं कि न तो औद्योगिक समाज पूर्ण रूप से मुक्त होते हैं और न ही पूर्व-औद्योगिक समाज पूरी तरह से बंद होते हैं। वास्तव में उनका कहना है कि यह गतिशीलता की दर का चक्रीय सिद्धांत है, जो समय-समय पर बढ़ेगा तथा घटेगा।

31.5 अधोमुखी गतिशीलता

अभी तक हम केवल इसपर चर्चा करते रहे हैं कि किस प्रकार परिवर्तन लोगों को ऊर्ध्व गतिशीलता की ओर ले जाते हैं। इसको परिभाषित भी किया गया है। इसी तरह के तर्क दूसरी ओर भी दिए जा सकते हैं। क्योंकि यह देखा गया है कि औद्योगीकरण के माध्यम से गतिशीलता ऊपर की ओर जाती है और उसमें वृद्धि भी करती है और इसी के कारण गतिशीलता पर्याप्त रूप से अधोमुखी भी होती है। अधोमुखी गतिशीलता इसलिए होती है कि कुछ व्यवसाय अपनी प्रतिष्ठा खो देते हैं जब उनकी स्थितियों का पुनःनिर्धारण कर दिया जाता है। इस प्रकार उन व्यवसायों को करने वाले स्वयं ही अधोमुखी गतिशीलता को प्राप्त कर लेते हैं। फिर भी, इस तरह के बहुत सारे मामले हो सकते हैं जिनमें केवल अधोमुखी गतिशीलता ही नहीं होती अपितु बहुत-सी स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं। यदि ऐसी स्थितियों का प्रयोग किया जा सके तो यह मामला संचरण (अधोमुखी) गतिशीलता की अपेक्षा संरचनात्मकता (अधोमुखी) गतिशीलता का मामला होगा।

MAADHYAM IAS

उदाहरण के लिए जब से भारत में पॉलिस्टर और अन्य कृत्रिम वस्त्रों का प्रचलन हुआ, सूती वस्त्रों की माँग में अत्यधिक कमी आ गई। इसके साथ ही, भारतीय सूत एवं कच्चे माल की भूमण्डलीय माँग में कमी आ गई। इन कारणों से भारत में कपास की खेती करने वाले अनेक किसान उजड़ गए। कपास की खेती करने वाले किसानों में से कुछ ने अन्य फसलें उगानी शुरू कर दी, कुछ लोगों ने अन्य धंधे अपना लिए। यहाँ तक कि कुछ असहाय कपास पैदा करने वाले किसानों ने आत्महत्या तक कर ली है। उदाहरण के लिए, घरेलू सामान की या घरेलू काम-धंधे में आधुनिकता और नवीन परिवर्तनों के कारण परंपरागत व्यवसायों पर चिंतनजनक प्रभाव पड़ा है। अब वस्त्र धुलाई यानी कि धोबी के काम में अधिक लोग नहीं खपाए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि धोबी के काम में मंदी इसलिए आई है कि अब घर-घर में धुलाई-मशीनें मौजूद हैं जिससे धोबी के काम में नितांत मंदी आई है। आज इस बात की चिंता नहीं है कि परंपरागत घरेलू कार्यों में कमी आई है बल्कि भारत में निम्न जातियों से संबंधित मानव प्रतिष्ठा में अत्यंत गिरावट आई है तथा उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य महत्वहीन समझे जाते हैं और वे जो कार्य करते हैं उनके माध्यम से अपना जीवन-यापन करने में असमर्थ हैं। यदि इन लोगों के जीवन-यापन के लिए अन्य धंधों का विकल्प उपलब्ध नहीं कराया गया तो ये लोग निश्चित रूप से गरीबी की अंधी खाई में डूब जाएंगे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बेरोज़गारी अधोमुखी गतिशीलता का प्रमुख परिणाम है।

बोध प्रश्न 1

1) 'कुलीन सिद्धांत' के बारे में पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सामाजिक वातावरण के महत्व को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

3) समरूप परिकल्पना का आशय है —

(सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए)

i) निम्न गतिशीलता दर

ii) उच्च गतिशीलता दर

iii) गतिशीलता दरों में परिवर्तन का न होना।

iv) गतिशीलता दरों में वृद्धि होना।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

रेल समाज और राष्ट्र राज्य को जोड़ती है। इसमें यात्रा के लिए विभिन्न प्रकार के डिब्बे और श्रेणियाँ होती है।

साभार: बी.किरणमई

31.6 गतिशीलता के अवरोधक

औद्योगीकरण द्वारा उर्ध्व गतिशीलता के अवसर प्रदान होने के विचार प्रस्तुत करने वाले विद्वानों द्वारा प्रायः इसके एक अन्य पहलू कि औद्योगीकरण गतिशीलता में एक अवरोधक का कार्य भी करता है, इसकी अनदेखी की गई है। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रतिभा गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण घटक है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि औद्योगिक समाज उतने खुले अथवा मुक्त नहीं हैं, जितना कि बताया जाता है। कुछ लेखकों का सुझाव है कि आज की व्यवस्थित वर्ग असमानता ने अमानता के 'विषय' (केस) का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके साथ ही, यह विचार भी व्यक्त किया जाता है कि पूँजीवादी समाज भी अधिक दिनों तक असमानतावादी नहीं बना रह सकता। जैसा कि मार्क्स ने उसके होने की भविष्यवाणी की थी। इस प्रकार, असमानता में कमी आई है। इस विचार में अनेक शंकाएँ हैं। हो सकता है यह सिद्धांत पश्चिमी देशों में सत्य सिद्ध हो जाए किंतु भारत जैसे देश में ऐसा होना नितांत असंभव है। यहाँ बहुत ही व्यवस्थित रूप से महत्वपूर्ण वस्तुओं पर विभिन्न समूहों के दावों को नकार दिया जाता है।

यह सच है कि आज अनेक व्यवसायों में शिक्षा पद्धति के माध्यम से प्राप्त की गई औपचारिक शिक्षा के आधार पर पदों को भरा जाता है या उनमें नियुक्तियाँ की जाती हैं परंतु यह कहना गलत होगा कि सभी को शिक्षा के समान अवसर मिल जाते हैं तथा सभी शिक्षाएँ समान गुणवत्ता वाली होती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि गतिशीलता में आने वाली कानूनी अड़चनों को तो समाप्त किया जा चुका है। किंतु समाज में जो असमानताएँ व्याप्त हैं। वे अपने आप में ही गतिशीलता के अवरोधक सिद्ध होती हैं।

31.7 मार्क्सवादी विचारधारा

इस समय मार्क्सवादी विचारधारा के संबंध में चर्चा कर लेना युक्तिसंगत रहेगा क्योंकि अनेक विवेचनात्मक विचार-बिंदु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसी से लिए गए हैं। स्तरीकरण तथा गतिशीलता की मार्क्सवादी विचारधारा का मूलाधार समाज की वर्ग प्रकृति पर आधारित है। इस प्रकार, इन मामलों में मार्क्सवादी विचारधारा है। मार्क्स ने माना है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होता है (उन्होंने औद्योगिक समाज जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया है) समाज में ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है। (इससे उनका अभिप्राय था कि स्तरीकरण व्यवस्था गुंबद जैसी होगी जिसमें अधिसंख्य आबादी निम्न स्तर पर होगी।) यहाँ तक कि मध्यवर्ती समूह जैसे कि छोटे सर्वहारा लोग, छोटे तथा इसी प्रकार के अन्य लोग समयांतर में स्वयं को अधोगति या निम्न स्तर की ओर पाएंगे। अतः यदि संपूर्ण गतिशीलता पूँजीवाद की विशेषता है तो इसका अर्थ अधोमुखी गतिशीलता थी न कि उर्ध्वगामी। इस प्रकार, ध्रुवीकरण तथा अभावग्रस्तता के परिणामस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था नष्ट हो जाएगी और समाजवाद की स्थापना होगी।

बॉक्स 31.02

इसके बाद, मार्क्सवादी विचारधारा के लेखकों ने सर्वहारा-वर्ग सिद्धांत को विकसित किया। उन्होंने सेवा क्षेत्र व्यवसाय में वृद्धि को दर्शाते हुए यह जानने का प्रयास किया कि क्या नीचे के स्तर के सफेदपोश वर्ग को वास्तव में सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है और अपने निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि इन्हें सर्वहारा वर्ग में शामिल किया जा सकता है। मुख्यतः ब्रेवरमैन तथा अन्य भी इस विचारधारा से सहमत थे, किंतु अन्य मार्क्सवादी लेखक इससे सहमत नहीं थे। मार्क्सवादी विचारधारा से भिन्न डेहंड्रोफ जैसे अन्य विद्वानों का तर्क था कि मार्क्सवादी विश्लेषण के समय से होने वाले परिवर्तनों के कारण अधिक समय तक आधुनिक समाजों को पूँजीवादी समाज नहीं कहा जाएगा। इसकी अपेक्षा इन्हें परिवर्तित पूँजीवादी समाज कहा जा सकता है।

MAADHYAM IAS

इसलिए मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार गतिशीलता के लिए जिम्मेदार कारण मूलतः पूँजीवादी व्यवस्था में निहित हैं तथा उर्ध्वमुखी गतिशीलता के अवसरों की अपेक्षा इसमें अधोमुखी गतिशीलता ही मुख्य रूप से होती है।

31.8 व्यक्तिपरक घटक

इससे पहले हम विभिन्न विचारधाराओं के माध्यम से सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले वस्तुपरक विभिन्न घटकों के बारे में चर्चा कर चुके हैं। आइए अब हम व्यक्तिपरक घटकों के संबंध में जानकारी प्राप्त करें अर्थात् वे घटक जो लोगों को गतिशीलता के लिए प्रोत्साहित करते हैं। यहाँ पर हम यह स्पष्ट रूप से उर्ध्व गतिशीलता के लिए आकांक्षा वाले तत्वों की चर्चा करेंगे। अनेक मामलों में गतिशीलता अपनी इच्छा से नहीं होती जैसे कि अनेक व्यवसायों के स्तरों के नवीन स्तरीकरण में होता है। लेकिन कुछ व्यक्तियों में से एक जैसे हालातों में कोई व्यक्ति गतिशीलता के लिए प्रेरित होता है और कोई नहीं। इसलिए आइए अब हम सामाजिक गतिशीलता के कुछ व्यक्तिपरक घटकों के संबंध में जानकारी प्राप्त करें। हम यह आसानी से मान सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति अपने स्तर से ऊपर के स्तर को प्राप्त करने की इच्छा रखता है, न कि निम्न स्तर की ओर जाने की। इस संबंध में वेबलेन की पुस्तक 'द थ्योरी ऑफ लेज़यर क्लास' में कहा है कि प्रत्येक स्तरीकरण पद्धति स्वतः गतिशीलता का स्रोत तथा साधन है। यह इसलिए होता है कि किसी का भी अपने बारे में व्यक्तिगत अनुमान मुख्य रूप से अन्य लोगों के मूल्यांकन पर निर्भर होता है और कोई भी व्यक्ति अपने साथियों की दृष्टि में हमेशा अच्छे लगने वाले विचारों के अंतर्गत ही सोचेगा। अतः वे लोग ऐसी स्थितियों की अभिलाषा करेंगे जो समाज में लाभप्रद मानी जाती हैं। इसलिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया वास्तव में जाति प्रथा के मूल्यों की प्रतिबद्धता को दर्शाती है जो गतिशीलता के लिए प्रेरणा या आकांक्षा का साधन होती है।

MAADHYAM IAS

अभ्यास 2

किसी प्रकार की सामाजिक गतिशीलता अपनाने वाले अपने जानकार लोगों में व्यक्तिपरक घटक जानने का प्रयास कीजिए। अपने निष्कर्षों पर अध्ययन केंद्र में अन्य विद्यार्थियों से चर्चा कीजिए।

परंतु बेटीली ने संकेत दिया है कि जब इच्छुक समूह उच्च समूह में शामिल होने का प्रयास करता है और उसमें वे शामिल भी हो जाते हैं तो वे उसी स्थिति में हमेशा के लिए बने रहना चाहते हैं। अतः जाति प्रथा के मामले में शामिल होना और उससे अलग होना दोनों प्रक्रियाएँ बराबर एक-साथ चलती रहती हैं। यह विचार वेबर के द्वारा प्रयोग किए गए सामाजिक सम्बद्धता के समान है।

परंतु अब हमें अपने मुख्य तर्क की ओर आना चाहिए। हम सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि मूल्यों की व्यवस्था, उनके प्रति प्रतिबद्धता दोनों ही अपने आप में गतिशीलता के लिए आकांक्षाओं को पैदा करती हैं अर्थात् गतिशीलता स्वयं ही आरंभ हो जाती है।

मर्टन ने सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने में लक्ष्य समूह के महत्व के संबंध में लिखा है। उन्होंने कहा है कि कोई व्यक्ति अपने स्वयं के समूह की अपेक्षा अपने लक्ष्य समूह, जिसका वह सदस्य नहीं है, की ओर गतिशील होता है। उस स्थिति में वह जो नियम अपनाता है वे उसके वर्ग से संबंधित नहीं होते। इस प्रकार, वह अपने वर्ग के नियमों से विचलित हो जाता है। उसने इस प्रक्रिया को 'पूर्वभाषित समाजीकरण' का नाम दिया है। वे लोग जो अनेक कारणों से अपने समूह की परिधि से बाहर जाते हैं वे लोग इसी प्रकार के पूर्वभाषित समाजीकरण की प्रक्रिया से गुज़रते हैं। इसलिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को

हम फिर से एक बार इस उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं जहाँ व्यक्ति ऊँची जाति की परंपराओं और उसकी जीवन-शैली का पालन करने लगता है और एक समय के बाद वह जाति के क्रम में अपने लिए ऊँची जाति की मान्यता प्राप्त करने का प्रयास करता है।

31.9 सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन

अब तक की गई चर्चा में हमने सामाजिक गतिशीलता का विभिन्न घटकों पर आधारित होने के रूप में और सामाजिक संरचना को स्वतंत्र रूप में देखा है। तथापि मार्क्स के उपर्युक्त विचार को संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर सकते हैं कि गतिशीलता या गतिशीलता की कमी अपने आप में व्यवस्था परिवर्तन का एक साधन है। अतः वस्तुपरक बनाम व्यक्तिपरक विशिष्ट अलग-अलग घटकों के स्थान पर हमें इसकी संरचना तथा माध्यम और परस्पर इनके अंतःसंबंधों के रूप में देखना चाहिए। गिड्डेन्स ने गतिशीलता की परंपरागत परिचर्चाओं की आलोचना की है जो इसे निर्धारित श्रेणियों के उन वर्गों के रूप में देखती हैं जिनमें विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के लोग शामिल हो सकते हैं। सकम्पटर इसे एक ऐसी बस के रूप में उद्धृत करता है जिसमें अलग-अलग श्रेणी के यात्री विभिन्न समय में यात्रा करते हैं। यहाँ पर दो प्रकार की समस्या खड़ी होती है। पहली, कोई भी व्यक्ति गतिशीलता की चर्चा को उन घटकों से अलग नहीं कर सकता जो सामान्यतः वर्ग संबंधों की संरचना करते हैं। तथा दूसरा, गतिशीलता की पूरी प्रक्रिया स्तरीकरण की पद्धति में परिवर्तन ला सकती है।

मर्टन ने सामाजिक संरचना और इसकी भिन्नताओं के बारे में लिखा है जिसमें उन्होंने कुछ और अधिक प्रकाश डाला है। उन्होंने सामाजिक रूप से स्वीकृत लक्ष्य और इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों को अलग-अलग परिभाषित किया है। ये लक्ष्य समाज के मूल्यों को दर्शाते हैं। जो लोग इन लक्ष्यों को और इनको प्राप्त करने के साधनों को स्वीकार करते हैं वे समाज का अनुसरण करने वाले होते हैं। परंतु इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो इन लक्ष्यों को मंजूर न करें अर्थात् जैसे मूल्यों और उसी तरह से उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्वीकार ही न करें। इस तरह के लोग हो सकता है सामाजिक जीवन को छोड़ दें, निवर्तनवाद, या समाज के विरुद्ध विद्रोह कर लें और बागी बन जाएँ। जैसा कि पहले बताया गया है, बागी या विद्रोही विद्यमान संरचना में प्रगति करने के स्थान पर समाज पर नई सामाजिक संरचना की अभिधारण करने लगते हैं।

मौजूदा व्यवस्था से असंतुष्ट स्थिति व्यवस्था परिवर्तन की ओर ले जाती है जिससे नई स्थितियों की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार गतिशीलता होती है। इसलिए वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक घटकों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग करना बहुत ही कठिन है। सामाजिक संरचना अपने आप ही विसंगतियों को पैदा करती है।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाएँ—

1) पूँजीवाद में मार्क्स ने माना है :

   क) गरीबीकरण होगा।

   ख) अधोमुखी गतिशीलता होगी।

   ग) ध्रुवीकरण की तरफ झुकाव होगा।

   घ) उपर्युक्त सभी।

2) सामाजिक गतिशीलता में कुछ व्यक्तिपरक घटकों को पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

31.10 सारांश

हमने इस चर्चा में कुछ मुख्य संरचनाओं के साथ सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले व्यक्तिपरक घटकों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके साथ ही, हमने उन घटकों का विश्लेषण करने का भी प्रयास किया है जिनके कारण सामाजिक गतिशीलता होती है। इसमें हमने विभिन्न सिद्धांतों, विचारधाराओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिससे विद्यार्थी अपनी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति एवं समझ विकसित कर सके। इसके अतिरिक्त, और अध्ययन करने के लिए संदर्भ पुस्तकों की संक्षिप्त सूची उपलब्ध कराई गई है। दुर्भाग्य से भारत में गतिशीलता पर पश्चिमी विकसित देशों की तुलना में प्रमुख शोध कार्य यानी तुलनात्मक अध्ययन सामग्री उपलब्ध नहीं है। फिर भी, हमने प्रयास किया है कि विद्यार्थियों को समुचित पक्षों की विस्तृत जानकारी हो जाए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.11 शब्दावली

समरूपता : एक सिद्धांत जो पूँजीवादी प्रगति के रूप में समान औद्योगिक समाजों पर अपना प्रभाव डालता है।

जनसांख्यिकी : यह जनसंख्या से संबंधित है। इसकी वृद्धि दर तथा अनेक अन्य पहलू जैसे की जीवन प्रत्याशा।

कुलीन वर्ग : समाज का वह स्तर जो धन तथा सम्पत्ति के सभी लाभों को प्राप्त करता है।

व्यक्तिपरकता : व्यक्ति के अंतर्वैयक्तिक व्यवहारों पर निर्भर करता है।

31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गोल्ड थोर्प, जे.एच (1967), *सोशल स्ट्रेटिफिकेशन इन इंडस्ट्रियल सोसाइटी,* इन बैन्डिक्स एंड लिपसेट, प्रकाशक, क्लास, स्टेट्स एण्ड पॉवर, लंदन, रोटलेज एंड केगन पॉल।

लिपसेट, सीमोर एंड बैन्डिक्स, रीनहार्ड (1959), *सोशल मोबिलिटी इन इंडस्ट्रियल सोसाइटी,* बरेकली, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।

31.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पैरेटो के अनुसार प्रतिभा और योग्यता किसी स्थिति या पद को प्राप्त करने के लिए प्रमुख कारण या तत्व है। पैरेटो ने तर्क दिया है कि यह एक स्वाभाविक श्रेष्ठता है जिससे कुलीन-तंत्र की उत्पत्ति होती है। इसमें यह भी हो सकता है कि कोई कुलीन व्यक्ति इस व्यवस्था के योग्य न होने पर अपनी विशिष्टता भी खो सकते हैं और यह भी संभव है कि किसी व्यक्ति में निम्न स्तर का होते हुए भी वह योग्यताएँ मौजूद हो सकती हैं और कुलीन स्तर में परिवर्तन हो सकता है।

2) सोरोकिन का विचार है कि सामाजिक वातावरण में परिवर्तन से जनसांख्यिकीय संबंधी घटकों तथा व्यक्तियों की प्रतिभा में परिवर्तन होता है जैसे कि जीवन-काल में परिवर्तन का होना। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक वातावरण में परिवर्तन होना एक प्रमुख घटक है जिसके कारण सामाजिक गतिशीलता होती है। विभिन्न प्रकार के परिवर्तन जैसे कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, कानूनी, प्रौद्योगिकी यह सब गतिशीलता को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) ग

2) वेबर के अनुसार प्रत्येक स्तरीकरण की पद्धति गतिशीलता का स्रोत होती है। यह इसलिए होता है क्योंकि स्व-मूल्यांकन अन्य व्यक्ति के मूल्यांकनों पर आधारित होता है। इसके लिए व्यक्तिपरक घटक एक अच्छा उदाहरण है जो संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसमें गतिशीलता के लिए जाति प्रथा एक प्रेरक स्रोत है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 32 सामाजिक गतिशीलता के परिणाम

इकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य

32.1 प्रस्तावना

32.2 सामाजिक गतिशीलता के परिणामों के अध्ययन की पृष्ठभूमि

32.3 गतिशीलता के सामाजिक परिणाम

32.3.1 बूर्जुआवादी

32.3.2 श्रमिक वर्ग की विषमता

32.3.3 विस्तृत एवं विघटित मध्य वर्ग

32.3.4 सामाजिक गतिशीलता तथा वर्ग-निर्भरता की दर

32.3.5 सामाजिक व्यवस्था का रूप

32.4 सामाजिक गतिशीलता का राजनीतिक परिणाम

32.5 सामाजिक गतिशीलता का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणाम

32.6 सारांश

32.7 शब्दावली

32.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

32.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.0 उद्देश्य

इस इकाई में सामाजिक गतिशीलता के सामाजिक, राजनीतिक तथा सामाजिक-, मनोवैज्ञानिक परिणामों का वर्णन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- सामाजिक गतिशीलता का अर्थ समझ सकेंगे,
- तीन बड़े वर्गों—निम्न वर्ग, मध्य वर्ग तथा उच्च वर्ग—के लिए सामाजिक गतिशीलता के परिणाम जान सकेंगे,
- सामाजिक गतिशीलता के एक समग्र समाज के लिए परिणाम—सामाजिक व्यवस्था के रूप की चर्चा कर सकेंगे,
- सामाजिक गतिशीलता का सामाजिक वर्गों या श्रेणियों पर प्रभाव—राजनीतिक परिणाम; और
- एक आधुनिक औद्योगिक समाज में व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव—सामाजिक मनोवैज्ञानिक का अर्थ समझ सकेंगे।

32.1 प्रस्तावना

आप ऐसे सामाजिक स्तरीकरण के बारे में पहले ही जान चुके हैं जिसकी व्यवस्था के अनुसार किसी समाज के सदस्यों को उच्चतर या निम्नतर स्तरों में रखा जाता है। स्थितियाँ या स्तर हमेशा स्थिर नहीं होते। व्यक्तियों या समूहों द्वारा निर्धारित स्तर से ऊपर या नीचे की तरफ संचलन की संभावना बनी रहती है। इस ऊपर या नीचे की तरफ संचलन को सोपानात्मक गतिशीलता कहा जाता है। इसे प्रायः ऊपर की तरफ या नीचे की तरफ वाली गतिशीलता कहा जाता है। गतिशीलता समस्तरीय (पार्श्व) भी हो सकती है। अर्थात् एक स्थिति से उसी सामाजिक वर्ग या स्थिति के साथ दूसरी सामाजिक स्थिति में जाना। इस पार्श्विक गतिशीलता को समस्तरीय गतिशीलता के रूप में जाना जाता है।

सामाजिक गतिशीलता को प्रायः व्यावसायिक स्तरों के संदर्भ में आमदनी तथा उपभोग के नमूनों के आधार पर व्यक्तियों का समूहों का ऊपर या नीचे की तरफ गतिशील होना माना जाता है। पिछली इकाइयों में आपने सामाजिक गतिशीलता की विभिन्न सैद्धांतिक विचारधाराएँ, आयाम तथा घटक एवं शक्तियों के बारे में पढ़ा है। इस इकाई में हम सामाजिक गतिशीलता के एक अन्य पक्ष अर्थात् उसके परिणामों पर चर्चा करेंगे।

परिणामों से हमारा अभिप्राय सामाजिक गतिशीलता के प्रभावों से है। अब प्रश्न उठता है कि प्रभाव 'किसपर'? इसका प्रभाव न केवल व्यक्तियों या समूहों पर अपितु संपूर्ण समाज पर भी पड़ता है। इस इकाई में हम इसका अध्ययन करेंगे। इसलिए हम सामाजिक गतिशीलता के परिणामों का तीन कोणों से अध्ययन करेंगे। पहला—सामाजिक परिणाम। इसमें समग्र समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाएगा। दूसरा—राजनीतिक परिणाम। इसमें किसी समाज के विभिन्न वर्गों और संघों पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में चर्चा की जाएगी। अंतिम—सामाजिक—मनोवैज्ञानिक परिणाम। इसमें समाज में रहने वाले व्यक्ति के स्तर पर सामाजिक गतिशीलता के उस प्रभाव का वर्णन किया जाएगा जो शीघ्र गतिशीलता का अनुभव करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.2 सामाजिक गतिशीलता के परिणामों के अध्ययन की पृष्ठभूमि

सामाजिक गतिशीलता के परिणामों का उसके एक पक्ष के रूप में व्यवस्थित रूप से पहली बार पिटरीम ए. सोरोकिन द्वारा अध्ययन किया गया (सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता, 1927)। सोरोकिन ने गतिशीलता के प्रभावों को तीन आयामों से अध्ययन किया। ये हैं— समाज पर गतिशीलता का जनसांख्यिकीय प्रभाव, मानव व्यवहार एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव तथा समाज के संगठनों एवं उनकी प्रक्रिया को प्रभावित करने वाला प्रभाव।

यद्यपि सोरोकिन ने अपने निष्कर्षों के समर्थन में विभिन्न समाजों से विशाल आँकड़े एकत्रित किए तो भी जिन तकनीकों के सहारे वह अपने निष्कर्षों पर पहुँचा वे पर्याप्त नहीं थे। अपने सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता के सिद्धांत को पुख्ता करने के लिए उन्होंने गतिशील और स्थिर समाजों के बीच विभाजन किया। इसके लिए सोरोकिन ने अतीत और समकालीन समाजों के बेहतरीन उदाहरणों का उल्लेख भी किया। बाद में अनेक समाजशास्त्रियों ने अनुसंधान की परिष्कृत तकनीकों और तरीकों के द्वारा कार्य किया तथा गतिशीलता के अध्ययन की गुणवत्ता में सुधार हुआ।

बॉक्स 32.01

एस.एम.लिपेट और बैंडिक्स (1953), एस.एम. लिपसेट तथा एच. जैटरबर्ग (1956) द्वारा अनुसंधान किए गए। उन्होंने राष्ट्रीय सीमाओं के परे विश्व के अनेक समकालीन समाजों का अध्ययन और विश्लेषण किया। मेलबिन एम.प्यूमिन (1957) ने एक बड़े समाज में गतिशीलता का अध्ययन किया। उन्होंने शीघ्रता से गतिशील होने वाले समाज में व्याप्त कुछ व्यापक भ्रमों की अच्छी जानकारी प्रदान की। इससे उसके अच्छे भविष्य की संभावनाओं की आशा हुई। जबकि एम.जेनोविट्ज (1956) ने सामाजिक गतिशीलता के परिणामों के अपने अध्ययन को केवल अमेरिका तक ही सीमित रखा। जॉर्ज जिमेल की पुस्तक 'द स्ट्रेंजर', ई.वी.स्टोन इक्विस्ट की पुस्तक 'द मार्जिनल मैन' ने विघटित सामाजिक संरचना में एकल व्यक्ति की निराश जीवन-शैली का वर्णन किया।

रॉबर्ट माइकेल जैसे राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व यूरोप के जन-साधारण के ऊपर या नीचे की तरफ गतिशील राजनीतिक व्यवहार (वोट डालना) का विस्तृत विश्लेषण किया। दूसरी ओर, जी. मोस्का तथा विल्फ्रेड पेरेटो जैसे श्रेष्ठ विद्वानों ने 'विशिष्ट वर्गों की गतिशीलता' के अपने सिद्धांत में गतिशीलता को बढ़ावा देने वाले सामाजिक तत्वों एवं राजनीतिक शक्तियों का विस्तृत वर्णन किया। मोस्का ने अपनी शोध को व्यापक बनाया और सामाजिक गतिशीलता के परिणामस्वरूप मध्य वर्ग—एक नए वर्ग की उत्पत्ति को उसमें शामिल किया।

प्रत्येक समाज का निर्माण एक ऐसे विशिष्ट तरीके से हुआ है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति या समूह को विशेष कार्य मिले हुए हैं जो समाज को बनाने और उसे बनाए रखने के लिए कार्य करते हैं। प्रत्येक समाज के लिए उसमें रहने वाले व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले कार्य समाज के लिए महत्वपूर्ण होने के अनुसार ही उन व्यक्तियों को उच्च या निम्न स्थिति अथवा श्रेणी प्रदान कराते हैं। इसलिए किसी भी समाज में समय के किसी बिंदु पर कुछ कार्य उच्च हैसियत रखते हैं और उनसे जुड़े हुए व्यक्तियों को दूसरों की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं। कार्य-निष्पादन के आधार पर व्यक्तियों और समूहों को समाज में उच्च या निम्न स्थितियाँ अथवा श्रेणियाँ प्रदान की जाती हैं। अर्थात् उस विशेष समाज में स्तरीकरण को वर्गों के (या भारतीय समाज में जातियों) के नाम से जाना जाता है। अतीत और वर्तमान के अनेक विचारकों के अनुसार श्रेष्ठता प्राप्ति के लिए (मार्क्स) दो विरोधी वर्ग-संघर्ष कर रहे होते हैं। इस स्थिति में अपने समाज में अधिकतम आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पुरस्कार पाने के लिए अपनी-अपनी नीतियों के साथ चार या इससे भी अधिक वर्ग हो सकते हैं (वेबर और अन्य)।

MAADHYAM IAS

32.3 गतिशीलता के सामाजिक परिणाम

अब हम बूर्जुआवादी शोध ग्रंथ के साथ आरंभ हुए गतिशीलता के कुछ सामाजिक परिणामों की ओर ध्यान देंगे।

32.3.1 बूर्जुआवादी

मार्क्स की तुलना में अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विषम समाज को देखने वाले अनेक आधुनिक समाजशास्त्रियों जैसे क्लार्क केर, जेस्सी बर्नार्ड तथा 50 के और 60 के दशक के अनेक विद्वानों ने मार्क्स की विचारधारा के मुकाबले में बूर्जुआ शोध ग्रंथ प्रस्तुत किए। उनके

अनुसार हाथ से कार्य न करने वाले श्रमिकों की बढ़ती संख्या के कारण वे या मध्य वर्ग हाथ से कार्य करने वाले श्रमिकों अथवा मध्य वर्गों में संचलन करेंगे क्योंकि पूँजीवादी समाजों की संख्या में वृद्धि होगी। (बड़े पार्श्व वर्ग का समर्थन) लेकिन बूर्जुआ शोध ग्रंथों के विद्वानों के अनुसार औद्योगिक समाजों में एक ऐसी प्रक्रिया आरंभ हो रही थी जिसमें हाथ से कार्य करने वाले श्रमिकों की बढ़ती संख्या मध्य स्तर में प्रवेश कर रही थी। एक मध्य वर्ग बन रहा था। यह प्रक्रिया दूसरे विश्व युद्ध के बाद प्रौद्योगिकी में उन्नति और औद्योगिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति के कारण आम तौर पर सम्पन्नता में वृद्धि होने से और स्पष्ट हो गई। इससे हाथ से कार्य करने वाले श्रमिकों की आमदनी में वृद्धि हुई और वह हाथ से कार्य न करने वाले सफेदपोश लोगों के वेतन के बराबर हो गए। अनेक लेखकों के अनुसार इन श्रमिकों को प्रभावशाली श्रमिक माना जाने लगा। इन्होंने मध्यवर्गीय स्तर को प्राप्त किया तथा व्यापक रूप से मध्य वर्ग के नियमों, मूल्यों तथा दृष्टिकोणों को अपनाने लगे। अब इस प्रक्रिया से यह विश्वास होने लगा कि स्तरीकरण प्रणाली का रूप भी बदल रहा है। तर्क दिया गया कि स्तरीकरण व्यवस्था की पिरामिड वाली संरचना में अधिकतर आबादी निर्धन श्रमिकों की सबसे नीचे तथा एक छोटा धनाढ्य समूह सबसे ऊपर था। वह संरचना अब स्तरीकरण व्यवस्था का डायमंड (हीरा) वाला रूप ले रही थी जिसमें अधितम आबादी मध्य वर्ग में आ गई। इससे **'विस्तृत मध्य समाज'** की परिभाषा अनुकूल लगने लगी।

अभ्यास 1

भारतीय समाज के लिए बूर्जुआवादी शोध प्रबंध किस प्रकार उपयुक्त हैं? कुछ सप्ताह तक समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं का अध्ययन करते हुए समुचित स्थिति की जानकारी प्राप्त करें और उन्हें अपनी नोटबुक में लिखें। इसके बाद अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से इस विषय पर चर्चा करें।

बूर्जुआवादी शोध को व्यापक समर्थन मिलने के बावजूद गोल्डथोर्पे, लॉकवुड बेछोफर तथा प्लॉट द्वारा दक्षिण-पूर्व इंगलैंड के समृद्ध क्षेत्र—लूटोन में प्रभावशाली श्रमिकों में अनुसंधान किए गए। इस अनुसंधान के निष्कर्षों द्वारा इसका खंडन किया गया। इस क्षेत्र को बूर्जुआवादी संकल्पना की पुष्टि के लिए सबसे उपयुक्त माना जाता था। यदि सबसे अनुकूल ढाँचे में बूर्जुआवादी प्रक्रिया प्रामाणिक नहीं रही तो इस संकल्पना का खंडन होने लगा।

MAADHYAM IAS

इस क्षेत्र में सफेदपोश श्रमिकों के वेतन से अधिक वेतन लेने वाले श्रमिक उनसे चार मानदंडों में भी मुकाबला करते थे—कार्य के प्रति दृष्टिकोण, समुदाय में परस्पर मेलजोल का ढंग, महत्वाकांक्षा तथा सामाजिक महत्व एवं राजनीतिक विचार। इन सभी चार आधारों पर प्रभावशाली श्रमिक सफेदपोश श्रमिकों से महत्वपूर्ण रूप से भिन्न थे। इसके अतिरिक्त, वे सामुदायिक रूप से परस्पर मेलजोल के तरीके में, महत्वाकांक्षा और हाथ से कार्य करने वाले पारंपरिक श्रमिकों के सामाजिक महत्व के स्तर पर भी भिन्न थे। इसके अतिरिक्त, वे उपर्युक्त वर्णित चारों मानदंडों के संदर्भ में हाथ से कार्य करने वाले पारंपरिक श्रमिकों से अपने उद्देश्यों में भी अंतर रखते थे। इसलिए लोकवुड के मत को समर्थन मिला तथा उन्नत औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समाजों में नए श्रमिक वर्ग के आविर्भाव के गोल्डथोर्प के निष्कर्षों को भी समर्थन मिला।

इसलिए बूर्जुआवादी विचारधारा वास्तविक अनुभव पर आधारित निष्कर्षों की अपेक्षा प्रभावशाली परिणामों पर आधारित एक परिकल्पना रह गई।

32.3.2 श्रमिक वर्ग की विषमता

तकनीकी उन्नति के साथ श्रमिक वर्ग की समरूपता में वृद्धि होने की मार्क्स की भविष्यवाणी

से भिन्न कुछ समाजशास्त्रियों को निश्चित रूप से कुछ विपरीत रुख दिखाई दिया। उन्नत एवं उन्नतिशील औद्योगिक समाजों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के कारण उद्योगों में इसके कार्यान्वयन से श्रमिक वर्ग का प्रत्येक सदस्य और विषय प्रभावित हो रहा था।

गल्फ डैहरेंडरफ के अनुसार श्रमिक वर्ग में विषमताएँ या असमानता बढ़ रही थी। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के कारण जटिल मशीनें लगाई जा रही थीं जिनपर अच्छी तहर प्रशिक्षित एवं योग्य श्रमिक ही कार्य कर सकते थे ताकि वे आवश्यकतानुसार मशीनों की देखभाल और मरम्मत कर सकें। इसलिए पुरानी मशीनों पर साधारण कार्य करने वाले साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा तकनीकी रूप से प्रशिक्षित उच्च दक्षता प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता थी। (मौसम की स्थितियों के बावजूद अब कृषि भी कठिन और कमरतोड़ कार्य नहीं रह गया था। कृषि में बढ़ते यंत्रीकरण ने इसका रूप तथा कार्य प्रकृति को बदल दिया था। अब इसे समाज की अर्थव्यवस्था बनाने वाले एक उद्योग के रूप में माना जाने लगा।) गल्फ डैहरेंडरफ के अनुसार विभिन्न उद्योगों में कार्य प्रकृति के अनुसार वांछित श्रमिकों को तीन विशिष्ट श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—अकुशल, अर्ध-कुशल तथा कुशल श्रमिक। श्रमिकों का यह वर्गीकरण आर्थिक आमदनी (वेतन) में अंतर तथा उसके अनुसार प्रत्येक की स्थिति के अनुसार था। इस प्रकार, कुशल श्रमिकों को अधिक वेतन, अधिक भत्ते, अधिक नौकरी-सुरक्षा मिलती थी। इस प्रकार, अन्य दो श्रेणियों के श्रमिकों की तुलना में उनकी बेहतर स्थिति हैसियत थी। डैहरेंडरफ का विश्वास है कि बीसवीं शताब्दी में श्रमिकों की गतिशीलता के कारण श्रमिक वर्ग की बात करना अर्थहीन है। अपितु उनका उपरोक्त विभिन्न श्रेणियों में विभाजन हो गया।

के.रॉबर्ट्स, एफ.एम.मार्टिन तथा कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने आज के औद्योगिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता के परिणामों के कारण उपरोक्त श्रमिक वर्ग की विषमता के विचार का खंडन किया है। इसकी अपेक्षा उन्होंने विभिन्न अनुसंधानों के निष्कर्षों के माध्यम से प्रस्ताव किया कि हाथ से कार्य करने वाले श्रमिकों को एक जैसी बाज़ारू-स्थिति एवं जीवन अवसरों का हिस्सा मिलता है। अपने वर्ग के सामान्य हितों के कारण श्रमिकों को अपनी साझी पहचान का पता होता है। इस प्रकार, समाज में अपनी विशिष्ट उप-संस्कृति के कारण वर्गों से उनमें भिन्नता होती है। अतः श्रमिक वर्ग की विषमता को सामाजिक गतिशीलता का प्रभाव कहना सही नहीं है। श्रमिक वर्ग भी एक सामाजिक वर्ग का निर्माण करता है और उसे विशिष्ट श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जाना चाहिए।

32.3.3 विस्तृत एवं विघटित मध्य वर्ग

यद्यपि मध्य वर्ग अपने मूल रूप में समाज से कभी सम्बद्ध नहीं रहा तो भी यह इतना छोटा समूह था कि समाज के आर्थिक और शासन-व्यवस्था में उसकी मज़बूत उपस्थिति का अनुभव नहीं हुआ। आरंभिक दिनों में इसमें राज्य के निम्नतम कर्मचारी, छोटे-छोटे व्यवसायी तथा अपवादस्वरूप मुफ्त में ज़मीन पाने वाले कुछ किसान शामिल थे। लेकिन 19वीं शताब्दी में विभिन्न राष्ट्रों के हितों में विस्तार हुआ और शासन में राज्य की सक्रिय भूमिका की वृद्धि के कारण ऐसे शिक्षित एवं तकनीकी रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों की मॉग में वृद्धि हुई जो भौतिक रूप से तथा महत्वाकांक्षा के कारण गतिशील हो सके। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मध्य वर्ग के विस्तार ने एक बार फिर मार्क्स की उस भविष्यवाणी को गलत सिद्ध कर दिया कि मध्य स्तर समाप्त हो जाएगा (एक व्यापक पार्श्व बन जाएगा)। इसके अतिरिक्त, मैक्स वेबर, ए.गिड्डन्स, फ्रेंक पार्किन आदि ने मध्य वर्ग की उत्पत्ति तथा उसके विस्तार को देखा है जो औद्योगिक अर्थव्यवस्था का युक्तिसंगत सहज उत्पत्ति है। प्रत्येक विद्वान ने वर्गों का श्रेणीकरण किया है। वेबर के अनुसार सफेदपोश मध्य वर्ग संकुचित होने की अपेक्षा विस्तृत हुआ है क्योंकि पूँजीवाद का विकास हुआ है और पूँजीवादी

MAADHYAM IAS

प्रतिष्ठानों तथा आधुनिक राष्ट्रों के प्रशासनिक संगठनों को व्यापक संख्या में प्रशासनिक कर्मचारियों की आवश्यकता महसूस हुई। पूँजीवाद की उन्नति के साथ-साथ प्रतिष्ठानों में व्यापक परिवर्तन हो रहे थे। स्वामित्व और नियंत्रण में अलग होने से प्रबंधकों और प्रशासकों की भूमिका में विस्तार हो रहा था। इसलिए वेबर के अनुसार, मध्य वर्ग में ऐसे सम्पत्तिविहीन सफेदपोश श्रमिक शामिल हो जाते हैं जिनकी सामाजिक स्थिति और जीवन-शैली उनके द्वारा प्रदान किए गए शिल्प और सेवाओं पर निर्भर करती। दूसरे छोटे-छोटे बूर्जुआ अर्थात् छोटे-छोटे मालिक बड़े पूँजीपतियों से प्रतियोगिता के कारण सफेदपोश कार्यों में लग जाते हैं। एंटोनी गिड्डन्स विकसित पूँजीवादी समाज में तीन बड़े वर्ग मानता है जिसमें मध्य वर्ग अपनी शैक्षणिक एवं तकनीकी योग्याताओं पर आधारित है।

इस मध्य वर्ग को तकनीकी और शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर प्रत्येक को भिन्न-भिन्न पारिश्रमिक मिलता है जिसके अनुसार इसे अन्य उप-वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इसलिए आधुनिक समाज में स्वयं मध्य वर्ग में प्रायः निम्नलिखित उप-वर्ग हैं—

- उच्च व्यवसायी, प्रबंधात्मक तथा प्रशासनिक वर्ग, जिसमें न्यायाधीश, कानूनविद, वकील, चिकित्सक, वास्तुविद, योजनाकार, विश्वविद्यालय के व्याख्याता, लेखाकार, वैज्ञानिक एवं अभियन्ता शामिल हैं।
- निम्न व्यवसायी, प्रबंधात्मक तथा प्रशासनिक वर्ग, जिसमें अध्यापक, नर्सें, सामाजिक कार्यकर्ता, तथा पुस्तकालयाध्यक्ष आदि शामिल हैं।
- आम सफेदपोश तथा लघु पर्यवेक्षक वर्ग, जिसमें लिपिक, फोरमैन आदि शामिल हैं।

प्रत्येक उप-विभाजन की न केवल व्यावसायिक पारिश्रमिक व्यवस्था में भिन्न स्थिति है अपितु किसी समाज-विशेष में सामाजिक मानदंड के अनुरूप भिन्न-भिन्न हैसियत और स्थिति होती है।

इन लोगों की न केवल भिन्न-भिन्न हैसियत तथा स्थिति होती है अपितु वे अपनी असमान मार्किट स्थिति तथा जीवन अवसर को भी जानते हैं। इसलिए 'वर्ग हैसियत' के अध्ययन में रॉबर्ट्स, कूक, क्लार्क तथा सेमनोफ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मध्य वर्ग स्वयं बढ़ते हुए अनेक विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाता है जिसका स्तरीकरण व्यवस्था में अपनी स्थिति के बारे में एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। अतः मध्य-सफेदपोश वर्ग की सामान्य श्रेणी की चर्चा करें तो दूसरे मध्य वर्ग को गिनने की आवश्यकता नहीं। सफेदपोश समूह में विविध वर्ग हैसियत, मार्किट स्थितियाँ, जीवन अवसर तथा हित - यह आभास देते हैं कि मध्य वर्ग तेज़ी से विघटित हो रहा है (केनिथ रॉबर्ट्स) अतः मध्य वर्ग के रूप में एक ही सामाजिक वर्ग की बात विवाद का विषय है। इससे अच्छा तो इसे अनेक मध्य वर्गों के रूप में मान्यता देना अधिक सार्थक है।

32.3.4 सामाजिक गतिशीलता तथा वर्ग-निर्भरता की दर

सामाजिक गतिशीलता की दर किसी समाज में एक स्तर से दूसरे स्तर में संचलन की मात्रा होती है। औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समकालीन समाज में पहले वाले समाजों की अपेक्षा गतिशीलता दर पर्याप्त रूप से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि सामाजिक गतिशीलता की ऊँची दर योग्यता, पात्रता, बुद्धिमत्ता, महत्वाकांक्षा तथा कठोर परिश्रम पर आधारित उपलब्धि का मानदंड है जो समाज में व्यक्ति की स्थिति निर्धारित करती है। वर्ग निर्भरता समाज में किसी वर्ग की सम्बद्धता की डिग्री होती है। इसलिए सामाजिक गतिशीलता के परिणाम वर्ग सम्बद्धता के लिए महत्वपूर्ण होते हैं।

अनेक समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक गतिशीलता की दर परोक्ष रूप से सामाजिक

निर्भरता के आनुपातिक होती है। कहा जा सकता है कि यदि सामाजिक गतिशीलता की दर कम होती है तो वर्ग-निर्भरता और सम्बद्धता अधिक होगी और यदि सामाजिक गतिशीलता की दर अधिक होगी तो वर्ग-निर्भरता और सम्बद्धता कम होगी। एंटोनी गिड्डन्स के अनुसार, यदि सामाजिक गतिशीलता की दर कम होगी तो अधिकांश व्यक्ति अपने मूल वर्ग में ही रहेंगे। इससे सामान्य जीवन के अनुभव पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते जाएंगे, विशिष्ट वर्ग की उप-संस्कृतियाँ बनेंगी तथा वर्ग की ठोस पहचान विकसित होंगी। इसके विपरीत, सामाजिक गतिशीलता की उच्च दर एक ही पीढ़ी में विभिन्न जीवन शैली का अनुभव कराएगी, वर्ग की विशिष्ट उप-संस्कृतियों का विघटन होगा तथा अगले उच्च वर्ग के साथ पहचान बनाने की महत्वाकांक्षा होगी। इस प्रकार, वर्ग निर्भरता समाप्ति की शुरुआत हो जाती है।

मार्क्स का भी विश्वास था कि सामाजिक गतिशीलता की उच्च दर से वर्ग निर्भरता की प्रवृत्ति कमज़ोर होती है। वर्गों की स्थिति विषम होती जाती है क्योंकि उनके सदस्य एक जैसी पृष्ठभूमि में रहना छोड़ देते हैं। वर्ग की विशिष्ट उप-संस्कृतियाँ पृथक-पृथक हो जाती हैं क्योंकि नियम, प्रवृत्तियाँ, तथा मूल्य किसी वर्ग-विशेष के लिए न केवल पीढ़ियों में अपितु एक ही पीढ़ी में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार, मार्क्स के लिए वर्ग की जागरुकता और वर्ग विभाजन की प्रबलता की संभावना काफी हद तक कम होगी। जबकि राल्फ डैहरेंडरेफ के अनुसार समकालीन औद्योगिक समाजों में उच्च सामाजिक गतिशीलता की दर के कारण वर्ग-विभाजन का रूप बदल गया। चूँकि आजकल समाजों ने उपलब्धियों के मानदंडों की प्रमुखताएँ बना दी हैं, और खुलापन आ गया है इसलिए व्यावसायिक पारिश्रमिक संरचना में एक ही वर्ग के व्यक्तियों में प्रतिस्पर्धाओं में वृद्धि हो गई। इस प्रकार, वर्ग-निर्भरता में तथा वर्ग-विभाजन की प्रबलता में कमी आ गई।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

बॉक्स 32.02

गोल्डथोर्प और सी.लेवेलीन ने 'ऑक्सफोर्ड गतिशीलता अध्ययन' के आधार पर श्रमिक वर्ग में वर्ग-निर्माण के लिए सामाजिक गतिशीलता का आशावादी पक्ष दर्शाया है। उनके निष्कर्षों के अनुसार, चूँकि समकालीन समाजों में ऊपर की तरफ गतिशीलता नीचे की तरफ गतिशीलता से अधिक होती है, इसलिए वास्तव में बहुत कम लोग हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के स्तर में नीचे की तरफ जाते हैं। इससे एक जैसे श्रमिक वर्ग का निर्माण होने लगता है क्योंकि प्रायः उनके उद्‌गम तथा अनुभव एक जैसे होते हैं जो एक-समान हितों को पूरा करने के लिए सामूहिक नीतियाँ बनाने के लिए आधार प्रदान करते हैं। इस प्रकार, हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के बीच वर्ग-निर्भरता तथा एक जैसे वर्ग निर्माण की अधिक संभावना है।

उसी समय गोल्फथोर्प तथा लेवेलीन ने मध्य वर्ग में वर्ग-निर्भरता को नहीं माना। सदस्यों की विषम पृष्ठभूमि के कारण उनमें सम्बद्धता की कमी अर्थात् कर्म वर्गवादिता होती है और मध्य वर्ग का एकल सामाजिक वर्ग के रूप का खंडन होता है जो पिछले भाग में वर्णित केनिथ रॉबर्ट के 'विघटित' मध्य वर्ग के समान है।

32.3.5 सामाजिक व्यवस्था का रूप

जब से दुर्खाइम ने 'एनोमी' (सामान्य सामाजिक स्तरों की कमी) संकल्पना के बारे में लिखा है जिसका अर्थ है—समाज में ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने असीमित लक्ष्य और महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं कर पाते हैं, अनेक लेखकों ने सामाजिक व्यवस्था पर सामाजिक गतिशीलता के प्रभावों के बारे में लिखा है। दुर्खाइम ने अपनी श्रेष्ठ पुस्तक *'सुसाइड'* में बताया है कि सामाजिक गतिशीलता का समाज और व्यक्ति दोनों पर उलटा प्रभाव भी हो

सकता है। उसके अनुसार पहले के समाज अपने स्तरीकरण व्यवस्था पर कठोर नियंत्रण रखते थे जिससे किसी विशेष समाज में रहने वाले व्यक्ति को अपनी महत्वाकांक्षाओं की वैधानिक सीमाओं का पता होता था। लेकिन जब से इन स्तरीकरण नियंत्रणों में कमी आई है और शक्ति तथा धन की आकस्मित वृद्धि एवं अर्थव्यवस्था के संकटों से समाज की नैतिक व्यवस्था के लिए काफी गंभीर स्थितियाँ पैदा हो गई हैं। न केवल परिवर्तनकालीन समय में जैसे आर्थिक पतन के (क्योंकि कोई श्रेणीकरण नहीं होगा) कारण अपितु समृद्धि या शक्ति की शीघ्र वृद्धि के कारण (क्योंकि महत्वाकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं होती) व्यवस्था के सामाजिक एकता पर विघटनकारी प्रभाव पड़ता है। जिससे वैयक्तिक एकता के नष्ट होने के कारण व्यक्तियों में आत्महत्याएँ होती हैं। इससे समाज में अव्यवस्थावादी प्रवृत्तियों का पता चलता है।

इसी धारा में लिपसेट और बैंडिक्स तथा डोरमनी ने इस बात पर बल दिया है कि विभिन्न सामाजिक संरचनाओं पर सामाजिक गतिशीलता के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। सामाजिक गतिशीलता का पारंपरिक समाजों में अधिक विघटनकारी प्रभाव होता है। पारंपरिक समाज में स्तरीकरण की आरोपित व्यवस्था होती है जिसकी कठोर रूढ़िवादिता होती है और इस प्रकार ये समाज गतिशीलता के लिए तैयार नहीं होते। यह इस धारणा पर आधारित है कि पारंपरिक समाज में उत्पन्न वर्गों के दबाव काफी शक्तिशाली और बंधनकारी होते हैं। यदि ये गतिशीलता के कारण टूट जाएँ तो व्यक्ति अकेला पड़ जाता है औरे अपनी सामाजिक स्थिति तथा पहचान के लिए चिंतित रहता है। जबकि औद्योगिक समाज की स्तरीकण व्यवस्था में खुलापन होता है। इस व्यवस्था को जारी रखने में सामाजिक गतिशीलता एक सामान्य प्रक्रिया है।

यहाँ तक कि पी.ए. सोरोकिन ने भी 'सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता' (1927) की बात की है तथा सामाजिक गतिशीलता के विघटनकारी परिणामों के बारे में लिखा है। उसका विश्वास है कि सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक व्यवस्था की अस्थिरता, सांस्कृतिक अनिश्चितता तथा पारस्परिक निर्भरता की कमी को बढ़ाती है! इससे श्रेष्ठता की भी समाप्ति होती है जिससे राष्ट्रों को नुकसान होता है। इससे लघुता, व्यक्तित्व में छिछोरापन, संदेहवाद, कटुता और घृणा को बढ़ावा मिलता है। सोरोकिन के अनुसार, सामाजिक गतिशीलता अपनत्व तथा संवेदना में कमी, मानसिक तनाव तथा रोगों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एकाकीपन, एकांत, बेचैनी में वृद्धि, क्षणिक ऐंद्रिय सुखों की तरफ ले जाती है जिससे आगे चलकर समाज में नैतिक पतन होता है। सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता के विपरीत प्रभावों को संतुलित करने के लिए समाज तथा व्यक्ति के लिए भी इसके सकारात्मक प्रभावों को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में वह व्यक्तियों के ऐसे श्रेष्ठ और पर्याप्त वितरण की बात करता है जिसमें श्रेष्ठ व्यक्ति सबसे ऊपर हो जो संकुचित दृष्टिकोण तथा खतरनाक व्यावसायिक विशेष व्यवहारों को कम करे। इससे आर्थिक समृद्धि और शीघ्र सामाजिक विकास में सहायता मिलेगी। इससे सामाजिक व्यवस्था के लिए सामाजिक गतिशीलता के सकारात्मक परिणामों में वृद्धि होगी।

MAADHYAM IAS

बॉक्स 32.03

एक पत्र में मेल्बिन एम.प्यूमिन ने भी 'विस्तृत समाज में सामाजिक गतिशीलता के कुछ नकारात्मक परिणामों' के बारे में वर्णन किया है (1957) उन्होंने अपने प्रसिद्ध संदर्भ के रूप में एक समकालीन व्यापक समाज को लिया है। उसने देखा कि जीवन के हर क्षेत्र में 'उपभोग' की प्रवृत्ति प्रेरक शक्ति के रूप में काम करती है। चाहे धन, आमदनी, सामाजिक स्तर, कला और सौंदर्यशास्त्र हो, संस्कृति हो या शासन-व्यवस्था या फिर परिवार, धर्म और शिक्षा जैसी मौलिक परंपराएँ — यहाँ तक कि सामाजिक विवेचन भी सभी को व्यापारिक तराजू पर तौला जाता है।

इसका अर्थ है कि कार्य का क्षेत्र, कार्य की पारंपरिक विशिष्टता सभी के अर्थ समाप्त हो गए हैं तथा शक्ति एवं सम्पत्ति उपभोग के माध्यम से सफल होने का मार्ग खुल गया है जो सामाजिक गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण मानदंड बन गया है। इससे कार्य निंदनीय होने लगा और कुछ अच्छी आमदनी वाले कार्यों को छोड़कर सभी का सम्मान कम हो गया। कार्य के इस नकारात्मक रूप के सामाजिक अखंडता के लिए नकारात्मक परिणाम हुए।

फिर तीव्र सामाजिक गतिशीलता के कारण परिवार, संबंधी समूह, धर्म, राजनीतिक एवं शैक्षणिक संस्थाएँ आदि असंतुलित हो गईं। इन्हें आमदनी और आर्थिक उत्पादन के मानदंडों से मापा जाने लगा। इससे इन संस्थाओं की बदली परिभाषाओं तथा मानदंडों पर प्रभाव प्रभाव पड़ा तथा अब इनका आधार केवल उपयोगिता मूल्य हो गया। इस प्रकार, इनके पारंपरिक रूप से लिए जाने कार्यों का खतरा हो गया। इसके अतिरिक्त, सामाजिक गतिशीलता के अनुचित प्रभाव से न केवल विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ समाप्त हो रही थीं अपितु पुरानी पीढ़ी के संदर्भ में मानवीय पक्ष जो विगत समय की परंपराओं और परिपाटियों में ओत-प्रोत था, आबादी के नत गतिशील भावों के द्वारा घोर निंदनीय समझा जाने लगा। इसकी पुष्टि न केवल तथाकथित पश्चिमी समाजों में अपितु पूर्व के अनेक सहिष्णु समाजों में भी तेज़ी से खुल रहे ओल्ड डेज़ होम्स (वृद्ध आश्रमों) से होती है। कोई भी समाज यदि अंधाधुंध अपने भूतकाल में लौटता है या आधुनिकता का अविवेकपूर्ण खंडन करता है तो हानि उठाएगा। इसलिए एक समाज को तीव्र सामाजिक गतिशीलता के दुष्प्रभावों से दूर करने के लिए पारंपरिक और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाना होगा।

इसके अतिरिक्त, मेलबिन प्यूमिन गतिशील आबादी के महत्वपूर्ण वर्गों में कृतज्ञता के प्रति सम्मान की घटती सामाजिक आलोचना की भी निंदा करता है। यहाँ तक कि ऐसे विद्वानों जिनसे सामाजिक व्यवस्था की रचनात्मक विवेचन की आशा की जाती है तथा एक खुले समाज को बनाने के लिए सक्रिय एवं गंभीर संवाद स्थापित करना जिनका दायित्व है उनपर भी सामाजिक गतिशीलता का निंदनीय प्रभाव पड़ा। उनके विचार अब राज्य के प्रसिद्ध उपायों के लिए विक्रय की वस्तु बन गए। वे अपना मूल्य अपने विचारों के विक्रय से प्राप्त करते हैं। संस्कृति और रुचि में उस समय ह्रास होता है जब कलाओं का मानदंड उनका बिक्री मूल्य हो जाता है। कला और संस्कृति का उपभोग श्रेष्ठ व्यक्तियों की सनक तथा फैशन के द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह प्रणाली अधिसंख्य सदस्यों वाले समाज की लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के लिए खतरा है क्योंकि प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति यहाँ तक कि विचार भी पूँजी और इससे संबंधित सामाजिक वस्तुओं की प्रगतिशील प्रभुता के आगे-पीछे हट जाते हैं। मानव समूह सांस्कृतिक समूह बनने की अपेक्षा स्तर के लिए प्रतिस्पर्धा करने वालों के संगठन बन जाते हैं। इस प्रकार, असमान समाज में यही सांस्कृतिक आबादी की संभावनाओं को कम कर देते हैं। जब सामाजिक व्यवस्था का ऐसा विघटित रूप प्रस्तुत किया जाता है तो व्यक्ति तीव्र सामाजिक परिवर्तन के अंधेरे में गुम हो जाता है। इस प्रकार, उत्पन्न असुरक्षा के परिणाम असम्बद्धता, गंभीर एकाकीपन, आत्म-घातकता तथा ऐसी ही अनेक प्रक्रियाओं की तरफ ले जाते हैं।

उपर्युक्त तीव्र सामाजिक गतिशीलता के द्वारा सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति का वर्णन अति-रंजित है। पीटर एम.ब्लौ जैसे अनेक विचारकों द्वारा इस अति-रंजना का खंडन किया गया है। वह सामाजिक गतिशीलता द्वारा सांस्कृतिक संक्रमण को संकट में सामाजिक व्यवस्था के कारण बताने का प्रयास करता है। ब्लौ का तर्क है कि सामाजिक रूप से गतिशील व्यक्ति को मूल्यों, प्रवृत्तियों, व्यवहार और अपने उत्पत्ति-वर्ग या लक्ष्य वर्ग के मित्रों का चयन करने में दुविधा होती है। यह दुविधा ही है जो सामाजिक गतिशीलता के ज्ञात विभिन्न परिणामों की ओर ले जाती है जैसे सामाजिक विघटन, असुरक्षा या सामाजिक रूप से गतिशील व्यक्तियों की अति-समरूपता। इसलिए ब्लौ वास्तव में सामाजिक व्यवस्था के

MAADHYAM IAS

विघटनकारी रूप को चुनौती नहीं देता अपितु वह सांस्कृतिक संक्रमण की परिकल्पना के माध्यम से सामाजिक गतिशीलता द्वारा सामाजिक परिवर्तन के कारणों को निर्धारित करने का प्रयास करता है।

> **अभ्यास 2**
> भारत में सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न परिणामों की व्याख्या कीजिए। एक सूची बनाइए और फिर अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ चर्चा कीजिए।

विघटनकारी परिकल्पना के प्रतिपादकों द्वारा सामाजिक व्यवस्था के निराशाजनक वर्णन (जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है) के विपरीत इंगलैंड में फ्रेंक पार्किन तथा सी.जे.रिचड्र्सन ने तथा एच.एल.बिलंस्की और एच.एडवर्ड ने अमेरिका में पूँजीपति समाज में वर्गों की जाँच की। फ्रेंक पार्किन ने उर्ध्व गतिशीलता की उच्च दर के अपने निष्कर्ष में स्पष्ट किया कि यह राजनीतिक सुरक्षा उपाय के रूप में कार्य करता है। उर्ध्व गतिशीलता व्यक्तियों को उच्च स्थिति में पहुँचने और अधिक आमदनी की अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के अवसर प्रदान करती है। परिणामस्वरूप विकास से होने वाली कुंठाओं को रोकती है जिसके अभाव में यदि ये तीव्र हो जाए तो सामाजिक ताना-बाना खतरे में पड़ सकता है। प्रायः जो व्यक्ति श्रमिक वर्ग से संचलन करता है वह अपने छोड़े गए साथियों के बारे में चिंतित होने की अपेक्षा स्वयं का उच्च वर्ग के नए नियमों और सिद्धांतों से तालमेल बैठाने के लिए अधिक चिंतित होता है। इस प्रकार, पूँजीवादी समाज में वर्गों के बीच वर्ग संघर्ष की तीव्रता कम हो जाती है। दूसरी तरफ, एच.एल.बिलंस्की और एच.एडवर्ड ने 'नीचे की तरफ गतिशीलता' के परिणामों की जाँच की। उनके अनुसार मध्य वर्ग से वास्तव में सामाजिक क्रम के श्रमिक वर्ग मे संचलन करने वाले व्यक्ति प्रायः अपनी निम्न-स्थिति को स्वीकार नहीं करते तथा श्रमिक वर्ग के नियमों के अनुरूप स्वयं को समायोजित नहीं कर पाते। वे अपनी समाप्त स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रकार, उनके दृष्टिकोण में रूढ़िवादिता की उत्पत्ति झलकती है। इस प्रकार, इंगलैंड में सामाजिक अध्ययन के निष्कर्ष के अनुसार न तो उर्ध्व गतिशीलता और न ही नीचे की तरफ गतिशीलता बिछुड़ने वालों की किसी भावना को भड़काती है या उन्हें अपने वर्तमान समूह से कोई असंतोष होता है। इसके सामाजिक व्यवस्था के लिए कोई विघटनकारी परिणाम भी नहीं होते। इस प्रकार, दोनों उर्ध्व और नीचे की तरफ गतिशीलताओं की प्रवृत्ति अपनी स्थिति को मज़बूत करने की होती है। दोनों प्रवृत्तियाँ अपने सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण में अधिक रूढ़िवादी होती है, एक (उर्ध्व गतिशीलता) गतिशीलता के बाद अपनी प्राप्तियों को एकत्रित करती है, तथा दूसरी (नीचे की तरफ गतिशीलता) अपनी पहले वाली स्थिति को पुनः प्राप्त करने की आशा रखती है। इस प्रकार, इनमें से कोई भी समाज की स्थिरता या अखंडता के लिए खतरा नहीं है।

सामाजिक व्यवस्था के दोनों रूपों का अध्ययन वास्तविक और प्रभावशाली अध्ययनों पर आधारित है। ये किसी समाज पर कहाँ तक लागू होते हैं, यह संवाद का विषय है। लेकिन हम सुरक्षित रूप से यह मान सकते हैं कि इसमें वास्तविक रूप से दोनों ही रूपों के तत्त्व मिश्रित हैं। सामाजिक गतिशीलता के परिणाम न तो पूरी तरह निराशावादी हैं और न ही अति-रूप से सकारात्मक। इस प्रकार, वर्तमान समाजों की सामाजिक व्यवस्था का रूप क्रमिक रूप से सामाजिक व्यवस्था के दो ध्रुवों के बीच में रहेगा।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) बूर्जुआ तत्व क्या है? इसे अभिधारण न मानकर परिकल्पना के नाम से क्यों जाना जाता है? पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2) क्या हम श्रमिक वर्ग को एक सामाजिक समूह कह सकते हैं? अपने कारण पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) 'विघटित मध्य वर्ग' फेज़ से आप क्या समझते हैं? पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

....

4) वर्ग निर्भरता पर सामाजिक गतिशीलता दर का क्या प्रभाव पड़ता है? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

5) सामाजिक गतिशीलता के परिणाम के रूप में सामाजिक व्यवस्था के रूप की व्याख्या कीजिए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

32.4 सामाजिक गतिशीलता का राजनीतिक परिणाम

राजनीतिक व्यवहार पर सामाजिक गतिशीलता के परिणामों का प्रभाव स्तरीकरण गतिविज्ञान के माध्यम से भी देखा जा सकता है। यह प्रायः इस बात पर निर्भर करता है कि स्तरीकरण व्यवस्था से किस आयाम का विरोध किया जा रहा है। प्रायः यह देखा गया है कि श्रेष्ठ सामाजिक स्थिति (या उच्च वर्ग) को उठने वाले (जिन्हें प्रायः नव-धनाढ्य वर्ग कहा जाता है) श्रेष्ठ वर्ग द्वारा विरोध किया जाता है तो उनके आक्रमण को रोकने के लिए सभी प्रतिरोध प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसा उच्च व्यावसायिक और उपभोग गतिशीलता की अवधि में होता है। उच्च वर्ग को डर होता है कि ऐसे पारंपरिक मूल्य फिर आरोपित न हो जाएँ जिनके साथ उनकी प्राप्त मूल्यवान स्थिति को पुनः परिभाषित करने वाले अविवेकपूर्ण तत्व सम्बद्ध हो। यद्यपि नव-धनाढ्यों द्वारा श्रेष्ठ स्थिति में प्रवेश के लिए काफी आमदनी, शिक्षा, व्यावसायिक स्तर, तथा अन्य मानदंड प्राप्त कर लिए जाते हैं तो भी पुराने श्रेष्ठ वर्ग चारित्रित प्रश्रय वाले अन्य पारंपरिक मानदंड जैसे सगोत्रता, जातीय उत्पत्ति, खाने-पीने का पाश्चात्य शिष्टाचार आदि लागू कर देते हैं ताकि उनकी उच्च स्थिति और सम्बद्धता को मना किया जा सके। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यावसायिक गतिशीलता से सामाजिक गतिशीलता नहीं होती। पुराने श्रेष्ठ वर्ग के ये कार्य नव-गतिशील महत्वाकांक्षी लोगों को सामाजिक प्रक्रिया की उपयुक्तता में विश्वास न करने के लिए प्रेरित करते हैं तथा वे उनकी संस्कृति के खुलेपन और लोकतांत्रिक रूप पर प्रश्न खड़े करने लगते हैं। इस प्रकार, अस्वीकृत होने पर वे स्थिति के वैकल्पिक प्रतीक बना लेंगे जैसे विभिन्न मानव जातीय एसोसिएशन (उदाहरण के लिए, भारत में दलित एसोसिएशन), राजनीतिक दल (जैसे समाजवादी दल या राष्ट्रीय जनता दल), आवासीय स्थल (जैसे अम्बेडकर नगर), विश्वविद्यालय, विद्यालय तथा मनोरंजन स्थल आदि। यह प्रक्रिया पुराने श्रेष्ठ वर्ग और नव-धनाढ्य वर्ग दोनों में उनके मतदान के समय दिखाई देगी। पुराना श्रेष्ठ वर्ग जो अपने पारंपरिक सांस्कृतिक तत्वों को एकत्रित एवं मज़बूत करता है अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण में घोर रूढ़िवादी बन जाएगा। इस प्रकार, घोर 'दक्षिण पंथ' को सामाजिक वर्ग की स्थिति की असुरक्षा की प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है। जबकि दूसरी तरफ, नव-गतिशीलत महत्वाकांक्षी उस राजनीतिक दल को समर्थन देंगे जो पुराने श्रेष्ठ वर्ग का विरोध करता हो। इस प्रकार, गतिशील महत्वाकांक्षियों द्वारा बनाए गए दबाव व्यक्तियों को और अधिक उग्र राजनीतिक विचारधारा अपनाने के लिए पहले से ही तैयार करेगा।

बॉक्स 32.04

उपर्युक्त प्रक्रिया से सम्बद्ध है फ्रेंज न्यूमैन (1955) का राजनीति का षड्यंत्र सिद्धांत जो सामाजिक वर्ग की असुरक्षा के असंगत तत्वों को दर्शाता है। जब कोई व्यक्ति या वर्ग-विशेष अपनी लक्ष्य स्थिति को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है या नीचे की तरफ गतिशीलता को महसूस करता है तो इसके लिए वह अपनी अयोग्यता में या अपनी स्तरीकरण व्यवस्था में कारण ढूँढने की अपेक्षा अपनी सामाजिक बुराइयों के लिए दूसरे वर्ग पर आरोप लगाते हैं। इस दूसरे वर्ग में किसी अज्ञात दुष्ट वर्ग के षड्यंत्र की कल्पना होती है। और अन्यत्र आरोप लगाकर वे सोचते हैं कि जितना अच्छा वे कर सकते थे उन्होंने किया और वे निरंतर स्तरीकरण व्यवस्था पर कायम रहते हैं जो उन्हें समाज में मूल्यवान स्थिति प्रदान करता है। इस प्रकार, वे अपने समाज की सामाजिक संरचना में होने वाले वास्तविक परिवर्तनों की गणना नहीं करते। इस प्रकार, ऐसे अविवेकी सिद्धांतों पर ज़ोर देने वाले व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। इससे वे राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे काल्पनिक या वास्तविक लक्ष्य वर्गों के विरुद्ध अपनी शक्ति को एकत्रित करने की प्रवृत्ति अपना लेते हैं।

बहुत बार सामाजिक गतिशीलता की स्थिति विसंगति उत्पन्न कर देती है। कहने का अर्थ है कि आवश्यक नहीं कि एक क्षेत्र में गतिशीलता अनिवार्यतः दूसरे सभी क्षेत्रों में भी गतिशीलता पैदा करे। उदाहरण के लिए एस.एम. लिपसेट ने लसकेचवान (कनाडा) के प्रदेश में लोगों के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करते हुए पाया कि सोशलिस्ट पार्टी (समाजवादी दल) के नेता या तो व्यापारी या व्यावसायिक थे। यद्यपि वे उच्च व्यावसायिक और आमदनी वाली श्रेणी से संबंधित थे, फिर भी वे सामाजिक क्रम में निम्न-वर्गीय समझे जाते थे क्योंकि वे मुख्यतः गैर-एंग्लो सैक्सन वंश (उनकी आबादी 90 प्रतिशत थी) से थे। फिर भी, 'उच्च स्थिति तथा उच्च वर्ग वाले एंग्लो सैक्सन आबादी ने गैर-एंग्लो सैक्सन वर्ग का आर्थिक शोषण नहीं किया। इसके बावजूद वे उच्च व्यावसायिक और आमदनी वालों को प्रायः मिलने वाले विशेषाधिकारों से वंचित थे। इस प्रकार दोनों समूहों के मध्य गहरी दरार थी। उनकी स्थितियाँ ऐसी थीं कि अल्पसंख्यक वर्ग (गैर-एंग्लो सैक्सन वर्ग) ने उच्च वर्ग (एंग्लो सैक्सन वर्ग) का विरोध करने वाले राजनीतिक दल के साथ वैचारिक रूप से सम्बद्ध होना अच्छा माना। इस प्रकार, कुंठित महत्वाकांक्षियों के उग्र राजनीतिक विचारों के कारण स्थिति में विसंगति उत्पन्न हुई।

इसी विचारधारा में रोबर्ट माइकेल ने प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व यूरोपीय सामाजिकता का विश्लेषण किया। यहूदियों ने यूरोपीय सामाजिकता आंदोलन में प्रसिद्ध स्थिति प्राप्त की थी। वे वैध रूप से पूरी तरह मुक्त थे तब भी संपूर्ण पूर्वी यूरोप और जर्मनी में सामाजिक रूप से उनके साथ भेदभाव किया जा रहा था। यद्यपि वे आर्थिक रूप से बहुत अमीर थे, फिर भी प्रचलित व्यवस्था में उनके अनुरूप कोई सामाजिक या राजनीतिक लाभ सुनिश्चित नहीं था। केवल समाजवादिता का आदर्श राज्य ही उनकी पीड़ा और अस्वीकृति की भावना को समझता था। यहूदियों का यह व्यवहार हाल ही के समय तक भी मौजूद था। उदाहरण के लिए, स्कैनडिनेविया में जहाँ यहूदी विरोधी भावना अपेक्षाकृत कम है और यहूदी निरंतर अच्छी सामाजिक स्थिति प्राप्त करते जा रहे हैं। आशा की जाती है कि वे पहले जितनी सीमा तक वामपंथी राजनीतिक झुकाव नहीं रखेंगे।

MAADHYAM IAS

स्थिति में यह विसंगति अनेक सामाजिक स्थितियों में क्रम परिवर्तन और मिश्रण तथा राजनीतिक क्षेत्र में उनके वैचारिक तत्वों की तरफ ले जा सकती है। अतः एक व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक, सांख्यिकीय तथा राजनीतिक हालातों के आधार पर विद्यमान निम्नलिखित में से कोई भी मिश्रण देख सकता है।

1) जब किसी सामाजिक वर्ग की स्थिति उसकी व्यावसायिक अथवा आर्थिक स्थिति से कमज़ोर होती है तो राजनीतिक झुकाव वामपंथी होता है। सामान्य परिस्थितियों के बावजूद समूह का दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है।

2) जब एक सामाजिक समूह की स्थिति विघटित होती है तो आर्थिक एवं सामाजिक रूप से प्रबल वर्ग के विरुद्ध मौलिक स्थिति लाने के लिए राजनीतिक रूप से उसका झुकाव वामंपथी हो जाता है।

3) जब किसी सामाजिक वर्ग की स्थिति उसकी व्यावसायिक और आर्थिक स्थिति से उच्च होती है तो राजनीति में झुकाव दक्षिणपंथी हो जाता है।

4) जब नव-धनाढ्य वर्ग कभी-कभी पुराने श्रेष्ठ वर्ग की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी हो जाता है तो राजनीति में झुकाव दक्षिणपंथी हो जाता है क्योंकि वे सामाजिक क्रम में ऊपर आना चाहते हैं तथा पुराने श्रेष्ठ वर्ग द्वारा यह स्वीकृत हो जाता है।

5) जब किसी सामाजिक वर्ग की उच्च स्थिति को नई गतिशीलता के हमले से चुनौती मिलती है तो राजनीति में झुकाव अत्यधिक दक्षिणपंथी हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब पुराना श्रेष्ठ वर्ग नव-धनाढ्य वर्ग के लिए अपनी श्रेणी में उनके प्रवेश को बंद कर देता है।

6) किसी सामाजिक वर्ग की पुरानी लेकिन अवनत होती उच्च स्थिति के कारण उसका दृष्टिकोण अधिक लचीला हो जाता है जो राजनीति में झुकाव वामपंथी हो जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बॉक्स 32.05

सामाजिक गतिशीलता का एक अन्य परिणाम जिसके बारे में पी.ए.सोरोकिन (1927) प्रत्यक्ष उल्लेख करता है और जो जी.मोसका (1939) तथा वी.पैरेटो (1935) के 'श्रेष्ठ वर्ग के संचलन ' सिद्धांत में अप्रत्यक्ष रूप से निहित है, वह है—निम्न स्तर से उच्च स्तर में नियुक्ति। मोसका और पेरेटो के 'श्रेष्ठ वर्ग संचलन' के सिद्धांत के अनुसार श्रेष्ठ वर्ग में जब श्रेष्ठता तत्व समाप्त हो जाते हैं तो वे निम्न स्तर में से श्रेष्ठ गुण वाले व्यक्तियों को नियुक्त कर लेते हैं। यह प्रक्रिया निरंतर चलती है। यदि ऐसा नहीं होगा तो उच्च स्तर में विकृत तत्वों की संख्या बढ़ जाएगी जिसका संपूर्ण समाज में नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, निचले स्तर में श्रेष्ठ घटक गतिशीलता अवसरों के अभाव में एकत्रित हो जाएंगे। एकत्रित क्रिया में वे विकृत अल्प-संख्यक शासक को हटाकर शासन की बागडोर संभाल लेते हैं। यहाँ तक कि सोरोकिन ने गतिशीलता के अभाव में उच्च वर्ग में अधिक विकृत घटकों के नकारात्मक प्रभावों का उल्लेख किया है।

मोसका ने सामाजिक गतिशीलता के परिणामस्वरूप आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में एक नए सामाजिक वर्ग-मध्य वर्ग- के प्रादुर्भाव को देखा है। वह मध्य वर्ग को उस मध्य स्तर के रूप में देखता है जहाँ से प्रायः श्रेष्ठ वर्ग अपने रिक्त स्थान भरने के लिए नए योग्य पात्रों का चयन करता है। इस तरीके से निम्न स्तर में महत्वाकांक्षी और बुद्धिमान व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षा पूरी कर पाते हैं। इस प्रकार, उपरोक्त से देखा जा सकता है कि सामाजिक गतिशीलता के राजनीतिक परिणाम संपूर्ण समाज के प्रक्रियात्मक विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं।

बोध प्रश्न 2

1) नए गतिशील महत्वाकांक्षी द्वारा (नव-धनाढ्य वर्ग) उच्च वर्ग में जाने के प्रयास करने पर क्या होता है? लगभग पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

2) राजनीतिशास्त्र के षड्यंत्र सिद्धांत का क्या अर्थ है? पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) गतिशील समाज में 'स्तरीय विसंगति' की कौन-सी राजनीतिक शाखाएँ हैं? पाँच पंक्तियों में संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

4) श्रेष्ठ वर्ग का संचलन सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में कैसे सहायता करता है? पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

32.5 सामाजिक गतिशीलता का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणाम

असमान स्तरीकरण व्यवस्था प्रमाण है जो अपने सदस्यों में पुरस्कार एवं विशेषाधिकार असमान रूप से बाँटती है। आधुनिक औद्योगिक समाज प्रायः लोकतांत्रिक रूपों में संगठित होते हैं जिनपर सभी तरफ से वैचारिक दबाव होता है क्योंकि आशा की जाती है कि उनमें सबके लिए समान अवसर हैं। यही मानदंड है 'सबके लिए अवसर'। जो उस समाज के सभी सदस्यों द्वारा अच्छी स्थिति में दिखने के लिए अर्थात् समाज में थोड़ी अच्छी, सबसे अच्छी स्थिति प्राप्त करने के लिए मेहनत कराता है। लेकिन जिस प्रकार श्रेष्ठतम वस्तुएँ दुर्लभ हैं और इसलिए वे बहुमूल्य हैं ठीक उसी प्रकार, श्रेष्ठतम स्थिति भी दुर्लभ है और इसलिए वह भी बहुमूल्य है। प्रत्येक व्यक्ति उनको प्राप्त नहीं कर सकता। प्राथमिक शिक्षा से आरंभ होकर व्यक्ति के अभीष्ट स्थिति पर पहुँचने तक चयन की एक लंबी प्रक्रिया है। इसमें असफल होने के पर्याप्त अवसर हैं। इसलिए जो व्यक्ति अपने अभीष्ट लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते, मानसिक तनाव में रहते हैं। यह मानसिक तनाव उनकी योग्यता अस्वीकृत होने के कारण उत्पन्न होता है। बहुत से मामलों में व्यक्ति स्वयं भी अपने को स्वीकार नहीं कर पाता अर्थात् उसे स्वयं से नफरत हो सकती है। वह अपनी योग्यता से निम्न.स्थिति को स्वीकार कर लेता है। वेब्लेन के अनुसार, यह आत्म-विकास में बाधा के रूप में कार्य करता है। आत्म-योग्यता की यह नकारात्मक भावना प्रायः निचले स्तर और अल्पसंख्यक वर्गों के व्यक्तियों में पाई जाती है जैसे कि यहूदियों में। लेकिन इस आत्म-ग्लानिक की भावना को बनाए रखना कठिन है क्योंकि आत्म-योग्यता स्वतः पुनः ज़ोर डालती है और सामाजिक कार्य में चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इसके संपूर्ण समाज के लिए अनेक आयाम हो सकते हैं। इस तीव्र मनोवैज्ञानिक व्यवहार के सामाजिक परिणाम प्रायः निम्नलिखित तीन प्रक्रियाओं में देखे जा सकते हैं, जैसा कि एम.एम.लिपसेट और एच.एल.जेटरबर्ग द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

MAADHYAM IAS

1) कुछ व्यक्ति उच्च वर्गों के मुख्य मूल्यों को अस्वीकृत कर सकते हैं। ऐसे मामलों में यह अस्वीकृति निम्न वर्गों के धार्मिक मूल्यों का रूप ले सकती है जो प्रायः धन और शक्ति के मूल्यों को अस्वीकृत करने से मना करती हैं।

2) दूसरे, प्रमुख मूल्यों को अस्वीकृत करने का दूसरा रूप और आत्म-योग्यता का दावा विद्रोही 'रोबिन हुड' विचारधारा या औपचारिक क्रांति या समाज सुधार आंदोलनों का रूप ग्रहण कर सकता है।

3) अंतिम, व्यक्ति अपनी स्थिति को सुधारने के लिए कानून या गैर-कानूनी प्रयत्न कर सकते हैं।

इस प्रकार, असमानता स्वाभाविक रूप से ही सामाजिक व्यवस्था में अस्थिरता लाती है।

इस प्रकार, आधुनिक औद्योगिक समाज में अस्थिरता का यह इतना व्यापक तत्व है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए इसके नकारात्मक परिणाम होते हैं। जब किसी समाज के सदस्य अत्यधिक गतिशील होते हैं तो 'एनोमी' (दुखाईम द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध सिद्धांत, देखें 32.3.5) संपूर्ण समाज में फैल जाता है। विभिन्न भूमिकाओं और स्थितियों की वर्षों पुरानी परिभाषाएँ विकृत हो जाती हैं यदि ये दूसरी परिभाषाओं द्वारा विकृत या परिवर्तित न हों तो भी पदधारी इतनी तेज़ी से गतिशील होते हैं कि उनके पास उन भूमिकाओं को पूरा करने के लिए आवश्यक पारंपरिक दायित्वों में मिश्रित होने का न तो समय है और न ही

अभिरुचि। इस प्रकार, इसमें निर्मित किसी भूमिका की स्थिरता से उत्पन्न सुरक्षा तथा आशाएँ विकृत हो जाती हैं। इसका उन नवयुवकों के समाजीकरण के लिए विघटनकारी परिणाम होता है जो अपनी भूमिका निभाने की उचित तैयारी के अभाव में पर्याप्त रूप से अच्छी भूमिका निभाने के योग्य नहीं होते। यहाँ तक कि अभिभावक भी स्थितियों के तीव्र परिवर्तन के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते। वे एक दशक में ही स्वयं को पुनः सामाजिक बनने की आवश्यकता महसूस करते हैं। यह समाज के बहुत बड़े भाग में व्यापक रूप से असुरक्षा की भावना भर देता है। इसी संदर्भ में अनेक विचारकों ने व्यक्ति के विघटित व्यक्तित्व या पार्श्व व्यक्ति की लघुता की बात की है।

इस प्रकार, सामाजिक गतिशीलता के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणामों के विघटनकारी प्रभाव हो सकते हैं तो भी कुछ व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत गतिशीलता में आत्म-योग्यता का मार्ग पा सकते हैं। यह उनके व्यक्तिगत प्रयत्नों की सकारात्मक पराकाष्ठा है।

बोध प्रश्न 3

1) आत्म-योग्यता की अस्वीकृति का व्यक्ति के लिए क्या परिणाम होता है? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

2) एक आधुनिक औद्योगिक समाज में असुरक्षा का विस्तार कैसे होता है? पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.6 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक गतिशीलता के होने वाले परिणामों का तीन परिप्रेक्ष्यों से विश्लेषण किया है। पहला—इसका समग्र समाज में विस्तार अर्थात् सामाजिक परिणाम, दूसरा—इसका समाज में विभिन्न वर्गों के राजनीतिक व्यवहार पर प्रभाव अर्थात् राजनीतिक परिणाम तथा तीसरा, इसका आधुनिक औद्योगिक समाज में किसी व्यक्ति पर प्रभाव अर्थात् सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणाम।

प्रथम भाग में सामाजिक परिणामों की चर्चा करते हुए आरंभ में हमने दो प्रमुख सबसे बड़े वर्गों श्रमिक वर्ग और मध्य वर्ग की वर्तमान स्थितियों एवं विशेषताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। विभिन्न विचारधाराओं की प्रवृत्ति सामाजिक वर्ग के रूप में उनके रूप को नगण्य मानने या मज़बूत करने की रही है। इससे हम सामाजिक गतिशीलता दर के संदर्भ में वर्ग निर्भरता की प्रकृति की जाँच करते हैं अर्थात् उपर्युक्त समाज के खंडित वर्णन के संदर्भ

में विभिन्न वर्गों के मध्य संचलन की मात्रा का वर्णन किया गया है। अंतिम भाग में हमने सामाजिक गतिशीलता के परिणामों के रूप में सामाजिक व्यवस्था के रूपों का वर्णन करने का प्रयास किया है। अनेक पारंपरिक और प्रभावशाली अध्ययनों ने विघटनकारी परिकल्पनाओं को प्रेरित किया जबकि पीटर एम.ब्लौ के अमेरिकन गतिशीलता के अध्ययन ने संस्कृति-संक्रमण परिकल्पनाओं के निर्माण में सहयोग दिया। अंत में, नकारात्मक या विघटनकारी परिणामों को इंगलैंड में फ्रेंक पार्किन और अमेरिका में एच.एल.विलेंस्की और एच.एडवर्ड्स तथा सी.जे.रिचर्ड्सन द्वारा सामाजिक व्यवस्था के लिए किए अनुसंधानों द्वारा संतुलित किया गया।

सामाजिक गतिशीलता के राजनीतिक परिणामों में समाज के उच्चतम वर्ग उच्च वर्ग, शासक वर्ग (मोसका और पेरेटो) का विवरण दिया गया है। हमने वैयक्तिक तथा सामाजिक गतिशीलता का उनके राजनीतिक व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण किया है। राजनीतिक व्यवहार जो उनके मतदान के समय देखा जाता है। यह व्यावसायिक तथा आमदनी के आधार पर गतिशीलता अर्थात् स्तर-विसंगति के निष्फल सामाजिक स्तर की महत्वाकांक्षा के आधार पर वाम या दक्षिणपंथी विस्तार में देखा जाता है। इस प्रकार, हम विशेष सामाजिक अधिकार के अनुरूप और प्राप्त आमदनी रैंक के बीच विसंगति की डिग्री, राजनीतिक अतिवाद की डिग्री की गणना करते हैं। प्रत्येक वर्ग एक-दूसरे के शक्ति आधारों को कम करने का प्रयास करता है।

लोकतांत्रिक रूप पर बल देते हुए आधुनिक औद्योगिक समाज अपने प्रत्येक सदस्य की आकांक्षाएँ पूरी नहीं कर पाता और इस प्रकार इसमें अस्थिरता अंतर्निहित है। यह आधुनिक समाजों की अस्थिरता ही है जो इसके सदस्यों में वैयक्तिक स्तर पर दिखाई देती है। इससे सामाजिक गतिशीलता के नकारात्मक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणामों को बढ़ावा मिलता है। इसके सकारात्मक पक्ष को उपयुक्त समाज सुधार आंदोलनों को आरंभ करने में देखा जा सकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.7 शब्दावली

सामाजिक स्तरीकरण : जहाँ पर लोगों को असमानता, आमदनी, सम्पत्ति, शक्ति, हैसियत आदि के आयामों से क्रमिक रूप से श्रेणी दी जाए।

अप-संस्कृति/पार्श्व संस्कृति : यह किसी सामाजिक वर्ग के मूल्यों, विचारधाराओं, व्यवहार का तरीका तथा जीवन-शैली जो भिन्न तो होते हैं लेकिन समाज की प्रमुख संस्कृति से जुड़े रहते हैं। यह समाज में अत्यधिक विभिन्नताओं के कारण उत्पन्न होती है।

सामाजिक व्यवस्था : जब समाज में सम्बद्धता और अंतर का वर्णन किया जाए।

वर्ग निर्भरता : एक ही वर्ग के सदस्यों के मूल्यों में समानता हो।

32.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रिचड्र्सन, सी.जे. (1977), *कंटम्प्रेरी सोशल मोबिलिटी,* लंदन, रोटलेज एंड केगन पॉल।

बोटोमोर, टी.बी. (1964), *श्रेष्ठ वर्ग और समाज,* पेंगुइन बुक्स।

एक विस्तृत समाज में समकालीन गतिशीलता के कुछ अवांछित परिणाम, पत्रिका सामाजिक शक्तियाँ, अंक 36, अक्तूबर 1957, पृ.32-37 तक, प्युमिद्व मेलबिन (1957)।

32.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) बूर्जुआपन एक प्रक्रिया है जिसमें हाथ से कार्य करने वाले श्रमिकों की बढ़ती संख्या समाज के मध्य वर्ग में प्रवेश करती है तथा मध्य वर्ग बन जाता है। फिर भी, इसे एक परिकल्पना ही माना जाता है। चूँकि यह एक वैचारिक प्रमाण है, जिसे सर्वाधिक उपयुक्त परिस्थितियों में जाँचा और अस्वीकृत हो गया।

2) रातफ डैडरेंड्रोफ के अनुसार, आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था के कारण कार्य-प्रणाली में परिवर्तन हो गया है। श्रमिक वर्ग को उच्च कुशल, अर्ध-कुशल तथा अकुशल श्रमिकों में विभाजित किया जा सकता है। इनकी सामाजिक क्रम में भिन्न-भिन्न आर्थिक आमदनी तथा उसी के अनुरूप हैसियत होती है। तो भी, कुछ अन्य विचारक समान जीवन अवसर और उनकी एकरूपता के आधार पर हितों की साझी पहचान का उदाहरण देकर इस भिन्नता को महत्व नहीं देते।

3) मध्य वर्गों की विभिन्नता का वर्णन करने के लिए केनिथ रॉबटर्स ने 'विघटित मध्य वर्ग' शब्दों का प्रयोग किया है।

4) वर्ग निर्भरता पर सामाजिक गतिशीलता दर के प्रभाव के बारे में दो विचारधाराएँ हैं। एक, सामाजिक गतिशीलता की दर अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बद्धता के अनुपात में होता है अर्थात् सामाजिक गतिशीलता दर अधिक होने पर वर्ग सम्बद्धता की दर कम होती है। दूसरे, उर्ध्व सामाजिक गतिशीलता सभी स्तरों पर रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है।

5) पहले हमने 'विघटन परिकल्पना' की चर्चा की है जिसमें समग्र समाज के लिए सामाजिक गतिशीलता के विघटनकारी या नकारात्मक परिणामों का वर्णन किया गया है। फिर, संस्कृति-संक्रमण की परिकल्पना पी.एम.ब्लौ द्वारा प्रतिपादित की गई जिसमें व्यक्ति के लिए विघटनकारी परिणामों के कारण स्पष्ट किए गए हैं। अंत में, फ्रेंक पार्किन तथा अन्य विद्वान आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं क्योंकि वे सामाजिक गतिशीलता को सामाजिक व्यवस्था के लिए सकारात्मक परिणाम के रूप में देखते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) जब नव-गतिशील महत्वाकांक्षी लोग उच्च वर्ग की श्रेणी में आने का प्रयास करते हैं तो उच्च वर्ग को भय होता है और वे उनके प्रवेश को रोकने के लिए अनेक रुकावटें लगाते हैं। ये रूकावटें इतनी अधिक होती हैं कि वे पारंपरिक मानदंडों का आश्रय भी ले लेते हैं ताकि नव-गतिशील व्यक्तियों के प्रवेश को रोका जा सके।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) सामाजिक वर्ग की असुरक्षा के अतार्किक तत्व का प्रतिपादन फ्रेंज न्यूमैन द्वारा किया गया। उसने 'राजनीति के षड्यंत्र सिद्धांत' का उल्लेख किया। इसमें सामाजिक बुराइयों के लिए बुराई करने वाले अज्ञात वर्ग पर आरोप लगाया जाता है।

3) एक गतिशील समाज में स्तर विसंगति सामाजिक वर्ग के विशेष वर्गों या किसी संपूर्ण सामाजिक वर्ग से जुड़े सामान्य राजनीतिक व्यवहार में परिवर्तन की तरफ ले जाती है। इस प्रकार, इसकी झलक हमें व्यक्तियों और वर्गों के मतदान करने के व्यवहार में दिखाई देती है।

4) श्रेष्ठ व्यक्तियों का संचलन सामाजिक क्रम में महत्वाकांक्षी और बुद्धिमान व्यक्तियों को उन्नति के अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार, कुंठित महत्वाकांक्षाओं को समाप्त करता है। अतः दार की प्रबलता को कम करता है और श्रेष्ठ व्यक्तियों को शामिल कर सामाजिक क्रम को अबाधित रूप से नया रूप प्रदान करता है।

बोध प्रश्न 3

1) व्यक्ति उच्च वर्गों की धन और शक्ति की प्रमुखता को अस्वीकार कर सकते हैं या वे वैयक्तिक रूप में अथवा समाहिक रूप में सुधार आंदोलन आरंभ कर सकते हैं। या फिर भी किसी भी तरीके से अपनी व्यक्तिगत स्थिति को सुधारने के प्रयत्न कर सकते हैं।

2) तीव्र सामाजिक गतिशीलता पारंपरिक भूमिकाओं के स्तरों तथा इनमें निहित आशाओं को समाप्त कर सकती है। व्यक्ति प्रभावशाली ढंग से अस्थिर और आधार-विहीन हो सकता है। इस प्रकार, एक आधुनिक औद्योगिक समाज में असुरक्षा का प्रसार हो जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

संदर्भ ग्रंथ

गिड्डेंस ए. (1989) *सोशियोलॉजी,* इंगलैंड : पॉलिटी प्रेस।

गोल्डथोर्प जे.एच. एण्ड फ्रिकसन आर. (1994), ट्रेंड्स इन क्लास मोबिलिटी - दि पोस्ट वार यूरोपियन एक्सपीरियंस इन ग्रुस्की (संपा) *सोशल स्ट्रेटिफिकेशन कलास रेस एण्ड जेंडर,* लंडन वेस्टवयू प्रेस।

लिपसेट एस.एम. एण्ड आर. बेंडिक्स (1959) *सोशल मोबिलिटी इन इंडस्ट्रियल सोसायटीज़,* बर्कले : यूनीवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

सिंगर एम. एण्ड कोहा बी (संपा) 1996, *स्ट्रक्चर एण्ड चेंज इन इंडियन सोसाइटी,* जयपुर : रावमत, अध्याय 8, 9, 10।

सिंह, वाई (1986) *मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रैडिशन,* जयपुर : रावत

सोरोकिन पी.ए (1927), *सोशल एण्ड कल्वरल मोबिलिटी,* ग्लेनकाइ : फ्री प्रेस।

श्रीनिवास एम.एन. (1966), *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया,* मुम्बई : ओरियंट लांगमैन।

टुम्युन मेल्वीन एम. (1957), *अन-प्लांडिड कंसेक्विसेज़ ऑफ सोशल मोबिलिटी इन ए मास सोसाइटी सोशल फोर्स,* वोलः 36 अक्तूबर, 1957 पृ.32-37।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'